## प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप मे हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रो के विशेष उत्तरदायित्व मे किसी प्रकार की कमी नही आती। हमे सविधान मे निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राजकार्यो मे व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी मे वाङमय के सभी अवयवो पर प्रामाणिक ग्रन्थ हो और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थो के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयं है। यह समिति विगत वर्षो मे हिन्दी के ग्रन्थो को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढाती रही है और अब इसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङमय के सभी अंगो के सम्बन्ध में पुस्तको का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पच-वर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षो में ३०० पुस्तको का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्राय. वे सब विषय ले लिये गये है जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमे से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयो को दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह् आशय नही है कि व्यवसाय के रूप मे यह् कार्य हाथ मे लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भडार को परिपूर्ण करने मे उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने में समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

देशभक्त, लेखक और नीतिवेत्ता

जवाहरलाल नेहरू

को

# प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक मे एक नये जीवन-दर्शन की रूपरेखा देने का प्रयत्न किया गया है। इस जीवन-दर्शन को "सृजनात्मक मानववाद" की सज्ञा दी गई है, और उसके आलोक मे मानवीय अनुभूति के कतिपय महत्वपूर्ण क्षेत्रो का स्वरूप समझने की कोशिश की गई है। एक नयी जीवन-दृष्टि के प्रतिपादन के मूल मे युग की कुछ जरूरते रहती है। हमारे युग की जरूरते या समस्याएँ अनेक और विविध है। हमारी सबसे बडी जरूरत है—जीवन-मूल्यो के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण। आज के मनुष्य के मन मे यह धारणा क्रमश घर कर गई है कि हमारे नैतिक तथा दूसरे मूल्य बहुत दूर तक सापेक्ष होते है। प्रस्तुत पुस्तक का एक प्रयोजन है, मूल्यो-सम्बन्धी इस सशयवादी तथा निषेधात्मक मनोभाव का निराकरण। इसका दूसरा प्रयोजन है, मनुष्य की उन क्रियाओं की जिनके द्वारा वह विभिन्न मूल्यो की सृष्टि और उपभोग करता है, सम्बद्ध अवगति प्राप्त करना। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये लेखक द्वारा किये हुए व्यवस्थित विवेचन के प्रयत्न ने क्रमश एक व्यापक "सस्कृति दर्शन" का रूप धारण कर लिया। यह महसूस किया गया कि इस प्रकार का दर्शन ही उन अनेक समस्याओ का समुचित समाधान दे सकता है जो हमारे युग को आन्दोलित कर रही है।

एक नवीन जीवन-दर्शन की उपलब्धि के लिये कोई लघु मार्ग नही है। जो व्यक्ति इस प्रकार के दर्शन या दृष्टि को विकसित करना चाहता है, उसे अनिवार्य रूप में युग-बोध और युगानुभूति के समस्त क्षेत्रो की परीक्षा और समीक्षा करनी पडेगी। सस्कृति-दर्शन इन क्षेत्रो की छानबीन इस दृष्टि से करता है कि वह उनके पारस्परिक सम्बन्धो को उद्घाटित करते हुए यह बता सके कि उनमे से प्रत्येक का, जीवन के व्यापक प्रयोजन एव अर्थवत्ता की दृष्टि से, क्या और कहाँ स्थान है।

आज के "वैज्ञानिक" मनोवृत्ति के विचारक, फिर चाहे वे नर-विज्ञानी हो अथवा समाज-शास्त्री किंवा तर्क-मूलक भाववाद से प्रभावित दार्शनिक, सब प्रकार के मूल्यानुप्राणित अध्ययनो तथा कथनो के प्रति शका का भाव रखते है। बीसवी सदी

के चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रचलित धारणा यह है कि मूल्यों की बात करनेवाला शास्त्र या अन्वेषक अवैज्ञानिक होता है। इस प्रचलित मतवाद या फैशन के विरुद्ध प्रस्तुत निबन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि दर्शन को विज्ञान से भिन्न या अवैज्ञानिक ही होना चाहिए। मनुष्य की समस्त क्रियाओं का—और उनमें बोध-क्रिया का भी समावेश है—लक्ष्य मूल्यों का उत्पादन है। मनुष्य जानने की इच्छा करता है या तो इसलिये कि "जानना" अपने में एक सतोषप्रद अनुभव है, अथवा इसलिये कि उसके द्वारा बाह्य परिवेश को अपनी जरूरतों के अनुरूप ढालने में मदद मिलती है। ज्ञान दो प्रकार का होता है, वैज्ञानिक और दार्शनिक। वैज्ञानिक बोध हमें मुख्यत परिवेशगत वस्तुओं तथा घटनाओं पर नियत्रण देता है, इसके विपरीत दार्शनिक बोध वह है जो हमें अनुभूति के, अर्थात् सोचने, महसूस करने और सकल्प करने के, उच्चतर तथा निम्नतर रूपों में विवेक करना सिखलाये। इस दृष्टि से हम दर्शन की परिभाषा निम्न प्रकार से कर सकते हैं: दर्शन का कार्य मनुष्य या मानव-जीवन से सम्बन्धित चरम मूल्यों की प्रकृति का अन्वेषण या उद्घाटन है। जिसे हम वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं वह कारण-मूलक तथा वस्तुओं के अस्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाली होती है, अर्थात् वह उन स्थितियों या दशाओं का सकेत करती है जो वस्तुओं या घटनाओं के आविर्भाव, तिरोभाव और विशेष अवधि तक बने रहने में सहचरित होती हैं। इसके विपरीत दर्शन का कार्य मनुष्य की निरुपयोगी, सास्कृतिक क्रियाओं की आदर्श-सापेक्ष व्याख्या और मूल्याकन करना है। यह कहने की जरूरत नहीं कि दर्शन का विषय उक्त क्रियाओं के सामान्य रूप हैं। दर्शन में उन सास्कृतिक क्रियाओं या अनुभूतियों का जो कला, वैज्ञानिक चिन्तन, नैतिक व्यवहार, आध्यात्मिक साधना तथा दर्शन में भी निहित होती हैं, विश्लेषण और व्याख्या की जाती है, इस उद्देश्य से कि उन नियमों अथवा मानदडों का उद्घाटन किया जाय जिनके द्वारा उन क्रियाओं अथवा अनुभूतियों के उच्चतर रूपों को निम्नतर रूपों से विविक्त किया जा सके। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र, सौन्दर्य-दर्शन और अध्यात्म-दर्शन (Philosophy of Religion) उसी प्रकार दर्शन के अग हैं जैसे कि तर्क-शास्त्र और ज्ञानमीमासा। हमारे मत में दर्शन प्रधानतया मानवीय व्यक्तित्व के गुणात्मक विकास का उपकरण है।

प्रस्तुत पुस्तक का मूल प्रयोजन रचनात्मक है। फिर भी लेखक को अनेक अध्यायों में तर्क-मूलक भाववाद से मतभेद प्रकट करते हुए उसकी परीक्षा करनी पड़ी है। कारण यह है कि उक्त सम्प्रदाय केवल तर्क-शास्त्र की ही प्रामाणिकता को स्वीकार करता है,

और नीति-शास्त्र, सौन्दर्य-दर्शन तथा अध्यात्म-दर्शन को सन्देह की दृष्टि से देखता है, अर्थात् यह कहता है कि वे प्रामाणिक विद्याएँ नहीं है।

तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार दर्शन को तर्क-शास्त्र से समीकृत किया जा सकता है, अथवा दर्शन तर्क-शास्त्र का ही एक विभाग है। यह मन्तव्य दो मान्यताओ (Assumptions) पर आधारित है। पहली मान्यता यह है कि जहाँ मनुष्य का तार्किक मस्तिष्क नियमानुसारी ढग से व्यापृत होता है, वहाँ उसकी नैतिक तथा सौन्दर्यात्मिक चेतना किन्ही नियमों के अनुसार व्यापृत नही होती। दूसरी मान्यता यह है कि जहाँ दर्शन के लिये यह अन्वेषण जरूरी है कि मनुष्य की तार्किक प्रकृति किस प्रकार कार्य करती हे, वहाँ उसे (दर्शन को) इसकी चिन्ता नही करनी चाहिए कि हम नैतिकता तथा सौन्दर्य के क्षेत्रों मे एक मानदंड को मानकर चलते है या दूसरे को। विज्ञानावलम्वित क्रियाओं द्वारा हम बाह्य परिवेश को परिवर्तित और नियन्त्रित करते है; तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार शायद यह परिवर्तन और नियंत्रण ही महत्व-पूर्ण है। उसके मत मे दर्शन को वैज्ञानिक वक्तव्यों के स्पष्टीकरण का उपकरण होना चाहिए, क्योकि विज्ञान ही महत्वपूर्ण है। कला और नैतिकता महत्वपूर्ण नही है, क्योंकि उनका सम्वन्ध हमारी चेतना के परिवर्तन या परिष्कार से है, वाह्य परिवेश से नही।

तर्क-मूलक भाववादियो की चिन्ता का सव से बड़ा विषय यह है कि हमे केवल निश्चयात्मक ज्ञान के क्षेत्र में ही रहना चाहिए। निश्चयात्मकता की खोज करते-करते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानव-जीवन के समस्त मूल्य सापेक्ष ही नही, निराधार है। अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' (हिस्टरी आफ़ वेस्टर्न फिलासफी) के चौवीसवे अध्याय के प्रारम्भ में यूनानियो का उल्लेख करते हुए श्री वर्ट्रांड रसेल ने लिखा है कि उन्होंने कला, साहित्य और दर्शन में जो उपलब्धियाँ कीं उन्हें, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, श्रेष्ठ या हीन कहा जा सकता है; किन्तु ज्यामिति के क्षेत्र मे उनकी उपलब्धि को लेकर दो मत नही हो सकते। मतलव यह कि कला, साहित्य आदि क्षेत्रो मे कभी निश्चयात्मक मूल्याकन नही हो सकता। सस्कृति के किसी क्षेत्र के इतिहासकार ने शायद ही कभी ऐसी निषेधात्मक सम्मति प्रकट की हो।

तर्क-मूलक भाववादियो की यह निश्चित धारणा है कि दर्शन को सौन्दर्य, नैतिकता आदि के सम्वन्ध मे मतामत प्रकट करने का कोई अधिकार नही है। इसका मतलव

यह है कि दर्शन के अध्ययन से हमे किसी प्रकार के जीवन-विवेक को पाने की कोशिश नही करनी चाहिए।

दर्शन की यह स्थिति सकट की स्थिति कही जा सकती है। यदि दर्शन को जीवन के मूल्यो के बारे मे कुछ नही कहना है, यदि वह हमे जीवन-विवेक नही दे सकता, यदि वह विज्ञान का सहकारी मात्र है और उसका विज्ञान से कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा स्वामी से सेवक का होता है, यदि दर्शन का कार्य वैज्ञानिक चिन्तन के मार्ग को साफ करना भर है, तो यह स्पष्ट है कि उसका जीवन के उन पहलुओ से जो हमे महत्वपूर्ण लगते है, कोई सम्पर्क या लगाव नही रह जाता।

हमारी समझ मे दर्शन की इस स्थिति के मूल मे योरपीय विचारको का एक दुराग्रह या भूल है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने प्राय तेईस शताब्दियो पूर्व अपने प्रसिद्ध ग्रथ "नीति-दर्शन" मे लिखा था. 'शिक्षित मनुष्य का यह लक्षण है कि वह प्रत्येक वर्ग की वस्तुओ मे उतने ही सहीपन की माँग करे जितना कि विषय की प्रकृति सभव बनाती है, स्पष्ट ही यह मूर्खता है कि हम एक गणितज्ञ से केवल सम्भाव्य प्रमाण की माँग करे, और एक अलकारशास्त्री ( Rhetorician ) से वैज्ञानिक उपपत्ति की।' चूँकि मनुष्य का व्यवहार सृजनात्मक होता है, इसलिये उसके नियामक कानून प्रकृति-जगत् के नियामक कानूनो से अवश्य ही भिन्न होगे। फलत हम मानवीय व्यवहार का अध्ययन उन पद्धतियो से नही कर सकते जिन से प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। योरपीय दर्शन के इतिहास मे विचारको ने जो बार-बार इसका प्रयत्न किया है कि दर्शन को गणितात्मक अथवा वैज्ञानिक बना दे, उसके मूल मे उनके द्वारा उक्त तथ्य की उपेक्षा ही रही है।

इस पुस्तक मे मानवीय सृजनशीलता का अध्ययन यह समझने के लिये किया गया है कि मनुष्य द्वारा किये गये मूल्यो के उत्पादन और उपभोग में उसका क्या हाथ रहता है। यहाँ सृजनशीलता की धारणा का उपयोग जहाँ एक ओर मानवीय सस्कृति के विभिन्न रूपो के बोध या व्याख्या के लिए किया गया है, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक मनुष्य की प्रमुख समस्याओ के समाधान के लिये भी। 'भूमिका' मे सृजनशीलता के स्वरूप का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु वह वर्णन पूर्ण नही है। जैसे-जैसे विवेचन अग्रसर होता है, उक्त धारणा का अर्थ अधिकाधिक परिस्फुट और समृद्ध होता जाता है। किन्तु पाठक देखेगे कि इस पुस्तक मे उक्त धारणा का प्रयोग

किसी रहस्यमय, काल्पनिक अथवा तत्व-कल्पना से सबधित ( Metaphysical ) अर्थ में नही किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत लेखक तथा फ्रासीसी दार्शनिक हैनरी वर्गसाँ के मतों मे प्राय कुछ भी समानता नही है। अन्तिम विश्लेषण मे वर्गसाँ की दर्शन-पद्धति काफी हद तक बुद्धि-विलासी (Speculative) है, जब कि प्रस्तुत लेखक को दार्शनिक चिन्तन की वह शैली पसन्द है जो परिचित अनुभव से अधिक दूर नही जाती।

हमारे मत मे दर्शन का विषय कोई इन्द्रियातीत तत्व पदार्थ नही है। दर्शन का काम मानवीय चेतना के उन सामान्य रूपो का विश्लेषण और व्याख्या है जो स्वय मे मूल्यवान् समझे जाते हैं। दर्शन मे परिवर्तन और विकास होता है क्योकि, मनुष्य के सृजनात्मक इतिहास की अग्रगति के साथ, उक्त चेतना के रूप भी परिवर्तित और विकसित होते रहते हैं। दर्शन की परम्परागत शाखाएँ, अर्थात् नीति-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, तर्कशास्त्र आदि उक्त रूपो की विभिन्न विशेषताओ के प्रगतिमान उद्घाटन मे लगे रहे हैं, साथ ही वे उन सिद्धान्तो तथा मानदडो का विकासमान निरूपण भी करते रहे हैं जिनसे उक्त चेतना-रूपो की प्रामाणिकता तथा महत्व को आँका जा सके। इस आलोक मे देखने पर यह जान पडेगा कि नीति-शास्त्र अथवा सौन्दर्य-दर्शन के उत्तरकालीन सिद्धान्त पूर्व सिद्धान्तों का उसी प्रकार खडन नही करते जिस प्रकार कि आधुनिक गणित-मूलक तर्क-शास्त्र ( Mathematical Logic ) अरस्तू के तर्कशास्त्र का खडन नही करता। उदाहरण के लिये सौख्यवादियो का यह सिद्धान्त कि मनुष्य को "अधिकाश मनुष्यो के अधिक सुख" को अपने कर्मो का लक्ष्य बनाना चाहिए उन दूसरे सिद्धान्तो का खडन दही करता जिनके अनुसार हमे सत्य, सौन्दर्य, साधुता अथवा आध्यात्मिक पूर्णता को जीवन का ध्येय बनाना चाहिए। इसी प्रकार कला-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त और पैमाने एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक होते हैं।

प्रस्तुत लेखक स्वभाव से बहुत पृच्छाशील और सशयालु रहा है। इस पुस्तक में उसने अनेक मतवादो से मतभेद प्रकट किया है, किन्तु उसे सबसे अधिक सघर्ष स्वयं अपनी शकाओ तथा सन्देहो से करना पडा है। शायद इसीलिये जहाँ उसने प्रकृतिवाद तथा भौतिकवाद को अस्वीकार किया है, वहाँ वह किसी श्रेणी के अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद को स्वीकार नही कर सका है। कुछ दिनो उसे यह सोचते हुए सकोच और कष्ट भी रहा कि उसकी विचार-पद्धति का भारत की प्राचीन दार्शनिक परम्परा

से कोई लगाव नही दीखता। किन्तु एक दिन उसने सहसा एक गहरे वैसे लगाव की चेतना प्राप्त की, और तब उसे बडा सन्तोष और प्रसन्नता हुई। इस लगाव का विशेष सम्बन्ध वेदान्त दर्शन से है। अद्वैत वेदान्त के प्रमुख विचारको ने विश्व-ब्रह्माड की कारण-मूलक व्याख्या मे कभी विशेष रुचि नही ली, उनका प्रधान लक्ष्य यह था कि मानव-अस्तित्व को उच्चतर तथा पूर्णतर बनाने के उपायो का निर्देश करे। प्रस्तुत लेखक की सम्मति मे भी दार्शनिक चिन्तन और बोध का प्रमुख ध्येय यही है, अर्थात मानव-व्यक्तित्व को अधिक परिष्कृत और श्लाघ्य बनाना। फिर भी यह कहना उचित नही होगा कि अद्वैत वेदान्त और प्रस्तुत लेखक के विचारो मे बहुत ज्यादा समानता है। मैं वेदान्त के वैराग्यवाद और परलोकवाद को स्वीकार नही करता; प्रस्तुत गुणात्मक मानववाद मे भी अनेक भारतीय दर्शनो के वैराग्यवाद के लिये स्थान नही है।

इस समय हमारे देश मे दार्शनिक जिज्ञासा और चिन्तन बडी अवनत अवस्था मे है। मौलिक चिन्तन का अभ्यास तो जैसे हम भूल ही गये है। विदेशी शासन के समय मे हमारे देश के अनेक मनीषियो, जैसे स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, तथा सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, और श्री अरविन्द तथा गाधीजी ने भी, प्राचीन विचार-पद्धतियो की नयी, युगोचित व्याख्याएँ दी। इन व्याख्याओ ने हमारे देशवासियो मे आत्म-गौरव की भावना जागृत करने मे मदद दी, और इस प्रकार हमारे स्वतन्त्रता-सग्राम को प्रच्छन्न रूप मे पुष्ट किया। किन्तु हमारी धारणा है कि प्राचीन दर्शनो की पुनर्व्याख्या कभी नये चिन्तन तथा नवीन विचार-पद्धतियो के निर्माण का स्थान नही ले सकती। यह उचित ही है कि हम अपनी प्राचीन दार्शनिक धरोहर पर गर्व करें, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि आज हम, नये युग के नये बोध और प्रश्नो को ध्यान में रखते हुए, नवीन, साहसपूर्ण चिन्तन न करे।

यातायात के बढे हुए साधनो ने आज विभिन्न देशो का भौगोलिक एकान्त समाप्त कर दिया है, इसलिए आज के भारतीय विचारको को जहाँ प्राचीन भारत से प्रेरणा लेनी चाहिए, वहाँ अन्य सभ्य देशो की समृद्ध सास्कृतिक परम्पराओ की उपेक्षा न करते हुए उनसे भी पूर्ण लाभ उठाना चाहिए। आज हम ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र मे, विशेषत. आधुनिक योरप की, सास्कृतिक लब्धियो की उपेक्षा नही कर सकते। हम उपेक्षा कर भी नही रहे है. जनतत्र तथा समाजवाद के सम्बद्ध प्रयोगो एव बढते हुए औद्योगिक प्रयत्नो के रूप में आज योरपीय सस्कृति हमारे जीवन के भीतरी कक्षो में प्रवेश कर चुकी है।

इसका यह मतलब हर्गिज नही कि हमें प्राचीन देशों और विचारकों की उपेक्षा करनी चाहिए, या उनसे हमे कुछ नही सीखना है। आज के मनुष्य की सास्कृतिक स्थिति इतनी नाजुक है कि उसे, उपयोगी जीवन-विवेक प्राप्त करने के लिये, मानव-अतीत के समस्त सचित वोध की आवश्यकता है। वात यह है कि जहाँ भौतिक प्रकृति से सम्वन्वित ज्ञान के क्षेत्र मे आज का मनुष्य बहुत आगे वढ गया है, वहाँ आत्म-ज्ञान अर्थात् अपनी जीवन-सभावनाओ के क्षेत्र में, उसकी जानकारी बहुत अधिक वढी है, इसमें सन्देह किया जा सकता है। पिछले डेढ-दो हजार वर्षो में मानव-प्रकृति और उसकी प्रेरक प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ वही रही हैं, भले ही उनकी अभिव्यक्ति के रूप अधिक जटिल और विस्तृत हो गये हो। मनुष्य के सुख-दुख के अधिकांश हेतु भी मूलतः वही है। यही कारण है कि हम आज भी न केवल प्राचीन साहित्यिक कृतियो जैसे "रामा-यण" और "इलियड", "मेघदूत" और 'विटा नूवा" में रस ले पाते हैं, वल्कि कौटिल्य, शुक्राचार्य, भीष्म आदि नीति-विशारदो की शिक्षाओं से लाभान्वित भी होते हैं। निष्कर्ष यह कि हमे प्राचीन यूनान, चीन, फारस आदि देशो की सस्कृतियो का भी तुलनात्मक आकलन करना चाहिए। हमें भारत, चीन आदि की प्राचीन सस्कृतियो का केवल इसीलिये तिरस्कार नही करना चाहिए कि आज वे देश राष्ट्रो के वीच नेतृत्व के पद पर नही है। विशेषत हमें विनम्र भाव से इन प्राचीन देशो की आध्यात्मिक (Religious) परम्पराओ को हृदयगम करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रस्तुत लेखक को इस वात की प्रसन्नता हे कि वह आध्यात्मिक साधना के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण विकसित कर सका है।

आज के भारतीयो को एक वात विशेष रूप मे याद रखनी चाहिए. हमारी वर्तमान सस्कृति का माप और मूल्याकन केवल हमारी प्राचीन धरोहर के आधार पर नही किया जायगा, वैसा करने के लिये देखना होगा कि हमारी साम्प्रतिक स्थिति क्या है। सस्कृति मूलत विशिष्ट क्रियाओं का नाम है, और किसी देश के निवासियो की सस्कृति का अर्थ उनकी आत्मिक क्रियाओ की तीव्रता और विस्तार है। यदि हम आज वैसे क्रियाशील नही हैं, यदि आज हममे सक्रिय जिज्ञासा, सत्य और सौन्दर्य की उपलब्धि का भाव, नही है, तो हम अपनी समस्त धरोहर के वावजूद सस्कृत नही कहला सकेंगे। वस्तुतः हम समृद्ध प्राचीन धरोहर को ठीक से तभी समझ और सँभाल सकते हैं जव हममे पर्याप्त विचार-शक्ति और आत्मिक क्रियाशीलता तथा लगन हो। ये गुण हमारे आगे वढने और दूसरे देशो के वीच पुनः इतिहासोचित गौरवपूर्ण स्थान पाने की आवश्यक शर्त हैं।

इस कृति के प्रतिपाद्य विषय पर मैं प्राय चार-पाँच वर्ष से काम कर रहा था, और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा स्थापित "हिन्दी समिति" की ओर से "सस्कृति का दार्शनिक विवेचन" पुस्तक की माँग होने से पूर्व, उस विषय पर अग्रेजी मे बहुत-कुछ लिख चुका था। अपने वर्तमान रूप मे यह पुस्तक इस आशा से देश के आत्म-गौरवी युवक-युवतियो को अर्पित की जा रही है कि वह उन मे मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति को विकसित और उत्तेजित करेगी।

इस पुस्तक की विषय-वस्तु बडी व्यापक है, फलत मुझे अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए अनेक शब्द तथा व्यजनाएँ गढनी पडी हैं। पाठको की सुविधा के लिये परिशिष्ट-रूप मे आवश्यक शब्द-कोश दे दिया गया है। पुस्तक मे जहाँ 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग उद्धरणकामाओ के बीच हुआ है, वहाँ उसका अभिप्राय नर-विज्ञान के प्रचलित अर्थ के अनुकूल है। अन्यत्र प्राय उसका वह अर्थ है जो प्रस्तुत लेखक को अभिप्रेत है।

इस पुस्तक मे प्रस्तुत की हुई विचार-पद्धति के निर्माण मे मुझे जिन असख्य स्वदेशी-विदेशी चिन्तको और लेखको से प्रेरणा मिली है उनके प्रति उपयुक्त कृतज्ञता-प्रकाशन सम्भव नही है। मैं खासतौर से जर्मन दार्शनिक काट, बौद्ध विचारक नागार्जुन और धर्मकीर्ति, तथा वेदान्त के आचार्यों से प्रभावित रहा हूँ। तर्क-मूलक भाववाद ने मेरे विज्ञान-सम्बन्धी मन्तव्यो को गठित किया है। अनेक साहित्य-मीमासको (जैसे टी० एस्० इलियट) ने भी मुझे प्रभावित किया है।

लखनऊ विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर काली प्रसाद, डॉ० राजनारायण, डॉ० राधाकमल मुकर्जी, और प्रोफेसर के० सुब्रह्मण्य अय्यर से मुझे समय-समय पर सुझाव और प्रोत्साहन मिलते रहे, उन सबका मैं कृतज्ञ हूँ।

लखनऊ देवराज

# विश्लेषणात्मक विषय-सूची

## अध्याय १

### भूमिका



## अध्याय २

### मूल्यों की वस्तुनिष्ठता : यथार्थ व अस्तित्व के क्रम

## अध्याय ३

### मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-पद्धति



## अध्याय ४

### संस्कृति और सभ्यता

## अध्याय ५

## कला की प्रकृति

## अध्याय ६

### दर्शन का स्वरूप



## अध्याय ७

### नीति-धर्म या आचार-नीति

## अध्याय ८

## मोक्षधर्म और आध्यात्मिक साधना



## अध्याय ९

## प्रेम और मैत्री : शिक्षा और राजनीति

# संस्कृति का दार्शनिक विवेचन

# अध्याय १

## भूमिका

### वर्तमान सांस्कृतिक संकट

आज का मनुष्य अपने को एक कठिन तथा व्यापक सकट के बीच पाता है। इस सकट ( Crisis ) का स्वरूप तथा कारण क्या है? सकट की स्थिति में दो सम्बद्ध मनोदशाएँ वर्तमान रहती है, एक वौद्धिक विभ्रम और दूसरी अरक्षा की भावना। सकट की अनुभूति केवल उन्ही प्राणियो को हो सकती है जिनमे कल्पना-शक्ति है, और जो सृजनशील है। दूसरे जन्तुओ के जीवन मे जब कोई असामान्य और खतरे की स्थिति आती है, तो सम्भवत वे परेशान और भयभीत महसूस करते है। मनुष्यो मे भी प्राय वे ही सकट का विशेष अनुभव करते है जो अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान और सवेदनशील होते है। सकट दो प्रकार का होता है। एक प्रकार के सकट की स्थिति तब आती है जब, सामने खतरे को देखते हुए, मनुष्य की बुद्धि और कल्पना उसे दूर रखने का उपाय नही सोच पाती। आज की दुनियाँ मे, युद्ध की विभीषिका के रूप मे—ऐसे युद्ध की जो अपने साथ असख्य भय तथा कष्ट लाता है—इस कोटि के सकट की स्थिति बराबर बनी हुई है। इस समय विश्व के लोगो मे कुछ ऐसी भावना घर कर गई है कि भविष्य मे युद्ध होना ही है, भले ही कुछ महान् राजनीतिज्ञो के प्रयत्न से उस युद्ध की तिथि टल जाय। लोग युद्ध की सभावना को एक दैवी विधान-सा मानते हुए काल-यापन कर रहे है।

दूसरी कोटि का सकट, इतने नाटकीय रूप मे स्पष्ट न होते हुए भी, ज्यादा गम्भीर चीज है। और इस स्थिति से उसकी गम्भीरता कम नही होती कि हम उसकी प्रकृति और विस्तार को ठीक से नही समझते। जैसा कि मनोविश्लेषण का सिद्धान्त बतलाता है, मानसिक स्वास्थ्य के लिए हमारी सचेत वृत्तियाँ उतनी खतरनाक

नहीं होती जितनी कि वे चीजें जो हमारे अवचेतन या उपचेत में क्रियाशील होती हैं। यहाँ हम जिस सकट का उल्लेख कर रहे हैं उसका सम्बन्ध मुख्यत. व्यक्तियों के जीवन से होता है, और वह अपने को उनकी कल्पना की उस अक्षमता में व्यक्त करता है जिसके कारण वे आस्था-पूर्वक जीवन के लक्ष्यो एव प्रयोजनो का स्वरूप स्थिर नहीं कर पाते। जब मानवीय कल्पना, अनिश्चय और भ्रम में पडकर, अपना सृजनात्मक कार्य नहीं कर पाती, तो सकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कल्पना का सृजनात्मक कार्य यह है कि वह महत्वाकाक्षी व्यक्ति के सम्मुख लगातार उच्चतर तथा श्रेष्ठतर जीवन-रूपों को प्रस्तुत करती रहे। ये जीवन-रूप या आदर्श ऐसे होने चाहिएँ कि उनका समसामयिक दर्शन-पद्धतियो द्वारा विश्वास-पूर्वक मडन हो सके, और जिनका उत्तम तथा महान लोग अनुसरण करे। ऐसे आदर्शों के अभाव मे जीवन दिशाहीन, निरर्थक और उबाने वाला हो जाता है। इस प्रकार की आत्मिक ऊब आज के मनुष्य की केन्द्रगत बीमारी है। हमारे युग का बुद्धिमान तथा सवेदनशील व्यक्ति अपने सामने किसी ऐसे लक्ष्य या प्रयोजन को नहीं रख पाता जो उसकी उच्चतम शक्तियों का आह्वान करे, और उन्हे कार्य-लग्न कर दे। इस प्रकार के लक्ष्य के अभाव मे मनुष्य के असख्य प्रयत्न और क्रियाएँ, यहाँ तक कि उसकी सफलताएँ भी, उसमे वास्तविक आत्मिक तृप्ति और सतोष की भावना पैदा नहीं कर पाती।

जान पडता है कि मनुष्य केवल अपने वर्तमान के सम्बन्ध मे ही अरक्षा-भावना से पीडित नहीं होता, वह जीवन की भावी सम्भावनाओं के लिए भी चिन्तित और अरक्षित महसूस करता है। अवश्य ही वह यह चाहता है कि अपने जीवन के उस ढर्रे के सम्बन्ध मे, जिससे उसकी दैनिक जरूरते पूरी होती हैं निश्चिन्तता तथा सुरक्षा का अनुभव करे। किन्तु वह एक दूसरी कोटि की सुरक्षा भी चाहता है। वह चाहता है कि उसके जीवन की गति ऐसी हो कि वह लगातार नयी, अप्रत्याशित सफलताओ तथा तृप्तियो को पाता रहे। मतलब यह कि मनुष्य न केवल अपने से सम्बन्धित मौजूदा स्थिति की ही सुरक्षा चाहता है, बल्कि इसकी भी कि वह अनवरत सृजनात्मक प्रगति एवं उपलब्धियाँ करता रहे। इस दृष्टि से देखने पर हम सकट की परिभाषा अवरुद्ध सृजनशीलता कर सकते हैं। वह कोई भी स्थिति जिसमे हमारी बुद्धि या कल्पना सृजनात्मक सफलता नहीं प्राप्त कर पाती, सकटमय लगती है। किन्तु सृजनशील शक्तियो का अवरोध तब विशेष बुरा लगता है जब उसके मूल में जीवन की सभावनाओ अथवा मूल्यों के प्रति अविश्वास रहता है।

हमारे युग में कुछ दूसरी चीजें भी हैं जो सकट की स्थिति को तीव्रतर बना देती हैं। अभी हमने सतत वर्तमान युद्ध के भय का उल्लेख किया। आज के मनुष्य की गम्भीर बेचैनी तथा असतोष के मूल में एक दूसरी चीज भी है, उसकी अतिशय व्यस्तता। हमारी यात्रिक सभ्यता शोर-गुल और जल्दबाजी की सभ्यता है। उसके अनेक यात्रिक आकर्षण, जैसे सिनेमा और रेडियो, इच्छाओं को उद्दीप्त करने वाली हजारो आकर्षक वस्तुएँ, उसका बढा हुआ, विशुद्ध व्यावसायिक धरातल पर चलने वाला मनुष्यो का सम्पर्क ये सब आज के आदमी को विशुद्ध मनन तथा सृजन के प्रयत्न से रोकते हैं। आज के अधिकाश नर-नारियों के जीवन मे—फिर चाहे वे किसी फैक्टरी के श्रमिक हों, अथवा किसी कार्यालय के क्लर्क, चाहे वे शासक वर्ग के अग हों, अथवा किसी कारखाने के मैनेजर या डाइरेक्टर—काम और सृजनशील प्रयत्न का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है।

आज कारखाने का एक श्रमिक अथवा सेना का एक सिपाही अपने को उस स्थिति मे पाता है जिसमे, यास्पर्स के शब्दों मे, वह 'मशीन का वह पुर्जा होता है जिसके निराले अस्तित्व का कोई महत्व नही होता, और जिसे कभी भी वैसे ही दूसरे पुर्जे से बदला जा सकता है।'[1] आज का मनुष्य दोनों ही चीजें खो बैठा है, अपना व्यक्तित्व, और यह विश्वास कि वह सचमुच ही एक असाधारण, वीरोचित जीवन व्यतीत कर सकता है। ऐसे आदर्शों के अन्वेषण में, जिन्हे अन्तरात्मा द्वारा स्वीकार किया गया है, लगे रहने के बदले हमारे युग का व्यक्ति ऐसी सुविधाओं तथा विनोदो के पीछे जोर-शोर मे पड जाता है जिन्हे समाज के अधिकाश लोग वाछनीय बतलाते हैं।

आज के मनुष्य की स्थिति का वर्णन अस्तित्ववाद की निम्न धारणाओ में निहित है: चिन्ता और भय, नैराश्य, सकल्पहीनता, अकेलापन आदि। इन स्थितियो के मूल में जितनी हमारे सामाजिक-राजनैतिक तथा औद्योगिक परिवेश की अनिश्चयात्मकता है, उतनी ही ऐसे आध्यात्मिक मूल्यों में अनास्था भी है जिनमें सब साझेदार बन सकें।

भौतिक तथा सामाजिक परिवेश की शक्तियो का ज्ञान इस अर्थ मे हमें स्वतन्त्र करने वाला होता है कि वह आवश्यक भौतिक सामग्री तथा सेवाएँ प्राप्त करने में सहायक होता है। किन्तु जीवन मे वास्तविक तृप्ति तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए मनुष्य को उस जीवन-विवेक की जरूरत होती है जो विभिन्न लक्ष्यों तथा प्रयोजनों के तुलनात्मक

मूल्यो को आकता है। जब तक मनुष्यो में ऐसा विवेक नही होगा, तब तक वे उन साधनो तथा उस सामग्रियो का उचित उपयोग नही कर सकेंगे जो विज्ञान ने हमारे लिए सुलभ कर दी है। अपने अस्तित्व के अनेक भौतिक-आत्मिक रूपो का अन्वेषण अथवा उपभोग करके ही मनुष्य यह जान पाता है कि उनमें से कौन रूप कम या अधिक वाछनीय है, इस दिशा मे विभिन्न यन्त्रो का प्रयोग करने की विकसित क्षमता विशेष लाभदायक नही होती। मानव-जीवन की असली स्वतन्त्रता और समृद्धि के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य को विभिन्न भौतिक, सामाजिक तथा आत्मिक जीवन-रूपो के गुणात्मक भेदो की समुचित अवगति हो। इस प्रकार की अवगति या विवेक, जिसमे उन विभिन्न न्यूनाधिक सही पैमानो के स्वरूप एव प्रयोग की जानकारी निहित रहती है जिनके द्वारा तर्कात्मक चिन्तन, कला, नीति एव अध्यात्म के क्षेत्रो मे मनुष्य घटिया-बढ़िया को पहचानता है, दार्शनिक चिन्तन का परम्परागत लक्ष्य रहा है। इसलिए आज का सकट, जिसके मूल मे मनुष्यो का मूल्याकन-सम्बन्धी असमजस है, मुख्यत उनकी दार्शनिक बुद्धि के लिए एक चुनौती प्रस्तुत करता है।

## उन्नीसवीं सदी

मानवीय बुद्धि को एक ऐसी ही चुनौती उन्नीसवी सदी में उस समय मिली थी, जब डार्विन के सिद्धान्त ने जीव-योनियों की उत्पत्ति का एक नया विवरण प्रस्तुत किया था। उस विवरण मे यह बतलाया गया था कि जीव-योनियो मे अकस्मात् परिवर्तन होते है, जिनमे से कुछ लाभकारी रहते है और किसी योनि के थोडे सदस्यो में ही प्रकट होते है। इन सदस्यो तथा जीव-योनियो में आवश्यक भोजन आदि के लिये निरन्तर सघर्ष चलता रहता है। इस सघर्ष मे योग्यतम सदस्यो अथवा जीवयोनियो की विजय, अर्थात् प्रकृति द्वारा उनका चुनाव, होता है। इस प्रकार विकास की प्रगति मे वे जीव तथा जीव-योनियाँ बच रहती है जिनमें उपयोगी अगो का विकास हुआ है। इस विधि से डार्विन ने यह दर्शित किया कि जीवो की प्रयोजनवती शरीर-रचना की व्याख्या करने के लिए चरम हेतुओ की कल्पना आवश्यक नही है।

डार्विन के सिद्धान्त ने हीगल से प्रभावित उस दर्शन को निश्चित रूप मे धक्का पहुँचाया जो यह मानता था कि विश्व-ब्रह्माण्ड मानवीय रुचियो तथा प्रयोजनो का अनुवर्ती है। डार्विनीय सिद्धान्त ने यह प्रमाणित किया कि जीवो की विचित्र शरीर-रचना की व्याख्या के लिए किसी सर्वज्ञ स्रष्टा की जरूरत नही है। किन्तु यह बात

इतनी मुख्य नही थी। डार्विन से पहले भी एशिया तथा योरप के अनेक विचारको ने ईश्वर की सत्ता मे सन्देह प्रकट किया था। उक्त सिद्धान्त की ज्यादा चौंकाने वाली बात यह मान्यता थी कि मनुष्य का अन्तर्भाव पशु-जगत मे होना चाहिये, जिसका मतलब था कि मानवीय जीवन का कोई ऐसा लक्ष्य नही हो सकता जो पशु-सुलभ अस्तित्व के परे हो। कुछ सवेदनशील लोगो को जीवन तथा जगत की जडवादी व्याख्याएँ सन्तुष्ट नही करती, इसका प्रमुख कारण यह है कि वे मनुष्य की अनन्त अर्थ-पूर्ण लक्ष्य अथवा पूर्णत्व की खोज या लालसा का कोई अर्थ नही लगा पाती। उपनिषद मे लिखा है 'जो भूमा अथवा अनन्त है वही सुख है, सान्त या समीप में सुख नही है।'[2] एक सन्तोषप्रद दर्शन-पद्धति को यह बता सकना चाहिए कि ससीम मानव मस्तिष्क मे असीम का यह अयुक्त पक्षपात क्यो है।

उन्नीसवी सदी ने डार्विन से प्रभावित भौतिकवाद के निराशा-जनक प्रभाव पर दो तरीको से विजय पायी। प्रथमत कुछ विचारको ने विकासवाद की तर्क-पद्धति का स्वय भौतिकवाद के विरुद्ध उपयोग किया। जिस विश्व ने मनुष्य के विकास को सम्भव किया है, वह केवल अन्धी, जड शक्तियों की क्रीड़ा-भूमि नही हो सकता। इस दृष्टि से देखा जाने पर विकास-सिद्धान्त हीगल की आध्यात्मिक द्वन्द्व-प्रक्रिया (Idealistic Dialectic) का मडन करता है न कि खडन। उन्नीसवी सदी के अन्तिम चरण मे योरप के अध्यात्मवादी विचारको ने भौतिकवाद के विरुद्ध एक दूसरी रक्षा-पक्ति का निर्माण किया। इस मडन ने सूक्ष्म ज्ञानमीमासा-सम्बन्धी चिन्तन का रूप धारण किया, जिसका लक्ष्य भौतिकवाद की जड पर ही कुठाराघात करना था। इस कोटि के चिन्तन ने इगलैण्ड के टामस हिल ग्रीन तथा एफ० एच० ब्रेडले, अमरीका के जोशिया राइस, इटली के बी० क्रोचे तथा जर्मनी के विन्डेल बैण्ड, रिकर्ट, यूकेन आदि की विचार-पद्धतियो मे फिर एक बार हीगल की बुद्धिवादी (Rationalistic) मनोवृत्ति को उज्जीवित किया।

## बीसवीं सदी का अबुद्धिवाद, सापेक्षवाद और सन्देहवाद

बीसवी सदी का प्रारम्भ अध्यात्मवादी विचारको की बौद्धिक मनोवृत्ति तथा चिन्तनात्मक अतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के साथ हुआ। इस प्रतिक्रिया के अनेक नेता थे, जैसे अमरीकामे विलियम जेम्स, इगलैण्ड में एफ० सी० एस्० शिलर और फ्रास मे हैनरी बर्गसा। इनमे जेम्स और शिलर ब्रेडले आदि ब्रिटिश ब्रह्मवादियों के खुले

शत्रु थे। बर्गसा के अबुद्धिवाद का विरोध मुख्यत' वैज्ञानिक यन्त्रवाद से था, यद्यपि वह अध्यात्मवादी प्रयोजनवाद के भी उतना ही विरुद्ध था। जेम्स और शिलर ने बुद्धि के स्थान पर कृति-शक्ति (Will) को महत्वपूर्ण घोषित किया, और आत्म-सगति (Coherence) के स्थान पर व्यावहारिक सफलता को सत्य की कसौटी बतलाया। कुछ ही दिनो बाद योरप और अमेरिका मे नव्य तथा समीक्षात्मक यथार्थ-वाद (New and Critical Realism) के सम्प्रदायों का उदय हुआ, जिन्होने मुख्यत अध्यात्मवादी ज्ञानमीमासा को चुनौती दी। किन्तु यथार्थवादी विचारकोमे जेम्स और बर्गसा के बुद्धिविरोधी पक्षपात का अभाव था।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद योरप तथा अमेरिका के बौद्धिक जीवन पर दूसरे प्रभाव पडने लगे। इनमे सबसे महत्वपूर्ण नवीन भौतिक विज्ञान का प्रभाव था। यद्यपि श्री मैक्स प्लैंक ने अपने "क्वेटम"—सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्नीसवी सदी के अन्तिम महीनो मे किया था, और आइन्स्टाइन का सीमित सापेक्षवाद (Restricted Principle of Relativity) सन् १९०५ मे निरूपित हो गया था, फिर भी दूसरे क्षेत्रो के विचारक उनके क्रान्तिकारी निष्कर्षो या अभिप्रायो को काफी बाद मे हृदयगम कर सके। आइन्स्टाइन ने अपना सामान्य सापेक्षवाद का सिद्धान्त (General Principle of Relativity) सन् १९१५ मे प्रतिपादित किया, और हाइजेनबर्ग का अनिर्वारण-सिद्धान्त (Principle of Indeterminacy) सन् १९२७ मे प्रस्तुत किया गया। भौतिकशास्त्र की इन नयी प्रगतियो के फलस्वरूप दर्शन मे उस महत्वपूर्ण सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसे तर्क-मूलक भाववाद (Logical Positivism) कहते हैं और जिसका बाद के दशको मे निश्चित प्रभाव रहा।

हम कह सकते है कि तर्क-मूलक भाववाद तथाकथित अनुभववाद का अतिरजित रूप है, जिसे तत्वदर्शन-सम्बन्धी ( Metaphysical ) चिन्तन से विशेष शत्रुता है। यद्यपि तर्क-मूलक भाववादी बुद्धि के विरोधी नही हैं, फिर भी उन्हे विशुद्ध बौद्धिक चिन्तन (Speculative Reasoning) में गम्भीर अविश्वास है। वे किसी भी ऐसी स्थापना (Hypothesis) या सिद्धान्त (Theory) को अर्थपूर्ण नही मानते जिसे इन्द्रिय-अनुभव द्वारा परीक्षित न किया जा सके। तर्कमूलक भाववाद ने अपने को विज्ञान के एक महत्वपूर्ण दर्शन मे विकसित किया और घोषणा की कि ऐसा कोई सत्य नही है जो विवादास्पद न हो, और यह कि समस्त वैज्ञानिक स्थापनाएँ अस्थायी कल्पनाएँ मात्र होती हैं, जिनमे भावी प्रयोगात्मक अन्वेषणो द्वारा सशोधन आवश्यक

हो सकता है। इस प्रकार, तर्कमूलक भाववाद के अनुसार कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्तिम सत्य की झाँकी नही कराता। विज्ञान के सारे सिद्धान्त उपयोगी कल्पनाएँ भर होते हैं। तर्कमूलक भाववादियो को इस बारे मे निश्चित सन्देह है कि विज्ञान प्रकृति के बारे मे कभी अन्तिम सत्यो को पा सकता है। और विज्ञान के बाहर के क्षेत्रो, जैसे नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र में, तो किसी प्रकार के सत्य को पाया ही नही जा सकता। इस प्रकार निश्चित अथवा अन्तिम सत्यो की प्राप्ति के सम्बन्ध में—फिर वह प्राप्ति चाहे केवल तर्क से हो, अथवा अनुभव द्वारा परीक्षित तर्क से—तर्कमूलक भाववादियो का मनोभाव निषेधात्मक तथा निराशावादी है। इस प्रकार तर्कमूलक भाववाद मे जेम्स आदि की बुद्धि-विरोधी दृष्टि सन्निहित है। साथ ही उसे बुद्धि से भिन्न मनुष्य की किसी दूसरी क्षमता मे विश्वास नही है, जैसा कि जेम्स को कृति-शक्ति मे था। तर्कमूलक भाववाद मानता है कि प्रत्येक विवाद मे हमारी आखिरी अदालत इन्द्रियानुभूति है। ऐन्द्रिय अनुभूति के समर्थक होने के नाते इस सम्प्रदाय के लोग ह्यूम की भाँति सार्वभौम सयोजक कथनो या सत्यों (Synthetic Necessary Propositions) की सम्भावना से इनकार करते है।

फ़्रायडीय सिद्धान्त दूसरा शक्तिशाली सम्प्रदाय है जो हमारे युग के बुद्धि-विरोधी पक्षपात को पुष्ट करता है। फ्रायड के अनुसार हमारी अधिकाश तर्कना हमारे आवेगो तथा आवेगमूलक पक्षपातो द्वारा सचालित रहती है; प्राय हम अपने आन्तरिक पक्षपातों के मडन के लिये तर्क करते है, न कि वस्तु परक सत्य की प्राप्ति के लिए। इसलिए सत्य ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त हम बुद्धि नामक उपकरण पर निर्भर नही कर सकते।

हमे कुछ रुककर इन मन्तव्यो के कतिपय भयकर निष्कर्षो पर ध्यान देना चाहिये। तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार जहाँ हम प्रकृति का केवल कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर सकते है, वहाँ उन जीवन-मूल्यो के सम्बन्ध मे जिनका हमारी जिन्दगी से गहरा लगाव है, हम किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। फ्रायड के अनुसार भी मानवीय चरित्र एकदम बुद्धि-विरोधी है। चूंकि मनुष्य अपने लक्ष्यो तथा प्रयोजनो का चुनाव करते समय बुद्धिपूर्वक अग्रसर नही हो सकता, इसलिये यह प्रश्न कि मानव-प्रयत्नो का चरम लक्ष्य क्या है, निरर्थक हो जाता है।

एक दूसरी ओर से भी आज का मनुष्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचता दिखाई देता है। समाज-शास्त्र और नर-विज्ञान अपेक्षाकृत नयी विद्याये है, उन्नीसवी सदी मे उन पर

विकासवाद का विशेष प्रभाव रहा। वे यह मानती रही कि मनुष्य क्रमश उच्चतर स्थितियो की दिशा मे विकास करता आया है। जैसा कि श्री सोरोकिन ने लक्षित किया है ' अठारहवी और उन्नीसवी सदियो का सामाजिक चिन्तन इस विश्वास से अनुप्राणित था कि विकास एक रेखा मे प्रगति की ओर होता है।"[३] वर्तमान शताब्दी में उक्त विज्ञानो ने अपने को विकासवाद के जादू से मुक्त कर लिया है, उनका यह विश्वास जाता रहा है कि मनुष्य अनिवार्य रूप मे प्रगति करता है। अब वे विज्ञान, अर्थात् समाजशास्त्र और नर-विज्ञान, विकसित हो चले है। इधर उन्होने जिस चीज पर विशेष गौरव दिया है वह है—मूल्य-सम्बन्धी एकान्त सापेक्षता।

समाजशास्त्रियो में श्री वेस्टरमार्क का नाम खास तौर से नैतिक सापेक्षतावाद (Ethical Relativity) से सम्बद्ध है। उनकी एक पुस्तक का, जो सन् १९३२ मे प्रकाशित हुई थी, नाम भी यही है, अर्थात् "नैतिक सापेक्षता"। इससे पहले उनकी एक दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिसका अब नाम था "नैतिक धारणाओ का उद्भव और विकास।" इस पुस्तक मे श्री वेस्टर मार्क इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि नैतिक वक्तव्यो का उद्गम हमारे आवेगो मे होता है। इस निष्कर्ष का साफ अभिप्राय यह है कि हमारे नैतिक वक्तव्य वस्तुगत रूप मे प्रामाणिक नही होते, जैसा कि हमारी सहज बुद्धि और नीति-शास्त्र के आदर्श-मूलक सिद्धान्त प्रकट करते है।[४] नैतिक सापेक्षता का 'मतलब यह है कि नैतिक जीवन का कोई वस्तुगत पैमाना नही है',[५] जिसे सब मनुष्य स्वीकार कर सके। नैतिकता के वस्तु-परक पैमानो के सम्बन्ध मे ऐसा ही विश्वास आज के नर-विज्ञानी भी प्रकट करते है।

ऊपर हमने उन कारणतत्वो का परिगणन किया जो आज के सास्कृतिक सकट का मूल है, अर्थात् जो जीवन के मूल्यो तथा आदर्शो के सम्बन्ध मे अनिश्चय एव भ्राति को जन्म देते है। हमारे युग का यह सकट उन्नीसवी सदी के सकट से अधिक उग्र है, और इसलिये उसका प्रभाव भी अधिक विपाक्त है। उन्नीसवी सदी मे यह विश्वास वर्तमान था कि मानवीय बुद्धि सत्य का अनुसधान कर सकती है। इसके विपरीत हमारी शताब्दी को मानवीय बुद्धि में एकदम ही आस्था नही है, और वह यह मानकर चलती प्रतीत होती है कि मनुष्य कभी उन मूल्यो के स्वरूप से परिचित नही हो सकता जिनके लिये उसे जीना चाहिए। मूल्यो के सम्बन्ध में मनुष्य कोई भी मन्तव्य क्यो न बनाये, वह अनिवार्य रूप में आत्म-परक होगा। इसका मतलब यह है कि ऐसे कोई वस्तु-परक अर्थात् वास्तविक मूल्य नही है जिनके लिए मानव-जीवन को जिया जाय।

मनुष्य-सम्बन्धी विद्याएँ आज जिस दुरवस्था में हैं उसके कारणो को ठीक-ठीक न समझते हुए कुछ परीक्षको ने यह प्रस्ताव किया है कि मानवीय विद्याओ को भौतिक विज्ञानो की अन्वेषण-पद्धतियों का अवलम्ब लेना चाहिये। ये भोले लोग समझते हैं कि इस प्रकार की पद्धतियो का प्रयोग करके मनुष्य अपने पर तथा अपने भविष्य पर अधिक नियत्रण कर सकेगा। मानो कि माप और गणना की मात्रा-मूलक क्रियाएँ विभिन्न जीवन-नीतियो या आदर्शों के गुणात्मक भेद पर प्रकाश डाल सकेगी! मानो कि अभी दुनिया की सरकारे, प्रेस, रेडियो और पुलिस की सहायता से, अपनी जनता पर आवश्यकता से अधिक नियत्रण नही रख रही हैं!

सकट की धारणा ही गुणात्मक है, जिसमे अनेक मूल्यात्मक अर्थात् गुणात्मक निर्णय सनिहित हैं। यह कैसे सभव है कि हम उसे मूल्य-बहिष्कारी प्रत्ययो की मदद से समझ ले, और विशुद्ध मात्रा-मूलक व्यापारो द्वारा उसका प्रतिकार कर सके? जब तक हम यह निश्चित रूप मे न दिखा दे कि मनुष्य की गुणात्मक प्रतीतियाँ और पक्षपात, उसका तर्क-मूलक व्यवहार और उसकी नैतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ, अनिवार्य रूप में उन यात्रिक तथा रासायनिक परिवर्तनों से सहचरित हैं जिन्हे ठीक-ठीक नापा-जोखा जा सकता है, तब तक मात्रा-मूलक पद्धतियो के प्रयोग का उचित मडन नही हो सकता। हमारे युग की, और सभवत सब युगो की, मुख्य समस्या यह है कि कैसे मनुष्यों मे वह विवेक और क्षमता उत्पन्न की जाय जिनसे वे उच्चतर एव निम्नतर जीवन-स्थितियो मे भेद कर सके और उच्चतर के अन्वेषण मे प्रवृत्त हो सके।

## २

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य सस्कृति का, उसे एक मूल्य मानते हुए, विश्लेषण और निरूपण करना है। सस्कृति का जो विवेचन यहाँ किया गया है वह दो मौलिक मान्यताओ पर निर्भर है। ये दोनों मान्यताएँ "सृजनात्मक मानववाद" व्यजना मे समावेशित हैं। पहले हम उस सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को समझाने का प्रयत्न करेंगे जो उक्त व्यजना मे निहित है।

"मानववाद" शब्द का शुरू से ही विभिन्न लोगो के लिये अलग-अलग अर्थ रहा है, और आज भी स्थिति बदली नही है। उसके निम्न अर्थ प्रचलित रहे हैं: धार्मिकता का अभाव और मध्ययुगीन मनोवृत्ति का विरोध, यूनानी जीवन-दृष्टि (Paganism)

और इन्द्रियो अथवा इन्द्रिय-जन्य सुखो के महत्व की घोषणा, इहलोकवाद बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद, मानवीय अधीतियो की अर्थात् साहित्य, दर्शन और अध्यात्म से सम्बन्धित "क्लासिक्स" के अध्ययन मे अभिरुचि, मानव-जीवन और अनुभूति के महत्व मे आस्था, इत्यादि। प्रो० एडवर्ड चेने के अनुसार 'सोलहवी सदी के बाद से मानववाद से अभिप्राय उस दर्शन का रहा है जिसका केन्द्र और प्रमाण दोनो मनुष्य ही है।'[६]

प्रो० चेने ने मानववाद का जो वर्णन दिया है वह, बहुत स्पष्ट न होते हुए भी, इतना आकर्षक है कि किसी को अग्राह्य नही होसकता। वह अस्पष्ट है, और वैसे ही अस्पष्ट है जैसे कि यूनानी सोफिस्ट विचारक प्रोटेगोरस की यह उक्ति कि 'मनुष्य ही सब चीजो का माप या मानदण्ड है।' इसका कारण है. दोनो मे कोई भी 'मनुष्य' शब्द का ठीक अर्थ नही बतलाता। स्पष्ट ही उक्त वक्तव्यों का यह अर्थ नही हो सकता कि ज्ञानवान् एव विवेकी पुरुष और मूर्ख, सामान्य मनुष्य और असामान्य (Abnormal) अथवा अवसामान्य (Subnormal) व्यक्ति, समान रूप मे मानववादी दर्शन का प्रमाण हो सकते है। इन्ही कारणो से हम पाठको से निवेदन करेगे कि वे इस पुस्तक में प्रयुक्त "सृजनात्मक मानववाद" व्यजना पर परम्परागत अर्थो तथा अनुषगो ( Associations ) का भार न लादे, और उसे एक पारिभाषिक पदावली मानकर अग्रसर हो। यहाँ हम जिस मानववाद का प्रतिपादन करना चाहते है उसे दूसरी दृष्टि से गुणात्मक मानववाद ( Qualitative Humanism) भी कहा जा सकता है। श्री क्रेन ब्रिन्टन ने अपनी पुस्तक "विचार और मनुष्य" (Ideas and Men) मे एक विशेष कोटि के मानववाद का उल्लेख किया है, अर्थात् उद्दाम उल्लास-मूलक मानववाद ( Exuberant Humanism ) का, गुणात्मक मानववाद उससे भिन्न होगा, क्योकि वह जीवन की गुणात्मक विशेषता पर अधिक गौरव देगा। फिर भी हमने "सृजनात्मक" शब्द के प्रयोग को पसन्द किया है, कारण यह है कि इस शब्द का हमारी मानव-प्रकृति और मानव-उपलब्धियो से सम्बन्धित मन्तव्यो की अपेक्षा से विशिष्ट अभिप्राय और महत्व है।

सृजनात्मक मानववाद एक मानव-केन्द्रित दर्शन है जिसके अनुसार मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सृजनशीलता है। यहाँ 'मानव-केन्द्रित' व्यजना के दो अभिप्राय है। प्रथमत हम मानते है कि दार्शनिक चिन्तन का वास्तविक विषय स्वयं मनुष्य है, अर्थात् वह मनुष्य जो मूल्यो का वाहक और स्रष्टा है। जैसा कि

कवि पोप ने कहा है, मानव जाति के अध्ययन का उचित विषय मनुष्य है। दार्शनिक अध्ययन का विषय मनुष्य है, इस मान्यता पर गौरव देने के लिये हमने आगे दर्शन को 'मानवात्मा अथवा मानवीय सस्कृति का अपरोक्षमूलक वर्णन' (Phenomenology of Human spirit or Human Culture) कथित किया है। हमारी दर्शन की परिभाषा इस प्रकार है : दर्शन सास्कृतिक अनुभव के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्याकन का प्रयत्न है। मनुष्य को आत्म-ज्ञान सम्पादित करना चाहिए, ऐसा विचारक लोग प्राचीन काल से कहते आये है, यह शिक्षा उपनिषदो में भी मिलती है और यूनानी विचारक सुकरात में भी। दूसरे, मानव-केन्द्रित विशेषण का अभिप्राय यह है कि इस जीवन-दर्शन मे परलोक और पारलौकिक शक्तियो के लिये स्थान नही है। हम मनुष्य से ऊँची किसी सत्ता मे विश्वास नही रखते। फिर भी यह दर्शन प्रकृति-वाद से भिन्न है,क्योकि हम मानते है कि मनुष्य का अध्ययन उसे प्रकृति का अग मानकर नही किया जा सकता। अधिकाश विचारक जो परलोक को नही मानते, अपने को प्रकृतिवादी कहते है; प्रकृतिवाद और भौतिकवाद लगभग पर्यायवाची शब्द है। सृजनात्मक मानववाद का किसी भी कोटि के प्रकृतिवाद अथवा भौतिकवाद से कोई लगाव नही है।

भूततत्त्व अथवा पुद्गल की कोई ऐसी परिभाषा देना कठिन है जिसे सब स्वीकार कर सके। उसके अन्तर्गत हम उन सब सूक्ष्म तथा विशाल वस्तुओं का समावेश कर सकते है जिनका अध्ययन भौतिक विज्ञानो मे होता है। हमारी मान्यता और विश्वास है कि वे विज्ञान किसी भी भाँति मानव-जीवन और अनुभूति का अल्प-सफल अध्ययन भी नही कर सकते। वे वास्तविकताएँ जो खास तौर से मानवीय है, भौतिक शास्त्र तथा रसायनशास्त्र जैसे विज्ञानो की पकड़ मे बिल्कुल ही नही आ सकती। इसलिये मानवीय जीवन तथा अनुभूति के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण समीचीन नही है।

ऊपर हमने कहा कि हमारी अलौकिक अथवा अतिमानव वास्तविकताओं मे आस्था नही है; इसका मतलब यह है कि हम ईश्वर, ब्रह्म जैसे पदार्थो की, जिनकी स्थिति मानवीय अनुभूति से परे समझी जाती है, कल्पना को उचित नही समझते। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि सृजनात्मक मानववाद धर्म-विरोधी है। हमारे मत मे धर्म या अध्यात्म की स्थिति मानवीय अनुभव में ही है, सम्भवत. आध्यात्मिक अनुभूति मनुष्य की सबसे ऊँची अनुभूति होती है। किन्तु हम मानते है कि यह अनुभूति मानवीय अनुभूति होती है, और इसलिए वह न तो उस अनुभूति की परिधि का अति-

क्रमण ही करती है, और न अ-बुद्धिगम्य ही होती है। प्रस्तुत लेखक के मत मे आध्यात्मिक अनुभूति का तत्व दो चीजो मे निहित होता है सब प्रकार के सीमित एव नश्वर पदार्थों तथा मूल्यो के प्रति वैराग्य-भावना मे, और इस आस्था मे कि मानव-जीवन की कोई ऐसी परिणति है जिसमें अनन्त सार्थकता या मूल्य है। सब प्रकार की उच्च सास्कृतिक क्रियाओ मे धार्मिक उदासीनता तथा रहस्यपूर्ण ऊँचे लक्ष्य के प्रति लगाव का अश रहता है, ये चीजें गहरी तथा तीव्र आदर्शोन्मुख (Platonic) प्रेमानुभूति मे भी पायी जाती हैं। अपने अस्तित्व का कल्पना-मूलक विस्तार करके प्राय सभी मनुष्य सभी देशो तथा युगो के रहस्यवादियो एव प्रेमियो की उल्लासपूर्ण अनुभूतियो मे साझेदार बन जाते हैं।

तीसरे, मानव-केन्द्रित व्यजना एक अन्वेषण-सम्बन्धी मन्तव्य को प्रकट करती है सब प्रकार का व्यवस्थित या सगठित ज्ञान मानव-रुचियो और प्रयोजनो का सापेक्ष होता है, और कोई ज्ञान ऐसा नही है जो मानवीय अनुभूति तथा कल्पना की सीमाओ का अतिक्रमण करता हो। इस मन्तव्य के उत्तरार्ध को हम ऊपर समझा चुके हैं, आगे हम उसके पूर्वार्ध की व्याख्या करेंगे।

सब प्रकार का ज्ञान, विशेषत सगठित एव व्यवस्थित ज्ञान, मानवीय रुचियो का सापेक्ष होता है। सम्भव है कि मनुष्य के कुछ मामूली सवेदन उसकी रुचियो तथा प्रयोजनो से सम्बन्धित न होते हो, किन्तु उसकी समस्त प्रतीक-मूलक चिन्तन-क्रियाएँ, सब प्रकार का प्रत्ययात्मक बोध, आवश्यक रूप मे उसके एक या दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध होता है। मनुष्य की सारी बातचीत और विवेचना प्रयोजन-सापेक्ष होती है, और प्रयोजनों के सन्दर्भ मे ही उसकी धारणाओ तथा वक्तव्यो का अर्थ होता है। इस प्रतीति का कि भौतिक विज्ञानो का बोध प्रयोजन-निरपेक्ष या उदासीन होता है, कारण यह है कि विज्ञान का सीधा लगाव साधनो से होता है, और उसका साध्यो या लक्ष्यो से दूर का सम्बन्ध ही रहता है। विज्ञान उसी अर्थ में पूर्णतया वस्तु-परक (Objective) और बुद्ध्यनुसारी (Rational) होता है, जिस अर्थ में एक स्पष्ट, बुद्धि-सगत लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त साधन बुद्ध्यनुसारी हो सकते है। जहाँ तक जीवन के लक्ष्यो का सवाल है, उनमें से किसी को वैज्ञानिक अथवा तर्क-मूलक पद्धति से बुद्धि-सगत सिद्ध नही किया जा सकता। उदाहरण के लिये हम यह कभी सिद्ध नही कर सकते कि किसी जीवधारी की स्वस्थ स्थिति, अथवा मानव-अस्तित्व का लगातार बने रहना, ऐसी वाछनीय चीजे है जिनके लिये प्रयत्न किया जाय।

जहाँ तक उन धारणाओ का प्रश्न है जो साधनो के क्रम का वर्णन करती है, यह प्रमाणित नही किया जा सकता कि वे मानवीय लक्ष्यों से असबद्ध होती है। उदाहरण के लिये मात्रा या बोझ, दूरी, वेग आदि की धारणाएँ, सीधे या दूरवर्ती ढग से, एक या दूसरे मानव-प्रयोजन से सम्बन्धित हैं। प्रकृति-जगत का वर्णन करते हुए मनुष्य इन धारणाओ का प्रयोग करता है, क्योकि उसे दूरियॉ तय करने और विभिन्न वस्तु-पिण्डो को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में अभिरुचि है।

किन्तु, इस कथन का कि मनुष्य का समस्त ज्ञान प्रयोजन-सापेक्ष है, यह अर्थ नही कि वह निष्पक्ष, वस्तु-परक या तटस्थ अन्वेषण कर ही नही सकता। हमारा अनुमान है कि इस सम्बन्ध मे परम्परागत व्यवहारवाद (Pragmatism) का सिद्धान्त भ्रामक चिन्तन का अपराधी रहा है। यह ठीक है कि मनुष्य वेग (Speed) नामक धारणा का प्रयोग इसलिये करता है कि उसका उसके प्रयोजनो से सम्बन्ध है, किन्तु इसका यह मतलब नही कि ध्वनि, प्रकाश आदि के वेगो का निर्धारण करते हुए अन्वेषक पर, व्यक्तिगत प्रयोजनों का प्रभाव रहता है। प्रस्तुत लेखक के मत मे सब प्रकार की उच्च सास्कृतिक क्रिया मे उन चीजो के प्रति जो केवल व्यक्तिगत और उप-योगी है, आवश्यक रूप मे उदासीनता का भाव रहता है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक अन्वेषण तथा चिन्तन भी व्यक्तिगत प्रयोजनो तथा उपयोगिता का अतिक्रमण करता है। यह ठीक है कि मानवीय ज्ञान अनिवार्य रूप मे उन बौद्धिक साँचो मे ढाला जाता है जिनका रूप मानवीय प्रयोजनो से निरूपित होता है; किन्तु उन प्रयोजनों का सम्बन्ध मनुष्य नामक जीव-योनि की सामान्य रचना से होता है, न कि अन्वेषको के व्यक्तिगत स्वार्थो से।

हमारे तथा व्यवहारवाद के मन्तव्यो मे एक दूसरा महत्वपूर्ण भेद है। व्यवहार-वादी प्राय' प्रयोजन का अर्थ मनुष्य का वह स्वार्थ समझते है जिसका सम्बन्ध उसके अस्तित्व तथा सुरक्षा से होता है। इसके विपरीत हम मानते है कि मनुष्य के कतिपय विशुद्ध आत्मिक या आध्यात्मिक प्रयोजन भी है। उदाहरण के लिये मनुष्य यह चाहता है कि वह अपने अनुभवो को एक आत्मसगत बौद्धिक समष्टि मे ढाल ले, अर्थात् अपने अनुभवो को सम्वद्ध रूप मे एकत्रित कर ले। उसका यह प्रयोजन उपयोगिता की परिधि मे नही आता, उसका मूल मनुष्य की सौन्दर्यसम्बन्धी माँगो मे है। इस प्रयोजन की पूर्ति चाहने वाला कलाकार या अन्वेषक स्थूल उपयोगिताओ के प्रति दूर तक उदासीन होता है। मनुष्य का उक्त प्रयोजन उसकी प्रकृति की एक दूसरी प्रेरणा

या प्रवृत्ति से सम्बद्ध होकर व्यापृत होता है, अर्थात् उसकी अपने आन्तरिक अस्तित्व का विस्तार करने की प्रवृत्ति।

अब तक हमने 'मानव-केंद्रित' पद का अर्थ समझाने की कोशिश की। अब हम सृजनात्मक मानववाद की दूसरी मान्यता की व्याख्या करेंगे अर्थात् इस मान्यता की कि मनुष्य सृजनशील प्राणी है। मनुष्य की सृजनशीलता का ज्ञान हमें स्वानुभूति या आत्मानुभूति से होता है। हम यहाँ उसे एक मान्यता (Postulate) के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि यह कठोर तर्क-प्रणाली में सिद्ध नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य सृजनशील ढग से आत्म-निर्धारण करता है। मनुष्य उपयोगी तथा निरुपयोगी या सास्कृतिक दोनो धरातलों पर सृजनशील होता है। उसकी सृजनशीलता अपने को निम्न रूपो मे प्रकट करती है -

(क) मनुष्य प्रकृति के तथ्य-क्रम में अपने उपयोगात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक प्रयोजनो के अनुसार परिवर्तन और नये सगठन उत्पन्न करके अपनी सृजनशीलता को प्रमाणित करता है। इस कोटि की सृजनशीलता की अभिव्यक्ति हमें निम्न श्रेणी के जन्तुओ में भी मिलती है, जैसे कि चिड़ियो मे जो अपने घोंसले बनाती हैं। जब कोई जीव प्रकृति द्वारा प्रस्तुत किये हुए वस्तु-क्रम को ज्यों का त्यों स्वीकार नही करता और उसे इस प्रकार तोड़ता-फोड़ता तथा पुनर्गठित करता है कि वह उसके विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्ति कर सके, तब उसका व्यवहार सृजनात्मक होता है। आज हम नगरो आदि के जिस कृत्रिम परिवेश में रहते हैं उसके अस्तित्व का एक मात्र कारण मनुष्य है। मनुष्य के हस्तक्षेप के बिना यह परिवेश, जो प्राकृतिक क्रियाओ के निहित उद्देश्यों से एकदम बहिर्भूत है, कभी भी अस्तित्व मे न आता।

(ख) मनुष्य अपने परिवेश को एक सार्थक क्रम या व्यवस्था ( Meaningful Order) के रूप मे जानता या ग्रहण करता है। वह विभिन्न वस्तुओं, जैसे सोने, सिक्कों और नोटो के प्रति समान प्रतिक्रिया करता है, और विभिन्न अवसरो पर, उन्ही वस्तुओ के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ करता है। तात्पर्य यह कि वस्तुओं तथा घटनाओ के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ यान्त्रिक, एकरूप या सुनिश्चित न होकर परिवर्तनशील होती है और वस्तुओं के विभिन्न अवसरों पर बदले हुए अर्थों के अनुसार बदल जाती है। विभिन्न मौको पर मनुष्य अपनी उन्ही जरूरतो को विभिन्न ढगो से पूरा करता है, और वह अपनी जरूरतो एव उनकी पूर्तियो के क्रमो को नये सगठनो मे ग्रथित करता रहता है।

(ग) मनुष्य लगातार अपनी प्रतिक्रियाओ की सीमा मे विस्तार करता रहता है, जिस यथार्थ के प्रति ये प्रतिक्रियाएँ की जाती है, वह भी निरन्तर विस्तृत होता रहता है। यही कारण है कि हम परिवर्तन की कामना करते हैं, यात्राएँ करना चाहते हैं, दूसरे साथियो के साथ समाज मे बैठना और गप करना पसन्द करते है, सिनेमा जाते हैं, कथा-साहित्य पढते है, और दूसरे सैकडो काम करते हैं।

(घ) अन्त मे, कहा जा सकता है कि मनुष्य की सृजनशील प्रकृति का सबसे स्पष्ट प्रकाशन उसकी प्रतीक-बद्ध कल्पना-मूलक निर्मितियों मे होता है। कविता और कथा-साहित्य मे ही नही, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचार-पद्धतियो मे, विभिन्न स्थापनाओ और सिद्धान्तो, योजनाओं और आदर्शों मे, मनुष्य की सृजनशील कल्पना अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है।

सृजनात्मक मानववाद को मानववाद की कतिपय दूसरी दार्शनिक कोटियो से तुलित एव पृथक् करना उपयोगी होगा। मानववाद के कुछ अदार्शनिक रूप भी है, जैसे स्वर्गीय प्रो० इरविंग बैबिट और स्व० पाल एलमर मोर का पाडित्य-मूलक मानववाद (Academic Humanism) और श्री जॉक मारिताँ का समन्वयात्मक या कैथालिक मानववाद (Integral or Catholic Humanism)। इनसे हमारे मन्तव्यो की तुलना पाठको के लिये विशेष ज्ञानदायक नही होगी।

व्यवहारवाद (Pragmatism) से मिलते-जुलते एक प्रकार के दार्शनिक मानववाद का प्रतिपादन ऑक्सफोर्ड के श्री एफ० सी० एस्० शिलर ने इस शताब्दी के प्रारम्भ मे किया था। शिलर ने प्रोटेगोरस की इस प्रसिद्ध उक्ति को कि 'वस्तुओं का मानदड मनुष्य है', अपने चिन्तन का आरम्भ-विन्दु बनाया। उक्ति मे विद्यमान मनुष्य शब्द का अर्थ उन्होने मानव जाति किया, जो कि उचित था। मतलब यह हुआ कि सम्पूर्ण मानव जाति ही मानवीय वस्तु-बोध का प्रतिमान हो सकती है। सम्भवत यह 'मनुष्य' शब्द की व्याख्या न होकर पुनर्व्याख्या थी। शिलर ने इसी प्रकार मानदड या माप (Measure) शब्द का भाष्य करते हुए कहा कि उसमे नाप-तोल की माँग निहित है,[७] जो कि आधुनिक विज्ञान की अन्वेषण-पद्धति का आधार-स्तम्भ है। इस भाष्य की समीचीनता और उपयोगिता मे सन्देह किया जा सकता है। अपने मानववाद मे शिलर ने निम्न वक्तव्यो पर जोर दिया.[८] (क) मनुष्य का व्यावहारिक जीवन या व्यवहार मुख्य है, और चिन्तन गौण, (ख) विशुद्ध बौद्धिकता अथवा

विशुद्ध चिन्तन का विशेष महत्व नही है, वस्तुत विशुद्ध बुद्धि अथवा चिन्तन की स्थिति ही नही है। तात्पर्य यह कि समस्त चिन्तन व्यावहारिक प्रयोजनो की पूर्ति के लिये होता है। (ग) शिलर के मानववाद ने इस बात पर जोर दिया कि ज्ञान के क्षेत्र मे कृति-शक्ति (Will) का विशेष स्थान होता है। जिसे हम तात्विक पदार्थ या यथार्थ कहते हैं वह, वह चीज है जो हमारी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करती है। तथाकथित बुद्धि 'वह हथियार है जिसके द्वारा हम अपने को परिवेश के अनुकूल बनाते और जीवन सग्राम मे विजयी होते हैं।[९] इस मान्यता का एक निष्कर्ष यह हैं कि समस्त सच्चा ज्ञान उपयोगी होता है, और निरुपयोगी ज्ञान मिथ्या होता है। (घ) काट ने व्यावहारिक बुद्धि की मुख्यता (Primacy of Practical Reason) का मन्तव्य प्रतिपादित किया था। उसे स्वीकार करते हुए शिलर मानते हैं कि श्रेय (Good) की धारणा प्रधान है, और सत्य तथा यथार्थ की धारणाएँ गौण या अप्रधान है।

सृजनात्मक मानववाद शिलर की इस मान्यता से सहमत है कि मनुष्य का ज्ञान उसके प्रयोजनों का सापेक्ष होता है। किन्तु वह यह नही मानता कि मनुष्य के प्रयोजन केवल उपयोगी या व्यावहारिक ही होते हैं। मानव-जीवन केवल बाह्य परिवेश की अपेक्षा मे अनुकूलीकरण (Adaptation) नही है, और मानव-बुद्धि का कार्य उस अनुकूलता की स्थिति को उत्पन्न करके ही समाप्त नही हो जाता। सफल अनुकूलीकरण तथा प्रभावपूर्ण अस्तित्व की जरूरतो से कही ऊपर उठकर मनुष्य की बुद्धि और कल्पना उसे कला-सृष्टि और वैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन की सृजनात्मक क्रियाओ में लगा देती है, जिनके द्वारा मानव-आत्मा का विस्तार या प्रसार होता है। सृजनात्मक मानववाद की शिक्षा मे निहित एक तत्व यह है कि मनुष्य को उसके प्रति जो केवल उपयोगी और व्यक्तिगत है, कुछ हद तक उदासीन होना चाहिए। इसलिये इस कथन का कि समस्त ज्ञान प्रयोजन-मूलक होता है यह अर्थ नही (जैसा कि व्यवहारवादी प्रतिपादित करते हैं) कि समस्त ज्ञान उपयोगी होता है। सृजनात्मक मानववाद यह भी नही मानता कि सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा बौद्धिक क्रियाओ की अपेक्षा नैतिक व्यवहार आवश्यक रूप मे उच्चतर होता है। वस्तुत, जैसा कि आगे दिखाया जायगा, 'नैतिक' शब्द का अर्थ अनिश्चित है। उसका मतलब या तो वह चीज हो सकती है जो प्रत्याशित और कर्तव्य है, या वह व्यवहार जिसमें सृजनशील धार्मिकता या साधुता की अभिव्यक्ति होती है। जब हम नैतिक को इस दूसरे अर्थ में लेते हैं, तब उसे सौन्दर्य-सम्बन्धी व्यवहार तथा बौद्धिक व्यवहार से कुछ ऊपर स्थान दिया जा सकता है।[१०]

किन्तु नैतिक की इस प्रकार की श्रेष्ठता शिलर को अभिप्रेत नही है। नैतिक की श्रेष्ठता का उनके लिए कुछ दूसरा ही अर्थ है। जहाँ तक उपयोगी चीजों का सवाल है, उनका स्थान साधनात्मक मूल्यो के बीच है, और वे निश्चित रूप में सौन्दर्य तथा दूसरे साध्यात्मक मूल्यो से घटिया होती हैं। उपयोगिता से सम्बद्ध प्रत्ययो या धारणाओं का भौतिक विज्ञानो के वर्णनो तथा प्रतिपादनो में विशेष स्थान होता है, किन्तु सौन्दर्य-मूलक तथा तर्कशास्त्रीय निर्मितियो मे उनका कोई खास स्थान नही होता। अपने ऊँचे रूपो में तो विज्ञान की निर्मितियाँ ( Constructions ) भी सौन्दर्य-मूलक तथा तर्कशास्त्रीय जरूरतो से नियन्त्रित रहती हैं।

हाल ही मे प्रकाशित अपनी पुस्तक "मानववाद, एक दर्शन के रूप मे" मे न्यूयार्क के श्री कारलिस लेमान्ट ने तथाकथित भौतिकवादी मानववाद की स्पष्ट एव विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की है। लेमान्ट ने इस बात पर विशेष गौरव दिया है कि भौतिकवाद मानववाद का एक आवश्यक तत्व है। उन्होंने यह सम्मति प्रकट की है कि मानवीय इतिहास के प्राय समस्त भौतिकवादी विचारक-प्रोटेगोरस और डेमोक्राइटस, एपीक्यूरस और ल्यूक्रीशियस, ला मैत्री और हेल्वेशियस, होल्बाश और डिडेरो, मार्क्स और एंगेल्स, कॉम्त और जान स्टुअर्ट मिल, रसेल, ड्यूई आदि—उनके अभिमत मानववाद के दार्शनिक पूर्वगामी थे। लेमान्ट द्वारा प्रतिपादित मानववाद स्पष्ट रूप मे धर्म-विरोधी है। उन्हे पुनर्जागृति-काल का यह आदर्श पसन्द है कि मनुष्य को अपना व्यक्तित्व चारो ओर से विकसित करना चाहिए। लेमान्ट ने इस बात पर जोर दिया है कि मनुष्य को इस धरती के इस जीवन मे अधिकतम रस लेने तथा उसका उपभोग करने का प्रयत्न करना चाहिये।[११]

लेमान्ट का उत्साह सराहनीय है। किन्तु उन्होने जिस प्रकार के जीवनोपभोग की सिफारिश की है, उसमे हल्केपन का आभास होता है। लेमान्ट के जीवन-दर्शन मे उस चीज के लिये कोई स्थान दिखलायी नही देता जिसे फ्रेंच विचारक ज़ॉक मारितॉं ने "वीरोचित जीवन की कामना" कहा है, और जिसे वह मानव-प्रकृति की निसर्ग-सिद्ध कामना मानते हैं।[१२]

यह काफी नही है कि मनुष्य सभ्यता का निर्माण करे, और उसके सुखो का उपभोग करे, यह भी काफी नही है कि सभ्य जीवन की सुविधाएँ सब मनुष्यों के लिए सुलभ बना दी जायँ। मानव-जीवन की सार्थकता केवल इसमें नही है कि उसकी

जरूरतें पूरी हो जायें, यह उस जीवन की सार्थकता या महत्वपूर्ण अंग भी नहीं है। मनुष्य की सार्थकता इसमें है कि वह ऐसी चीजों की चेतना प्राप्त करे जिनका उसकी जरूरतों से दूर का सम्बन्ध भी नहीं है, और इस प्रकार जरूरतों के क्षेत्र का अतिक्रमण करके अपने को विश्व की निरुपयोगी छवियों से सम्बद्ध अनन्त जीवन-सम्भावनाओं में उत्क्षिप्त करे। परम्परा के अनेक प्रतिबन्धों के होने हुए भी किसी के लिये यह बड़ी बात नहीं है कि वह अपने को इन्द्रिय-सुखों के आवर्त में डाल दे, वैसी परम्परा का विरोध भी कोई बड़ी बात नहीं है। ऐतिहासिक समाजों के प्रतिबन्धों के बीच ऐसे मनुष्य सदैव होते आये हैं जो इन्द्रिय-सेवी थे, सदैव ऐसे मनुष्य रहे हैं जो पुरानी रीतियों का आदर नहीं करते थे, और देवी-देवताओं से नहीं डरते थे। किन्तु इन्द्रिय सुखों के उपभोग के जीवन में यह क्षमता नहीं होती कि मानव-प्रकृति को उदात्त बना सके। इसके विपरीत वह जीवन मनुष्य को उनसे बाँध रखता है जो तत्काल सामने हैं, और इस प्रकार उसकी कल्पना के पंखों को कतर कर उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में बाधा डालता है।

लेमान्ट का कथन है कि मनुष्य और प्रकृति का द्वैत मिथ्या है।[१३] इसके विपरीत सृजनात्मक मानववाद इस द्वैत को अन्वेषण-सम्बन्धी आवश्यक मान्यता (Methodological Postulate)) के रूप में स्वीकार करता है। मनुष्य का सचेत व्यवहार शायद ही कभी एक निश्चित दिशा में निर्धारित होता है। मानव कर्त्ता प्राय अनेक सम्भावनाओं के क्षेत्र में व्यापृत होता है। इन सम्भावनाओं में से एक उसकी संकल्प-शक्ति के हस्तक्षेप से यथार्थ बन जाती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य का व्यवहार, बुद्धि-गम्य और व्याख्येय होते हुए भी, ऐसा नहीं होता कि उसकी ठीक-ठीक भविष्यवाणी की जा सके। इन दृष्टियों से प्रकृति के व्यवहार मानवीय व्यवहारों से उलटे अर्थात् विरोधी ध्रुव पर स्थित होते हैं। इसलिये वे अन्वेषण-पद्धतियाँ जो प्रकृति के अध्ययन में काम आती हैं, मनुष्य के अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं होती।

३

मनुष्य को समझने की ओर पहला कदम यह है कि हम उसकी प्रकृति की सृजन-शीलता को मुक्त भाव से स्वीकार कर लें। यह सृजनशीलता मनुष्य को प्रकृति से भिन्न बना देती है। इस स्वीकृति के बिना हम अनन्त काल तक इस बात पर विस्मय प्रकट करते रहेंगे कि मानवीय विद्याएँ वैसी प्रगति क्यों नहीं कर रही हैं जैसी कि भौतिक

विज्ञान कर रहे हैं, और फिर भी उक्त पहेली के किसी हल या समाधान पर नही पहुँच सकेंगे। वस्तुत यह परिस्थिति उन लोगों के लिये जो मनुष्य को प्रकृति मे निमग्न कर देना चाहते है, एक न बूझने योग्य पहेली ही हैं। किन्तु उन अन्वेषको को जो इस स्पष्ट तथ्य को स्वीकार करते है कि मनुष्य सृजनशील है, और उसकी प्रतिक्रियाएँ बदलती रहती हैं, धैर्य-पूर्वक यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि मानव-प्रकृति की उक्त विशेषता मानवीय विद्याओं को किन ढगो से प्रभावित कर सकती है।

## वस्तुनिष्ठता का अर्थ

विश्व की विभिन्न वस्तुओ को मनुष्य सार्थक तत्वों के रूप मे ग्रहण करता है; उसकी बुद्धि मे ये तत्व अर्थपूर्ण पद्धतियो के अग बन जाते है। चूँकि मनुष्य मे विभिन्न रुचियाँ एव प्रयोजन पाये जाते है, वह वस्तुओ को अनेक रूपो मे अर्थपूर्ण पाता है। विभिन्न अवसरो पर एक ही वस्तु के मनुष्य के लिये विभिन्न अर्थ हो सकते है, अथवा वह विभिन्न रूपो मे मूल्यवान प्रतीत हो सकती है। इसी प्रकार भिन्न दीखने वाले पदार्थ भी उसके लिये एक अर्थ रख सकते है। उदाहरण के लिये जब हम एक सिंह या मगरमच्छ को चिडियाघर में देखते है तब वे हमारे लिए सौन्दर्यात्मक पदार्थ हो सकते हैं, जिनके देखने मे हम रस का अनुभव करते है; किन्तु प्रकृति के प्रागण में दीखने पर वे ही जन्तु हमारे भय का कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार जब हमारा प्रयोजन कुछ चीजे बेचना या खरीदना होता है, तो चाँदी या सोने के सिक्को और कागज के नोटो का एक ही अभिप्राय होता है। एक और बात है; विभिन्न लोग एक ही वस्तु को अलग-अलग अर्थ-सन्दर्भो मे रखकर उसे अलग-अलग रूपो मे देखते है। उदाहरण के लिये एक शान्तिवादी ( Pacifist ) की क्रियाएँ एक व्यक्ति को बुद्धि-विरोधी तथा देशभक्ति के विपरीत प्रतीत हो सकती है, और दूसरे को युक्ति-सगत तथा उदात्त और मानवोचित। एक ऐसे सन्यासी अथवा सन्त की दृष्टि में, जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, सोने का कुछ भी मूल्य नही होता। इसी प्रकार गणित की एक तालिका अगणितज्ञ या कविता-प्रेमी के लिए निरर्थक वस्तु हो सकती है।

तो क्या यह मानना चाहिये कि वस्तुओं मे हम जिन मूल्यों का आरोप करते हैं वे एकदम आत्मनिष्ठ होते है ? इस प्रश्न का हम इस प्रकार उत्तर देगे। यदि आत्म-निष्ठ का अर्थ वह चीज है जो ज्ञातृ-चेतना की सापेक्ष है, अथवा वह चीज जो ज्ञाता के शरीर या मन मे स्थित है, तब तो वैज्ञानिक यन्त्रों से लिये हुए उल्लेख ( Readings )

वैसे ही आत्मनिष्ठ बन जायेंगे जैसे कि गौण गुण तथा मूल्य। उक्त दशा मे सब चीजें समान रूप मे आत्मनिष्ठ या आत्म-परक बन जायेंगी, और आत्म-परक तथा वस्तु-परक का भेद खत्म हो जायगा। इस कठिनाई से बचने के लिये हमें वस्तुनिष्ठ या वस्तु-परक की परिभाषा इस प्रकार देनी चाहिये : 'एक अर्थ वस्तु-परक होता है यदि, एक खास सन्दर्भ मे, सब सामान्य ( Normal ) प्रेक्षको के लिये उसका एक ही वाच्य या अभिप्राय हो।' विभिन्न अर्थ विभिन्न रुचियो अथवा प्रयोजनो के सन्दर्भ मे ही अस्तित्ववान् होते है, और सब सामान्य मनुष्य, सहानुभूति-मूलक कल्पना द्वारा, उन सन्दर्भों मे प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रकार अर्थों की अवगति प्राय मनुष्य की सृजनशील कल्पना पर निर्भर करती है, वह कल्पना व्यक्ति की तात्कालिक जरूरतो की निरपेक्ष होकर व्यापृत होती है।

प्रस्तुत लेखक ब्रेडले के इस मन्तव्य को स्वीकार करता है कि समस्त गुण आपेक्षिक होते है; उसे नागार्जुन और ब्रेडले का यह अधिक सामान्य सिद्धान्त भी स्वीकार है कि समस्त चीजो की स्थिति आपेक्षिक या सापेक्ष होती है। वह एक सम्बन्धहीन, निरपेक्ष तत्व या ब्रह्म की धारणा को स्वीकार नही करता। प्रस्तुत लेखक अध्यात्मवादी विचारको के इस मन्तव्य को स्वीकार करता है कि ज्ञात विश्व, आवश्यक रूप मे, मानवीय बुद्धि का सापेक्ष होता है। वस्तुत जर्मन दार्शनिक कान्ट के समान वह यह मानता है कि ज्ञात विश्व पर मानवीय प्रज्ञा, अथवा मानवीय प्रयोजनो द्वारा, निर्धारित सामान्य रूपाकार ( Forms ) आरोपित रहते हैं। किन्तु हमारी समझ में यह स्थिति यथार्थवाद ( Realism ) के विरुद्ध अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद की पुष्टि नही करती, कारण यह कि स्वय मनुष्य के प्रयोजन भी बाह्य जगत् की अपेक्षा में ही समझे जा सकते हैं। बाह्य विश्व और मानवीय बुद्धि या चेतना एक-दूसरे की सबद्धता में ही समझ में आ सकते हैं।

श्री वेस्टर मार्क ने लिखा है 'नैतिक मूल्यो की तथाकथित वस्तुनिष्ठता का अर्थ यह होगा कि वे मूल्य मानवीय मस्तिष्क की निरपेक्षता मे अस्तित्ववान हो सकते हैं।'[१४] हम नही समझते कि नैतिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी, अथवा तर्क-मूलक किसी भी प्रकार के मूल्यो की वस्तुनिष्ठता का यह विचित्र अर्थ कैसे हो सकताहै। वस्तुत विश्व के पदार्थो में किसी भी ऐसी विशेषता को पाना कठिन है जिसका मानवीय मस्तिष्क से, साक्षात् या दूर का, सम्बन्ध नही है। जहाँ तक चरम मूल्यो का प्रश्न है, वे चेतन अनुभव

के कुछ रूपो के समानात्मक होते है। साधनात्मक मूल्यो को तो साध्यात्मक मूल्यो की अपेक्षा मे ही समझा जा सकता है। मूल्यो को वस्तु-परक कहने से हमारा मतलब यह है कि सामान्य सवेदना तथा कल्पना से सम्पन्न सभी मनुष्य उन्हें चेतन जीवो के सुख के साधनो अथवा उपादानो के रूप मे ग्रहण कर सकते हैं।

सचेत अनुभव (Sentient Experience) की वे सम्भावनाएँ (Possibilities) भी जिनका साक्षात्कार सब सामान्य (Normal) नर-नारी कर सकते है, वस्तु-परक या वस्तुनिष्ठ कही जा सकती है।

समस्त तर्कना, साक्षात् प्रतीति के अतिरिक्त साधनो से घटित होने वाला समस्त ज्ञान-विस्तार, सभावनाओ की अवगति पर निर्भर करता है। विज्ञान मे हम किसी स्थापना को स्वीकार करके उसके सभव निष्कर्षों पर ध्यान देते है। तथ्यान्वेषी (Positive) तथा आदर्शान्वेषी (Normative) समस्त शास्त्रो का ज्ञान संभावनाओ के साक्षात्कार पर आधारित है।

भौतिक विज्ञान तथा गणित मे विस्तृत चिन्तन तभी हो सकता है जब हम स्थापनाओं को लेकर चले, और उन्हे सही मानकर उनके निष्कर्ष निकाल डाले। मूल्य-विज्ञानो के क्षेत्र मे जिन सभावनाओ पर विचार किया जाता है, और जिनका मूल्याकन करना होता है, वे दो तरह की होती हैं। कुछ संभावनाएँ ऐसी होती है, जिन्हे मनुष्य के सुपरिचित अनुभव के आधार पर समझा जा सकता है। सुधार तथा नवनिर्माण की अधिकाश योजनाएँ इस कोटि में आती है। दूसरी सभावनाएँ कतिपय दार्शनिक अथवा धार्मिक मान्यताओ पर आधारित होती है, जिन्हे सीधी अन्तर्दृष्टि से नही जाना जा सकता। उक्त कोटि की मान्यताओ के कुछ उदाहरण है: हिन्दू दार्शनिकों की मोक्षावस्था की धारणा, साम्यवादियो द्वारा कल्पित राज्यहीन समाज (Stateless Society) इत्यादि। इस प्रकार की मान्यताओ के आधार पर प्रकल्पित संभावनाएँ अवश्य ही न्यूनाधिक अनिश्चित बनी रहेगी। हमारे मत मे कल्पना-प्रसूत स्थापनाओ का अनुसरण करने वाली तर्क-पद्धति उन तथ्यान्वेषी विज्ञानो मे ही उचित होती है जहाँ परीक्षा (Verification) सम्भव होती है, वह तर्क-पद्धति मानवीय विद्याओ में, विशेषत आदर्शान्वेषी अथवा मूल्यात्मक अध्ययन-क्षेत्रो मे, समीचीन नही होती।

दूसरी ओर हम यह मानते है कि संभावनाओं का वह बोध जो हमारे परिचित अनुभव के विस्तार और पुन सगठन पर निर्भर करता है, मानवीय विद्याओ में ग्राह्य

होता है। हम मानते हैं कि मानवीय विज्ञानों तथा आचार-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के वे सिद्धान्त या नियम जो कल्पना-प्रसूत ( Speculative ) नही होते, इसी प्रकार परिचित अनुभव के विस्तार और पुन. सगठन द्वारा प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के नियम और सिद्धान्त भौतिक विज्ञानो के कल्पना-प्रसूत एव परीक्षित नियमों से भी अधिक दृढ आधार वाले होते है। बात यह है कि, अन्तिम विश्लेषण में, भौतिक विज्ञान के नियम कल्पना-प्रसूत होते है, और उनकी प्रामाणिकता का आधार व्यावहारिक सफलता होती हे। इस मन्तव्य से यह अनुगत होता है कि कुछ दृष्टियो से मानवीय विद्याएँ भौतिक विज्ञानों मे भी अधिक निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकती है। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि मानवीय विद्याओं के अनुभवात्मक कल्पना-मूलक (Empirico-imaginative) नियमो तथा सिद्धान्तो की निश्चयात्मकता पूर्णतया गुणात्मक होती है, वह नाप-जोख पर निर्भर नहीं करती। इस क्षेत्र में आँकडो तथा दूसरी मात्रा-मूलक पद्धतियो का प्रयोग भी ऐसे नियमो पर नही पहुँचाता जो मात्रा-मूलक हैं। मानवीय विद्याओ मे आँकड़ो और व्यक्तिगत तथा सामान्य इतिहासों का अध्ययन हमारे मन में मानवीय अनुभव तथा व्यवहार की गुणात्मक संभावनाओं की चेतना ही उत्थित करता है। मानवीय विद्याएं अर्थो के उन गुणात्मक सम्बन्धो का अध्ययन करती हैं जो मानव-जीवन तथा अनुभूति के उपादान होते हैं।

आदर्शान्वेषी विद्याओ के तथ्य मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा नैतिक पसन्दें होती है, ये पसन्दे या नापसन्दें उतनी ही मानव-प्रकृति में निहित होती हैं जितने कि मनुष्य के देखने, तर्क करने के तरीके। मूल्यो के क्षेत्र में कभी-कभी मनुष्यो के बीच आकाश-पाताल के अन्तर उत्पन्न हो जाते है, इसके दो कारण है। प्रथमत मनुष्य जब कतिपय कल्पना-प्रसूत आदर्शों तथा लक्ष्यो को पकड बैठता है, तो वह उन मूल्यों की यथार्थ प्रकृति को नहीं देख पाता जो सामान्य मानव-सवेदना को आकर्षक लगते हैं। उदाहरण के लिये मोक्ष की एक खास धारणा को मानकर चलने वाले जैन साधु अपने सिर के बाल नोच डालते है, और इसके लिये उनकी प्रशसा की जाती है। यदि हम जैनियो के विशिष्ट आदर्श को न मान लें, तो कभी ऐसे रोमाचक व्यवहार की प्रशसा नही कर सकते। इस सम्बन्ध मे यह बात याद रखने की है कि अपने पर नियत्रण और कष्ट-सहन की क्षमता प्रशसनीय चीजें हैं, जिनके द्वारा व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास हो सकता है। इस दृष्टि से जैन साधुओं का व्यवहार प्रशसनीय माना जा सकता है। दूसरी चीज, जो मूल्य-दृष्टियों में भेद उत्पन्न करती है, निम्न है। विभिन्न मनुष्य

अलग-अलग तरीको से अलग-अलग रूपो में सुखी, दु खी और महत्वपूर्ण बन सकते हैं। यह स्थिति लोगो को भ्रम मे डाल देती है और वे सोचने लगते हैं कि वास्तविक रूप में सुखी, दु खी और महत्वपूर्ण होने का क्या ढग है। वे यह नही मानना चाहते कि मानवीय सुख-दु ख और उसके व्यक्तित्व की महत्ता अनेकरूप हो सकते है। सच यह है कि मानवीय जीवन के मूल्यो का ज्ञान उस सृजनशील कल्पना द्वारा ही हो सकता है जो उनके विविध रूपों को भीतर से पकड सकती है।

## भिन्नों और विपरीतों की सहप्रामाणिकता का नियम

इस सन्दर्भ में प्रामाणिकता शब्द के दो अर्थ हैं तर्क-मूलक सभावना और मूल्यात्मक ग्राह्यता। सहप्रामाणिकता के नियम को दो सम्बद्ध वक्तव्यों मे प्रकट किया जा सकता हैं। पहला वक्तव्य इस प्रकार होगा निर्धारक शक्तियों की एक ही स्थिति या सन्दर्भ में हम प्रामाणिक रूप मे यह कल्पना कर सकते हैं कि एक व्यक्ति न केवल भिन्न ( Diffeient ) अपितु विपरीत ( Contrary ) तरीको से कार्य कर सकता है। मतलब यह कि मानवीय विद्याओ के अन्वेषक मानवीय व्यापारो का विवरण या व्याख्या देते समय भिन्न तथा विपरीत प्रेरणाओ पर निर्भर कर सकते है, अनागत के सम्बन्ध मे भविष्यवाणियाँ करते हुए भी उन्हे भिन्न तथा विपरीत सभावनाओ का विचार करना चाहिये। उक्त नियम का दूसरा कथन इस प्रकार होगा . एक ही परिस्थिति मे सामान्य सवेदना तथा कल्पना-शक्ति वाले मनुष्यो के लिये यह सम्भव है कि वे भिन्न और विपरीत जीवन-प्रकारों या क्रियाओ को वाछनीय मान सके। पहले वक्तव्य के आलोक में हम समझ सकते हैं कि विभिन्न पात्रो के भावी व्यवहार के सम्बन्ध मे किसी उपन्यास का पाठक क्यों प्राय अनिश्चय-मूलक उत्सुकता का अनुभव करता है; दूसरे से यह समझने मे मदद मिलती है कि क्यो एक ही व्यक्ति कभी-कभी विभिन्न, यहाँ तक कि विपरीत, प्रवृत्तियो तथा आदर्शों द्वारा आकृष्ट होता है। उक्त दो वक्तव्यो मे सम्बन्ध भी है लोग प्राय एक स्वीकृत मार्ग-सरणि से तब हटते हैं जब उनके मन मे एकाएक भिन्न प्रवृत्ति या आदर्श प्रबल हो उठता है।

सहप्रामाणिकता का सिद्धान्त इस तथ्य की व्याख्या करता है कि क्यो लोग एक ही परिस्थिति अथवा मूल्य के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ करते हैं। मनुष्यो की प्रतिक्रियाओ के सम्बन्ध मे सही भविष्यवाणियाँ नही की जा सकती, यद्यपि घटित हो जाने के बाद वे प्रतिक्रियाएँ अन्वेषको को बुद्धिगम्य जान पडती है। इसका मतलब यह

हुआ कि मनुष्य का मूल्यानुप्राणित व्यवहार मूलतः बुद्धि-गगत होता है। यदि ऐसा न हो तो नर-विज्ञान के पंडित उन लोगों के व्यवहार की व्याख्या न कर सकें जिनकी "संस्कृति' अन्वेषकों की अपनी 'संस्कृति" से नितान्त भिन्न है। इसलिये यह मानने का कोई बढ़िया हेतु नहीं है कि लोगों का मूल्यानुप्राणित व्यवहार किसी महत्वपूर्ण अर्थ में आत्मपरक होता है।[१५]

## ज्ञान में सृजनात्मक तत्व

ऊपर हम कह चुके हैं कि मानवीय विद्याओं के सामान्य कथन परिचित अनुभव-तत्वों के विस्तार और पुनः संगठन द्वारा प्राप्त होते हैं। ये दोनों क्रियाएँ सृजनात्मक हैं। मानव-सम्बन्धी बोध का उपादान संभावनाओं की अवगति है, यह अवगति एक सृजनात्मक क्रिया है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि बोध-क्रिया की सृजनात्मकता केवल मानवीय विद्याओं की विशेषता, अर्थात् केवल मानवीय विद्याओं के क्षेत्र की चीज है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार (और यह परम्परा बड़ी महत्वपूर्ण तथा आदरणीय है) ज्ञान के दो प्रमुख स्रोत हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान। भारतीय तर्क-शास्त्र युक्ति या तर्क को प्रमाण, अर्थात् नये ज्ञान का उपकरण या स्रोत, नहीं मानता।[१६] किन्तु पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनुमान और तर्क में कोई भेद नहीं किया है। कुछ दिन पूर्व तक पश्चिमी विचारक भी प्रत्यक्ष और तर्कना या अनुमान को ही ज्ञान का स्रोत मानते थे। बेकन के समय से पश्चिम के तर्क शास्त्री निगमन अर्थात् रूपाकार-मूलक तर्क ( Formal Reasoning ) और आगमन अथवा विषय-मूलक अनुमान या तर्क ( Material Reasoning ) में अन्तर करने लगे हैं। भारतीय तर्क-शास्त्र भी आगमनात्मक तर्क को व्याप्ति की स्थापना के उपकरण के रूप में स्वीकार करता है। व्याप्ति का उदाहरण इस प्रकार होगा : जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है।

आलोचकों ने आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनों तर्क-पद्धतियों को सदोष घोषित किया है। उदाहरण के लिये जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि निगमन-विधि में अन्योन्याश्रय दोष होता है। वहाँ निष्कर्ष (सुकरात मरणशील हैं) तो पक्षवाक्य (सब मनुष्य मरणशील हैं) पर निर्भर करता ही है, स्वयं पक्षवाक्य भी निष्कर्ष पर

निर्भर करता है, क्योकि यदि निष्कर्ष-वाक्य गलत हो, तो पक्षवाक्य भी सही नही हो सकता। इसी प्रकार आगमन-विधि ( Induction ) की भी आलोचना की गई है वहाँ 'कुछ' उदाहरणो को देखकर 'सब' के बारे मे सामान्य कथन किया जाता है, जिसका औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता। आज के युग मे विज्ञान-दर्शन (Philosophy of Science ) के विचारको ने यह मत प्रतिपादित किया है कि वैज्ञानिक चिन्तन की पद्धति मूलत निगमनात्मक, अथवा स्थापना-निगमन-मूलक ( Hypothetical Deductive ) होती है।[१७] हर हालत मे हमारे सामने यह प्रश्न बना ही रहता है क्या निगमन विधि हमे ऐसा ज्ञान दे सकती है जो पक्षवाक्यो मे निहित नही है, और वस्तुत नया है ? और क्या ऐसा नया ज्ञान प्रामाणिक हो सकता है ?

तर्क-मूलक भाववादियो का विचार है कि निगमन और विश्लेषण दोनो मे हम कथनो या वक्तव्यो को दूसरे सामानार्थक कथनो मे परिवर्तित करते है।[१८] इस मन्तव्य के अनुसार गणित नाम का शास्त्र समानार्थक कथनो और परिवर्तनो (Tautologous Assertions and Transformations ) की वृहत् पद्धति मात्र है। तर्क मूलक भाववादियों का प्रस्ताव है कि दार्शनिक वक्तव्यो को भी इसी प्रकार की पद्धति का रूप धारण करना चाहिये।

तो क्या गणित शास्त्र एक वृहत् पुनरुक्ति-पद्धति मात्र है ? फ्रास के प्रसिद्ध गणितशास्त्री एच्० प्वाकरे ने इस समस्या को उठाया, और अन्त मे उसका निषेधात्मक उत्तर दिया। उन्होने बतलाया है कि गणित के अन्वेषणो मे हम विशेष उदाहरणो से चलकर सामान्य सिद्धान्तो पर पहुँचते है, इसलियें उस अन्वेषण-पद्धति को निगमनात्मक नही कह सकते। वे कहते है कि गणित की तर्क-पद्धति मे एक सृजनात्मक तत्त्व होता है, इसलिये उसे अरस्तू के "सिलाजिज्म" मे निहित निगमन-विधि से भिन्न समझना चाहिए। उनके विचार मे गणितात्मक आगमन ( Mathematical Induction ) मूल रूप मे आवृत्ति-मूलक प्रमाण या उपपत्ति (Proof by Recurrence ) होता है। उनके मत मे

भौतिकशास्त्र के क्षेत्र मे प्रयुक्त होने वाला आगमन सदैव अनिश्चित होता है, क्योकि वह इस विश्वास पर आधारित होता है कि विश्व मे एक सामान्य व्यवस्था है, एक ऐसी व्यवस्था जो हमसे बाहर की चीज है। इसके विपरीत गणितात्मक

आगमन अर्थात् पुनरावृत्ति-मूलक उपपत्ति हमारे लिए निश्चयात्मक या अनिवार्य सत्य होती है, क्योंकि उसका आधार हमारी ही बुद्धि की एक विशेषता रहती है।"[1]

प्रश्न है, गणितात्मक आगमन, अथवा आवृत्ति-मूलक उपपत्ति, की निश्चयात्मकता का क्या रहस्य है? एक जगह प्वाकरे ने प्रकट किया है मानो उक्त उपपत्ति में अनन्त "सिलाजिज्म" या आनुमानिक वाक्य-समूह सन्निविष्ट होकर सन्निविष्ट हो जाते हैं।[2] अन्यत्र उन्होंने संकेत किया है कि उपरोक्त उपपत्ति निगमन-विधि अथवा प्रयोग पर आधारित नहीं है, और एक प्रकार का अनुभव-निरपेक्ष संयोजक प्रतिभान ( Apriori Synthetic Intuition )[3] है। इस सम्बन्ध में उनकी अन्तिम सम्मति निम्न अवतरण में निहित जान पड़ती है

ऐसा क्यों है कि वह मन्तव्य या उपपत्ति हमारे ऊपर इतने प्रबल रूप में आरोपित हो जाती है? इसका कारण यह है कि वह स्वयं हमारी बुद्धि की उस शक्ति की घोषणा करती है जिसके द्वारा वह सचेत भाव से एक क्रिया की असंख्य पुनरावृत्तियाँ कर सकती है, यदि वह क्रिया एक बार संभव हो जाय। हमारी बुद्धि या चेतना को अपनी शक्ति का साक्षात् आभास है, प्रयोग उसके उपयोग का अवसर मात्र बन जाता है, जिसके द्वारा वह उसकी अवगति प्राप्त करती है।"[1]

प्वाकरे द्वारा व्याख्यात गणित की आगमन-विधि बुद्धि की उस क्रिया का एक निदर्शन है जिसे हमने "परिचित ज्ञान का विस्तार" कहा है। एक ही व्यापार की पुनरावृत्ति भी एक तरीका है जिसके द्वारा परिचित अनुभव का विस्तार घटित होता है। परिचित ज्ञान के पुनरावृत्ति-मूलक विस्तार से ही हम "एक करोड़" जैसी बड़ी सख्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, यह ज्ञान विश्लेषण अथवा समानार्थक परिवर्तन ( Tautologous Transformation ) द्वारा प्राप्त नहीं होता।

निष्कर्ष यह है कि गणित के सामान्य सिद्धान्त उस ज्ञान-व्यापार के निदर्शन हैं जिसे हमने "परिचित अनुभव का सृजनात्मक विस्तार" कहा है। हम इस बात पर गौरव देना चाहते हैं कि इतिहास का ज्ञान भी इसी कोटि का होता है, वहाँ हम परिचित प्रेरणाओं (Motives) तथा कार्य-प्रणालियों के विस्तार और पुनः सगठन द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस वक्तव्य के स्पष्टीकरण की जरूरत है। हम एक नोपोलियन

अथवा गेटे के जीवन को, जो हमारे जीवन से इतना भिन्न और इतना समृद्ध है, न तो आगमन-विधि से जानते है, और न निगमन-विधि से। यह भी स्पष्ट है कि हम प्रत्यक्ष द्वारा उसका साक्षात्कार नही करते। उस जीवन को समझने और पकड मे लाने का एक ही तरीका है, अर्थात् परिचित अनुभव की सभावनाओ के सृजनात्मक विस्तार और पुन सगठन का तरीका।

उन सब स्थलो मे जहाँ निगमन-विधि हमे ऐसा नया ज्ञान देती है जो पक्षवाक्यो मे निहित नही है, और जहाँ आगमनात्मक चिन्तन मे हम 'कुछ' से 'सब' की ओर सक्रमण करते है, समझना चाहिए कि हमारी बोध-शक्ति सृजनात्मक ढग से व्यापृत हुई है। सच यह है कि सब प्रकार के सगठित ज्ञान मे सृजनात्मक तत्व का प्रवेश रहता है। वैज्ञानिको की स्थापनाएँ, और कवियों तथा क्रान्तिकारियो की प्रतीतियाँ और आदर्श, लगातार हमारे साक्षात् अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण करते है।

मनुष्य की सृजनशीलता अपने को विज्ञान और दर्शन द्वारा निर्मित प्रत्ययो या धारणाओं मे, और उन कल्पना-मूलक स्थापनाओं मे जो उन प्रत्ययो को नये रूपो मे ग्रथित करती है, प्रकट करती है। उदाहरण के लिये, जैसा कि ह्यूम ने बतलाया था, कार्य-कारण की धारणा उन तत्वो का अतिक्रमण करती है जो केवल अनुभव द्वारा दिये हुए होते है, उस धारणा मे अनुभूत तत्वो से अधिक चीजो का समावेश रहता है। विज्ञान और दर्शन की महत्वपूर्ण धारणाएँ (Concepts) अनुभूत वस्तुओ के सामान्य गुणो के प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त नही होती। उनका उद्भव उस प्रयत्न मे होता है जिसके द्वारा हम किसी अनुभव-क्षेत्र की रचना (Structure) को रूपायित करते है।

"फीडो" नामक सवाद ग्रथ मे प्लेटो द्वारा चित्रित सुकरात ने एक विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह सिद्धान्त यह है कि हमारा समस्त ज्ञान स्मृति होती है। उदाहरण के लिये सुकरात कहते है कि अनुभव द्वारा हम कभी पूर्ण समानता (Perfect Equality) को नही जान सकते, क्योकि ऐसी दो चीजों का अनुभव असभव है जो शत-प्रतिशत समान परिमाण की हों। हम कितनी भी होशियारी से दो बराबर रेखाएँ खीचे, वे कभी भी शत-प्रतिशत बराबर नही होगी। इसलिये सुकरात कहते है कि पूर्णतया समान परिमाण की धारणा या प्रत्यय हमे किसी पिछले जन्म मे प्राप्त हुआ होगा, जिसकी हमे अब याद आती है। किन्तु इस विचित्र सिद्धान्त के बदले

हम इस सभावना को क्यों न स्वीकार कर लें कि हमारी बुद्धि मे यह शक्ति है कि अपूर्ण समानता के अनुभव के आधार पर पूर्ण समानता की कल्पना कर ले? इस शक्ति के द्वारा ही हम मौजूदा सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था से श्रेष्ठतर व्यवस्थाओं की कल्पनाएँ कर सकते हैं।

मानवीय बुद्धि की सृजनशील शक्तियों के अद्भुत निदर्शन उन तरीको मे देखने को मिलते है जिनसे वैज्ञानिक लोग, नये अन्वेषण के लिये, अथवा किसी स्वीकृत सिद्धान्त के परीक्षण के लिये, नये प्रयोगो का आविष्कार करते हैं। यह कहने की जरूरत नही है कि जटिल विचार-पद्धतियों का निर्माण सृजनशीलता की अपेक्षा रखता है। श्री रिग्नानो ने प्रथम कोटि की सृजनशीलता का एक बढ़िया उदाहरण दिया है। वैज्ञानिक लोग जानते है कि धातु की सलाखें गर्मी के प्रभाव मे लम्बाई मे बढ जाती हैं, वे यह भी जानते है कि एक छोटे पेण्डुलम (Pendulum) की अपेक्षा बडा पेण्डुलम ज्यादा धीरे इधर-उधर गतिमान होता है। किन्तु इन दो ज्ञान-खडो मे इस बात का कोई सकेत नही है कि एक पेण्डुलम को ठडे से एक गरम कमरे मे ले जाया जाय। 'इस ले जाने की क्रिया से एक नयी घटना का जन्म हुआ जिसका श्रेय मेरी बुद्धि को है, और जिसके घटित होने के बाद मै मन से यह जान सका कि जो पेन्डुलम अब गर्म कमरे में ज्यादा धीरे हिल रहा है, वही ठडे कमरे मे ज्यादा तेजी से हिल रहा था।'[१४]

एक विचार-पद्धति के निर्माण मे मानव मस्तिष्क जिस सृजनात्मक निपुणता का परिचय देता है उसके निदर्शन सुलभ ही हैं। स्पिनोजा, हीगल, साख्य और वेदान्त की पद्धतियाँ व्याख्यात्मक प्रत्ययों के सगठन का उत्कृष्ट उदाहरण है। वे तर्क-मूलक भाववादी जो निगमन और विश्लेषण मे नूतनता, तथा सयोजक ज्ञान मे अवश्यभाविता की सभावना से इनकार करते हैं, उन सृजनशील मानसिक तत्वो को नही देख पाते जो ज्ञान-क्रिया मे निहित रहते है।

## मानवीय सृजनशीलता की अभिव्यक्तियाँ संस्कृति और सभ्यता

मानव-निर्मित परिवेश की प्राय प्रत्येक ऐसी चीज जो मानव-जीवन के लिये महत्वपूर्ण है, मानवीय सृजनशीलता से उद्भूत हुई है, और उसी का आधार लेकर लगातार बनी रहती है। यह सृजनशीलता बाह्य वास्तविकता तथा आन्तरिक जीवन दोनो की अपेक्षा में व्यापृत होती है। पहली दशा मे उसका लक्ष्य उपयोगिता होता है,

और दूसरी मे मनुष्य के आन्तरिक जीवन का प्रसार और समृद्धि। उपयोगिता के धरातल पर क्रियाशील होती हुई मानवीय सृजनशीलता, औद्योगिक वस्तु-क्रम (Technological Order) को उत्पन्न करती है, जो सभ्यता का एक आवश्यक अंग है, मानवीय जीवन की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती संभावनाओं का अन्वेषण करती हुई वह संस्कृति की सृष्टि करती है, जिसकी अभिव्यक्ति कला तथा चिन्तन की कृतियों मे होती है। मनुष्य का संस्थाबद्ध जीवन वह बिन्दु है जहाँ आकर उपयोगी और निरुपयोगी जीवन-क्रम मिलते है। वैज्ञानिक अन्वेषण की क्रिया जहाँ तक निरुपयोगी होती है, वहाँ तक उसका स्थान जीवन के सांस्कृतिक क्रम मे है।

संस्कृति का अर्थ है सृजनात्मक अनुचिन्तन, उसका निर्माण उन क्रियाओं द्वारा होता है जिनके द्वारा मनुष्य यथार्थ की सार्थक किन्तु निरुपयोगी छवियों की सम्बद्ध चेतना प्राप्त करता है। संस्कृति की दूसरी परिभाषा इस प्रकार होगी। वह उन क्रियाओं का समुदाय है जिनके द्वारा मनुष्य के आत्मिक (मानसिक) जीवन में विस्तार और समृद्धि आती है। मनुष्य का आत्मिक जीवन प्राय अपने को प्रतीकों में रूपायित करता है। अपने ज्यादा कर्मशील रूपों मे सांस्कृतिक क्रिया अपने को आत्मिक या आन्तरिक जीवन के ऐसे सार्थक रूपों की सृष्टि मे व्यक्त करती है जिन्हे दूसरे लोग कल्पना द्वारा ग्रहण कर सकें। सामान्य रूप मे हम कह सकते है कि संस्कृति मानव जाति के सर्वग्राह्य आत्मिक जीवन-रूपों की सृष्टि और उनका उपभोग है। एक उपलब्धि के रूप मे मानवीय संस्कृति क्रमश वर्द्धमान (Cumulative) और ऐतिहासिक होती है। सांस्कृतिक प्रगति की दो दिशाएँ होती हैं . एक ओर वह मनुष्य के आन्तरिक या आत्मिक जीवन-रूपों का विस्तार है, तो दूसरी ओर उसके बोध और संवेदनाओं का उत्तरोत्तर परिष्कार।

## विज्ञान और दर्शन

विज्ञान और दर्शन दोनों सांस्कृतिक क्रियाएँ है। विज्ञान मे अस्तित्ववान तथ्य-क्रम का अनुचिन्तन किया जाता है और उन नियमों का अन्वेषण जो घटनाओं के गोचर तथा अगोचर होने, और उनके रूपात्मक परिवर्तनों की, व्याख्या करते है। इसके विपरीत दर्शन का कार्य मनुष्य की उन क्रियाओं का अनुचिन्तन करना है जिन्हें वह स्वयं अपने मे महत्वपूर्ण मानता है, और जो उसके जीवन को संस्कृत बनाती है। जीवन

की वे प्रक्रियाएँ जिन्हे हम स्वयं मे मूल्यवान मानते हैं और जिनकी कामना हम स्वयं उन्ही के लिए करते हैं, हमारे जीवन के चरम मूल्यो का निर्माण करती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दर्शन मूल्यो का अध्ययन करने वाली सामान्य विद्या है, अथवा वह चरम मूल्यों का विज्ञान है। दर्शन का प्रमुख कार्य या प्रयोजन उन मानदडो का अन्वेषण है जिनके द्वारा हम विभिन्न सास्कृतिक क्रियाओ की प्रामाणिकता और महत्व आँक सकें।

दर्शन विभिन्न कोटियो की सास्कृतिक अनुभूति का विश्लेपण और व्याख्या भी करता है, किन्तु इन क्रियाओं का चरम प्रयोजन यही है कि उन अनुभूतियो या व्यापारो का मूल्याकन हो सके। दर्शन के तीन मुख्य विभाग तर्क-शास्त्र, आचार-विज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र हैं, किन्तु इनमें दर्शन की परिसमाप्ति नही हो जाती। दार्शनिक क्रिया का सर्वोच्च स्तर मोक्ष-धर्म (Religion) के दार्शनिक विवेचन मे होता है, जिसका कार्य मनुष्य द्वारा प्राप्य उच्चतम अनुभूति का निरूपण है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि दर्शन मानवीय जीवन और अनुभूति के गुणात्मक विकास का उपकरण है।

कतिपय जर्मन विचारको ने, जैसे रिकर्ट विन्डेल्बैण्ड, डिल्थे और स्प्रैंगर ने, प्राकृतिक (Natural) और सास्कृतिक (Cultural) विद्याओ में अन्तर किया है। उनके अनुसार जहाँ प्राकृतिक विद्याओ का लक्ष्य व्याख्या है, वहाँ सास्कृतिक विद्याओ का ध्येय समझना (Understanding) है, प्रथम कोटि की विद्याएँ 'सामान्य' का अध्ययन करती है, और दूसरी कोटि की 'विशेष' का।[11] हम इस प्रभेद को कुछ परिवर्तनो के साथ स्वीकार करते हैं। जहाँ एक ओर हमने, विषय-वस्तु और अन्वेपण-पद्धति दोनो के आधार पर, मानवीय विद्याओं तथा भौतिक विज्ञानो मे भेद किया है, वहाँ दूसरी ओर मानवीय विद्याओं के दो उपविभाग किये हैं, अर्थात् मानवीय शास्त्र (Humanistic Sciences) जैसे अर्थ-शास्त्र समाज-शास्त्र आदि, और मानवीय अधीतियाँ (Humanities) जिनमें कलाओ तथा दर्शन, आध्यात्मिक चिन्तन या मोक्षधर्म आदि का समावेश है। हमारे विचार मे सब प्रकार के विज्ञानो का फिर चाहे वे भौतिक हों या मानवीय, सामान्य ध्येय अन्वेषित घटनाओ की कारण-मूलक व्याख्याएँ प्रस्तुत करना है। भौतिक विज्ञानों में ये व्याख्याएँ स्थापना-निगमन-मूलक (Hypothetical-Deductive) तथा मात्रा-

मूलक (Quantitative) होती है, जब कि मानवीय शास्त्रो मे वे गुणात्मक तथा साक्षात्कार-मूलक या कलात्मक होती हैं। मानवीय शास्त्रों से भिन्न मानवीय अधीतियों का कार्य यह होता है कि वे विभिन्न कोटियो के सास्कृतिक अनुभव की सृष्टि और मूल्याकन करे। कला, नैतिकता तथा अध्यात्म के क्षेत्रों में आत्मिक जीवन-रूपो की सृष्टि होती है, दर्शन की विभिन्न शाखाओ जैसे नीति शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र और अध्यात्म-दर्शन (Philosophy of Religion) में उक्त रूपो का विश्लेषण और आलोचनात्मक मूल्याकन किया जाता है। दर्शन का एक विभाग और है, अर्थात् तर्कशास्त्र और ज्ञान-मीमासा, जिनका काम मनुष्य की सब प्रकार की वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली का विश्लेषण और मूल्याकन है।

दर्शन के सम्बन्ध मे यह दृष्टिकोण कि वह मूल्यों अथवा मानव आत्मा की वरण-क्रियाओ (Spiritual Preferences) का अध्ययन है, भारत के वेदान्ती विचारकों की चिन्तन-प्रणाली मे पुष्टि पाता है, बौद्ध तथा दूसरी कोटियो के अध्यात्मवादी दर्शन भी उसका समर्थन करते हैं। केवल न्याय-वैशेषिक और साख्य ही, कुछ हद तक, उक्त दृष्टिकोण का अपवाद हैं। डा० मैत्र ने ठीक ही कहा है कि 'हमारी परम्परा है मूल्य-केन्द्रित होना, न कि अस्तित्व-केन्द्रित होना, जैसी कि पश्चिम की परम्परा है।'[२६]

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान श्री नार्थ्राप ने पूर्वी तथा पश्चिमी सस्कृतियो में एक दूसरे ढग के भेद का निरूपण किया है। उनके विचार मे पूर्व के विचारक अपना ध्यान विविक्त साक्षात्कार-मूलक अनुभव-राशि (Differentiated Aesthetic Continuum) पर केन्द्रित करते हैं, जब कि पश्चिम के विचारक वस्तु-जगत् की रचना के सम्बन्ध में ऐसे कल्पना-प्रसूत व्याख्या-सूत्रों (Postulational Theories) का निर्माण करते हैं जिनसे अनेक निगमन हो सकें। वे कहते हैं 'पूर्व मुख्यत वस्तुओ के प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले पक्ष का अन्वेषण करता रहा है, और पश्चिम उनके बुद्धिग्राह्य पक्ष का।'[२७] यह एक सर्व-विदित बात है कि पूर्व ने उस कोटि के वैज्ञानिक चिन्तन की सृष्टि नही की जो कि पश्चिम की विशेषता है। क्या इसका कारण यह था कि वे स्थापना-निगमन-मूलक चिन्तन (Hypothetical-Deductive Thinking) को पसन्द नही करते थे, अथवा उसकी योग्यता नही रखते थे ? हमारी समझ मे यह व्याख्या उचित नही होगी। नागार्जुन और धर्मकीर्ति, गौडपाद और श्रीहर्ष, तथा कुमारिल और शकर की कृतियाँ भी इस बात का प्रमाण है कि भारतीय विचारको मे न केवल निगम-

नात्मक तथा विशुद्ध युक्तिवादी (Dialectical) चिन्तन की क्षमता ही थी, बल्कि वे उसके प्रेमी भी थे। जहाँ तक यह प्रश्न है कि वे आधुनिक कोटि के वैज्ञानिक चिन्तन का विकास क्यो नही कर सके, हमे उन्हे उतना ही दोष देना या नही देना चाहिये जितना कि पुराने यूनानी और रोमन विचारको को।

हमारे मत मे श्री नार्थ्रोप ने पूर्व और पश्चिम की चिन्तन-शैलियो मे जिस भेद को आभासित किया है उसकी दूसरी व्याख्या सभव है। पूर्वी सस्कृति सामान्य रूप मे, और भारतीय दर्शन और सस्कृति विशेष रूप मे, इसके लिये चिन्तित रहे है कि मानव व्यक्ति के दु खो को कैसे दूर किया जाय, और उसे कैसे बदला जाय; बाह्य परिवेश को नियन्त्रित तथा परिवर्तित करने की विशेष चिन्ता उन्होने नही की। एशिया के, विशेषत चीन और हिन्दुस्तान के, धर्मो (जैसे बौद्ध धर्म और ताउ सम्प्रदाय) की चिन्ता का प्रधान विषय मानव जीवन के दु ख का निराकरण रहा है। न्याय-सूत्रो तथा साख्यकारिका के चिन्तन का आरम्भ इस वक्तव्य से होता है कि मोक्ष या दु ख-निवृत्ति ही प्रधान पुरुषार्थ है। एशिया के विचारक यह भी मानते रहे है कि व्यक्ति के सुख-दु ख के हेतु स्वय उसके व्यक्तित्व में वर्तमान होते है। अतएव भारत के ऋषि-दार्शनिको ने अपनी सारी शक्ति उन तत्वो के विश्लेषण और मूल्याकन मे लगा दी जो वैयक्तिक चेतना के स्वास्थ्य एव सुख से सम्बन्वित है। चूंकि उन तत्वो को कल्पना-मूलक प्रतिमान अथवा भीतरी अन्तर्दृष्टि द्वारा ही पकडा जा सकता है, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि वे चिन्तक उन तथ्यो का अन्वेषण कर रहे है जिनका बोध साक्षात् अवगति से होता है, अर्थात् उस वस्तु का जिसे श्री नार्थ्रोप ने साक्षात्कार-मूलक अनुभवराशि कहा है। इससे इस स्थिति की भी व्याख्या हो जाती है कि क्यो भारतीय दार्शनिको ने साक्षात्कार अथवा आत्मानुभूति पर इतना जोर दिया है। यहाँ एक बात और लक्षित करने की है बाह्य गोचर अनुभूति (Sensible Continuum) या अनुभव-राशि के अन्वेषण मे भारतीय विचारको की उतनी अभिरुचि नही है। प्रस्तुत पुस्तक की पदावली मे प्रकट करें तो कहना होगा कि एशिया के दार्शनिक सामान्य रूप मे और भारतीय दार्शनिक विशेष रूप मे, इसमें अधिक दिलचस्पी लेते है कि व्यक्ति अथवा वैयक्तिक चेतना का सास्कृतिक अथवा आध्यात्मिक परिष्कार कैसे हो, उन्हे इसमे ज्यादा रुचि नही है कि मानव-जीवन की भौतिक परिस्थितियो में कैसे सुधार हो। अवश्य ही वे समाज-व्यवस्था मे रुचि दिखलाते है, पर उस रुचि की प्रेरणा भी इस इच्छा मे है कि व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रस्तुत

कर दी जायें। हमारे यहाँ साधुता (Virtue) अथवा धर्म-मूलक व्यवहार पर भी गौरव दिया गया है, लेकिन उसका उद्देश्य भी यही माना गया है कि स्वार्थ-वृत्तियो के उन्मूलन तथा निम्न प्रवृत्तियों के शोधन द्वारा आत्म-शुद्धि हो जाय। इन दृष्टियों से कहा जा सकता है कि एशिया की संस्कृति मे सामान्यत, और भारतीय सस्कृति में विशेषत ,आत्मिक या आध्यात्मिक मूल्यों को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है।

## मोक्ष या आध्यात्मिकता का महत्व

आज के अधिकाश विचारको, विशेषत मानववादियो के, मन मे धार्मिक या आध्यात्मिक मनोवृत्ति के प्रति सन्देह की भावना पायी जाती है। योरपीय पुनर्जागृति के समय से यह समझा जाता है कि मानववादी मनोवृत्ति मूलत. बुद्धिवादी तथा रहस्य-भावना की विरोधी होती है। यह भी समझा जाता कि वह मनोवृत्ति ऐहलौकिक और शरीर-परक अथवा इन्द्रिय-परक (Sensuous) होती है। भारतीय विचारक और राजनीतिज्ञ श्री मानवेन्द्र नाथ राय तथा अमरीकी लेखक श्री कारलिस लैमान्ट जैसे चिन्तक अपने मानववाद को प्रकृतिवादी (Naturalist) अथवा भौतिक-वादी वर्णित करना पसन्द करते हैं । मार्क्सवादियों का कहना है कि अध्यात्म या मोक्षधर्म जनता की अफीम या शराब है जो उनकी बौद्धिक चेतना को ढक लेती है। फ्रेजर जैसे नर-विज्ञानियो के मत मे धर्म या मोक्षधर्म सोचने तथा महसूस करने का एक ढग है जिसका निकट भविष्य मे तिरोभाव अनिवार्य है।

मोक्ष-धर्म अथवा अध्यात्म के ऊपर किये गये उक्त आरोपो तथा उससे सम्बन्धित भविष्यवाणियो के पीछे यह भावना छिपी हुई है कि मोक्षधर्म एव तत्सम्बन्धी मनोवृत्ति कुछ ऐसी चीजे है जिनका मनुष्य की वास्तविक प्रकृति से कोई सम्बन्ध नही है, अर्थात् जो मानव-प्रकृति के बाहर की चीज है। तर्क-मूलक भाववादियो ने तत्व-दर्शन-सम्बन्धी चिन्तन के बारे मे ऐसा ही मत प्रकट किया है । इसके विपरीत हमारा विचार है कि जिस प्रकार दार्शनिक कोटि के (Metaphysical) चिन्तन का लोप सम्भव नही है, वैसे ही मोक्षधर्म अथवा आध्यात्मिक मनोवृत्ति का लोप भी शक्य नही।

श्री राधाकृष्णन् ने उचित ही लिखा है . 'मोक्षधर्म लोगो के लिए मादक द्रव्य का काम नही कर सकता, जब तक कि उनमे कुछ ऐसी असन्तुष्ट आकांक्षाएँ न हो जिनका सम्बन्ध भौतिक जगत से नही है।'[१८] किन्तु अभौतिक आकाक्षाओ का यह अर्थ नही

लेना चाहिए कि उनका विषय मानव जीवन से बाहर होता है। यह आश्चर्य की बात है कि विभिन्न कोटियों के मानववादी विचारक, मनुष्य की शक्तियों तथा उपलब्धियोंमें गर्व की भावना रखते हुए भी, उस आध्यात्मिक मनोवृत्ति की प्रकृति और सार्थकता का अन्वेषण नहीं करना चाहते जो सन्त-चरित्र जैसी उच्च वस्तु को उत्पन्न करती है। इस चरित्र का महत्व कला तथा चिन्तन की दृष्टियों से किसी प्रकार भी कम नहीं है।

मानव व्यक्तित्व के विकास के मात्रा-मूलक और गुणात्मक दोनों पक्ष होते हैं। प्रथमत. उस विकास का अर्थ है व्यक्ति की चेतना का उन असख्य सवेदनाओं तथा बोध-दशाओं में प्रसरित होना जिन्हें ऐतिहासिक मानव-चेतना ने सचित कर रखा है। दूसरे, वह प्रगति अपने को उस बढ़ते हुए विवेक में प्रकट करती है जिसके द्वारा हम सास्कृतिक अनुभव के उच्चतर तथा निम्नतर रूपों में भेद करना सीखते हैं और क्रमश निम्नतर रूपों से विरत होकर उच्चतर रूपो के ग्रहण की ओर अग्रसर होते हैं। मूल्यों की गुणात्मक चेतना का सर्वोच्च रूप मोक्षधर्म या आध्यात्मिक मनोवृत्ति है। यह मनोवृत्ति अपने को मुख्यत दो रूपो में व्यक्त करती है साधारण लोग जिन छोटी चीजो की विशेष कामना करते हैं उनके प्रति वैराग्य भावना में, और उदारता तथा त्याग की असाधारण क्रियाओं में जो कि सन्त-प्रकृति की अपनी विशेषताएँ हैं। वस्तुत. एक व्यक्ति उसी हद तक उदार तथा पर-हित-कांक्षी हो सकता है जहाँ तक उसने सन्तों के विशिष्ट गुण, अपरिग्रह-मूलक उदासीनता, का आकलन किया है। किसी भी सास्कृतिक व्यापार मे लीन होने के लिये थोड़ी-बहुत उदासीनता एव अपरिग्रह-वृत्ति अनिवार्य रूप से अपेक्षित होती है। जिस सीमा तक मनुष्य निम्न कोटि के मूल्यो के अन्वेषण से विरत होता है, वहीं तक वह अपने को उच्च सास्कृतिक मूल्यो के प्रत्यक्षीकरण और उत्पादन के योग्य बनाता है। जिसे हम सन्त कहते हैं वह दुनिया की सीमित, अस्थायी उपलब्धियो के प्रति पूर्णतया उदासीन होता है (ऐसी उदासीनता कलाकार और विचारक प्राय प्राप्त नही कर पाते) और उसकी कल्पना स्वच्छदता-पूर्वक एक ऐसे तत्व की कल्पना करती रहती है जो अनन्त, रहस्यमय मूल्यवत्ता का अधिष्ठान है। यह जरूरी नहीं है कि उस चरम तत्व अथवा अनुभूति के सम्बन्ध में सन्त की कोई हठपूर्ण धारणा हो। यह सम्भव है कि बुद्ध की भाँति वह उसके बारे में कोई अन्तिम दार्शनिक राय प्रकट करने से इनकार कर दे। जरूरी केवल इतनी चीज है कि उसे मानव-जीवन की उच्चतम सभावनाओं की उपलभ्यता में भावात्मक विश्वास या आस्था हो।

साराश यह कि जहाँ तक मनुष्य मूल्यो की सृष्टि और खोज करता है, वहाँ तक उसकी प्रकृति की प्रमुख विशेषता सृजनशीलता है। इस प्रकृति की माँगो के अनुरूप जीवित रहते हुए ही वह परम तृप्ति का लाभ कर सकता है। मानव-प्रगति की दिशा उसकी सास्कृतिक अथवा मूल्यानुप्राणित चेतना के सतत विस्तार और परिष्कार की ओर है। मानव व्यक्तित्व का विस्तार और परिष्कार ही वे लक्ष्य हैं जिनकी प्राप्ति के लिये, व्यक्तियो तथा राष्ट्रो दोनो के राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्न अनुष्ठित होने चाहिएँ। अपरिमित शक्ति एव सम्पत्ति की उपलब्धि उनका प्रकृत ध्येय नही है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. कार्ल यास्पर्स, मैन इन द मार्डन एज, (अंग्रेजी अनुवाद, जार्ज रटलेज एन्ड सन्स, लन्दन १९३३), पृ० ४३।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ७।२३।१

३. दे० टुएन्टिएथ सेन्चुरी सोशियालॉजी, संपादक जार्ज गुरविच और विलवर्ट मूर, (द फिलॉसिफिकल लायब्रेरी, न्यूयार्क १९४५), पृ० ९८।

४. दे० एडवर्ड वेस्टर मार्क, "एथीकल रिलेटिविटी" की प्रस्तावना, (कीगन पाल, लन्दन, १९३२)।

५. दे० टुएन्टिएथ सेन्चुरी सोशियालॉजी, ब्रिटिश सोशियालॉजी, पृ० ५७९।

६. एन्साइक्लोपीडिया आव द सोशल साइन्सेज़, भाग सात-आठ, पृ० ५४१।

७. दे० एफ० सी० एस० शिलर, ह्यूमैनिज्म, (मैकमिलन, लन्दन, दूसरा संस्करण, १९१२), प्रस्तावना पृ० २१।

८. वही, अध्याय १।

९. वही, पृ० ७।।

१०. दे० नीचे, अध्याय ७।

११. कारलिस लैमान्ट, ह्यूमैनिज्म एज ए फिलासफी, (वाट्स एन्ड को, लन्दन, तीसरा संस्करण, १९५२), पृ० ३०–३१।

१२. दे० जॉक मारितां, ट्रू ह्यूमैनिज्म, (ज्याफरे ब्लेस, लन्दन, तीसरा संस्करण १९४१), भूमिका।

१३. कारलिस लैमान्ट, वही, पृ० ३१।

१४. एथीकल रिलेटिविटी, पृ० ३।

१५. पाठक लक्षित करें, भिन्नो तथा विपरीतो की सहप्रामाणिकता, विरुद्धो की नहीं। जीवन में हमारे सामने 'करने' तथा 'न करने' के बीच विकल्प का प्रश्न नहीं उठता; 'यह करें' या 'वह करें' का प्रश्न ही प्रायः उठता है। द्वन्द्व की स्थिति प्रायः दो मूल्यो को लेकर उठ खड़ी होती है।

१६. तु० की० तर्को न प्रमाणसंगृहीतो, न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकः तत्वज्ञानाय कल्पते। न्याय भाष्य, १।१।१

१७. देखो नीचे, अध्याय २।

१८. तु० की० हैन्स राइशेनबाख, 'इस पर अति गौरव नही हो सकता कि निगमन स्वतंत्र निष्कर्ष उत्पन्न नहीं कर सकता।' (द राइज आफ साइन्टिफिक फिलासफी, बार्कले एन्ड लास एंजेलेस, १९५१), पृ० ५७।

१९. एच० प्वांकरे, साइंस ऐन्ड हाइपाथिसिस, (अं० अनु० वाल्टर स्काट पब्लिशिंग कम्पनी, लन्दन, १९०५), पृ० ३।

२०. वही, पृ० १३।

२१. वही, पृ० ९।

२२. वही, पृ० १२-१३।

२३. वही, पृ० १३।

२४. यूगेनिओ रिग्नानो, द साइकालाजी आव् रीजनिंग, (अं० अनु० कीगन पाल, लन्दन, १९२३), पृ० १९१, गौरव लेखक का।

२५. दे० गार्डनर मर्फी, ए हिस्टारिकल इन्ट्रोडक्शन टु साइकालजी, (कीगन पाल, १९३८), अध्याय २६।

२६. दे० कान्टेम्पोरेरी इन्डियन फिलासफी, (म्योरहेड लाइब्रेरी आफ फिलासफी, दूसरा संस्करण, १९५२), पृ० ३८७।

२७. दे० एफ्० एस० सी० नार्थोप, द मीटिंग आव् ईस्ट ऐन्ड वैस्ट, (मैक-मिलन, लन्दन, १९४९), पृ० ३७५।

२८. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, रिलीजन ऐन्ड फिलासफी, (एलेन ऐन्ड अनविन, लन्दन, १९४७), पृ० २३।

# अध्याय २

## मूल्यों की वस्तुनिष्ठता . यथार्थ व अस्तित्व के क्रम

इस पुस्तक का उद्देश्य सस्कृति को एक मूल्य मानते हुए उसका निरूपण करना है। कोई धारणा अथवा वक्तव्य कब सन्तोपप्रद होता है ? सन्तोपप्रद होने की एक पहचान यह है कि एक वक्तव्य या धारणा उन सब सामान्य मनुष्यो द्वारा जो उसकी परीक्षा कर सकते है, ग्राह्य हो। मतलब यह है कि जिसे हम समुचित धारणा या वक्तव्य कहते है वह किसी-न-किसी प्रकार की प्रामाणिकता का दावा करता है। कुछ विचारकों, विशेषत आत्मनिष्ठतावादियो तथा तर्क-मूलक भाववादियो ने, यह मानने से इनकार किया है कि मूल्यो के सम्बन्ध मे दिये हुए कथन या वक्तव्य वस्तुगत रूप मे प्रामाणिक होते है। सस्कृति का निरूपण करने से पहले यह जरूरी है कि हम इन विचारकों की मान्यताओ की परीक्षा करे।

समीक्षा या आलोचना दो प्रकार की होती है, तर्क-मूलक और ध्वसात्मक तथा अनुभव-मूलक और रचनात्मक। पहली कोटि की आलोचना प्राय किसी मंतव्य की आतरिक विसगतियो को दर्शित करके उसका खडन कर देती है। उदाहरण के लिये जब हम किसी मन्तव्य से निष्कर्ष निकाल कर यह दिखा देते है कि वे निष्कर्ष अर्थहीन (Absurd) है, तो हम ध्वसात्मक आलोचना करते होते है। इसके विपरीत रचनात्मक आलोचना किसी सिद्धान्त को जीवन और अनुभूति के तथ्यो की अपेक्षा मे जाँचती है, और इस दृष्टि से उसमे सशोधन अथवा उसका परित्याग करती है कि उस अनुभूति की ज्यादा अच्छी जानकारी अथवा व्याख्या प्राप्त हो जाय। तर्क-मूलक आलोचना का उद्देश्य किसी सिद्धान्त को दूषित सिद्ध करना होता है, जब कि रचनात्मक आलोचना का अन्तिम लक्ष्य हमारे यथार्थ-सम्बन्धी पर्यवेक्षण को तीक्ष्ण एव समृद्ध करना होता है। हम यह नही कह रहे है कि प्रथम कोटि की आलोचना अयुक्त होती है। फिर भी हम मानते है कि गम्भीर कोटि की आलोचना को, प्रेरणा और निष्पत्ति

दोनो मे, रचनात्मक होना चाहिए। सब प्रकार के सशयवादी विचारको ने, जिनमें आत्मनिष्ठतावादियो तथा तर्क-मूलक भाववादियो का भी समावेश है, ध्वसात्मक आलोचना का प्रचुर प्रयोग किया है। इस प्रकार की आलोचना को बहुत ज्यादा महत्व नही देना चाहिए। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए हम सक्षेप में आत्मनिष्ठतावादियो तथा तर्कमूलक भाववादियो के उन मन्तव्यो की परीक्षा करेंगे जो उन्होने मूल्य-सम्बन्धी वक्तव्यो अथवा कथनो के बारे में प्रतिपादित किये है।

## आत्मनिष्ठतावाद का खंडन

आत्मनिष्ठतावाद उस सिद्धान्त को कहते है जिसके अनुसार मूल्य-सम्बन्धी कथन, जिनका विषय मानवीय कर्म अथवा कलाकृतियाँ होती है, हमे उन वस्तुओ के बारे मे कुछ नही बतलाते। उदाहरण के लियें जब हम कहते है कि एक काम बुरा है, अथवा एक कविता घटिया है, तब हम वास्तव मे उस काम या कविता के बारे मे कुछ नही कहते। हम उक्त कर्म या कविता में उपस्थित किसी गुण का सकेत नही करते, इसके विपरीत हम सिर्फ यह प्रकट करते है कि उस कर्म या कविता के सम्बन्ध मे हमारे भीतर एक खास तरह की सवेदना या मनोभाव है। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे मूल्य-सम्बन्धी वक्तव्य वस्तुत हमारी मनोदशाओं के बारे में होते है, न कि किन्ही बाहरी चीजो के सम्बन्ध मे। इस मान्यता के पक्ष मे सबसे बडी युक्ति यह है कि, एक ही नैतिक अथवा सौन्दर्य-मूलक वस्तु के सम्बन्ध मे, विभिन्न व्यक्ति तथा समूह अलग-अलग सम्मतियाँ प्रकट करते है।[1] यदि वे व्यक्ति तथा समूह अपने सामने उपस्थित किन्ही वस्तुगत चीजो की ओर सकेत करते हो, तो उनमें इस प्रकार के मतभेद दिखाई न दे। विभिन्न अवसरो पर विभिन्न चीजो के महत्व के सम्बन्ध मे लोगो मे जो मतभेद होते है, वे यह सिद्ध करते है कि वे लोग वस्तुत अपनी उन मनोदशाओ के बारे मे बातचीत करते होते है जो तथाकथित नैतिक या अनैतिक एव सुन्दर या असुन्दर वस्तुओ द्वारा उनके भीतर उत्पन्न की जाती है। और चूंकि विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहो में ये सवेदनाएँ या मनोदशाएँ प्राय अलग-अलग होती है, इसलिए उनके तथा-कथित नैतिक एव सौन्दर्य-सम्बन्धी वक्तव्य भी एक-दूसरे से भिन्न हो जाते है। यही कारण है कि मनुष्यो के मूल्य-सम्बन्धी वक्तव्यो को वैज्ञानिक एकता मे ग्रथित नही किया जा सकता। इस प्रकार आत्मनिष्ठतावादी विचारक आचार-शास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र नाम की विद्याओ की सम्भावना से इनकार करते है।

आलोचको ने दिखलाया है कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त कतिपय विरोधाभासो को जन्म देता है। प्रोफेसर जी० ई० मूर ने इगित किया है कि नीतिशास्त्र अथवा आचार-शास्त्र के क्षेत्र मे उक्त सिद्धान्त का एक विचित्र निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी कर्म की अच्छाई या बुराई के सम्बन्ध मे किन्ही भी दो व्यक्तियो मे कभी मतभेद नही हो सकता।[२] कारण यह कि जब कोई व्यक्ति एक नैतिक निर्णय देता है, तो वह अपनी मनोदशाओ या सवेदनाओ के बारे मे बात करता है, न कि निर्णीत होने वाले कर्म के बारे मे। ऐसी स्थिति मे नैतिक निर्णय प्राय ऐसे वाक्यो के समान हो जाता है जैसे कि 'मुझे चीनी अच्छी लगती है,' और 'मुझे चीनी अच्छी नही लगती'। इन दोनो वाक्यो मे कोई विरोध नही है, इसी प्रकार नैतिक निर्णयो मे भी विरोध नही होता। आत्मनिष्ठतावाद से दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ही कर्म नैतिक दृष्टि से अच्छा और बुरा दोनो हो सकता है। तीसरे, कोई भी नैतिक निर्णय गलत नही हो सकता 'जब तक कि निर्णायक अपनी सवेदनाओ अथवा मनोदशाओ के बारे मे गलत सूचना न दे।'[३] चौथे, कोई भी दो नैतिक निर्णय एक ही अर्थ नही रखते। एक ही मनुष्य दो भिन्न अवसरों पर समान निर्णय नही दे सकता, क्योकि प्रत्येक अवसर पर वह वास्तव मे यही कहेगा कि इस समय मै इस चीज को पसन्द या नापसन्द करता हूँ। सौन्दर्य-सम्बन्धी निर्णयो पर भी यही बाते लागू होगी।

आत्मनिष्ठतावाद का एक चौकानेवाला परिणाम यह है कि किसी व्यक्ति को किसी नैतिक कर्म की भलाई-बुराई के सम्बन्ध मे, फिर चाहे वह कर्म किया जा चुका हो अथवा सकल्पित हो, सन्देह नही हो सकता। क्योंकि हमारे मन मे कर्म-विशेष के सम्बन्ध मे इस समय क्या भावना है, इस बारे मे सन्देह की गुजाइश नही है। इसका मतलब यह हुआ कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त नैतिक द्वन्द्व की अनुभूति की व्याख्या नही कर सकता।

इस प्रकार उक्त सिद्धान्त अपने मे विरोधग्रस्त है, और अनुभूत तथ्यो का भी विरोधी है। फलत हम इस मन्तव्य को स्वीकार नही कर सकते कि हमारे नैतिक वक्तव्य या कथन सवेदनाओ अथवा सवेदनाओ के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। किन्तु इस अस्वीकृति का यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि जब वे कथन किये जाते हैं तब सवेदनाओ का अभाव रहता है। हम मानते हैं कि ये सवेदनाएँ अकेली नही होती, वे सदैव विशिष्ट बाह्य परिस्थितियो पर सलग्न होती हैं।[४] प्राय हमारे वक्तव्य उन परिस्थितियो का वर्णन करते हैं, जब कि स्वय सवेदनाओ का प्रकाशन स्वर, चेहरे

के भाव, गतियो आदि के द्वारा किया जाता है। देखने की बात यह है कि उन लोगो की दृष्टि मे जो नैतिक वक्तव्य देते है उन सवेदनाओ तथा उस परिस्थिति का सम्बन्ध स्वाभाविक अर्थात् वस्तुस्थिति द्वारा उत्पादित और बुद्धिगम्य होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे तर्क करनेवालो की दृष्टि मे विभिन्न पक्षवाक्यो और उनके निष्कर्षों का सम्बन्ध वस्तुगत तथा बुद्धिगम्य होता है। अवश्य ही उक्त दो स्थितियो मे कुछ भेद रहता है प्रथम सम्बन्ध की वस्तु-परकता उतनी सार्वभौम नही होती जितनी कि दूसरे सम्बन्ध की। यही कारण है कि प्रथम कोटि के सम्बन्ध के बारे में आत्म-परक होने का सन्देह किया जाता है। फिर भी यह मानना होगा कि एक ही "सस्कृति" की परिधि मे विभिन्न लोगो के नैतिक वक्तव्य इतने समान होते है कि आत्मनिष्ठतावाद का सिद्धान्त भी सदिग्ध हो जाता है। नैतिक पैमानो की सापेक्षता के बारे में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि ऐसे नैतिक निर्णयो का अभाव नही है जिनके बारे मे सार्वभौम मतैक्य हो। यही बात सौन्दर्य-सम्बन्धी निर्णयो के बारे मे कही जा सकती है।

## आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त

हमारे मूल्यात्मक वक्तव्यो का व्यवस्थित, वस्तुपाती अध्ययन नही हो सकता, यह मान्यता एक दूसरे सम्प्रदाय की भी है, अर्थात् तर्क-मूलक भाववादियो की। उनका सिद्धान्त आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त (Emotive Theory of Values) कहलाता है। केवल नैतिक निर्णयो के सम्बन्ध में लिखते हुए ऐयर कहते है .

नैतिक वक्तव्यो की प्रामाणिकता का निर्णय करने के लिये किसी मानदण्ड को पाना असम्भव है क्योकि उनमें वस्तुपाती प्रामाणिकता होती ही नही। जब एक वाक्य कोई कथन ही नही करता, तो स्पष्ट ही उसके सम्बन्ध मे यह पूछना कि वह सही है या गलत, कोई अर्थ नही रखता वे वाक्य जो नैतिक निर्णय प्रकट करते है, कुछ भी नही कहते। वे विशुद्ध रूप मे सवेदनाओ को प्रकट करते है, और इस प्रकार सच तथा झूठ की श्रेणी में नही आते।[1]

प्रोफेसर ऐयर ने आवेग-मूलक मूल्य-सिद्धान्त को आत्मनिष्ठतावाद से पृथक् किया है। वे कहते है 'जहाँ आत्मनिष्ठतावादी यह कहता है कि नैतिक वक्तव्य कतिपय सवेदनाओ के अस्तित्व का कथन या घोषणा करते है, वहाँ हम मानते है कि नैतिक

वक्तव्य या तो सवेदनाओं को अभिव्यक्त करते है, अथवा सवेदनाओं को उकसाते है। इन दोनो रूपों मे वे, आवश्यक रूप मे, कोई कथन नही करते।'[६] उदाहरण के लियें एक दम्भी व्यक्ति एक ऐसे कार्य को बुरा कह सकता है जिसका अपराधी वह स्वयं है; उस कार्य को बुरा कहते समय उसके मन मे तिरस्कार की वे भावनाएँ जिनका वह दिखावा करता है, मौजूद नही भी हो सकती है।

पूछा जा सकता है कि आत्मनिष्ठतावाद तथा तर्क-मूलक भाववाद के मन्तव्यो के इस भेद का क्या महत्व है ? जब आत्मनिष्ठतावादी यह कहते है कि नैतिक कथन सवेदनाओ के अस्तित्व की उपस्थिति बतलाते है, तब वे यह स्वीकार कर लेते है कि नैतिक कथनो मे किसी-न-किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता होती है, उक्त वक्तव्य का मतलब यही होता है कि वे कथन कतिपय मानसिक तथ्यो का वर्णन करते है और इस प्रकार अनुभवमूलक वक्तव्य (Empirical Statements) होते है। किन्तु तर्क-मूलक भाववादी नैतिक कथनो मे इतनी वस्तुनिष्ठता मानने को तैयार नही है।

तर्क-मूलक भाववाद के अनुसार नैतिक वक्तव्य या तो (क) इन्द्रिय-ग्राह्य तथ्यों के कथन होते है, अथवा (ख) सवेदनाएँ उकसाने वाले होते है, या फिर (ग) खास ढगो से कर्म करने के लियें आदेश -रूप होते है। हमारे विचार मे नैतिक वक्तव्यों का यह तीनो प्रकार का परिणमन उचित या न्याय्य नही है। उदाहरण के लियें श्री ऐयर का विचार है कि निम्न दो वाक्य समानार्थक है ' 'तुमने वह रुपया चुराया', और 'तुमने वह रुपया चुराकर बुरा काम किया।' हम ऐयर के इस मत से सहमत नही। कल्पना कीजिए कि एक आतकवादी नेता, जो रुपया चुराने को स्वय में बुरा काम नही मानता, उक्त वाक्य अपने अनुयायियो से कहता है। उसकी दृष्टि मे रुपया चुराना बुरी बात तभी होगी जब वह रुपया किसी गरीब व्यक्ति, किसान या मजदूर, का हो। दूसरी स्थिति मे, जब चुराया हुआ रुपया किसी अमीर आदमी का हो, दूसरे वाक्य का वही अर्थ नही होगा जो कि पहले का। सच यह है कि जब मै एक व्यक्ति से कहता हूँ कि उसने किसी चीज को चुरा कर बुरा काम किया, तो मै केवल इस भौतिक तथ्य का सकेत नही कर रहा हूँ कि उसने एक वस्तु को स्थानान्तरित कर दिया; मै इस तथ्य के मूल्यात्मक पहलू का भी सकेत करता हूँ, अर्थात् उस पहलू का जिसके कारण वह तथ्य किसी निरपराध व्यक्ति की पीडा का कारण हो जाता है। यह समझना गलत होगा कि उक्त मूल्यात्मक पहलू चोरी के कर्म मे वैसे ही सलग्न रहता है जैसे कि पत्तियो मे हरियाली। इसके विपरीत एक कर्म मे, उस पीड़ा के अनुपात में जो दूसरो

को पहुँचाई गई है अथवा जिसे पहुँचाने का इरादा किया गया है, न्यूनाधिक बुराई आ जाती है; बुराई का अनुपात इस विचार से भी न्यूनाधिक हो जाता है कि पीडा पाने वाला कहाँ तक उसके योग्य था। उदाहरण के लिये चोरी हो जाने से कष्ट पानेवाला व्यक्ति यदि स्वय एक डाकू या बदमाश है, तो हम उसके प्रति सहानुभूति नही दिखलाना चाहते, और उसके अपराधी पर ज्यादा रोप नही करते, बगर्ते कि अपराध करते समय उस अपराधी के मन में यह भावना रही हो कि मैं एक दुप्ट व्यक्ति को कप्ट पहुँचा रहा हूँ। हम आगे देखेगे कि सब वस्तुओ के समस्त गुण आपेक्षिक होते है, कर्मो तथा मनुष्यो की नैतिक विशेपताएँ इस सामान्य नियम का अपवाद नही हैं। जब हम विभिन्न कर्मों तथा मनुष्यो के सम्बन्ध मे नैतिक निर्णय देते है, तो हम स्वाभावत यह कामना करते है कि दूसरे लोग उन कर्मों तथा मनुष्यो को उन्ही सन्दर्भो मे देखे जिनमे वे हमारे द्वारा देखे जा रहे हैं।

ऐसा कम होता है कि किसी कर्म अथवा मनुष्य के सम्बन्ध मे नैतिक निर्णय देते समय हम एक छोटा-सा वक्तव्य दे कर सन्तुष्ट हो जायँ। प्राय हम यह कोशिश करते हैं कि अपने निर्णय या वक्तव्य को प्रमाणित कर दे। हमारी कोशिश यह होती है कि दूसरे लोग उस पूरे सन्दर्भ को देख ले जिसने उस निर्णय को जन्म दिया हैं। तर्क-मूलक भाववाद उन सब प्रक्रियाओ की चिन्ता करता नहीं दीखता जिनके द्वारा, किसी नैतिक विवाद में, लोग एक दूसरे द्वारा अपना मत मनवाने की कोशिश करते है।

ऐसा जान पडता है कि किसी नैतिक कथन के अर्थ का निश्चय करना उतनी सरल बात नही है। यह कहना कि ऐसे वक्तव्य का उद्देश्य कतिपय सवेदनाओ को उकसाना होता है, स्थिति को सरल करना है। इतिहास-लेखक अक्सर ऐसे पुरुपो के कर्मो पर नैतिक निर्णय देते है जिनके विरुद्ध घृणा तथा क्रोध दोनो की भावनाएँ एकदम व्यर्थ होती हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि इतिहास-लेखक अपने पाठको में नैतिक भावनाएँ जगाना चाहते हैं, तो भी यह स्वीकार करना होगा कि वे ऐसे तथ्यो को उपस्थित करते है जिनके द्वारा नैतिक भलाई-बुराई देखी जा सके।

विचाराधीन मन्तव्य के विरुद्ध हमारा सबसे बड़ा अभियोग यह है कि वह सभ्य मनुष्य के इतिहास के अनुरूप नही है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार हमें यह मानना चाहिए कि बुद्ध और कनफ्यूशियस से लेकर कान्ट और गाधी तक समस्त दार्शनिक एव नैतिक शिक्षक तथा अरस्तू से लेकर टॉल्स्टाय तथा क्रोचे तक समस्त सौन्दर्य-शास्त्री

एक ऐसे कार्य मे लगे रहे है जहाँ सफलता की सभावना है ही नही, और वे सब शिक्षक जो अपने शिष्यो मे यह क्षमता उत्पन्न करना चाहते है कि वे (उदाहरण के लिये) अच्छी-बुरी कलाकृतियों मे भेद कर सके, न केवल शिष्यों को वल्कि अपने को भी धोखा देते हैं, क्योकि उन क्षेत्रों मे अच्छाई-बुराई के निर्णय वस्तुतः न सही होते है, न गलत। इस प्रकार के समस्त निर्णय मूलत आवेगात्मक होते है, जिनकी प्रामाणिकता सिद्ध नही की जा सकती, वे सभी समान रूप मे सही या गलत होते है। यहाँ यह स्पष्ट है कि तर्कमूलक भाववाद का सिद्धान्त योरप की उस समस्त उदारतावादी विचार-परम्परा (Liberal Tradition) का निषेधक है जिसके अनुसार मानवीय व्यवहार तथा सस्थाओ की प्रामाणिकता को मनुष्यो की बौद्धिक स्वीकृति द्वारा जाचा जा सकता है।* उक्त मन्तव्य के विरुद्ध दूसरा बड़ा आक्षेप यह है कि सभ्य मनुष्य बहुत काल तक उसे स्वीकार करके नही चल सकते। विवेकी मनुष्यो को यह विश्वास दिलाना असभव है कि वस्तुगत दृष्टि से समस्त कलाकृतियाँ समान रूप मे अच्छी या बुरी है, और समस्त कर्म समान रूप मे शुभ या अशुभ है। मनुष्य द्वारा किये गये मूल्याकन या मूल्यात्मक निर्णय न तो खामखयाली ही होते है, और न केवल शौक की चीज; वास्तव में वे मानव प्रकृति की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि ऐसा न हो तो इस अजीब स्थिति की क्या व्याख्या होगी कि वर्ट्रान्ड रसेल और आई० ए० रिचर्ड्स जैसे विचारक, जिनका तर्क-मूलक भाववाद की ओर झुकाव हे, नैतिक, राजनैतिक एव कलात्मक तथा सौन्दर्य-सम्वन्धी प्रश्नो पर निश्चित पक्ष लेते हुए पाये जाते है ?

यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त विचारणाएँ आत्मनिष्ठतावाद तथा तर्क-मूलक भाववाद का पूर्ण खण्डन प्रस्तुत नही करती। बात यह है कि उक्त दोनो मन्तव्य सन्देहवाद के रूप है, और सन्देहवाद का पूर्णतया खण्डन नही किया जा सकता। किन्तु सन्देहवादी दृष्टि पलायनवादी एव निषेधात्मक होती है, और उसे उस किसी भी भावात्मक प्रयत्न से घटिया मानना चाहिए जो किसी अनुभव-क्षेत्र का व्याख्यात्मक चित्र खडा करने के लिये किया जाता है। बौद्धिक हलचल तथा नैतिक अशान्ति के हरेक युग मे सन्देहवाद एक नये रूप मे अपना सिर उठाता है, और अपनी पुष्टि मे नये तर्क देता है; इस प्रकार के प्रत्येक युग को इस दुर्द्धर्ष शत्रु का सामना करने के लिये नये रचनात्मक अस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए।

इस मनोवृत्ति के साथ हम अब वस्तुनिष्ठता के स्वरूप को निरूपित करने की कोशिश करेगे। उसके बाद हम यह देखेगे कि कहाँ तक मूल्यो को वस्तुनिष्ठ चीज

माना सकता है। हम उन कारणों को समझने की कोशिश भी करेंगे जिनसे मूल्यों की प्रतीति तथा तत्सम्बन्धी निर्णयों के क्षेत्र मे मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। हमारा यह विश्वास है कि उन कारणों की जानकारी जो किसी विषय पर लोगों में मतभेद उत्पन्न करते हैं, मतभेदों को हटाने में सहायक होती है। मतभेदों की उपस्थिति हमेशा इस बात का सबूत भी नही होती कि विभिन्न दृष्टियाँ वस्तुनिष्ठता से रहित हैं, कभी-कभी वस्तुस्थिति का परिवर्तित होनेवाला अथवा अनिश्चित रूप ही मत-भेदो का कारण हो जाता है। हमारे विचार में प्रकाश के स्वरूप तथा हाइजनबर्ग के अनिर्धारण-सिद्धान्त (Principle of Indeterminacy) की उचित व्याख्या के सम्बन्ध में बड़े-बड़े वैज्ञानिकों में जो मतभेद है वह कुछ ऐसा ही है। इसी प्रकार वैज्ञानिकों में इस बात पर भी मतैक्य नही है कि गणितशास्त्र का स्वरूप क्या है, और प्राकृतिक नियमो की प्रकृति तथा प्रामाणिकता क्या है। हमारा अनुमान है कि मूल्यो के सम्बन्ध मे प्रचलित मतभेद भी उक्त मतभेदों से अधिक आपत्तिजनक और कम बुद्धिगम्य नही हैं।

## वस्तुनिष्ठता की परिभाषा

वर्तमान काल के मूल्य-सम्बन्धी अनुशीलन पर एक गहरे पक्षपात का प्रभाव देखा जा सकता है। इस पक्षपात के मूल में जॉन लॉक का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि गुणो के दो विभाग होते हैं, अर्थात् मूल गुण तथा गौण गुण। मूल गुण वे हैं जो स्वय वस्तुओं में मौजूद होते हैं, वस्तुओं में गौण गुणों की प्रतीति द्रष्टा की विशेष बनावट या रचना के कारण होती है। बिना आँखो के रगो की सत्ता नही होगी, और बिना कानो के ध्वनियो की, ऐसा ही दूसरे इन्द्रिय-ग्राह्य गुणों के बारे में समझना चाहिए। मूल गुण वस्तुनिष्ठ होते हैं, जबकि गौण गुण आत्मनिष्ठ माने जाने चाहिएँ। इससे वस्तु-निष्ठता की निम्न परिभाषा प्राप्त होती है. वस्तुनिष्ठ पदार्थ वह है जो अपनी सत्ता के लिये किसी चेतना-सम्पन्न प्राणी और उसके अनुभव पर निर्भर नही करता।

मूल तथा गौण गुणो का भेद विभिन्न विचारको के हाथो में विभिन्न नाम-रूप धारण करके प्रकट होता है। उदाहरण के लिये श्री स्टेस ने आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ में निम्न प्रकार से भेद किया है

किसी मूल्य को हम आत्मनिष्ठ कहेंगे यदि उसकी सत्ता, पूर्णतया अथवा अशत,

किन्ही मानवीय इच्छाओ, सवेदनाओं, सम्मतियो, अथवा दूसरी मनोदशाओ पर निर्भर करती है। एक वस्तुनिष्ठ मूल्य इसके विपरीत होगा। वह एक ऐसा मूल्य होगा जो मनुष्य की किसी इच्छा, सवेदना अथवा दूसरी मनोदशा पर निर्भर नही करता।[८]

स्टेस से भी आगे बढ़कर श्री एफ० ए० हायक घोषित करते हैं कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानो द्वारा अधीत होने वाले समस्त तथ्य आत्मनिष्ठ होते है। उनके मत मे सामाजिक विज्ञान वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन नही करते, वे या तो मनुष्यो तथा वस्तुओ के सम्बन्धो का अध्ययन करते है, अथवा मनुष्यो के आपसी सम्बन्धो का। और जहाँ तक मानवी कर्मो का सम्बन्ध है, 'वस्तुएँ वह होती है जो कर्म करने वाले लोग उन्हे समझते है।'[९] वैसे लोगो की दृष्टि मे वस्तुएँ किसी के लियें उपयुक्त अथवा किसी के लियें उद्दिष्ट होती है। हायक घोषणा करते है कि सामाजिक विज्ञानो के तथ्य मात्र सम्मतियाँ होते है, अर्थात् उन कर्म करनेवालो की सम्मतियाँ जिनके कर्मो का हम अध्ययन करते हैं।[१०] उनका यह भी प्रस्ताव है कि यदि हमे वस्तुनिष्ठ के विरोधी के रूप मे आत्मनिष्ठ कहना उचित न लगे, तो हम उसके बदले आरोपित (Attributed) शब्द का प्रयोग कर सकते है।

यहाँ प्रश्न उठता है यदि आत्मनिष्ठ वह है जो ज्ञाता की चेतना पर निर्भर करता है, तो क्या तर्क मूलक आक्षिप्त अभिप्राय (Implications) को भी आत्मनिष्ठ मानना चाहिए ? यह स्पष्ट है कि आक्षिप्त अभिप्राय की सत्ता ज्ञाता की चेतना के लियें ही होती है। किन्तु यदि आक्षिप्त अभिप्रायो को आत्मनिष्ठ माना जाय, तो समस्त वैज्ञानिक तर्कना और समस्त विज्ञान आत्मनिष्ठ बन जायँगे।

जहाँ तक दर्शन का प्रश्न है, अब मूल गुणो तथा गौण गुणो का भेद अयुक्त माना जाता है। बहुत पूर्व बार्कले ने यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि तथाकथित मूल गुण जाननेवाली चेतनाओ के निरपेक्ष सिद्ध नही किये जा सकते, और इस प्रकार यह भी सिद्ध नही किया जा सकता कि वे किसी रूप मे गौण गुणो से भिन्न तथा अधिक वस्तुनिष्ठ होते है। रसेल ने लिखा है "बार्कले के समय से गुणो से सम्बन्धित लॉक का द्वैत दार्शनिक दृष्टि से असमीचीन समझा जाता है।"[११] यह लक्षित करने की बात है कि सापेक्षवाद के बाद का भौतिकशास्त्र प्राय बार्कले के मन्तव्य से सहमत है। उदाहरण के लियें श्री जे० डब्ल्यू० एन्० सलीवन लिखते है.

यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि प्रकृति के गणित-मूलक गुण भी आत्मनिष्ठ न माने जायें। युक्तियो द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि उपरोक्त गुण भी हमारे द्वारा प्रकृति मे आरोपित होते हैं। हम अनिवार्य रूप से प्रतीयमान तथ्यो को गणित के ढाँचे मे व्यवस्थित कर लेते है, क्योंकि हमारे मस्तिष्क की प्रकृति ऐसी ही है। कान्ट का यही मत था, और एडिंगटन का भी यही मत है . श्री बर्ट्रान्ड रसेल बतलाते है कि उस किसी भी विश्व के चारो ओर, जिसमे अनेक वस्तुएँ है, गणित का जाल बुना जा सकता है।[१२]

एक दूसरे संदर्भ में श्री सलीवन ने कहा है कि बाह्य जगत् पर, वस्तुनिष्ठ रूप मे, गणित-विज्ञान उसी प्रकार लागू होता है, जैसे कि, कुछ लेखकों के अनुसार, तर्क-शास्त्र लागू होता है।[१३]

ये अवतरण अनेक प्रथम श्रेणी के विचारकों की सम्मतियो से गौरवान्वित है, और अपनी बात स्पष्ट रूप में प्रकट करते है। सच यह है कि इस सापेक्षवाद के युग मे यह कहना एक मामूली बात है कि 'निरपेक्ष लम्बाई, मात्रा, शक्ति, देश, काल, और गति का अस्तित्व नहीं है क्योंकि जब तक कोई वस्तु ऐसी न मिल जाय जो निरपेक्ष रूप मे स्थिर है, तब तक हम किसी अणु का ठीक वेग नहीं जान सकते, और इसीलिये उसकी शक्ति, उसकी स्थितिशीलता ( Inertia ) और उसकी मात्रा का भी ठीक निश्चय नहीं कर सकते।'[१४] काडवेल के मत मे सापेक्षवाद का सिद्धान्त हमारे यथार्थ-सम्बन्धी ज्ञान की सीमाओं का वर्णन इस प्रकार करता है कि वे सीमाएँ भौतिक तत्त्व की प्रकृति का, हमारी सबद्धता में, यथार्थ वर्णन बन जाती है।[१५] एडिंगटन ने मछुए का उदाहरण देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार मछुए के द्वारा दिए हुए मछलियों के वर्णन केवल उन मछलियो पर लागू होते है जिन्हे पकडा जा सकता है, वैसे ही विश्व से सम्बन्धित भौतिक शास्त्र का ज्ञान केवल उन्ही वस्तुओं पर लागू हो सकता है जिन्हे हम अपनी इन्द्रियो तथा बुद्धि की पकड मे ला सकते है। एडिंगटन ने इस मन्तव्य को "चयनात्मक आत्मनिष्ठतावाद" ( Selective Subjectivism ) की सज्ञा दी है। रूपक का परित्याग करके उक्त मन्तव्य की व्याख्या करते हुए वह कहते है 'यदि हम निरीक्षण को भौतिक शास्त्र का आधार मानें, और इस बात पर जोर दें कि उस शास्त्र के वक्तव्य निरीक्षण द्वारा परीक्षणीय होने चाहिएँ तो हम भौतिक ज्ञान की एक चयन-मूलक कसौटी ग्रहण कर लेते है। यह चयन आत्मघाती होता है, क्योंकि वह हमारी इन्द्रियों तथा बुद्धि के उपकरणो पर, जिनके द्वारा हम प्रत्यक्ष-मूलक ज्ञान प्राप्त

करते हैं, निर्भर करता है। जिन्हे हम भौतिक शास्त्र के सामान्य कथन अथवा प्रकृति के कानून कहते हैं वे इसी प्रकार के आत्मपाती ढग से चयन किए हुए वोध पर, अथवा उस विश्व पर जो उस वोध द्वारा वर्णित होता है, लागू होते हैं।"[११] ब्रिजमैन का दृष्टि-कोण थोडा-सा भिन्न है। इन्द्रियो तथा बुद्धि के उपकरणों के वदले वे "प्रयोगात्मक क्रियाओ" का उल्लेख करते हैं, जिनकी अपेक्षा मे हमारी धारणाओ की परिभाषा होनी चाहिए। उदाहरण के लियें हम किसी चीज़ की लम्वाई की नाप कतिपय क्रियाओ द्वारा करते हैं, लम्वाई क्या है, यह परिभाषा उन क्रियाओ की अपेक्षा से ही हो सकती है। वैसे लम्वाई की जो कोई भी परिभाषा दी जायगी वह सदोष होगी। इसका मतलव यह हुआ कि हमारा भौतिक शास्त्र का ज्ञान प्रयोग-मूलक क्रियाओ का सापेक्ष होता है। वह कहते हैं 'हमारे अनुभव का वर्णन प्रत्ययो का या धारणाओ के माध्यम मे होता हैं। क्योकि हमारी धारणाएँ क्रियाओं द्वारा निर्मित होती है, इसलियें हमारा ज्ञान अनिवार्य रूप मे उन क्रियाओ का सापेक्ष होता है जिनका हम चयन करते हैं।'[१७] ब्रिजमैन के इस मत की पुष्टि एडिंगटन ने भी की है। वह कहते है, 'अव यह स्वीकृत प्रणाली वन गई है कि जव हम नयी भौतिक चीजों का समावेश करे तो यह मान ले कि वे चीजे उन माप-क्रियाओं (Measuring Operations) तथा गणित-क्रियाओ द्वारा परिभाषित होती हैं जिनका वे परिणाम है।'[१८]

एडिंगटन ने यह भी उल्लेख किया है कि अणुओ अथवा भूततत्त्व के कुछ गुण हमारी प्रेक्षण-सरणि ( Procedure of Observation ) का परिणाम होते हैं, अर्थात् प्रेक्षण-विधि द्वारा पुद्गल तत्व या अणुओ पर आरोपित कर दिये जाते हैं। इसका मतलव यह हुआ कि विज्ञान जिस जगत् का वर्णन करता है वह और भी ज्यादा आत्म-परक या आत्मनिष्ठ होता है।

ऊपर हमने "आत्मनिष्ठ" शव्द का प्रयोग किया, उसके वदले "सापेक्ष" शव्द भी रक्खा जा सकता है। जिस भौतिक जगत को हम जानते है वह, जहाँ तक हम उसे जानते हैं, हमारा सापेक्ष होता है। यदि हम उसे आत्मनिष्ठ कहे, तो आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ मे कोई अन्तर नही रह जायगा, और विश्व की प्रत्येक वस्तु आत्म-परक वन जायगी। यदि इस अन्तर को कायम रखना है (और हमारा विश्वास है कि उसे कायम रहना चाहिए) तो हमे वस्तुनिष्ठता की ऐसी परिभाषा देनी चाहिए जिसमे उसकी निरपेक्षता पर गौरव न हो।

हमारे विचार में वस्तुनिष्ठता और सापेक्षता एक-दूसरे के विरोधी नही है। हम मानते है कि वस्तुओ के समस्त गुण सापेक्ष होते है, और वे अपने को दूसरी चीजो की सम्बद्धता में ही प्रकट करते है। उदाहरण के लिये गति सापेक्ष वस्तु है, वैसे ही हरापन और लालिमा भी है। लगभग साठ वर्ष पूर्व दार्शनिक ब्रेडले ने कहा था 'बिना भेद के गुण नाम की चीज की अवस्थिति असम्भव है, और भेद एक प्रकार का सम्बन्ध है।'[१९] निष्कर्ष यह कि 'बिना सम्बन्धो के गुणों को पाना असम्भव है।'[२०] हम यह भी नही मानते कि इस प्रकार की सापेक्षता यथार्थवाद के विरुद्ध अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद को पुष्ट करती है। यथार्थवाद यह मानता है कि ज्ञेय पदार्थ ज्ञाता की चेतना का निरपेक्ष होता है, जब कि अध्यात्मवाद के अनुसार ज्ञेय पदार्थ उस चेतना पर निर्भर करता है। हम मानते है कि ज्ञेय का ज्ञाता से सम्बन्ध उन अनेक सम्बन्धो में से एक है जो ज्ञेय पदार्थ तथा दूसरी वस्तुओं में होते है। इसलिये वस्तुनिष्ठता की परिभाषा ऐसी होनी चाहिये कि उसके भीतर सापेक्षता के लिये स्थान हो सके।

अपनी पुस्तक "भूततत्त्व का विश्लेषण" ( Analysis of Matter ) में श्री बर्ट्रण्ड रसेल ने वस्तुनिष्ठता की परिभाषा इस प्रकार की है: जब दो व्यक्ति साथ-साथ ऐसी प्रेक्षाएँ ( Perceptions ) पाते है जिन्हे वे एक ही वस्तु या समूह से सम्बन्धित समझते है, तब यदि एक के निष्कर्ष दूसरे से भिन्न हो, तो उनमें से एक अवश्य ही गलत निष्कर्ष निकाल रहा होगा, और इसलिये उसके प्रेक्षण मे आत्म-निष्ठता का अंश होगा। प्रेक्षणो को वस्तुनिष्ठ हम तभी कह सकते है जब दोनों प्रेक्षणो के निष्कर्ष समान हों।[२१]

रसेल के अनुसार वस्तुनिष्ठ चीज वह है जिसका प्रेक्षण या अनुभव समान रूप मे लोगो को होता है। किन्तु इस परिभाषा में निजी, आत्मनिरीक्षण से प्राप्त होने-वाले तथ्यों का समावेश नही होता। दाँत के दर्द के अनुभव को वस्तुनिष्ठ चीज मानना चाहिए, अथवा आत्मघाती ( Subjective )? स्पष्ट ही उक्त अनुभव भ्रान्ति (Illusion) अथवा मायिक प्रतीति या निरालम्बन प्रतीति ( Hallucination ) से भिन्न होता है, अन्यथा डॉक्टर लोग दवा देकर उसे ठीक करने की कोशिश न करें। यह भी कहा जा सकता है कि दतपीडा अथवा सिरदर्द के कुछ भौतिक-शारीरिक सह-चरित परिवर्तन होते है जिन्हे, कम-से-कम सिद्धान्त मे, सब लोग देख सकते है। लेकिन हमारा निवेदन है कि चिकित्साशास्त्र रोगो के भौतिक-शारीरिक लक्षणो को दूर करने के लिये औषधियाँ निर्मित करने की चिन्ता नही करता, यदि उसे यह विश्वास न

होता कि वे लक्षण या परिवर्तन अनुभूत पीडा द्वारा सहचरित हैं। यहाँ एक रोचक बात लक्षित करने की है होमियोपैथ डाक्टर सिरदर्द आदि की दवाएँ केवल मात्र अपने रोगियों के मानसिक अनुभवों अथवा तत्सम्बन्धी वक्तव्यो के आधार पर देते हैं। निश्चय ही वे डाक्टर यह मानकर चलते हैं कि वैसे वक्तव्य विषयगत या वस्तुनिष्ठ रूप में विश्वसनीय हैं।

इसलिये हमारे विचार में वस्तुनिष्ठता की सही परिभाषा ऐसी होनी चाहिए कि उसकी परिधि मे निजी अथवा आत्मनिरीक्षण के प्राप्त तथ्यो के लिये भी स्थान हो जाय। बाल्डविन के प्रसिद्ध "दर्शन और मनोविज्ञान का कोष" में वस्तुनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठता का निम्न विवरण पाया जाता है, जो अधिक उपयुक्त है :

जो जाना जाता है उसे उसमें भिन्न करना चाहिए जो भ्रमवश मान या स्वीकार कर लिया जाता है, अर्थात् वह जिसमें हम धोखा खाते हुए विश्वास करते हैं। इस दृष्टि से वस्तु या वस्तुनिष्ठ यथार्थ का समानार्थक है। यह अर्थ . वस्तुनिष्ठ विशेषण के साथ अधिक प्रचलित है, जो उस चीज का सकेत करता है जो वस्तुत. किसी विषय-सामग्री मे है, और उससे भिन्न है जो पक्षपात, भ्रम अथवा हेत्वाभास, अथवा द्रष्टा या निर्णायक की भूल के कारण वहाँ लाया गया है, अथवा दिखाई देता है; जो उसका विरोधी है जो केवल मन मे है।[२२]

जो केवल मन में है वह भ्रमात्मक या कल्पित है, और उससे भिन्न है जो सचमुच देखा या महसूस किया जाता है। "वस्तुनिष्ठता और मूल्यसत्व" (Objectivity and Value) नामक अपने निबन्ध में श्री डोनाल्ड वाल्हूट ने, वस्तुनिष्ठता की परिभाषा देते हुए, उसका व्यावर्तक गुण अतिवैयक्तिक नियन्त्रण-क्षमता (Over-personal Control) बतलाया है।[२३] मतलब यह कि वस्तुगत वह है जिस पर केवल एक व्यक्ति का नही, बल्कि बहुत से लोगो का नियन्त्रण हो सके। इस परिभाषा के अनुसार दाँत का दर्द वहाँ तक वस्तुनिष्ठ है जहाँ तक उस पर चिकित्सा-विज्ञान अथवा अनेक चिकित्सक नियन्त्रण कर सके। वस्तुनिष्ठ वह चीज होती है जिसका अस्तित्व किसी खास अहम्, ज्ञाता, अथवा व्यक्ति का अतिक्रमण करनेवाला होता है। श्री एस्० एलेक्जेन्डर के अनसार वस्तुगत उसे नही कहना चाहिए जो ज्ञातृ-चेतना का निरपेक्ष है, बल्कि उसे जो किसी व्यक्तिगत चेतना पर निर्भर नही होता और अनेक चेतनाओ की सामान्य सम्पत्ति होता है।[२४]

तो क्या दाँत के दर्द को वस्तुगत मानना चाहिए ? यह लक्षित करने की बात है कि एक व्यक्ति जिस तरह के दर्द का अनुभव करता है, ठीक वैसे दर्द का अनुभव कोई दूसरा व्यक्ति नही कर सकता। यदि हम होमियोपैथी की बात छोड दें तो यह स्पष्ट है कि चिकित्साशास्त्र दर्द के उन सहचरित भौतिक परिवर्तनो का, जिन्हे सब देख सकते हैं, इलाज करता है। महसूस होनेवाले दर्द को बहुत से लोग नही देख सकते; उसे अनेक लोग न आँखों से देख सकते हैं, न मन से।

फिर भी महसूस होनेवाला दर्द, यदि वह भ्रमात्मक या कल्पित नही है, किसी-न-किसी अर्थ में यथार्थ और वस्तुगत होता है; लोग वैसा विश्वास भी करते है। कोई कारण नही कि वस्तुनिष्ठता की परिभाषा मे उसे समावेशित करने का प्रयत्न न किया जाय।

## वस्तुनिष्ठता और सामान्यरूपता

वस्तुस्थिति यह है कि हम उन सब चीजो को वस्तुगत मानते हैं जिनका अनुभव सामान्य (Normal) लोगो को सगत रूप मे होता है। (यहाँ सगति से तात्पर्य यह है कि प्रत्याहरण और विश्लेषण के एक खास धरातल पर, अथवा कतिपय सम्बद्ध प्रयोजनो की अपेक्षा मे, विभिन्न लोगों के अनुभव एक-दूसरे से समजस हों।) उदाहरण के लिये हम एक व्यक्ति की दतपीडा की वस्तुनिष्ठता मे तब तक विश्वास करते हैं जब तक हमें यह सन्देह न हो कि वह व्यक्ति पागल या मिथ्यावादी है, जिसके कारण उसकी बात विश्वसनीय नही है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठता की धारणा का प्रेक्षक या प्रेक्षको की सामान्यरूपता (Normality) से सम्बन्ध जुड जाता है। वस्तुनिष्ठता की यह धारणा प्रो० डिंगिल द्वारा दी हुई विज्ञान की परिभाषा मे निहित है। वह परिभाषा इस प्रकार हैं - 'विज्ञान सब सामान्य मनुष्यो के, वास्तविक या सभव, अनुभव-तत्वो का उल्लेख, अभिवर्धन और बौद्धिक सग्रथन है।'[२]

प्रश्न है, क्या सामान्यरूपता की धारणा की सही परिभाषा अथवा विश्लेषण सम्भव है ? हमे भय है कि इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर नही दिया जा सकता। किन्तु यदि हम किसी धारणा की परिभाषा नही कर सकते, तो यह उस धारणा का दोष नही है। वस्तुत इससे सन्देह किया जा सकता है कि मनुष्य और उसके जीवन से सम्बन्धित किसी भी धारणा का समुचित लक्षण किया जा सकता है। इस समय हमारे

ध्यान में ऐसी धारणाएँ हैं जैसे प्रेम, घृणा, महत्वाकांक्षा, उन्नति आदि। गणित के पंडित संख्या की धारणा का प्रयोग बहुत पहले से करते थे, यद्यपि उसकी परिभाषा देने का प्रयत्न बहुत बाद में हुआ।

फिर भी हम मनुष्य-सम्बन्धी सामान्यरूपता की कुछ विशेषताओं का संकेत कर सकते हैं, और यह बता सकते हैं कि उसमें क्या चीजें समावेशित हैं और क्या नहीं। पहली बात यह है कि सामान्यरूपता का आंकड़ा-विज्ञान अथवा गणित के औसत से कोई सम्बन्ध नहीं है। बौद्धिक और आवेगात्मक दोनों क्षेत्रों में सामान्यरूपता अव-सामान्य अर्थात् सामान्य से नीचे (Subnormal) का निश्चित रूप में बहिष्कार करती है। किन्तु उसमें निश्चय ही अतिसामान्य (Super-normal) का समावेश है। सामान्य मनुष्य की धारणा में मानव-प्रकृति की उन समस्त सृजनात्मक संभाव-नाओं का समावेश है जो प्रतिभाशालियों में अभिव्यक्ति पाती हैं। इसलियें, मानवीय क्रिया के विशिष्ट क्षेत्रों में, एक विशेषज्ञ की सम्मति ही सामान्य अथवा स्वाभाविक और सही मानी जाती है, वह सम्मति ऐसी होती है कि लोग उसे लम्बे प्रशिक्षण (Training) द्वारा ही समझने योग्य बनते हैं। इस प्रकार विशेषज्ञों की देखरेख में प्रशिक्षण सामान्यरूपता के विकास में बाधक न होकर सहायक होता है। चूंकि विशेष ज्ञान अनेक प्रकार का होता है, और विशेषज्ञता के दर्जे होते हैं, इसलियें सामान्यरूपता को एक स्थिर चीज नहीं कह सकते। चूंकि सामान्यरूपता औसत से समीकृत नहीं हो सकती, इसलियें वह एक मात्रा-मूलक धारणा भी नहीं कही जा सकती।

## प्रतिभा और सामान्यरूपता

प्रतिभा और सामान्यरूपता के सम्बन्ध की समस्या कुछ जटिल प्रश्नों को उत्थित करती है। प्रश्न है, कौन व्यक्ति सामान्य है, वह जो प्रतिभाशाली और क्रान्तिकारी है, अथवा वह जो औसत एवं रूढ़िवादी है? कई अन्वेषकों ने यह मत प्रकट किया है कि प्रतिभाशाली, विशेषत कलाकार और साहित्यकार, कुछ अर्थों में असामान्य होता है। सुकरात का कुछ ऐसा ही मत था, वे प्रेरणा को एक असामान्य स्थिति मानते थे। शेक्सपियर ने एक स्थान पर कवि की तुलना पागल तथा प्रेमी से की है, जिसका मतलब है कि वे साहित्यिक प्रतिभा को असामान्यता का प्रतीक मानते हैं। मनोवैज्ञानिक ब्राउन कहते हैं : 'अनेक प्रतिभाशाली विक्षिप्त मस्तिष्क वाले हुए हैं, और प्रतिभा का विक्षि-प्तता से निकट सम्बन्ध है।'[२५] किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि समस्त साहित्यिक प्रति-

भाएँ साधारण लोगों से समान रूप में दूर होती हैं। उदाहरण के लिये कालिदास और टॉल्स्टॉय की संवेदना जन-साधारण की संवेदना के अधिक निकट है, जब कि दास्ता-एव्स्की और नीत्शे की संवेदना उतनी निकट नहीं है।

उन लोगों ने जो प्रतिभाशाली को असामान्य मानते हैं, एक बात पर विचार नहीं किया है वह यह कि कालान्तर में प्रतिभाशाली के विचार और मनोभाव क्यों प्रचलित हो जाते हैं, और औसत, इज्जतदार लोगों के विचार परित्यक्त क्यों हो जाते हैं ? ऐसा नहीं है कि प्रतिभाशाली एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, यह भी नहीं कि प्रतिभाशाली की सभी बातें स्वीकार कर ली जाती हैं। फिर भी यह ठीक है कि प्रतिभाशाली को हम याद रखते हैं और उसका विशेष आदर करते हैं, इससे सिद्ध होता है कि किसी न किसी रूप में मानव जाति उसे उपयोगी और महत्वपूर्ण पाती है।

वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ अधिकाश मनुष्य रूढिवादी होते हैं वहाँ मानव प्रकृति मूलत प्रसरणशील एवं सृजनोन्मुख होती है। एक सीमा के भीतर, कतिपय नियमों के अनुसार, मानव-प्रकृति अपने जानने-महसूस करने की सम्भावनाओं में वृद्धि होने में आनन्द का अनुभव करती है। प्रतिभाशाली दो प्रकार मानवीय चेतना का विस्तार करता है प्रथमत वह उसकी बीज-रूप में वर्तमान शक्तियों का विकास करता है, और दूसरे, वह उन प्रतिबन्धों को विरोध द्वारा हटाने में सहायक होता है जो अस्वाभाविक हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि अनेक क्रान्तिकारी प्रतिभाएँ सामान्य मानव-हृदय की ज्यादा अच्छी प्रतिनिधि होती है, उन रूढिवादी लोगों से जो परम्परा का पक्ष लेते हैं। प्रतिभाशाली असामान्य जान पडता है, इसका प्रमुख कारण उसकी प्रतीतियाँ और संवेदनाएँ नहीं होती, इसका कारण उसका साहसी तथा प्राणवान स्वभाव होता है जो सामाजिक सुरक्षा के मामूली नियमों की परवाह नहीं करता, और सब प्रकार के दम्भ का विरोध करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति प्राय उन्हीं को विशेषरूप में असामान्य तथा असंतुलित लगता है जो परम्परा के प्रतिबन्धों को भीरुतावश सहज ही स्वीकार कर लेते हैं, और जिनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ इतनी शक्तिपूर्ण नहीं होती कि वे परम्परागत अभ्यास की सीमाओं को तोड सकें।

'प्रतिभा' शॉपेनहावर के मत में, 'पूर्ण वस्तुनिष्ठता है',[२७] जिसका मतलब है कि वह सृजनात्मक ढंग से व्यापृत होने वाली सामान्यरूपता है। डा० रिचर्ड्स ने सामान्यरूपता को "स्टैण्डर्ड" अथवा आदर्श स्थिति से समीकृत किया है।[२८] यह

नमीकरण स्वीकार किया जा सकता है, यदि "स्टैण्डर्ड" की व्याख्या किसी अभिजात उच्चता के अर्थ मे न की जाय। वास्तव मे कलाकार और विश्वसनीय समीक्षक दोनो मे "स्टैण्डर्ड" या आदर्श प्रतिक्रिया एक खास अर्थ मे निश्छल तथा आदिम या मौलिक प्रतिक्रिया होती है, वह प्रतिक्रिया किसी खास संस्कृति अथवा युग के सिद्धान्तो एव पक्षपातो से प्रभावित नही होती। यह स्वीकार किया जा सकता है कि दुनिया का कोई कलाकार अब तक पूर्ण सामान्यरूपता के आदर्श को प्राप्त नही कर सका है, फिर भी यह मानना पडेगा कि किसी देश या जाति के श्रेष्ठतम कलाकार तथा कवि प्राय वे होते हैं जो दूसरे देशो तथा सांस्कृतिक युगो मे अधिक सरलता से समझे जाते हैं। कैसा भी कलाकार बनने की यह आवश्यक शर्त है कि कोई व्यक्ति अपनी मात्र वैयक्तिक विचित्रताओ अर्थात् विचित्र मनोवृत्तियो को छोडकर चल सके, एक सार्वभौम कलाकार बनने के लिये यह जरूरी है कि वह अपने राष्ट्र तथा युग की विचित्रताओ को भी त्यक्त कर सके। यही दिशा है जिसमे मनुष्य के बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक जीवन का विकास होना चाहिये।

इस प्रकार से परिभाषित की हुई सामान्यरूपता (Normality) दो तत्वो से निरूपित होती है, प्रथमत मनुष्यो की सामान्य वृत्तियों या प्रवृत्तियो से, और दूसरे उन प्रवृत्तियो से निर्धारित आवश्यकताओ तथा प्रेरणाओ के असख्य सभव सस्थानो से जो भौतिक, औद्योगिक तथा नैतिक परिवेश की विभिन्न वस्तुओ पर संसक्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि सामान्यरूपता एक अनेक-रूप, गतिशील सतुलन की स्थिति है—मनुष्य और उसके परिवेश के बीच होनेवाले सम्बन्धो की एक पद्धति या समष्टि जिसमें बालक का प्रवेश शिक्षा द्वारा होता है। जिस दुनियाँ को हम जानते हैं वहाँ किसी बच्चे को सामान्य बनाने का तरीका यह नही है कि उसे प्राकृतिक अवस्था मे रक्खा जाय, बल्कि यह कि उसे यथासम्भव व्यापक और अनेकात्मक शिक्षा दी जाय। भूगोल का अध्ययन, यात्राएँ, इतिहास और कल्पना-मूलक साहित्य का अनुशीलन तथा विभिन्न धार्मिक-दार्शनिक और नैतिक पद्धतियो का अध्ययन इत्यादि विधियो द्वारा व्यक्ति सामान्य मनुष्य के साधारण किन्तु महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पर पहुँच पाता है।

## शिक्षा और सामान्यरूपता

सामान्यरूपता के विकास और शिक्षा में क्या सम्बन्ध है, इसे हम कुछ ज्यादा ध्यान से देखे। बच्चा अपनी विभिन्न इन्द्रियो की प्रतिक्रियाओ को स्वयं अपने तथा

दूसरे लोगो के सम्बन्ध मे समन्वित करना सीखता है, किन्तु यह उसकी शिक्षा का महत्वपूर्ण अग नही है। इस प्रकार का समन्वय या सयोजन बच्चे स्वत प्राप्त कर लेते है। विशेष रूप से मानवीय शिक्षा वह होती है जिसके द्वारा बालक अपने समाज के समृद्ध, कल्पना-मूलक जीवन और परम्परा में प्रवेश पाता है। बालक अपने समाज के धर्म, पुराणो, इतिहास आदि से सम्बन्धित देवी-देवताओ, सतो और पापियो, राजा-रानियो, राजकुमारों और राजकुमारियो आदि के बारे में सीखता है। वह अपने समाज के महत्वपूर्ण विधि-निषेधो से भी परिचय प्राप्त करता है। जैसे-जैसे बच्चा बढ कर तरुण बनता है, वैसे-वैसे उसका उन नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नो तथा समस्याओ से परिचय होता है जिनका पूर्ण हल नही हो पाया है, और जिन्हे हल करने का प्रयत्न उसके समाज तथा सम्पूर्ण ज्ञात मानव-जगत मे हो रहा है। ये समस्याएँ दो प्रकार की होती है। कुछ का उद्गम नये तथ्यों तथा स्वीकृत सिद्धान्तो की विसगति मे होता है, और कुछ का उस विरोध में जो स्वीकृत आदर्शों तथा प्रचलित व्यवहारो के बीच, अथवा स्वय आदर्शों के बीच ही, पाया जाता है। इन प्रश्नो तथा समस्याओ, विसगतियो और विरोधो का आभास समाज के उन्ही सदस्यों को हो सकता है जो उसकी कल्पनामूलक विरासत से परिचित हो चुके है। एक उदाहरण लीजिए कार्य-कारण-सम्बन्ध की समस्या कितनी जटिल है, इसका पूरा आभास उसी पुरुष को हो सकता है जो विभिन्न विचारकों द्वारा दिये हुए उस समस्या से सम्बद्ध समाधानो, अथवा समाधान-प्रयत्नो, से न्यूनाधिक परिचित है। कला, दर्शन, गणित और भौतिक शास्त्र के सिद्धान्तों के महत्व को हृदयगम करने के सम्बन्ध में भी ऊपर का वक्तव्य समान रूप में लागू है। मनुष्य के कल्पनामूलक जीवन का विकास एक अविच्छिन्न क्रिया है जो क्रमश उच्चतर स्तरो पर जटिलतर रूप धारण करती रहती है। कोई भी व्यक्ति सास्कृतिक क्रिया के ज्यादा विकसित एव प्रौढ रूपो को तब तक नहीं समझ और आँक सकता जब तक उसने प्रारम्भिक रूपो का परिचय न प्राप्त कर लिया हो। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति कल्पना-मूलक जीवन के प्रारम्भिक रूपों के बीच से गुजरता हुआ उसके बाद के रूपो तक पहुँच पाता है।

इसलिये यदि एक साधारण मनुष्य दार्शनिक अथवा दूसरी कोटि की समस्याओ के महत्त्व एव आकर्षण को ठीक से हृदयगम न कर सके, तो यह नही समझना चाहिए कि वह समस्या असामान्य अथवा कृत्रिम है। उससे केवल यही सिद्ध हो सकता है कि विचाराधीन व्यक्ति ने वह कल्पनामूलक तैयारी नही की है जो समस्या को समझने

के लिए जरूरी है। कल्पना-मूलक विकास में पिछडे हुए मनुष्य इसी प्रकार किसी मनोवैज्ञानिक या नैतिक द्वन्द्व अथवा बौद्धिक या विचारात्मक क्रान्ति का महत्व समझने मे असमर्थ हो सकते है। इस प्रकार से अधिकाश द्वन्द्वो, क्रान्तियो, विसगतियों और विरोधों का सम्बन्ध प्राय मनुष्य की कल्पना-मूलक सृष्टियो और उनके पारस्परिक सम्बन्धो से होता है। हमारे मानसिक अथवा प्रतीकाधारित जीवन के अनेक महत्वपूर्ण तथ्य, जिन पर मानवीय विद्याओ मे विचार होता है, प्राय ऐसी ही सृष्टियाँ होते है, वे इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होते, यद्यपि उनके विभिन्न आन्तरिक सम्बन्ध, तर्कात्मक सम्बन्धों की भाँति, एक प्रकार के साक्षात् वोध का विपय होते है।

इस प्रकार हम देखते है कि शिक्षा के निम्न प्रभाव पडते है · (क) वह वालकों या मनुष्यो का समुदाय के कल्पना-मूलक जीवन मे प्रवेश कराती है; और (ख) वह उनमे ऐसे आदर्शों तथा दृष्टियो को प्रतिष्ठित करती है जिन्हे समाज स्वीकार करता है। इस प्रकार शिक्षा सास्कृतिक एकता तथा सहयोग का प्रसार करती है। शिक्षा का एक तीसरा परिणाम भी लक्षित होना चाहिए। वह एक जाति या समूह के सदस्यों को दूसरी जाति या समूह के सदस्यों से विभक्त कर देती है, विशेपत. मूल्यों तथा आदर्शों की प्रकृति के सम्बन्ध मे। शिक्षा के इस तीसरे परिणाम या दुष्प्रभाव को वचाने का उपाय यह घोपित कर देना नही है कि सव प्रकार के मूल्य और आदर्श बुद्धि-विरोधी या तार्किक आधार-शून्य होते है। उसे दूर करने का उचित उपाय यही है कि वैज्ञानिक पद्धति से मूल्यो आदि के सम्बन्ध से चिंतन किया जाय और मूल्यांकन के सही पैमानो को खोजा जाय। यह एक रोचक वात है कि विभिन्न जातियो के सदस्य एक-दूसरे की उन कल्पना-मूलक सृष्टियों को ग्रहण करना मुश्किल नही पाते जिनका उनके विभिन्न सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षपातो से सम्बन्ध नही होता। यह भी लक्षित करने की वात है कि अपेक्षाकृत वड़े कवि, उपदेशक और दार्शनिक दूसरी जातियो तथा समाजो मे ज्यादा आदर पा जाते है।

हम सामान्यरूपता की परिभापा दे चुके। जिसे हम सामान्य नर या नारी कहते है, उसमे प्राय मानव जाति को खास तरह से देखने तथा उसकी जरूरते एवं प्रेरणाएँ महसूस करने की शक्तियाँ तो रहती ही है, साथ ही उसके मन की रचना भी विशेप प्रकार की होती है जिसके कारण उसमे तर्क करने, कल्पना करने और आवेगात्मक प्रतिक्रिया करने की विशिप्ट आदते होती है। चूँकि सव सामान्य मनुष्यो मे ये विशेपताएँ समान होती है, इसलिये वे एक-दूसरे के साथ तर्क कर पाते है, और हानि-लाभ के सर्द-

साधारण मौके पर समान संवेदनाएँ महसूस कर पाते हैं। निष्कर्ष यह कि उस चीज या सम्बन्ध को वस्तुनिष्ठ कहना चाहिए जिसे सब सामान्य मनुष्य देख सके, भले ही उस देखने के लिये कुछ लोगों मे लम्बी कल्पना-मूलक तैयारी अपेक्षित हो।

## तत्वदर्शन-सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष

ऊपर के मन्तव्य के कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं, जिनका सम्बन्ध तत्वदर्शन के सिद्धान्तो से है। वस्तुनिष्ठता की जो धारणा हमने दी उसका यथार्थवादी ज्ञानमीमासा से निकट सम्बन्ध है, यद्यपि इस विषय मे यथार्थवाद से हमारा थोडा मतभेद भी है। यथार्थवादी मानते हैं कि बिना विषय के कोई ज्ञान नही होता, उनके अनुसार तर्कमूलक सम्बन्धो, विरोधो तथा विसगतियो का भी एक प्रकार का अस्तित्व या सद्भाव होता है। हमारे मत मे सौन्दर्य तथा नैतिकता से सम्बन्ध रखनेवाले गुण भी, जो वस्तुओ और स्थितियो मे पाये जाते हैं, किसी-न-किसी अर्थ मे वस्तुनिष्ठ होते हैं। किन्तु यथार्थवादी यह मानने से इन्कार करते हैं कि वस्तुओ का स्वरूप निर्मित करने में सम्बन्धो का कोई हाथ होता है। विशेषत वे यह मानते हैं कि जानने का सम्बन्ध, अर्थात् ज्ञाता और विषय का सम्बन्ध, ज्ञात विषय मे कोई परिवर्तन उत्पन्न नही करता। इसके विपरीत हमारा मत है कि वस्तुओ के गुण दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा में ही अस्तित्ववान होते तथा जाने जाते हैं। उदाहरण के लिये तर्क-मूलक सम्बन्धो की सत्ता तभी सम्भव है जब उन्हे समझनेवाले ऐसे मनुष्य मौजूद हो जो कथनो का विधान करते और उनके पारस्परिक सम्बन्धो को समझते हैं। इसी प्रकार प्रेम, घृणा ईर्ष्या आदि की स्थिति भी दूसरे मनुष्यो की अपेक्षा में ही हो सकती है।

उक्त मन्तव्य के तत्वदर्शन के लिये अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष होगे। इस मत के अनुसार उस किसी भी चीज को वस्तुनिष्ठ या वास्तविक मानना पडेगा जिसका बोध या अनुभव सामान्य मनुष्यो को होता है। हमारे अनुसार रूप, रग आदि गौण गुण उतने ही वस्तुगत हैं जितने कि तथाकथित मूल गुण। इसी प्रकार सौन्दर्य, नैतिकता आदि से सम्बन्ध रखनेवाली विशेषताएँ भी, तर्क-मूलक विशेषताओं की भाँति, वस्तुनिष्ठ हैं।

उक्त मान्यता को एक खास पद्धति से प्रमाणित किया जा सकता है, इस पद्धति से कि उसकी विपरीत मान्यता विरोधग्रस्त निष्कर्षो को जन्म देती है। यदि एक बार

हम उन पदार्थों तथा गुणो की वस्तुनिष्ठता से इनकार कर दे जो सामान्य अनुभव का विषय है, तो यह समझ मे नही आता कि हम कहाँ जाकर रुके। वैज्ञानिको तथा विज्ञान से प्रभावित दार्शनिको ने शुरू में यह कहा कि रूप, रग आदि गौण गुण अवास्तविक होते हैं, और केवल वे मूल गुण ही जिन्हे गणित की भाषा मे अभिव्यक्ति दी जा सकती है, वास्तविक होते है, अत मे अब कहा जा रहा है कि स्वय वस्तुएँ भी वास्तविक नही होती। आधुनिक विज्ञान के अनुसार न केवल पत्तियों की हरियाली मिथ्या है, स्वय पत्तियाँ भी किसी-न-किसी अर्थ मे अवास्तविक या मिथ्या है। उदाहरण के लिए एडिंग्टन ने प्रतिदिन व्यवहार मे आनेवाली मेज और उस मेज मे जिसे भौतिकशास्त्र यथार्थ रूप मे प्रदर्शित करता है, अन्तर करते हुए कहा है

'यह कहने की जरूरत नहीं कि आधुनिक भौतिकशास्त्र ने नाजुक परीक्षणों तथा कठोर तर्क के आधार पर मुझे यह विश्वास दिला दिया है कि हमारे लिये दूसरी, वैज्ञानिक मेज ही यथार्थ है, और वही "वहाँ" है भी—फिर चाहे "वहाँ" का कुछ भी अर्थ हो।'[१२] दूसरे शब्दो मे वैज्ञानिक मेज ही वस्तुनिष्ठ है, और परिचित मेज किसी-न किसी अर्थ मे मिथ्या हैं। बर्ट्राण्ड रसेल भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उनके मत में 'भौतिकशास्त्र हमे यह विश्वास दिलाता है कि सूर्य वस्तुत भास्वर या चमकीला नही है, उस अर्थ मे जिस अर्थ मे प्राय वह शब्द समझा जाता है। सूर्य प्रकाश की किरणों का स्रोत है जिनका आँखो, स्नायुओ तथा मस्तिष्क पर खास तरह का प्रभाव पडता है, किन्तु जीवित प्राणियो के सम्पर्क के अभाव मे प्रकाश की किरणे वह प्रभाव उत्पन्न नही करती, और तब किसी चीज को चमकदार कहना उचित नहीं रह जाता। यही विचारणाएँ "गर्म" तथा "गोल" शब्दो पर लागू है—यदि गोल को एक प्रेक्षणीय गुण माना जाय। इसके अलावा, यद्यपि सूर्य आपको अब दिखाई देता है, वह भौतिक पदार्थ जिसका अनुमान आप देखने से करते है आठ मिनट पहले अस्तित्ववान् था। यदि इस बीच मे सूर्य गायब हो जाय तो भी आप ठीक वही देखते रहेंगे जो इस समय देख रहे हैं। इसलिये हम भौतिक सूर्य को उस चीज से समीकृत नहीं कर सकते जिसे हम देखते है।'[१०]

निष्कर्ष यह है कि प्रतीयमान सूर्य जिसे हम देखते है किसी-न-किसी अर्थ मे "वहाँ" नही है, वह वास्तविक या वस्तुनिष्ठ नही है। रसेल का विश्वास है कि एक खगोलशास्त्री का वास्तविक सूर्य वह है जो किसी प्रकार दीखनेवाले सूर्य की आकृति का निर्धारण करता है, यद्यपि प्रथम सूर्य दूसरे से नितान्त भिन्न है। सम्भवत एडिंग्टन

खगोल-शास्त्र के सूर्य को भी "भौतिकशास्त्र के छाया-जगत" (Shadow world of Physics) में निमग्न कर देंगे। खगोलशास्त्र के सूर्य मे गोलाई का अभाव घोषित करते हुए रसेल के स्वर में कुछ सकोच-सा आ जाता है, किन्तु एडिंग्टन के वक्तव्य मे वैसा कोई सकोच नही है।

यह कहकर कि जिस चीज का मैं वस्तुत अनुभव करता हूं वह मेरे मस्तिष्क में घटित होनेवाली कतिपय शारीरिक क्रियाएँ हैं, रसेल ने विश्लेषण को और भी जटिल बना दिया है। भौतिक शास्त्र की यथार्थ वस्तुओं से जो प्रभावों की कार्य-कारण-शृखला शुरू होती है उसका अन्त मस्तिष्क की कतिपय क्रियाओं में होता है, उन क्रियाओं की चेतना को हम देखना, सुनना आदि कहते हैं। उदाहरण के लिये किसी शोरगुल को सुनने की क्रिया को लीजिए। इस प्रेक्षण या प्रेक्षा के पूर्ववर्ती अनेक व्यापार हैं जो शोर के स्रोतभूत पदार्थ से उत्थित होकर हवा के माध्यम मे देश-काल में यात्रा करते हुए कानो तथा मतिस्क तक पहुँचते हैं। जिसे हम शोर सुनने का अनुभव कहते हैं वह भौतिक कार्य-कारण-शृखला की मतिस्कवर्तिनी स्थिति का समकालीन होता है। कम-से-कम हमारे अनुसधान यही दर्शित करते हैं। देश-काल का वह एकमात्र प्रदेश जिससे उक्त शोर का साक्षात् सम्बन्ध होता है, श्रोता के मस्तिष्क की वर्तमान दशा है, शोर के भौतिक स्रोत से उसका सम्बन्ध दूर का ही होता है। यही युक्ति दीखनेवाली चीजो पर भी लागू होती है।[११] रसेल ने इस बात पर जोर दिया है कि 'देशकाल का एक, सिर्फ एक ही भाग है जिसका मेरे देखने से कार्य-कारण सम्बन्ध होता है, और यह भाग मेरा मस्तिष्क है, अर्थात् देखने के समय की उसकी दशा,।[१२] रसेल ने कहा है कि ये चीजे शिक्षित सहज बुद्धि को स्पष्ट सत्य जान पड़ेगी।[१३]

हमे खेद है कि हमने पाठको को उक्त लम्बे उद्धरणो से तग किया। यह करना आवश्यक था, उन्हे इस बात का आभास देने के लिये कि दैनिक अनुभवो की वस्तुओ की प्रकृति और यथार्थता के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ कैसे असमजस की स्थिति मे हैं। एडिंग्टन के अनुसार भौतिक शास्त्र का छाया-जगत् ही यथार्थ या वस्तुनिष्ठ है, और दुनियाँ की अवशिष्ट चीजें भ्रमात्मक या मिथ्या हैं। रसेल के अनुसार भौतिकशास्त्र द्वारा मानी जानेवाली वस्तुओ के अतिरिक्त यथार्थ चीजो की एक और दुनियाँ है, अर्थात् मस्तिष्क की स्नायविक प्रक्रियाओ का क्षेत्र। दैनिक वस्तुओं की दुनियाँ उक्त क्षेत्र, अथवा उक्त क्षेत्र और पूर्व दुनियाँ दोनो का, आभास मात्र हैं।

किन्तु रसेल महोदय एक बात भूल जाते हैं; जिसे हम मस्तिष्क कहते हैं वह, एक शरीर-विज्ञान के विद्यार्थी की दृष्टि में, दैनिक वस्तुओं की दुनियाँ का भाग है, और यदि उसे एक व्याख्यात्मक प्रत्यय (Theoretical Construct) माना जाय, तो उसका पद न्यूनाधिक वही है जो भौतिकशास्त्र के कल्पनामूलक पदार्थों (विद्युद्-णुओं आदि) का।

रसेल चिदचिद्भिन्नाद्वैत (Neutral Monism) के समर्थक हैं। वे मानते हैं कि विश्व के चरम तत्त्व को न चेतन कहा जा सकता है, न अचेतन। देखने की स्थिति मे ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय अलग-अलग नही होते, बल्कि एक ही होते हैं। जिन प्रक्रियाओं (Processes) को हम एक दृष्टि से देखना कहते हैं, उन्ही को दूसरी दृष्टि से दीखनेवाला पदार्थ भी कहते हैं। वास्तव में सूर्य और सूर्य का देखना दो चीजे न होकर एक ही चीज है। जिन्हे हम मानसिक तथा भौतिक प्रक्रियाये कहते हैं वे वास्तव में एक ही चिदचिद् भिन्न (Neutral) तत्त्व की प्रक्रियाये होती हैं।[२४]

ऊपर की विचारणाओ से निम्न विरोधाभास उत्थित होता है तथा-कथित मेरा मस्तिष्क क, ख, ग, आदि के मस्तिष्कों की स्नायविक प्रक्रियाओं की शृखला मात्र है, और उनके मस्तिष्क भी च, छ, ज आदि के मस्तिष्को तथा मेरे मस्तिष्क की स्नायविक प्रक्रियाओं की शृखलामात्र हैं।

रसेल का विशिष्ट मन्तव्य उक्त विरोधाभास को जन्म देता है। रसेल और एडिंग्टन के इस सामान्य सिद्धान्त मे कि दैनिक अनुभव की वस्तुएँ यथार्थ नहीं है, एक दूसरा, उतना ही असुविधाजनक, विरोधाभास निहित है। वह ज्ञान जिसे हम भौतिक-शास्त्र कहते हैं, अन्तिम विश्लेषण मे दैनिक अनुभव का निष्कर्षभूत है, किन्तु यदि भौतिक-शास्त्र सही है, तो हमारा दैनिक अनुभव भ्रमात्मक है। यहाँ स्थिति ऐसी है कि निष्कर्ष अपने पक्षवाक्यो का विरोधी है!

यह विरोध अनेक बार देखा गया है, किन्तु कभी उसका समाधान हो सका है, इसमें सन्देह है। भौतिक शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान द्वारा दिये गये दैनिक अनुभव के विवरण में एक और विरोधाभास भी निहित है। मान लिया जाय कि दैनिक अनुभव के पदार्थों की सत्ता नही है, और सिर्फ भौतिक शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान द्वारा अवीत

होनेवाली चीजों या प्रक्रियाओं की ही सत्ता है। उस दशा में यह समझ में नहीं आता कि कैसे यह विचित्र संसार, जिसमें विभिन्न रंग-रूपों की असंख्य चीजें हैं—ऐसी सुन्दर चीजें जैसे चिड़ियाँ, फूल, और सरिताएँ, तथा ऐसी भयंकर वस्तुएँ जैसे सर्प चीते और भालू—किस प्रकार कल्पना या तर्कना में उत्थित हो जाता है। क्या सचमुच ही हम मानवीय कल्पना और रचना-शक्तियों को इस सबका श्रेय दे सकते हैं ?[१५] रसेल की भाँति यह कहना कि विभिन्न मस्तिष्कों की स्नायविक तथा अन्य प्रक्रियाएँ अपने को विभिन्न आश्चर्यजनक वस्तुओं, पुस्तकों आदि में ग्रथित कर लेती है, एक बड़ा अन्धविश्वास जान पड़ता है। और जब हम ऐसा कहते हैं तो हम उसी शिक्षित सहज बुद्धि की दुहाई दे सकते हैं जिसकी दुहाई स्वयं रसेल ने दी है, और ठीक ही दी है।

ऊपर के विरोधों और विरोधाभासों के मूल में दो प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं। पहली भ्रान्ति यह है कि लोग दार्शनिक मान्यताओं तथा विज्ञान की सैद्धान्तिक कल्पनाओं को भ्रम से तथ्य-रूप मान बैठते हैं, दूसरी भ्रान्ति का कारण यह न समझना है कि वैज्ञानिक व्याख्याओं का स्वरूप क्या होता है, और विज्ञान द्वारा प्रकल्पित पदार्थ किस अर्थ में यथार्थ होते हैं। इन दोनों भ्रान्तियों का हम क्रमश उद्घाटन करेंगे।

पहली कोटि की भ्रान्ति के कुछ उदाहरण लीजिए। रसेल का चिदचिद्भिन्नाद्वैत (Neutral Monism) एक दार्शनिक सिद्धान्त है, जो हाल में कुछ प्रसिद्ध रहा है। किन्तु रसेल महोदय कुछ ऐसे बात करते हैं जैसे वह सिद्धान्त एक तथ्य हो, ऐसा तथ्य जो खगोलशास्त्री के सूर्य तथा प्रतीयमान सूर्य के तादात्म्य का खडन करता है। इसका युक्तिगत निष्कर्ष, जो रसेल ने निकाला है, यह है कि पृथ्वी और आकाश के बीच दीखनेवाले समस्त पदार्थ, कुर्सियाँ और मेजें, ग्रह और नक्षत्र, सबके सब मस्तिष्क में घटित होनेवाली प्रक्रियाएँ मात्र हैं। यह बार्कले का सिद्धान्त है, जिस पर सर्वाहंवाद (Solipsism) का गहरा रंग है।

इसी प्रकार भौतिक तथा शारीरिक परिवर्तनों की वह श्रृंखला जिसका पर्यवसान शोर सुनने अथवा वस्तु को देखने में होता है, एक तथ्य न होकर बौद्धिक निर्मिति (Theoretical Construction) मात्र है। इस निर्मिति का प्रयोग अनुभव के तथ्यों का खडन करने के लिये नहीं किया जा सकता।

अब हम भ्रान्ति के दूसरे स्रोत पर आते है। पूछा जा सकता है कि भौतिक-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि जिन व्याख्यात्मक पदार्थो (Theoretical Entities) की कल्पना करते है उनकी, दैनिक अनुभव के पदार्थो की अपेक्षा मे, तात्विक स्थिति क्या है ? क्या प्रथम श्रेणी के पदार्थ सचमुच ही दूसरी श्रेणी के पदार्थो का निराकरण कर सकते है ? क्या खगोल-शास्त्र का सूर्य वस्तुत' दैनिक अनुभव के सूर्य का खडन कर सकता है ? इन प्रश्नो का समुचित उत्तर देने के लिये यह परीक्षा करना जरूरी है कि किस प्रकार भौतिक-शास्त्र, शरीर-विज्ञान आदि के व्याख्यात्मक पदार्थो का उदय होता है, और उनका क्या कार्य तथा पद (Status) निश्चित किया जा सकता है।

## विज्ञान का स्वरूप और विज्ञान-प्रकल्पित पदार्थो की तात्विक स्थिति

हम श्री हर्बर्ट डिगिल द्वारा दी हुई विज्ञान की परिभाषा को उद्धृत कर चुके है। उनके अनुसार विज्ञान का सबसे प्रमुख काम निरीक्षित तथ्यो का बौद्धिक सम्बन्धन या संग्रथन (Correlation) है।[१६] ये तथ्य प्राय. प्रयोगो से प्राप्त किये जाते है जिनका रूप मापने योग्य मात्राओ के सहचार-सम्बन्धो (Correlations) से गठित या निर्मित होता है। विज्ञान की दो मुख्य क्रियाएँ है, माप और परिगणन। विज्ञान मात्राओ का माप करता है, ताकि 'उनके पारस्परिक सहचार-सम्बन्धो का अन्वेषण कर सके, और उनके सहपरिवर्तन के नियमो का निरूपण कर सके।[१७] प्रयोग-विधि द्वारा यह सम्भव होता है कि कतिपय तत्वो अर्थात् कारण-तत्वो को अपरिवर्तित रखा जाय, और दूसरे तत्वो को नियन्त्रित ढग से बदलते हुए उनके प्रभावो का ठीक अध्ययन कर लिया जाय। उदाहरण के लिये रॉबर्ट ब्वाइल नामक वैज्ञानिक ने यह पता लगाया कि जब तापक्रम आदि की शेष स्थितियॉ समान रहती है, तब किसी गैस के आयतन मे उसके दबाव से विपरीत अनुपात मे परिवर्तन होता है।

भौतिक शास्त्र मे हम दो प्रकार के सामान्य कथन पाते है, प्रयोगात्मक नियम (Empirical Laws) और सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र या नियम। प्रयोगात्मक नियम प्राप्त करने के लिये दो चीजो के सम्बद्ध परिवर्तनों को गणित के समीकरण के रूप मे प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिये ब्वाइल का नियम इस प्रकार

व्यक्त किया जाता है. द अ=स+क, जिसका अभिप्राय यह है कि किसी गैस के दवाव तथा आयतन की इकाइयो का गुणनफल कुछ सीमाओ के भीतर स्थिर रहता है।

[भौतिक-शास्त्र के नियम गणित के समीकरणो के माध्यम से व्यक्त किये जाते है। ये समीकरण प्रयोगो द्वारा निरीक्षित सहचार-सम्बन्धो (Correlations) को प्रकट करते है। यह समझना भूल होगी कि गणित के समीकरण निरीक्षित सहचार-सम्बन्धो को पूर्णतया सही अभिव्यक्ति देते है, वस्तुत उन सम्बन्धो को गणित की भाषा में बाँधते समय वैज्ञानिक लोग उन्हे थोडा-वहुत परिवर्तित कर देते है। निरीक्षित सहचार-सम्बन्धो के आधार पर एक सामान्य समीकरण या नियम का निर्माण किया जाता है। केल्विन कहते है 'अनुभवात्मक नियम वस्तुत निरीक्षित तथ्यो के आधार पर किया हुआ निर्माण होता है। वह दी हुई साक्षी के परे जाता है'।[८] इस प्रकार अनुभवात्मक नियम के निरूपण मे भी आगमन (Induction) की समस्या खडी हो जाती है। वहाँ देखे हुए कुछ उदाहरणो के आधार पर अनदेखे तथ्यो के वारे मे सामान्य कथन किया जाता है। इस समस्या से वचने के लिये विटगैन्स्टीन तथा दूसरे तर्क-मूलक भाववादियो ने यह प्रस्ताव किया है कि प्राकृतिक नियम को "प्रोपोजीशनल फक्शन" (Propositional Function) के रूप मे लिखना चाहिए। चूंकि प्रकृति के नियम सामान्य कथन नही हो सकते, इसलिये वे "प्रोपोजीशनल फक्शन" होते है।"[९] उनके अनुसार प्रकृति का नियम एक, 'प्रोपोजीशनल फक्शन" होता है जिससे, विवर्तमान मूल्यो (Variables) के विभिन्न मान रखकर, परीक्षणार्थ विशेष कथन प्राप्त किये जाते है।[१०]

एक दूसरी दिशा मे भी प्रकृति का नियम वस्तुस्थिति का एकदम सही उल्लेख नही होता। सव प्रकार के माप (Measurements) न्यूनाधिक सही होते है, माप के सहीपन की सीमा होती है। दूसरे, प्रकृति मे पाये जानेवाले सहचार-सम्बन्ध न्यूनाधिक वदलते रहते है। फलत यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वदलते हुए सम्वन्धो के आधार पर अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियम का निरूपण कैसे किया जाय।[११] प्रकृति के एतावत्व (Exactness) या सहीपन के अभाव की नियम के एतातत्व से कैसे सगति विठाई जाय ? ऐसा जान पडता है कि गणित की भाषा मे प्रकट किये हुए नियम प्राकृतिक तथ्यो का एकदम सही वर्णन प्रस्तुत नही करते, उनमे निवद्ध वर्णन दृष्ट तथ्यो से न्यूनाधिक निकट सामजस्य रखता है। तथ्यो पर आरोपित

किये जानेवाले नियम उन वस्त्रो की भाँति होते है जो शरीर पर न्यूनाधिक ही "फिट" बैठते है। समीकरण मे निबद्ध नियम के आधार पर हिसाब लगाकर हम सहचार का जो मान (Value) प्राप्त करते है उसमे तथा निरीक्षित मान मे प्राय कुछ अन्तर रह जाता है। इस अन्तर को वैज्ञानिक लोग भूल (Error) कहते है। नियम के अनुसार की हुई भविष्यवाणी और बाद के निरीक्षण मे कभी परिपूर्ण सगति नही होती, न्यूनाधिक सगति ही होती है। नियम के आधार पर जो मान प्राप्त किये जाते हैं, वे ज्यों के त्यो निरीक्षण मे नही मिलते। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्स प्लैंक कहते है . 'प्रत्येक माप अर्थपूर्ण बनता है उस सार्थकता से जो उसे सिद्धान्त (सूत्रित नियम) द्वारा प्राप्त होती है . सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीधे से सीधे मापो को बार-बार ठीक करना पडता है, ताकि उनका व्यावहारिक प्रयोग हो सके।'[२] ऐसा मालूम होता है कि गणित की भाषा प्रकृति के मात्रामूलक तथ्यो पर न्यूनाधिक ही आरोपित की जा सकती है। इस निष्कर्ष का गणित की प्रकृति और उपयोगिता समझने के लिये विशेष महत्व है।]

अब हमे अगला कदम रखना चाहिए, और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि विज्ञान के सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्रो की उत्पत्ति कैसे होती है। वस्तुत. विज्ञान के उच्चतर सामान्य कथनो मे परिकल्पित होनेवाले तत्वो के आधार पर ही यह कहा जाता है कि हमारे दैनिक अनुभव की चीजे यथार्थ नही है। हमने ऊपर ब्वाइल के नियम का उल्लेख किया। वैज्ञानिक चार्ल्स का नियम यह कहता है कि 'यदि किसी गैस का दबाव स्थिर रहे, तो उसका आयतन तापक्रम के अनुपात मे बढता है।' एक तीसरा नियम, ग्रैहम का नियम, बतलाता है कि 'समान स्थितियो मे विभिन्न गैसो के व्यापयन (Diffusion) के वेगक्रमो (Rates) का उनके घनत्व-द्योतक अको के वर्गमूलो (Square Roots) से विपरीत अनुपात का सम्बन्ध होता है।'[३]

सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र का काम यह होता है कि वह प्रयोगात्मक नियमो का एकीकरण कर दे। उदाहरण के लिये गैसो से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्त-सूत्र को गैसीय पदार्थो का एक ऐसा सैद्धान्तिक ढाँचा प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उपरोक्त प्रयोगात्मक नियम निगमन-विधि से प्राप्त किये जा सकते है। रसायन-शास्त्र के इतिहास से हम जानते है कि उपरोक्त नियमो के एकीकरण अथवा व्याख्या के लिये "काइनेटिक थियरी आफ गैसेज" (Kinetic Theory of Gases) निरूपित की गई। यह सिद्धान्त बतलाता है कि गैसीय पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न द्व्यणुको

(Molecules) द्वारा निर्मित होते हैं, और वे द्वयणुक लगातार सवेग इतस्ततः गतिमान रहते हैं।

यह कहने का क्या मतलब है कि सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र प्रयोगात्मक नियमों का एकीकरण करता है? एकीकरण की यह प्रक्रिया इस प्रकार है। वैज्ञानिक गैसों आदि की आन्तरिक रचना के सम्बन्ध में कुछ कल्पनाएँ करता है और उन कल्पनाओं को गणित के समीकरणों में आबद्ध कर देता है। यदि इन समीकरणों से निगमन-विधि (Deduction) द्वारा प्रयोगात्मक नियमों को प्राप्त किया जा सके, तो कहा जायगा कि वे प्रयोगात्मक नियम उस सिद्धान्त-सूत्र द्वारा एकीकृत और व्याख्यात हो गये। यदि सिद्धान्त-सूत्र से प्राप्त समीकरणों और प्रयोगात्मक निरीक्षण से प्राप्त समीकरणों में न्यूनाधिक सामंजस्य अथवा तादात्म्य हो, तो समझना चाहिए कि सिद्धान्त-सूत्र प्रयोगात्मक नियमों की व्याख्या करने में समर्थ है। यह मत श्री कैल्विन ने प्रकट किया है।[१४]

श्री ग्राक एफ कहते हैं: जिन कारणों से हम वस्तुओं की प्रकृति या स्वरूप का निर्माण करते हैं वे उन कथनों का समुदाय मात्र हैं जिन्हें हम तर्क करते समय पक्षवाक्य (Premises) बना लेते हैं और जिनका निष्कर्ष अनुभव के तथ्य होते हैं।[१५] अन्यत्र वे कहते हैं: 'चूंकि ये चीजें, उदाहरण के लिये द्वयणुक, हमारी बुद्धि को इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं होते इसलिये बुद्धि उनकी सृष्टि करती है; यह सृष्टि उन चीजों के वाचक शब्दों में अनेक धर्मों या विशेषताओं को एकत्रित कर देने में होती है। इस प्रकार के कारणों की सृष्टि सैद्धान्तिक भौतिक-शास्त्र का मूल कार्य है।'[१६]

सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्रों के सम्बन्ध में ऐसा ही मत प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन का बतलाया जाता है। श्री आइन्स्टाइन के जीवनीकार फिलिप फ्रैंक बतलाते हैं कि उक्त वैज्ञानिक के अनुसार 'आधारभूत सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र (Basic Theoretical Laws) वैज्ञानिक कल्पना की स्वच्छन्द सृष्टियाँ होते हैं।' वैज्ञानिक आविष्कर्ता होता है, उसका आविष्कार या सृष्टि-क्रिया अपने चिन्तन में दो सीमाओं के भीतर चलती है। एक सीमा प्रयोगात्मक अनुभव की होती है। व्याख्या-सूत्र से जो निष्कर्ष निकलें उन्हें अनुभव द्वारा पुष्टि मिलनी चाहिए। दूसरी सीमा का मूल तर्कशास्त्र और सौन्दर्य-संवेदना में होता है, उसकी माँग यह होती है कि व्याख्या-सूत्र संख्या में कम-से-कम होने चाहिएँ, और परस्पर संगत होने चाहिएँ। करीब-करीब यही मन्तव्य

तर्कमूलक भाववादियों का भी है। उनके मत मे भी सामान्य या व्यापक व्याख्या-सूत्र वे वक्तव्य है जिनसे हमारे प्रयोगात्मक निरीक्षण निगमन द्वारा प्राप्त किये जा सके।"[७]

अपने एक निबंध "रसेल की ज्ञान-मीमासा" मे आइन्स्टाइन ने इस मान्यता का खडन किया है कि विज्ञान के नियम आगमन-विधि (Iuduction) द्वारा प्राप्त किये जा सकते है, उन्होने रसेल तथा तर्क-मूलक भाववादियों की इस बात को लेकर भर्त्सना की है कि वे तत्त्वमीमासा के ढग के चिन्तन (Metaphysical Think-ing) से डरते है। आइन्स्टाइन के मत मे विज्ञान के प्रत्यय ही नही, दैनिक जीवन की धारणाये भी हमारे चिन्तन की सृष्टियाँ होती है, जो प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त नही की जा सकती। वे कहते है 'वे प्रत्यय जो हमारे चिन्तन और हमारी भाषा-बद्ध अभिव्यक्ति मे उदय होते है, तार्किक दृष्टि से देखने पर चिन्तन की स्वच्छन्द सृष्टियाँ प्रतीत होते है; उन्हे इन्द्रियों के अनुभव से प्राप्त नही किया जा सकता।'[८] आइन्स्टा-इन के मत मे दार्शनिक ह्यूम ने दर्शन के क्षेत्र मे एक खतरा पैदा कर दिया, क्योकि उसकी समीक्षाओ ने दार्शनिक कोटि के चिन्तन का भय उत्पन्न कर दिया, जो आज के अनुभववादी विचारको के लिये एक बीमारी बन गया है।[९] इस प्रकार आइन्स्टाइन यह मानते है कि वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन मे कोई मौलिक भेद नही है।

वैज्ञानिक चिन्तन का इतना विश्लेषण करने के बाद हम यह प्रश्न पूछेगे कि विज्ञान द्वारा प्रकल्पित मूलपदार्थों की तात्त्विक स्थिति (Metaphysical Status) क्या है? कहाँ और किस अर्थ मे हम उन्हे यथार्थ (तात्त्विक) या अस्तित्ववान् मान सकते है? क्या सचमुच वे अस्तित्ववान् होते है, और वस्तुनिष्ठ रूप मे मौजूद होते है? क्या खगोलशास्त्री के सूर्य, और भौतिक शास्त्री के ऋणात्मक तथा धनात्मक विद्युद-णुओ (Electrons and Protons) की वास्तविक सत्ता है? और क्या हमे यह अधिकार है कि उक्त चीजो के नाम पर दैनिक अनुभव के पदार्थो को असत् या मिथ्या घोषित कर दे?

इस सम्बन्ध मे हमे दो बातों का और विचार करना होगा, ताकि हम ऊपर के प्रश्नो का उत्तर दे सके। प्रथमत भौतिक शास्त्र का इतिहास बतलाता है कि भौतिक जगत के अन्तिम तत्वो के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्याख्यासूत्र लगातार बदलते अथवा संशोधित होते रहे है। जैसे-जैसे नये प्रयोगो द्वारा नये तथ्य मिलते है, वैसे-वैसे पुराने

सिद्धान्त-सूत्रों के बदले नये सूत्र निर्मित होते जाते हैं। उदाहरण के लिये जब रसायन-शास्त्रियों को यह मालूम हुआ कि विभिन्न तत्वों का संयोग मात्रा-मूलक अनुपातों में होता है, तो उन्होंने परमाणुवाद का प्रतिपादन किया। बाद में जब "रेडियो-ऐक्टि-विटी" (Radio-activity) में सम्बद्ध तथ्यों का पता चला तो उन्होंने परमाणुओं के स्थान पर विद्युदणुओं की कल्पना को प्रतिष्ठित कर दिया। इसी प्रकार आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद ने न्यूटन के देशकाल, गति और गुरुत्वाकर्षण-सम्बन्धी विचारों का स्थान ले लिया।

दूसरी लक्षित करने की बात यह है कि भौतिकशास्त्री प्रकल्पित पदार्थ जैसे परमाणु या विद्युदणु में केवल उन्हीं गणितात्मक गुणों का आरोप करता है जो निरीक्षित, अर्थात् प्रयोगों में प्राप्त तथ्यों की, व्याख्या के लिये अपेक्षित हैं। उदाहरण के लिये "इलेक्ट्रान" तथा "प्रोट्रान" में, जैसा कि प्रो॰ डिंगिल ने बतलाया है, केवल उन्हीं गुणों की अवस्थिति माननी चाहिए, और उन पर व्यवहार के उन्हीं नियमों का आरोप करना चाहिए, जो विभिन्न प्रेक्षणों (Observations) को सम्बद्ध करने के लिए आवश्यक और पर्याप्त है।'[*]

अब हम देख सकते हैं कि भौतिक शास्त्र के व्याख्या-सूत्र कहाँ तक वास्तविकता के यथार्थ रूप का उद्घाटन करते हैं श्री रएफ लिखते हैं : 'इस दृष्टि से देखी हुई वास्तविकता का कोई तात्विक महत्व नहीं रहता। हमारे पास यह कहने का कोई आधार नहीं रहता कि भौतिक शास्त्र के सिद्धान्त जिन कारणों का उद्घाटन करते हैं वे वस्तुओं की असली प्रकृति है।'[1] ब्रिजमैन कहते हैं 'जब हम नये क्षेत्रों में जाकर प्रयोग करें तो हमें नये तथ्यों के लिए तैयार हो जाना चाहिये, भौतिकशास्त्री किन्हीं ऐसे अनुभव-निरपेक्ष सिद्धान्तों को नहीं मानता जो नये अनुभव की संभावनाओं को सीमित करने वाले हों।'[2] अगर नया अनुभव पुराने सिद्धान्तों के संशोधन, और नये सिद्धान्तों के निरूपण, का कारण बन जाता है। श्री फिलिप फ्रैंक अल्बर्ट आइन्स्टाइन के मन्तव्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'उनके अनुसार प्रत्येक को यह अधिकार है कि वह, भौतिक विज्ञान की उन्नति के लिये, किन्हीं भी सिद्धान्त-सूत्रों की स्वतंत्र सृष्टि कर डाले, सिर्फ यह कि उस नियम-पद्धति को नये प्रेक्षणों से समन्वित होना चाहिये।'[3]

वस्तुतः जिन्हें हम भौतिक शास्त्र के सिद्धान्त कहते हैं वे, गणित की भाषा में, यथार्थ के स्वरूप की निर्मितियाँ होती हैं जिनका आधार उपलब्ध प्रयोगों का तथ्य

होते हैं। सापेक्षवाद के सिद्धान्त न यह स्पष्ट कर दिया है कि इन निर्मितियो का हमारे दैनिक अनुभव के अनुरूप होना विल्कुल ही आवश्यक नही है, यदि गणित की सहायता प्राप्त हो तो वे अधिक से अधिक जटिल और असामान्य हो सकती हैं।

विज्ञान की निर्मितियाँ (Constructions) गणित की भाषा मे प्रकट की जाती हैं, इससे वैज्ञानिक सिद्धान्तो की एक दूसरी सीमा का पता चलता है; उनके निरूपण का आधार अनुभव की केवल मात्रा-मूलक विशपताएँ होती हैं, ऐसी विशेषताएँ जो गणित की भाषा मे प्रकट की जा सके। **भौतिक शास्त्र के व्याख्यात्मक तत्वों की कल्पना हमारे अनुभव के कुछ खास चुने हुए पहलुओ के आधार पर की जाती हैं, इसलिये उन तत्वो से अनुभव की दूसरी विशेषताओं को निगमन द्वारा पाने की कोशिश व्यर्थ है।** अतएव उन तत्वो की प्रकृति हमारे अनुभव की उन दूसरी विशेषताओ का अभाव सिद्ध नही करती, ठीक वैसे ही जैसे किसी वर्णमाला द्वारा सकेतित ध्वनियाँ यह सिद्ध नही करती कि पशुओ तथा मनुष्यो द्वारा भी दूसरी ध्वनियाँ उत्पन्न नही की जाती।

निष्कर्ष यह कि भौतिक शास्त्र का छाया-जगत वस्तुत यथार्थ जगत नही होता। इसके विपरीत, वह जगत मानवीय कल्पना की सृष्टि होती है जिसका निर्माण गणित के प्रतीकों के माध्यम से अनुभव के चुने हुए पहलुओ के आधार पर होता है। एक जगह एडिंगटन इस स्थिति का सकेत दे गये हैं 'विज्ञान ऐसे विश्व का निर्माण करना चाहता है जो हमारे साधारण अनुभव-जगत का प्रतीक हो सके।'[५४] किन्तु सारे प्रतीक इस अर्थ मे अमूर्त होते हैं कि वे वस्तुओ के दो-एक चुने हुए पहलुओ को ही व्यक्त करते हैं। किन्ही भी प्रतीकों मे ऐसी शक्ति नही होती कि वे अस्तित्ववान् विशेष को समग्र अभिव्यक्ति दे सके।

अतएव, यह विश्वास करने का कोई कारण नही है कि "इलेक्ट्रान," "प्रोट्रान" आदि ठीक उन रूपो म अस्तित्ववान् होते हैं जिनमे हम उनकी कल्पना करते हैं। वस्तुत विपरीत विश्वास के लिये ही हमें आधार मिलता है। इसका मतलव यह नही कि हम भौतिक शास्त्र के सिद्धान्तो को वास्तविक जगत की रचना का उद्घाटक नही मानते। हम केवल इसे अस्वीकार करते हैं कि वे सिद्धान्त या नियम यथार्थ का पूरा विवरण प्रस्तुत करते हैं, या कभी कर सकते हैं। चूंकि भौतिकशास्त्र की पद्धति प्रत्याहरण-मूलक है, इसलिये वह कभी भी यथार्थ के स्वरूप का पूर्ण विवरण नही दे

की ही कल्पनाएँ समुचित है, और भौतिक अनुभव की साक्षी पर आधारित है।"[56] उदाहरण के लिये वे बतलाते है कि अपनी परमाणुमयी रचना से प्रभावित न होते हुए बड़े पदार्थ पानी मे आर्किमिडीज के नियम के अनुसार तैरते है। उन्होने ठीक ही यह विश्वास प्रकट किया है कि 'भविष्य के अन्वेषण हमारे इस कोटि के भौतिक ज्ञान को सभवत. कभी भी विशेष परिवर्तित नही करेगे।'[57]

वस्तुस्थिति यह है कि भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के प्रयोग-मूलक नियम, जैसे रासायनिक सयोग के नियम, उन शास्त्रो के उन व्यापक सिद्धान्तो से जिनका विषय भूततत्त्व के चरम उपादान है, ज्यादा स्थायी होते है। परमाणु, प्रकाश, गुरुत्वाकर्षण के सम्बन्ध में बदलते हुए सिद्धान्तो का इतिहास हमारे इस वक्तव्य की पुष्टि करता है। एक भौतिकशास्त्री जो हम से यह विश्वास करने को कहता है कि विभिन्न रग और ध्वनियाँ तथा अन्वेपण के उपकरण सचमुच अस्तित्ववान् नही है, ठीक-ठीक नही जानता कि वह क्या कह रहा है। वह मुझ से यह विश्वास करने का अनुरोध करता है कि वास्तव में उसका और मेरा अस्तित्व नही है, कि सम्भवत: न वह बात कर रहा है, और न मै उसकी आवाज सुन ही रहा हूँ; क्योकि उसकी आवाज की सत्ता ही नही है। इस प्रकार का भौतिकशास्त्री मुझ से कहना चाहता है कि कुछ भी कहने की कोशिश एक भयकर भ्रम है।

## यथार्थ या अस्तित्व के विभिन्न क्रम

वस्तुस्थिति यह है कि दुनिया मे अनेक प्रकार के यथार्थ अथवा अस्तित्ववान पदार्थों के अनेक व्यवहार अलग-अलग कोटियो के नियमो का पालन करते है। उदाहरण के लिये दीर्घ परिमाण वाली वस्तुओ के अनेक वर्ग है रसायन शास्त्र के तत्त्व, तरह-तरह के यौगिक पदार्थ (Compounds), जीवधारी, ग्रहो की पद्धतियाँ; नक्षत्र, इत्यादि। इन चीजो के अस्तित्व का ज्ञान मुख्यत अनुभव से होता है। तर्कना तथा निगमनात्मक निर्मिति से हमे ऐसे तत्व मिलते है जैसे "इलेक्ट्रान" "देश-काल-सातत्य" (Space-time Continuum) इत्यादि, किन्तु अन्त तक ये तत्व काल्पनिक बने रहते है, और हमारे लिए कभी उतने यथार्थ नही होते जितने कि दैनिक अनुभव के पदार्थ। इस अनुभव मे अणु-वीक्षण तथा दूर-वीक्षण यन्त्रो द्वारा प्राप्त होने वाली प्रतीतियो का भी समावेश है। सच यह है कि "इलेक्ट्रान' आदि मे जो हमारा विश्वास होता है, उसका आधार भी वे प्रेक्षाएँ रहती है जो प्रयोगो के दौरान मे प्राप्त होती है।

जो अनुभव रगीन सतहो तथा चिन्हित माप आदि के यन्त्रो का उद्घाटन करता है, वही वस्तुओ के सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा नैतिक पक्षो की भी विवृत्ति करता है। इसलिए यह मानने का कोई कारण नही कि वस्तुओ तथा कर्मो के सौन्दर्य आदि गुण आत्मपरक है।

हमने कहा कि वस्तुनिष्ठ चीज वह है जिसका सगतिपूर्ण अनुभव सब सामान्य मनुष्यो को होता है। हम कुछ अनुभवो को भ्रान्त घोषित कर देते है, क्योकि वे हमारे व्यवहार द्वारा परीक्षित कुछ अनुभवो के विरुद्ध पडते है। जब दो अनुभवो मे विरोध होता है, तो स्थिति की व्याख्या अपेक्षित हो जाती है। व्याख्या द्वारा हम बतलाते है कि किन दशाओ मे कोई अनुभव विश्वसनीय होता है और किन मे हमें भ्रान्त प्रतीतियाँ होती है। अन्तिम विश्लेपण मे किसी अनुभव की प्रामाणिकता अथवा भ्रमात्मकता की पहचान दो प्रकार की होती है एक व्यावहारिक, अर्थात् आशाओ के फलीभूत होने के रूप, मे और दूसरी सामूहिक या सामाजिक, जो सामान्य मनुष्यो की प्रतिक्रियाओ के सामजस्य मे प्रतिफलित होती है। कही-कही परीक्षा के ये दोनो प्रकार एक भी हो जाते है, और कही एक ही प्रकार की परीक्षा सम्भव होती है। उदाहरण के लिये आकाश नीला है, इस विश्वास का आधार मनुष्यो के तत्सम्बन्धी अनुभवो का सामजस्य ही है। अत मे हमे सामान्य लोगो के अनुभवो के सामजस्य पर ही निर्भर करना पडता है, क्योकि किसी क्रिया की सफलता-असफलता का निश्चय भी सामान्य अनुभव द्वारा ही होता है। किन्तु व्यावहारिक परीक्षण के साथ एक सुविधा रहती है—उससे लोग जल्दी ही एकमत हो जाते है। कालिदास बडा कवि है कि नही, और देश के साथ गद्दारी अपराध है या नही, इस सम्बन्ध मे मतभेद प्रकट करने पर किसी को दड नही मिलता, किन्तु उसी भाँति कोई यह नही कह सकता कि आग गर्म नही होती, अथवा परमाणु-बम सहारक अस्त्र नही है।

विज्ञान को लोगो ने सार्वभौम रूप में स्वीकार कर लिया है, इसका कारण यह है कि अपने मतव्यो को मनवाने मे विज्ञान व्यावहारिक अथवा उपयोगिता-मूलक पद्धति पर निर्भर करता है। कोई भी विज्ञान सामान्य मनुष्यो की अनुभव-मूलक सहमति की उपेक्षा नही कर सकता, किन्तु यह सहमति का सम्बन्ध प्राय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक सीमित होता है। इस प्रत्यक्ष के भीतर अणुवीक्षण आदि के द्वारा देखने का भी समावेशहोता है।

विज्ञान ने, अनुभवों के गुणात्मक पहलुओ की उपेक्षा करते हुए, यह सम्भव पाया है कि मनुष्य के भौतिक जगत सम्बन्धी अनुभवो को सगठित या सबद्ध कर दे।

## मूल्यांकन-सम्बन्धी मतभेद

ऊपर हमने मूल्य-सम्बन्धी अनुभवो की वस्तुनिष्ठता का सामान्य रूप में मडन किया। अब हम यह देखने की कोशिश करेगे कि विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो के मूल्याकनो मे मतभेद क्यो होते है। यदि ये मतभेद बुद्धिगम्य कारणो पर आधारित हो, तो यह समझना कठिन न होगा कि उन्हे कैसे दूर किया जाय, अथवा, यदि वे दूर करने लायक न हों, तो उन्हे क्यो सहन किया जाय। कहावत है कि सबको समझने का अर्थ सब को क्षमा करना है। क्या इसका मतलब यह है कि मूल्यो के क्षेत्र मे प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति का दृष्टिकोण अपना सकता है ? उस दशा मे तो विभिन्न लोगो के बीच असली मतभेद रह ही नही जायेगे। यह लक्षित करने की बात है कि लोगो के मतभेद केवल मूल्याकन तक ही सीमित नही होते। जहाँ वस्तुपाती मूल्याकन के सम्बन्ध मे सदेह प्रकट किया गया है, वहाँ वस्तुपाती ज्ञान के सम्बन्ध में भी सशय की स्थिति रही है। यूनान के प्रसिद्ध सन्देहवादी पिर्हो का एक शिष्य कहता है : 'यदि सारी चीजें हम सब के द्वारा एक ही तरह देखी जाती होती तो हम सबके वही आवेग होते और वही इच्छाएँ, जो कि होता नही।'[५८] यह भी कहा गया है कि व्यक्ति की विभिन्न इन्द्रियाँ वस्तु-गुणो के सम्बन्ध मे अलग-अलग सूचनाएँ देती है। एक चीज एक इन्द्रिय को प्रिय लगती है, दूसरी को अप्रिय, दाँत का खोखला भाग आँख की अपेक्षा उँगली की नोक को ज्यादा बडा जान पडता है। रसेल का कथन है कि हमारी इन्द्रियाँ हमारे निजी एकान्त का मूल है, और 'हम अपनी निजी दुनियाँ को सामान्य दुनियाँ के जितना समान समझते हैं, उतनी समान वह नही होती।'[५९]

विभिन्न लोगों के प्रेक्षणों मे अन्तर होते है, इसके बावजूद यह सम्भव हुआ कि उन प्रेक्षणो के आधार पर भौतिकशास्त्र की भव्य इमारत बन गयी। श्री मिचेल कहते हैं . 'जब तक बेकन और आधुनिक वैज्ञानिको ने यह दर्शित नही किया कि नियन्त्रित और परीक्षित निरीक्षण ज्ञान की नीव और उसकी परीक्षा-विधि दोनो प्रस्तुत कर सकता है, तब तक यह कहा जाता रहा कि प्रत्यक्ष की अविश्वसनीयता अनुभववाद के लिये घातक थी।'[६०] मिचेल के अनुसार हमारे मूल्य-सम्बन्धी सहज अनुभव उसी प्रकार एक वस्तुपाती मूल्य-विज्ञान का आधार बन सकते है।

मूल्याकन सम्बन्धी मतभेदो को दो वर्गो में बाँटा जा सकता है। मूल्य दो प्रकार के होते है, आन्तरिक या साध्यात्मक, और साधनात्मक; मतभेदो का सम्बन्ध

उक्त दोनों कोटियो के मूल्यो से हो सकता है। यह कहने की जरूरत नही कि विभिन्न सन्दर्भों मे एक ही मूल्य साध्यात्मक अथवा साधनात्मक हो सकता है। उदाहरण के लिये स्वास्थ्य को हम साध्यात्मक मूल्य भी कह सकते हैं, और साधनात्मक मूल्य भी। किन्तु सामान्य रूप में साध्यात्मक मूल्य जीवन या अनुभव की कोई दशा होती है, और साधनात्मक मूल्य उन वस्तुओ तथा स्थितियो मे पाया जाता है जो उस दशा को उत्पन्न करती हैं।

जब श्री हायक कहते हैं कि सामाजिक विज्ञानो के तथ्य आत्मपाती होते हैं तो वे यह कहना चाहते हैं कि उन शास्त्रो मे अधीत होने वाली वस्तुओ तथा स्थितियो का मूल्य मानवीय प्रयोजनो अथवा लक्ष्यो का सापेक्ष होता है। उदाहरण के लिये अर्थ-शास्त्र एक आत्मपाती विज्ञान है, क्योंकि 'किसी आर्थिक वस्तु या सामग्री जैसे भोजन, धन आदि को उन दृष्टियों की भाषा में ही परिभाषित किया जा सकता है जो लोग उनके बारे मे रखते हैं। अर्थशास्त्र मे हमें किसी सिक्के की गोलाई, धातु आदि से कोई सरोकार नही होता। रुपये की परिभाषा देने का अर्थ उसकी उपादानभूत धातु के बारे में कुछ कहना नही है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र लोहे या इस्पात, लकडी या तेल, गेहूँ या अडो की आन्तरिक प्रकृति के बारे में कुछ नही कहता। मतलब यह कि अर्थ-शास्त्र उक्त वस्तुओ में निहित अर्थो या मूल्यो के बारे मे बात करता है। किसी खास सामग्री का इतिहास देखने से यह जान पडेगा कि जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान बदलता है, वैसे-वैसे एक ही भौतिक चीज मे निहित अर्थशास्त्रीय अभिप्राय भी बदल जाता है।'[११]

श्री हायक के पक्षवाक्य सही हैं, किन्तु उनसे वे जो निष्कर्ष निकालते हैं वे भ्रामक और गलत भी हैं। वस्तुओ में कुछ गुण होते हैं जिनके कारण वे मानवीय जरूरतो को पूरा करती हैं, वे गुण उसी प्रकार मिथ्या नही होते जिस प्रकार कि मनुष्यो की जरूरतें। यदि भूख एक वस्तुनिष्ठ चीज है, तो उसे सतुष्ट करने वाला भोजन भी वस्तुनिष्ठ चीज समझी जानी चाहिए। आर्थिक सम्बन्धो के सन्दर्भ में किसी भोजन का रुपये आदि के रूप मे जो मूल्य होता है, वह भी वस्तुनिष्ठ होता है। किन्तु यदि हम इस बात पर जोर दे कि विभिन्न वस्तुओं के बारे मे विभिन्न व्यक्तियो के अलग-अलग मत होते हैं, तो मूल्यो के सामान्य वर्णन और इसीलिये अर्थशास्त्र नाम के विज्ञान की सभावना नष्ट हो जायगी। अर्थशास्त्र नामक विज्ञान की सत्ता यह सिद्ध करती है कि व्यक्तियो के निजी पक्षपातो के बावजूद वस्तुओ का मूल्य होता है, अर्थात् वस्तुओ का मूल्य व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न रुचियो पर निर्भर नही करता। इसी प्रकार भोजन-

विज्ञान (Science of Dietics) यह सिद्ध करता है कि विभिन्न खाद्य पदार्थों का मूल्य वस्तुगत होता है।

वस्तुओ के साधनात्मक मूल्य उन प्रयोजनों के सापेक्ष होते है जिनकी वे पूर्ति करते है। यदि एक स्पष्ट और बुद्धिगम्य प्रयोजन मौजूद हो, तो साधनो के महत्व को बौद्धिक तरीको से आँका जा सकता है। बौद्धिक अथवा बुद्धि पर आधारित जीवन उसे कहेंगे जिसमें निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये उचित साधनो का प्रयोग किया जाता है। जब लक्ष्य या प्रयोजन निश्चित हो, तो साधनो का चयन बुद्धि के हिसाब की चीज बन जाती है, न कि व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द की। यदि मुझे एक निश्चित अवधि मे दिल्ली पहुँचना है, और मै किराये पर एक निश्चित रकम से ज्यादा खर्च नही करना चाहता, तो मेरे यात्रा करने के प्रकार सीमित हो जाते है। सम्भवत मै वायुयान मे इसलिये यात्रा नही कर सकता कि मेरे पास पैसे कम है और बैलगाडी मे इसलिए नही कि मुझे एक खास अवधि मे पहुँचना है।

मनुष्यो के साधनात्मक मूल्यो से सम्बन्ध रखने वाले मतभेद गम्भीर रूप धारण कर लेते है जब उनमें साध्यो के सम्बन्ध मे मतभेद रहते है। ऐसा जान पडता है कि मूल्याकन के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण मतभेद प्राय विभिन्न लक्ष्यो या प्रयोजनो के महत्व से सम्बन्धित रहते है। इस प्रकार के मतभेद कैसे उत्पन्न होते है? उनका क्षेत्र कहाँ तक होता है? और कहाँ तक वे मतभेद दूर किये जा सकते है?

हमारे मत मे आन्तरिक या साध्यात्मक मूल्य जीवन या सचेत अनुभव की वाछनीय स्थिति मे निहित रहता है। प्रथम दृष्टि मे यह जान पडता है कि इस विषय मे मतभेद की गुजाइश नही है। उदाहरण के लिये सौख्यवादियो का कहना है कि एक मात्र वाछनीय वस्तु सुख या सुखीअस्तित्व है। किन्तु थोडा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थिति इतनी सरल नही है। उदाहरण के लिये श्री जॉन स्टुअर्ट मिल के साथ कुछ लोग कह सकते है कि एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात का जीवन ज्यादा अच्छा है। मनुष्य विभिन्न सन्तुष्टियो को अलग-अलग महत्व देते है, जिसके कारण वे विभिन्न कर्मो और लक्ष्यो के अलग-अलग मूल्याकन करने लगते है। इन तथ्यो का सीधा सम्बन्ध इस स्थिति से है कि मनुष्यो मे अनेक प्रवृत्तियाँ होती है और वे उन प्रवृत्तियो की सन्तुष्टि अलग-अलग सीमाओ तक करना चाहते है।

एक ज्यादा महत्व की वात लक्षित होनी चाहिए। मनुष्य एक कल्पनाशील प्राणी है जो अपने समस्त जीवन को योजनापूर्वक चलाना चाहता है, और केवल इस या उस वृत्ति को तत्काल सन्तुष्ट करके ही नही रुक जाता। एक ओर वह उस समस्त विश्व का, जिसमे वह रहता है, मानचित्र बनाना चाहता है, और दूसरी ओर वह अपने जीवन की उच्चतम कल्पनीय या आभासित सभावनाओ के आलोक में अपने जीवन का कार्यक्रम बना लेना चाहता है। और ऐसा करते हुए वह केवल एक व्यक्ति और एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से ही व्यवहार नही करता, अपितु एक दार्शनिक-आध्यात्मिक जीव के रूप में व्यापृत होता है। अपने समग्र जीवन की प्रगति का चित्र सामने रखते हुए—उस जीवन का जो व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी, जो इस लोक से भी सम्बन्धित है और परलोक से भी—मनुष्य जीवन के विभिन्न लक्ष्यो तथा सतोषो को या तो साध्य-साधनों के क्रम मे अथवा उच्चतर एव निम्नतर के तारतम्य में व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। वे मनुष्य जिन्होंने एक आदर्श जीवन की कल्पना करके उस तक ले जाने वाले मार्ग को प्रत्यक्ष कर लिया है, विभिन्न लक्ष्यो तथा जीवन-सारणियो का मूल्याकन उस आदर्श की अपेक्षा में करते हैं।

मनुष्य केवल व्यक्तिगत जीवन के आदर्श रूप की ही कल्पना नही करता, वह आदर्श समाज-व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धो की कल्पनाएँ भी करता है, इन सम्बन्धो में नर-नारियो के तथा विभिन्न वर्गों के भी आपसी सम्बन्धो का समावेश रहता है। विश्व तथा समाज के सम्बन्ध में मनुष्यो की विभिन्न दार्शनिक दृष्टियाँ प्राय उनके विभिन्न लक्ष्यो तथा मूल्यो से सम्बन्धित मनोभावो को भिन्न बना देती हैं।

मनुष्यो के बीच पैदा होने वाले मूल्य-सम्बन्धी मतभेदो के उक्त विवरण से हम कुछ ऐसे तरीको का आभास पा सकते हैं जिनके द्वारा उन भेदो को कम किया जा सके, अथवा उनसे उत्पन्न होने वाली बुराइयो को घटाया जा सके। विभिन्न लोगो की दृष्टियाँ, विश्व-सम्बन्धी मान्यताओ, अथवा जीवन-दर्शनो में सामजस्य स्थापित करने की ओर पहला कदम यह है कि उन लोगो को वैज्ञानिक ढग से शिक्षित किया जाय। ऐसी शिक्षा ही ज्ञान और चरित्र के उन पैमानो की अवगति, और उनके प्रयोग में आत्म-विश्वास, पैदा कर सकती है जो सार्वभौम रूप से स्वीकार्य हैं। दूसरा कदम यह है कि लोगो को विभिन्न क्षेत्रो से समबद्ध भिन्न-भिन्न जातियो के विभिन्न आदर्शो से परिचित कराया जाय, और साथ ही यह समझाने का प्रयत्न किया जाय कि आदर्शों तथा जीवन-सरणियो की विविधता का मूल स्वय मानव-प्रकृति मे है। इसके पश्चात् उन्हे ऐसा

जीवन-दर्शन सोचने का प्रोत्साहन देना चाहिए जो दोनों बातों पर ध्यान रक्खे, एक ओर सामान्य मानव प्रकृति पर, और दूसरी ओर उसकी विविध अभिव्यक्तियों पर।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. नैतिकता सम्बन्धी मतभेदों के प्रामाणिक विवरण के लिये दे० ई० वेस्टर मार्क, एथीकल रिलेटिविटी, (कीगन पाल, १९३२), अध्याय ७।

२. दे० जी० ई० मूर, एथिक्स, (होम यूनिवर्सिटी लायब्रेरी, लन्दन, १९४५), पृ० १०१।

३. दे० ए० सी० यूइंग, द डेफिनिशन आफ गुड, (मैकमिलन कं० न्यूयार्क, १९४७), पृ० ५।

४. तु० की० डब्ल्यू० ई० हॉकिंग, 'दिशा-हीन संवेदना उतनी ही असंभव है जितनी कि दिशाहीन क्रिया।' दे० द मीनिङ्ग ऑव् गॉड इन ह्यूमैनएक्सपीरिएन्स, (न्यू हैविन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२८), पृ० ६६।

५. ए० जे० ऐयर, लैंग्वेज, ट्रूथ ऐन्ड लाजिक, (विक्टर गोलैंज लि०, लन्दन, दूसरा संस्करण, १९४८), पृ० १०८।

६. वही, पृ० १०९-१०।

७. दी एन्साइक्लोपीडिया आफ् द सोशल साइन्सेज, (मैकमिलन, १९४८), भाग १, पृ० १०३।

८. दे० डब्ल्यू० टी० स्टेस, रिलीजन ऐन्ड द माडर्न माइन्ड, (मैकमिलन, लन्दन, १९४३), पृ० २६।

९. एफ़० ए० हायक, द काउन्टर रिवोल्यूशन ऑव् सायन्स, (फ्री प्रेस, ग्लेन्को, इलियानिस, १९५२), पृ० २५,२७।

१०. वही, पृ० २८।

११. बर्ट्रान्ड रसेल, हिस्टरी आव् वेस्टर्न फिलासफी, (जार्ज एलेन ऐन्ड अनविन लन्दन, १९४७), पृ० ६३०।

१२. लिमिटेशन्स आफ साइन्स, (पैलिकन संस्करण), पृ० १८८-८९।

१३. वही, पृ० २०१।

१४. सी० काडवेल, द क्राइसिस इन फिजिक्स, (जान लेन द बाडले हैड, लन्दन, १९४९), पृ० ९।

१५. वही, पृ० ११।

१६. आर्थर एडिंग्टन, द फिलासफी आफ फिजिकल सायन्स, (केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४९), पृ० १७।

१७. पी० डब्ल्यू ब्रिजमैन, द लाजिक आव् मार्डन फिजिक्स, (मैकमिलन १९२७), पृ० २५।

१८. एडिंग्टन, वही, पृ० ७१।

१९. एफ्० एच० ब्रेडले, एपियरेन्स ऐन्ड रिएलिटी, (आक्सफोर्ड, दूसरा संस्करण, नवाँ मुद्रण, १९३०), पृ० २४।

२०. वही, पृ० २२।

२१. बर्ट्रान्ड रसेल'स डिक्शनरी आव् माइन्ड, मैटर, ऐन्ड मॉरल्स, (फिलॉसिफीकल लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९५२) में उद्धृत, पृ० १६५।

२२. दे० बाल्डविन'स डिक्शनरी आव् फिलासफी ऐन्ड साइकालॉजी, (न्यूयार्क, १९१८)।

२३. द जर्नल आफ फिलासफी, मई ७, १९५५, पृ० २८५।

२४. वही, पृ० २९४ पर उद्धृत।

२५. दे० हर्बर्ट डिंगिल, सायन्स ऐन्ड ह्यू मैन एक्सपीरिएन्स, (विलियम्स ऐन्ड नार्गेट लि०, लन्दन, १९३१), पृ० १४।

२६. जे० एफ्० ब्राउन, द साइकोडायनेमिक्स आव् एबनार्मल बिहेवियर (मैक-ग्रा हिल बुक कंपनी, न्यूयार्क, १९४०), पृ० ४१०।

२७. विल ड्यूरेन्ट की द स्टोरी आफ फिलासफी, (गार्डेन सिटी पब्लिशिंग कम्पनी न्यूयार्क, १९५३), पृ० ३६३ पर उद्धृत। शॉपेनहावर आगे कहते हैं: 'प्रतिभा अपने हितों, इच्छाओं और लक्ष्यों को अलग छोड़ देने की शक्ति है, कुछ समय के लिये अपने व्यक्तित्व का परित्याग कर देने की शक्ति, ताकि मनुष्य शुद्ध ज्ञाता रह जाय, शुद्ध दृष्टि।' यहाँ हमें उन शर्तों की याद आती है जो श्री शंकराचार्य ने उन लोगों के लिये लगाई है जो ब्रह्म को जानना चाहते हैं। ऐसे लोगों को इहलोक और परलोक दोनों के सुखों की इच्छा छोड़ देनी चाहिए। वेदान्त में एक तटस्थ, शुद्ध द्रष्टा, शुद्ध साक्षी या साक्षि-चैतन्य की धारणा खास तौर से महत्वपूर्ण है।

२८. आई० ए० रिचर्ड्स, प्रिन्सिपिल्स आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (कीगन पाल, लन्दन, छठा मुद्रण, १९३८), पृ० १९४।

२९. दे० आर्थर एडिंग्टन, द नेचर आव द फिजीकल वर्ल्ड, (एवरीमैन १९४७), पृ० ८। इसी प्रकार श्री मैक्स प्लैंक ने तात्त्विक जगत को गोचर जगत से भिन्न किया

है। 'बाद में संकेतित जगत, जिसमें भौतिक शास्त्र के मापों आदि का समावेश है, यथार्थ जगत का प्रतीक या चिन्ह् मात्र है, जिसको व्याख्या भौतिक शास्त्री करते है।' दे० ह्वेयर इज़ सायंस गोइङ ? (जार्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, १९५३), पृ० ८४-८५।

३०. बर्ट्रान्ड रसेल, ह्यूमैन नालेज इट्स स्कोप ऐन्ड लिमिट्स, (जार्ज एलेन एन्ड अनविन, लन्दन, १९४८), पृ० २१९।

३१. वही, पृ० २१९।

३२. वही, पृ० २२१।

३३. वही, पृ० २२०।

३४. वही, पृ ० २२०-२२१।

३५. विज्ञानवादियो की (जो कहते हैं कि बाह्य पदार्थ वस्तुतः मन में हैं) आलोचना करते हुए श्री शकराचार्य कहते हैं : 'एक ऐसे व्यक्ति को जिसने कभी बाहरपन का अनुभव नहीं किया, बाहरपन का भ्रम कैसे हो सकता है ? कभी किसी को ऐसा भ्रम नहीं होता कि विष्णुमित्र बांझ के पुत्र जैसा दीखता है ?' ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।२८ तात्पर्य यह कि मनुष्य की कल्पना अनुभव के तत्वो को पुनर्ग्रथित या पुनः संगठित ही कर सकती है, अनुभव की सीमाओ का अतिक्रमण नही कर सकती।

३६. तु० की० साइन्स ऐन्ड ह्यूमैन एक्सपीरिएन्स, पृ० १६।

३७. ई० एफ० कैल्डिन, द पावर ऐन्ड लिमिट्स आफ सायन्स, (यूनिवर्सिटी आफ लीड्स, १९४९), पृ० १४।

३८. वही, पृ० १६।

३९. दे० जे० आर० वीनबर्ग, ऐन एग्जामिनेशन आव् लॉजिकल पाजिटिविज्म, (कीगन पाल, १९३६), पृ० १४४।

४०. वही, पृ० १४७।

४१. वही, पृ० १५१।

४२. मैक्स प्लैंक, ह्वेयर इज़ सायंस गोइंग ? पृ० ९२।

४३. ऐन ओरिएन्टेशन इन सायन्स, (मैक-ग्रा हिल बुक कंपनी, १९३८), पृ० १३४।

४४. ई० एफ० कैल्डिन, वही, पृ० २१-२२।

४५. जॉक रूएफ, फ्राम द फिजीकल टु द सोशल सायन्सेज, (लन्दन और आक्सफोर्ड, १९२९), पृ० ५९।

४६. वही, पृ० २३।

४७. फिलिप फ्रैंक, आइन्स्टाइन, हिज़ लाइफ ऐन्ड टाइम्स (जोनेथन केप, लन्दन, १९४८), पृ० २६१ (गौरव हमारा)।

४८. द फिलासफी आफ बर्ट्रान्ड रसेल, (द लायब्रेरी आव् लिविंग फिलासफर्स, इवैंस्टन, इलिनॉयस, १९४६), पृ० २८७।

४९. वही, पृ० २८९।

५०. हर्बर्ट डिंगिल, वही, पृ० ४७।

५१. जे० रुएफ, वही, पृ० ६३।

५२. द लाजिक आफ मार्डन फिजिक्स, पृ० २-३।

५३. आइन्स्टाइन, हिज लाइफ ऐन्ड टाइम्स, पृ० २६१।

५४. द नेचर आफ द फिजीकल वर्ल्ड, पृ० ९।

५५. डब्ल्यू० कैलर, द प्लेस आव वैल्यू इन ए वर्ल्ड आव फैक्ट्स, (लिवरलाइन पब्लिशिंग कारपोरेशन, न्यूयार्क), पृ० १७५।

५६. वही।

५७. वही, पृ० १७४।

५८. हिस्टरी आफ फिलासफी, लेखक अलफ्रेड वेवर, आर० बी० पेरी द्वारा परिशिष्ट सहित, (चार्ल्स स्क्रिबनर'स सन्स, न्ययार्क, १९२५), पृ० ११६।

५९. ह्यूमैन नालेज, इत्यादि, पृ० १९, १८।

६०. दे० वैल्यू: ए कोआपिरेटिव इन्क्वायरी, संपादक आर० लेप्ले, (कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, १९४९), पृ० १९७।

६१. द काउन्टर रिवोल्यूशन आव् सायन्स, पृ० ३१।

# अध्याय ३

## मानवीय विद्याओं की अन्वेषण-पद्धति

जिसे हम मूल्याकन कहते है वह मानव-व्यवहार नामक अधिक व्यापक वर्ग का अग है; कहना चाहिए कि मूल्याकन एक प्रकार का मानव-व्यवहार है। दूसरा विकल्प यह कथन हो सकता है कि मानव-व्यवहार तथा मूल्याकन दोनो का विस्तार बराबर है, अर्थात् समस्त मानव-व्यवहार मूल्याकन से अनुप्राणित रहता है। दोनों ही दशाओ मे हमे मूल्याकन के अध्ययन और मानव-व्यवहार के अध्ययन मे गहरा सम्बन्ध मानना पडेगा। मतलब यह कि मूल्यो का अध्ययन या विज्ञान मानवीय विद्याओ का ही एक अग है। इसलिये मूल्य-विज्ञान की अन्वेषण-पद्धति को विभिन्न मानवीय विद्याओ की अन्वेषण-पद्धति से अलग करके नही समझा जा सकता।

यहाँ हम कुछ ज्यादा सही ढग से मानवीय विद्याओ की प्रकृति और उनके क्षेत्र का सकेत करने की कोशिश करेगे। सामान्य रूप में उन विद्याओ का विषय वे परिवर्तन होते है जिन्हे मनुष्य सचेत रूप मे उत्पन्न करता और भोगता है। मानवीय विद्याएँ मुख्यत मनुष्यो के उन कर्मो और कर्मो के प्रभावो का अध्ययन करती है जिनका स्वय कर्म करने वालो तथा दूसरे मनुष्यो पर प्रभाव पड़ता है। किन्तु वे विद्याएँ कतिपय ऐसी मानवीय स्थितियो का भी विचार करती है जो, किसी मनुष्य या मानव-समूह के सचेत सकल्प का परिणाम न होते हुए भी, विभिन्न मनुष्यो की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है, और मनुष्यो के जीवन को प्रभावित करती है। इस प्रकार की स्थितियो के कुछ उदाहरण है मूल्य-वृद्धि या महँगाई, बेकारी इत्यादि। इस प्रकार मानवीय विद्याएँ वे विद्याएँ है जिनके अध्ययन का विषय सचेत मनुष्य के हस्तक्षेप से उत्पन्न क्रियाएँ, वस्तुएँ और स्थितियाँ होती है। भौतिक तथा जीव सम्बन्धी विज्ञानों जैसे रसायन-शास्त्र, रचना-शास्त्र (Anatomy), शरीर-शास्त्र

(Physiology) का समावेश मानवीय विद्याओ में नही होता, क्योकि उनकी विषय-वस्तु मानवीय चेतना से सहचरित नही होती, यद्यपि उस विषय-वस्तु का मनुष्य के सुख दु ख से घना सम्बन्ध होता है।

हमारी उक्त परिभाषा के विरुद्ध एक आक्षेप किया जा सकता है, यह कि मनुष्य की कतिपय प्रेरणाएँ अचेतन भी होती हैं। हम जानते है कि फ्रायड ने अचेतन अथवा अवचेतन की प्रेरणाओ पर विशेष गौरव दिया है। इसके उत्तर में हमें कहना है कि फ्रायड का अवचेतन अथवा अचेतन एक उत्सृष्ट प्रत्यय (Construct) है, वह किसी अनुभूत वास्तविकता का नाम नही है। दूसरे, अचेतन प्रेरणाओ द्वारा निर्धारित कर्म भी न्यूनाधिक सचेत धरातल पर ही अनुष्ठित होता है। फ्रायड के सिद्धान्तो के अनुसार भी तथा कथित अचेतन प्रेरणाएँ अन्तत चेतन जीवन में ही उद्भूत होती है। वे सचेत अथवा अर्ध सचेत इच्छाओ के दमन द्वारा अस्तित्व मे आती है, और उन्हें मनोविश्लेषण की विधि द्वारा पुन चेतना के धरातल पर लाया जा सकता है।[1]

मानवीय विद्याओ मे दो चीजों का समावेश है, अर्थात् सामाजिक-मनोवैज्ञानिक शास्त्रो का और कला तथा साहित्य, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र, तथा दर्शन और अध्यात्म का। यहाँ एक रोचक प्रश्न पूछा जा सकता है। सारी मानवीय विद्याओ की विषय-वस्तु एक ही है, अर्थात् मानव-जीवन के व्यवहार; फिर उपरोक्त अनेक विद्याओ की जरूरत क्यो पडती है? मानव-जीवन का अध्ययन करने के लिये केवल एक ही विज्ञान क्यो नही है? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर देने के लिये दो चीजे जरूरी है, एक, मानव-व्यवहार की नितान्त जटिल प्रकृति का उद्घाटन, और दूसरे, मानवीय विद्याओ की कतिपय विशेषताओ तथा सीमाओ का निर्देश।

## मानवीय व्यवहार की जटिलता

मानवीय विद्याओ के प्राय सभी अन्वेषको ने यह स्वीकार किया है कि मनुष्य का व्यवहार एक जटिल वस्तु है। इस जटिलता का स्वरूप क्या है? उक्त जटिलता का मानव-शरीर की दीखने वाली गतियो से विशेष सम्बन्ध नही है, चिडियो, बरो आदि जन्तुओ की गतियाँ भी मानव-शरीर की गतियो से कम जटिल नही होती। यह समझा जाता है कि दूसरे जन्तुओ की अपेक्षा मनुष्य का हाथ ज्यादा सधा हुआ और क्षमता-सम्पन्न होता है, फिर भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि अपना घोसला

बनाने मे लगी हुई एक चिडिया या बर्रे की उडान का रेखा-चित्र उस चित्र से जो किसी मकान को बनाने वाले राज-मजदूरो की गतियो का खाका उपस्थित करेगा कम जटिल होगा। सच यह है कि जब हम मानव-व्यवहार की जटिलता की चर्चा करते है उस समय उसकी भौतिक गतियो के बारे मे नही सोचते होते। उस समय हम उसकी मानसिक वृत्तियो तथा मनोभावो का ही विशेष विचार करते है। कुछ मनुष्य ऐसे होते है कि वे देखने से रहस्यमय जान पडते है, रहस्य के आवरण मे छिपे हुए, किन्तु इस रहस्यमयता का उनकी भौतिक गतियो से विशेष सम्बन्ध नही होता। वे रहस्यमय इसलिये लगते है कि हम उनके बौद्धिक, आवेगात्मक तथा नैतिक व्यक्तित्व को ठीक-ठीक नही समझ पाते। मानव-व्यवहार की जटिलता वस्तुत मनुष्यो के विभिन्न स्वभावो, मनोभावो, विश्वासो तथा आदर्शो की जटिलता है। जटिलता का सबसे बडा अधिष्ठान मनुष्य की विविध-रूप चेतना है। फलत हम मानव-व्यवहार की जटिलता को भीतर से ही समझ सकते है, सिर्फ बाहर से देखकर नही। मानव-जीवन तथा व्यवहार की जटिलता उन आत्मिक अर्थो की जटिलता है जो उसकी विभिन्न क्रियाओ मे निहित रहते है।

प्रश्न है, इस जटिलता के स्रोत तथा उपादान क्या है?

श्री पार्सन्स और शिल्ज के अनुसार कर्म के विधायक तत्वों को तीन अन्योन्याश्रित तथा सम्बद्ध पद्धतियो मे वर्गीकृत किया जा सकता है। इन तीन पद्धतियो के नाम है: विभिन्न व्यक्ति या व्यक्तित्व, सामाजिक व्यवस्थाएँ और "सास्कृतिक" व्यवस्थाएँ या पद्धतियाँ।[२] विभिन्न कर्ता जिन लक्ष्यो को पाना चाहते है, उनका स्वरूप इन तीनो पद्धतियो के अगभूत उपादानो से निर्धारित होता है। हम उक्त योजना को थोडे परिवर्तित रूप मे ग्रहण करेंगे, और तीन शीर्षको में उन तत्वो का वर्णन करेंगे, जो मानव-लक्ष्यो के निर्माण का निर्धारण करते हैं। ये तत्व तीन वर्गो मे बाँटे जा सकते है, व्यक्तिगत निर्धारक, परिवेशगत-सामाजिक निर्धारक और विचारात्मक निर्धारक। तीनो का हम क्रमश वर्णन करेंगे।

(क) व्यक्तिगत निर्धारक एक प्रकार से वे सब शक्तियाँ जो मनुष्यो के विभिन्न जीवन-लक्ष्यो का स्वरूप निर्धारित करती है, अथवा उनकी पसन्द-नापसन्द को प्रभावित करती है, स्वय व्यक्ति के अन्दर मौजूद होती है। दूसरी सारी शक्तियाँ व्यक्तिगत चेतना मे प्रतिफलित होकर ही मनुष्य के कार्यो को प्रभावित करती है।

इस दृष्टि से मनुष्य द्वारा स्वीकृत होने वाले समस्त लक्ष्य व्यक्तिगत होते हैं। फिर भी हम उन लक्ष्यों को खास तौर से व्यक्तिगत कहेंगे जिनका जन्म व्यक्तिगत प्रेरणाओं में होता है। व्यक्ति के व्यवहार की मनोवैज्ञानिक निर्धारक आन्तरिक प्रेरणाएँ होती है। इन प्रेरणाओं को मनोवैज्ञानिक कहने से हमारा मतलब यह है कि उनका अध्ययन खास तौर से मनोविज्ञान में किया जाता है।

प्रेरणाओं (Motives) से भी ज्यादा मौलिक वे जरूरतें अथवा प्रवृत्तियाँ होती हैं जो एक जीवयोनि के समस्त सदस्यों में पाई जाती हैं। इन जरूरतों या प्रवृत्तियों को अनेक नाम दिये गये हैं, जैसे मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts), मानसिक-भौतिक वृत्तियाँ, आन्तरिक पसन्दें, प्रेरक उत्क्षेप-क्रियायें (Prepotent Reflexes), इत्यादि। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य की कतिपय जरूरतों अथवा प्रेरणाओं का मूल उसकी जैवी-भौतिक बनावट में होता है, उसकी दूसरी जरूरतों का मूल उसकी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रकृति मे रहता है। एक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक जरूरत का उदाहरण है—नवीन तथा विविध अनुभवों की जरूरत।[1] दूसरे उदाहरण होंगे—प्रेम, आदर, अपने कामों के प्रति दूसरों का स्वीकृतिभाव आदि की जरूरतें। यहाँ हमारा लक्ष्य यह वर्णन करना नही है कि कौन-सी जरूरतें मौलिक हैं, और कौन-सी मूल जरूरतों का परिणाम या कार्य। यहाँ हम सिर्फ इस बात का सकेत करना चाहते हैं कि मनुष्य अनेक तथा विविध आवश्यकताओं का अनुभव करता है।

मनुष्य कर्म मे प्रवृत्त होता है, इसका मुख्य कारण उसकी असतुष्ट जरूरतें होती हैं। किन्तु एक ऐसे परिवेश में जहाँ आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अनेक ढग दिखाई पड़ते हैं, जरूरतें बदलकर इच्छाएँ बन जाती हैं, और निश्चित वस्तुओं पर ससक्त हो जाती हैं। वे इच्छाएँ जिन्हें मूल क्षुधाओं की प्रेरणा-शक्ति प्राप्त होती है, कर्म की विभिन्न प्रेरणाओं (Motives) को जन्म देती हैं। प्रेरणा की परिभाषा इस प्रकार होगी : प्रेरणा एक जटिल प्रवृत्ति है जिसके प्रभाव मे हम कुछ चीजों की ओर ध्यान देते और उनकी कामना करते है, और फिर क्रियाओं मे प्रवृत्त होते हैं, ताकि हमारा विभिन्न लक्ष्यों से (अर्थात् लक्ष्यभूत वस्तुओं या स्थितियों से) अभीष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब विभिन्न इच्छाओं में द्वन्द्व या सघर्ष होता है, और जब विभिन्न इच्छित लक्ष्य एक-दूसरे के आश्रित अथवा विरोधी दिखाई देते हैं।

इन संघर्षों आदि का फल यह होता है कि व्यक्तियों के जीवन में क्रमश कुछ लक्ष्य तथा महत्वाकाक्षाएँ प्रधान बन जाती हैं, और कुछ अप्रधान। यह देखा गया है कि अपने अभीष्ट मूल्यों, आदर्शों, तथा आकाक्षाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य अपनी बहुत-सी दूसरी इच्छाओं पर कठिन नियत्रण अथवा उनका दमन कर डालते हैं।

यह सोचा जा सकता है कि उक्त कोटि के लक्ष्य तथा आकाक्षाएँ सम्बद्ध व्यक्ति की प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं को स्थिर रूप देने में सहायक होती होंगी। किन्तु यह अशत ही सही है। ऐसे बहादुर लोग थोडे ही होते हैं जो लगातार असफलताओं तथा निराशाओं के बावजूद एक बडे आदर्श के पीछे चलते रहते हैं। ज्यादातर लोग अपने जीवन में कभी एक आदर्श की ओर झुकते हैं, और कभी दूसरे आदर्श की ओर। उनके तरह-तरह के प्रयत्नों को जैसे-जैसे सफलता या असफलता मिलती है, वैसे-वैसे उनकी आकाक्षाओं का रूप तथा स्तर बदलता अथवा ऊँचा -नीचा होता जाता है।*

सचेत मानवीय व्यापार प्राय. किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये होता है, किन्तु यह बतलाना कठिन है कि सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य क्या है। हम में से अधिकाश के जीवन में, बहुत से मामलों में, लक्ष्य तथा साधन एक-दूसरे से प्राय परिवर्तनीय होते हैं। व्यक्तियों तथा समूहों दोनों के जीवन में एक प्रकार की सफलता दूसरे प्रकार की सफलता को प्राप्त करने का साधन बन जाती है; धन से शक्ति तथा मान मिलता है, और शक्ति तथा मान से धन। धन तथा शक्ति अधिकाश लक्ष्यों को प्राप्त करने के सार्वभौम साधन हैं, इसीलिये अधिकाश लोग धन-सम्पत्ति तथा शक्ति की ओर दौडते हैं। नर-नारी कठिन परिश्रम करते हैं, विभिन्न क्षेत्रों में विशेष योग्यता प्राप्त करते हैं, प्रभावशाली लोगों की खुशामद करते हैं, ताकि उन्हे लाभकारी पद तथा नौकरियाँ मिल सकें। कोई मनुष्य किस रूप में धन तथा शक्ति को पाने का प्रयत्न करेगा यह दो चीजों पर निर्भर करता है—उसकी वर्तमान स्थिति पर और उसकी कल्पना-शक्ति, चतुराई तथा साधनों को जुटाने की योग्यता पर।

(ख) परिवेशगत तथा सामाजिक निर्धारक : मनुष्य के परिवेश में दो तरह की चीजें होती हैं, भौतिक वस्तुएँ तथा सामाजिक-सास्कृतिक वस्तुएँ। भौतिक वस्तुओं में उन चीजों का भी समावेश है जो विभिन्न यन्त्रों द्वारा बनाई जाती हैं। परिवेश में तरह-तरह की चीजों की उपस्थिति यह सम्भव बनाती है कि मनुष्य अपनी जरूरतों को विभिन्न तरीकों से पूरा कर ले। दूसरा परिणाम यह होता है कि आराम तथा

सुख-भोग की वस्तुओ की नई जरूरतें पैदा हो जाती हैं। उदाहरण के लिये एक आधुनिक मनुष्य को जो मोटरकार तथा रेडियो की आवश्यकता महसूस होती है, उसका कारण उसके परिवेश मे उन चीजो की उपस्थिति है। इसी प्रकार हमारा सामाजिक-यान्त्रिक परिवेश हमारी वस्त्रो, मनोविनोद के साधनो, मकानो आदि की माँगो अथवा जरूरतो का स्वरूप निर्धारित करता है। हमारी जीवनचर्या पर समाज का सबसे ज्यादा प्रभाव निम्न रूप में पडता है हमे एक खास पेशे तथा पद से बाँधकर समाज हमारे अन्दर एक खास तरह की कर्तव्य-भावना तथा आशाएँ उत्पन्न कर देता है। हमारे इन कर्तव्यो तथा आशाओ का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियो से होता है, जिनके सुपुर्द दूसरे सामाजिक काम होते हैं। श्री पार्सन्स और शिल्ज कहते हैं · 'जिसे हम सामाजिक व्यवस्था कहते हैं वह प्राय व्यक्तियो के विभिन्न कर्तव्य-रूपो (Roles) तथा उनकी प्रत्याशाओ (Expectations) से निर्मित होती है। इन सबका उद्देश्य यह होता है कि समाज की कोई न कोई जरूरत पूरी हो जाय।'*

विभिन्न व्यक्तियो को विभिन्न कर्मों मे लगाकर और उनके विभिन्न कर्तव्यो तथा अधिकारो का निर्देश करके समाज पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपने समस्त सदस्यो की जरूरतें पूरी करता है। इसके बावजूद सामाजिक जीवन मे तरह-तरह के सघर्ष होते रहते हैं। एक ही युवती को चाहनेवाले अनेक प्रेमी हो सकते है, और एक ही पद या नौकरी के लिये बहुत से उम्मीदवार रह सकते हैं। समाज में वाछनीय वस्तुओ की विरलता रहती है, और कुछ पद तथा शक्तियाँ ऐसी होती हैं जो कुछ लोगो को ही मिल सकती हैं। फलत सर्वत्र सब समाजो में व्यक्तियो तथा समूहो के बीच तरह-तरह के सघर्ष चला करते हैं। ये सघर्ष विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो की बुद्धि तथा परिश्रमशीलता, चतुराई तथा निपुणता, सहयोग करने तथा अनुशासन-पूर्वक रहने आदि गुणो की खरी परीक्षा कर लेते हैं। ऐसे समाजो मे भी जहाँ आर्थिक सघर्ष नही पाये जाते, जैसे सोवियत सघ मे, एक ही दल के भीतर शक्ति-सहचरित पदो के लिए सघर्ष चलता ही रहता है। इन सघर्षों का एक फल तो यह होता है कि लोग, नैतिक सिद्धान्तो को भूलकर, भले-बुरे साधनो का उपयोग करने लगते हैं, और दूसरा यह कि क्रमश उनके जीवन के लक्ष्य तथा आदर्श, और अन्तत. उनके चरित्र, बदल जाते हैं।

इन सघर्षों को कम करने अथवा दूर करने की इच्छा से विचारक तथा सुधारक लोग या तो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में सुधार की माँग करते है, अथवा ऐसी नई

व्यवस्थाओं की माग करते हैं जिनमे व्यक्तियो तथा समूहो के बीच ज्यादा सन्तोषप्रद आर्थिक-सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो सके।

(ग) विचारात्मक निर्धारक मानव-व्यवहार के विचारात्मक निर्धारक दो प्रकार के होते हैं · मूल्य-सम्बन्धी तथा अन्य विश्वासो एव विचारो की वे पद्धतियाँ जो समाज की मौजूदा व्यवस्था के अनुकूल है, और वे जो उसके प्रतिकूल हैं। आज के समाज मे विचारो तथा विश्वासो से सम्बन्धित मतभेद नियम-रूप है, न कि अपवाद-रूप। मतलब यह कि इस प्रकार के सघर्ष-मूलक विश्वास तथा विचार चारो ओर बिखरे हुए हैं। एक स्थिर समाज अपने सदस्यो मे उन विचारो तथा मूल्यात्मक मनोभावो को उत्पन्न करता है, जो परम्परा से चले आ रहे हैं। इन परम्परागत मनोभावो की उपस्थिति व्यक्ति में मौजूदा आर्थिक तथा दूसरे सम्बन्धों के बारे में—उन सम्बन्धों के जो विभिन्न वर्णों, वर्गो तथा व्यक्तियो को न्यूनाधिक सम्पत्ति, शक्ति एव सुविधाएँ प्रदान करते हैं—स्वीकृति की भावना उत्पन्न करती है। वे सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध भी लगाते हैं। उदाहरण के लिये हमारे समाज में वर्ण तथा जाति-सम्बन्धी नियम कुछ समूहो को कतिपय पेशो तथा समाजिक-धार्मिक उत्सवो से दूर रखते हैं। अधिकाश व्यक्ति तथा समूह जिन्हे विशेष शिक्षा-दीक्षा नही मिली, इस प्रकार के पुराने नियमो को तब तक मानते रहते है जब तक कि कुछ सुधारक तथा विद्रोही नेता उन्हे उन नियमो के विरुद्ध भडकाते नही। आज के अधिकाश जनतन्त्रात्मक समाजो मे व्यक्तियों तथा समूहो पर लगातार विरोधी विचार-पद्धतियो का प्रभाव पडता रहता है। व्यक्तिवाद की वृद्धि के कारण, जिसका मूल कारण जनतन्त्रीय आदर्शो का प्रचार और शिक्षा का विशेष प्रसार है, आज लोग पुरानी चीजो की उतनी नकल नही करते और न परम्परा से उतना तादात्म्य ही महसूस करते हैं। फलत परम्परा की शक्ति कम होती जाती है। दूसरे कारण भी उपस्थित हो गये हैं। मनुष्यो के वे धार्मिक-दार्शनिक विश्वास तथा मनोभाव जो उनमें परम्परागत सामाजिक तथा नैतिक पैमानो की स्वीकृति उत्पन्न करते थे, अब भौतिक-शास्त्र, जीव-विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानों के सिद्धान्तो के प्रचार से हिल गये हैं। इन सब कारणो से आधुनिक व्यक्ति के व्यवहार के विचारात्मक आधार बडे अनिश्चित तथा रहस्यमय बन गये है। इसके प्रखर प्रमाण हमें जेम्स ज्वायस तथा ज्या पाल सार्त्रे जैसे लेखको की कथा-कृतियो में मिलते हैं। किन्तु राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओ के प्रति मनुष्यों के भाव अपेक्षाकृत अधिक

स्थिर होते है, उनके रूपो में उतनी विविधता भी नही पाई जाती। इसका मतलब यह है कि आधुनिक व्यक्ति के आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवहार को समझना उतना कठिन नही है, जितना कि उसके नैतिक-धार्मिक व्यवहार तथा आवेगात्मक जीवन को।

जैसा कि हमने पिछले अध्याय के अन्त मे कहा था, कल्पनाशील मनुष्य अपने सम्मुख अपने सम्पूर्ण जीवन का चित्र खडा कर लेना चाहता है, ताकि वह अपने छोटे-मोटे प्रयत्नों तथा लक्ष्यों को एक उच्चतर अथवा चरम ध्येय से सम्बन्धित कर ले। प्राचीन काल में इस ध्येय के स्वरूप को लक्षित करना और उसे प्राप्त करने के उपायों को बतलाना दर्शन तथा धर्म का काम था। आज मनुष्य के धार्मिक विश्वास ध्वस्त-प्राय हो चुके है, और उसे दर्शन मे भी विश्वास नही रह गया है, फलत आज के मनुष्य के मन मे जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में प्राय कोई धारणा नहीं होती, और उसे यह विश्वास भी नहीं रह गया है कि वह इस प्रकार की धारणा बना सकता है। इसका परिणाम यह है कि आज का मनुष्य अपनी विभिन्न लक्ष्यो की खोजों को एक-दूसरी से सम्बन्धित नही कर पाता। विभिन्न मूल्यो के सम्बन्ध में भी उसके मनोभाव असम्बद्ध तथा दुर्ज्ञेय बन गये है।

हमने अब तक उन हेतुओं का निर्देश किया जो विभिन्न मनुष्यो द्वारा अन्वेषित विविध लक्ष्यो का स्वरूप निर्धारण करते है। हमने यह भी सकेत किया कि मनुष्य के अनेक लक्ष्य उसके उच्चतर चरम लक्ष्यों के साधन-रूप होते है। इसलिये लक्ष्यों और साधनो के बीच, जहाँ तक वे मानवीय कर्म को प्रभावित करते है, विभाजक रेखा खीचना कठिन होता है । फिर भी हम कुछ ऐसी चीजो का निर्देश करेंगे जो मनुष्यो के साधनो के चुनाव को प्रभावित करके उनके व्यवहार को जटिल बना देती है।

अपने अभिमत प्रयोजनो की पूर्ति के लिये मनुष्य जिन तरीकों का चुनाव करते है, उनका निर्धारण दो कोटियो की चीजो से होता है· एक तो कर्ताओ की बुद्धि तथा साधन-सम्पन्नता से, और दूसरे भलाई-बुराई सम्बन्धी उनकी नैतिक बुद्धि से। प्रथम तत्व का सम्बन्ध कर्ता-विशेष की सृजनशीलता अथवा सृजनात्मक कुशलता से रहता है। प्राय व्यक्तियो तथा देशो के इतिहास में भी वे घटनाएँ जो हमारे लिये महत्वपूर्ण और रोचक होती है, सृजनात्मक क्रान्तदर्शिता तथा असाधारण निर्णयो से प्रवाहित

होती हैं। श्री हालैंड रोज ने लिखा है कि नेपोलियन की युद्ध सम्बन्धी सफलताओं का प्रमुख कारण 'वह आशु गति तथा साधन-सम्पन्नता थी जो उसके मित्रो तथा शत्रुओं दोनो को आश्चर्य में डाल देती थी', 'उसके सयोजनों की वह साहसिकता' जो दुश्मनो को आश्चर्यपूर्ण विस्मय मे डाल देती थी।[६] जहाँ यह ठीक है कि मानव-व्यवहार परिवेश द्वारा उपस्थापित अनेक सम्भावनाओ के क्षेत्र मे अनुष्ठित होता है, वहाँ इसमें सन्देह किया जा सकता है कि उस व्यवहार का कोई भी सिद्धान्त, फिर चाहे वह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक हो अथवा आर्थिक या समाज-शास्त्रीय, हमें यह क्षमता दे सकता है कि हम उस व्यवहार के सब सम्भाव्य मोडो तथा विवर्तनो को, जिन्हे मानवीय सृजनशीलता घटित कर सकती है, पूर्वाभासित कर लें। प्रसिद्ध लेखक मैकियावेली ने ड्यूक वेलेण्टिनो की कूटनीति से सम्बद्ध एक घटना का उल्लेख किया है। ड्यूक ने एक बार अपने बहुत से प्रतिपक्षी राजाओ को मीठे निमन्त्रण द्वारा इकट्ठा कर लिया, और फिर उन्हे भयकर प्रवचन द्वारा एक साथ मरवा डाला।[७] एकत्रित होने वाले बहुत से राजाओ मे सिर्फ एक को उसका निमत्रण खटका था, यद्यपि बाद मे वह स्वय वहाँ आकर सम्मिलित हो गया था।

साराश रूप मे हम कह सकते हैं कि मनुष्य के कर्म मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-सास्कृतिक स्थितियो और मानवीय सृजनशीलत के बीच होनेवाली क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ से निर्धारित होते हैं। मनुष्य की प्रेरणाएँ (Motives) मुख्यत. उसकी मनोवैज्ञानिक प्रकृति से निर्धारित होती है, किन्तु वे प्रेरणाएँ जिन लक्ष्यो को प्रस्तावित करती हैं उनके स्वरूप का निर्धारण मुख्यत उन सामाजिक वास्तविकताओ तथा सास्कृतिक मनोभावों द्वारा होता है जो किसी कर्ता का परिवेश बनाते हैं। यह कहने की जरूरत नही कि मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-सास्कृतिक स्थितियाँ लगातार एक-दूसरी से क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती हैं। उदाहरण के लिये व्यक्ति को जीवन में जो सफलताएँ तथा असफलताएँ मिलती है वे उसके लक्ष्यों के स्वरूप को बदलती रहती हैं, इसी प्रकार अपने सास्कृतिक परिवेश से वह जिन मूल्यात्मक मनोभावो को ग्रहण करता है, वे उसकी प्रेरणाओ का रूप बदलते रहते हैं। मनुष्य का अध्ययन करनेवाली अनेक विद्याएँ उठ खडी हुई हैं इसका कारण या तो यह जानने की कोशिश है कि विभिन्न मानवीय प्रेरणाएँ किन जटिल ढगो से व्यापृत होती है; अथवा यह जानने की अभिलाषा कि मनुष्य विभिन्न लक्ष्यो तथा मूल्यो की प्राप्ति के लिये किस-किस तरह प्रयत्न करता है।

# मानवीय विद्याओं का सामान्य वर्गीकरण

मानवीय व्यवहार को दो विभिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है: एक या अनेक व्यक्तित्वों की अभिव्यक्ति के रूप मे, अथवा ऐसे प्रयत्न या प्रयत्न-परम्परा के रूप में जिसका लक्ष्य यथार्थ को अभिलषित रूप में सगठित कर देना है। मानव-व्यवहार के अध्येताओ की रुचि या तो उन नर-नारियो में हो सकती है जिनका उन व्यवहारो के पीछे हाथ है, अथवा मानवीय घटनाओ एव कर्मों की दिशा और उनके परिणामो में। प्रथम कोटि के अन्वेषक प्राय यह जानने की विशेष चेष्टा करते हैं कि विभिन्न कार्य-कलापो के पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ काम कर रही थी, और उन प्रेरणाओ तथा उनसे सम्बद्ध आवेगात्मक एव मूल्यात्मक मनोभावो का उदय कैसे हुआ, ये अन्वेषक घटनाओ से सम्बद्ध नायको तथा नायिकाओ मे विशेष रुचि लेते हैं। दूसरे अन्वेषक सम्बद्ध कर्ताओ की उतनी चिन्ता न करते हुए यह देखने की कोशिश करते हैं कि विभिन्न घटनाओ तथा कार्यकलापो ने किस प्रकार के परिणाम उत्पन्न किये, और कहाँ क्या-क्या प्रभाव डाला। मानवीय क्रिया-कलापो के प्रति ये दो मनोभाव दो प्रकार की विद्याओ या शास्त्रो को जन्म देते हैं। एक छोर पर व्यक्तिगत जीवनी होती है, और दूसरे छोर पर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास। मनुष्य के जीवन-नाटक के ये दो भिन्न, वर्णनात्मक अध्ययन-प्रकार हैं। किन्तु व्यवहार में इतिहास नाम की चीज अनेक शाखा-प्रशाखाओ मे विभक्त हो जाती है, जैसे राजनैतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास, धार्मिक इतिहास इत्यादि। जीवनियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं, और वे जीवन की किसी एक अथवा अनेक प्रेरणाओ से सम्बद्ध अभिव्यक्तियो का अध्ययन करती हैं। केवल हमारे युग मे यह कोशिश की गई है कि जीवनी के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के समस्त सार्थक जीवन का समावेश कर लिया जाय।

वर्गीकरण का दूसरा सिद्धान्त विभिन्न मानवीय विद्याओ की व्यापकता के विभिन्न दर्जों से प्राप्त होता है। जीवनी तथा इतिहास दोनो विशेषो (Particulars) का अध्ययन करते हैं, उन्हे विशेषो का अध्ययन करना भी चाहिए। मनोविज्ञान को हम जीवनी का सामान्य रूप कह सकते है। जीवनी के अध्ययन का विषय किसी एक व्यक्ति के जीवन मे व्यापृत होनेवाली प्रेरणाओं का विकास तथा उनकी अभिव्यक्तियाँ हैं। इसके विपरीत मनोविज्ञान का लक्ष्य उन सामान्य नियमो का अन्वेषण है जिनके अनुरूप समस्त व्यक्तियो की जीवन-प्रेरणाएँ विकसित

होती है। विभिन्न सामाजिक विज्ञानो से मनोविज्ञान की भिन्नता इसमे है कि उसकी वर्णनात्मक तथा व्याख्यात्मक धारणाएँ व्यक्ति-केन्द्रित होती हैं; वे परिवेशगत स्थितियों के प्रति सकेत कर सकती है, किन्तु गौण रूप मे। घटनाओं के कारणो की खोज करते हुए मनोवैज्ञानिक चाहे कितनी दूर क्यों न चला जाय, किन्तु अन्त में उसे व्यक्ति के समीप लौटना पडता है। इस दृष्टि से तथा कथित समूह-विज्ञान (Crowd Psychology) समूहगत अथवा भीड़ में स्थित व्यक्ति का अध्ययन करता है, और सामाजिक मनोविज्ञान समाजगत अथवा समाज में स्थित व्यक्ति का।

इसी प्रकार हम सामाजिक विज्ञानो को इतिहास का समान्यीकृत रूप कह सकते हैं। उदाहरण के लिये अर्थशास्त्र उन तथ्यो का सामान्यीकृत अध्ययन है जिनसे आर्थिक इतिहास का निर्माण होता है। एक सामान्यीकृत विद्या के रूप में अर्थशास्त्र उन कानूनों का पता लगाना चाहता है जो मनुष्यो अथवा समाजो के आर्थिक व्यवहार का नियमन करते हैं। सामान्य रूप मे यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विज्ञानों द्वारा अधीत होने वाले तथ्य कुछ दूर तक ही समाज के सदस्यो की सचेत क्रियाओ का परिणाम होते हैं। इसका मतलब यह है कि वे तथ्य या घटनाएँ दूसरी शक्तियों द्वारा भी निर्धारित होती हैं, यद्यपि उनकी महत्ता का अनुभव केवल सचेत व्यक्ति ही करते हैं। इस प्रकार के तथ्यों के उदाहरण अनेक हैं: योरपीय पुनर्जागृति, योरप का सुधार-आन्दोलन ( Reformation ), पूंजीवाद का उदय, फास की राज्य-क्रान्ति, मँहगाई की वृद्धि, आत्महत्या, अपराध-वृद्धि, बेकारी, इत्यादि। सामाजिक विज्ञान इन चीजो के उदय के कारणो का विश्लेषण करके ही सन्तुष्ट नही हो जाते, जैसा कि इतिहास करता है, वे ऐसे सामान्य नियमों की खोज करते हैं जो उन तथ्यो की व्याख्या कर सकें।

हमने कहा कि मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञान क्रमश जीवनी तथा इतिहास के सामान्यीकृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। कुछ विद्याएँ अथवा अध्ययन ऐसे है जिन्हें जीवनी और इतिहास तथा उपरोक्त विज्ञानो के बीच रखा जा सकता है, जैसे किसी एक राष्ट्र अथवा समाज की प्रवृत्तियो का अध्ययन करने का प्रयत्न। उदाहरण के लिये जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने हिन्दू-धर्म, कन्फ्यूशियस के सम्प्रदाय तथा प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के अध्ययन प्रस्तुत किये है, इसी प्रकार निकोलाय डेनिलेव्स्की ने रूस और योरप के सम्बन्ध का अध्ययन किया है।

या मानदडों का निर्माण करती हैं। ये मानदड आवेगात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक, नैतिक-सौन्दर्यात्मक और अतिनैतिक, बौद्धिक, तथा तर्कमूलक, अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इन आदर्शों तथा मानों की कतिपय विशेषताओं को हम कला, दर्शन, नैतिकता तथा अध्यात्म से सम्बद्ध अध्यायों में लक्षित करेंगे। यहाँ हम मानवीय विद्याओं की कतिपय सामान्य तथा महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख तथा परीक्षा करेंगे।

## मानवीय विद्याओं की सामान्य विशेषताएँ

**मानवीय विद्याएँ अमूर्त (Abstract) अथवा एकपक्षीय होती हैं।** मानवीय विद्याओं की यह एक सामान्य विशेषता है। इसका मतलब यह नहीं कि भौतिक विज्ञान अमूर्त अथवा एकपक्षीय नहीं होते, हमारा अभिप्राय यह है कि मानवीय विद्याओं की प्रत्याहरण-क्रिया विज्ञानों की उस क्रिया से भिन्न कोटि की होती है। भौतिक विज्ञानों में वस्तुओं के मात्रा-मूलक गुणों को पृथक् करके उनका अध्ययन किया जाता है, और उनके ऐसे दूसरे गुणों की, जिनका मात्रागत परिवर्तनों से सम्बन्ध नहीं होता, उपेक्षा कर दी जाती है। भौतिक विज्ञानों की दृष्टि में वस्तुओं के गुणात्मक परिवर्तन प्रातिभासिक ( Epiphenomenal ) होते हैं, जिनकी उपेक्षा की जा सकती है। इसके विपरीत मानवीय विद्याओं में मानव-व्यवहार के उन पहलुओं की उपेक्षा करनी पड जाती है जिन्हें वे विद्याएँ प्रातिभासिक नहीं मानतीं, और जिनकी अधीत पहलुओं से विच्छिन्नता नहीं होती।

मानवीय विद्याएँ मानव-व्यवहार को भौतिक गतियों का समूह मानकर नहीं चलतीं, उनकी अभिरुचि का विषय वे गतियाँ न होकर उनके निहित अर्थ या मूल्य होते हैं, अर्थात् वे अर्थ जिनकी कर्ताओं के प्रयोजनों की अपेक्षा में प्रासंगिकता होती है। वे विद्याएँ दूसरी कोटि के तथ्यों का (जैसे नैपोलियन के साथ होनेवाले युद्धों में रूस की शीत ऋतु का) अध्ययन भी कर सकती हैं, किन्तु सर्वत्र उनका दृष्टिकोण वही रहता है। दूसरे, वे विद्याएँ उन सभी अर्थों का अध्ययन नहीं करतीं, जो किसी व्यवहार-प्रणाली में निहित होते हैं, प्रत्येक विद्या केवल एक कोटि या वर्ग के अर्थों का ही अध्ययन करती हैं। इस प्रकार मानवीय अधीतियों तथा विज्ञानों में दो प्रकार का प्रत्याहरण रहता है, जो उन्हें भौतिक तथा जीव-सम्बन्धी विज्ञानों से पृथक् करता है। प्रथम कोटि के प्रत्याहरण ( Abstraction ) का मानवीय अधीतियों पर क्या प्रभाव पडता है, इसकी परीक्षा हम आगे करेंगे।

विभिन्न कोटियो के अर्थो पर ध्यान रखने से मानवीय विद्याओ मे किस प्रकार अमूर्तता आती है इसके निदर्शन में हम इतिहास तथा कथा-साहित्य के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

यह देखना कठिन नही है कि ऐतिहासिक अध्ययन विस्तृत प्रत्याहरण पर निर्भर करता है। इतिहास सब मनुष्यो के व्यापारो का अध्ययन नही करता, वह कुछ प्रधान व्यक्तियो के व्यापारो का ही अध्ययन करता है। किन्तु इतिहास महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो के भी समस्त व्यापारो का अध्ययन नही करता। वह उनकी उन क्रियाओ का ही अध्ययन करता है जिन्होने महत्वपूर्ण घटनाओ की दिशा को प्रभावित किया, अथवा जो उनके दिशा-निर्धारण में प्रासगिक थी। वस्तुत. इतिहास के अध्ययन का विषय यह देखना है कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व रखनेवाले कतिपय प्रयोजन किस प्रकार फलीभूत अथवा असफल हुए। इतिहास के अमूर्त रूप को दर्शित करने का एक दूसरा ढग यह है कि हम उसके विषयभूत तथ्यो की प्रकृति का विचार करें। ये तथ्य अधिकाश तो प्राचीन लेखो, अभिलेखो अथवा पुस्तको से मिलते हैं और कुछ प्राचीन हथियारो तथा अन्य उपकरणो, भवनो, चित्रो आदि के रूप में उपलब्ध होते हैं। ऐतिहासिक तथ्यो के सग्रह मे दो प्रकार का चयन निहित रहता है प्रथमत हम उन लेखो आदि पर निर्भर करते हैं जिनमे अतीत घटनाओ का चयन-मूलक उल्लेख है—यह चयन मूल लेखको द्वारा किया गया होता है, दूसरे, इतिहासकार विद्यमान लेखो आदि से प्रामाणिकता, विश्वसनीयता तथा प्रासंगिकता के आधार पर चयन करता है।

ऊपर के निष्कर्ष को एक दूसरी विचारणा से भी पुष्ट किया जा सकता है। कहा गया है कि इतिहास की कोई विषय-वस्तु नही होती। विषय-वस्तु पाने के लिये 'इतिहास' शब्द को अपने साथ कोई न कोई विशेषण लगाना पडता है।[१] उदाहरण के लिए हम राजनैतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास अथवा धार्मिक इतिहास की भी चर्चा करते हैं। मतलब यह कि किसी जनसमूह, देश अथवा युग का जीवन बडा जटिल होता है, एक समय में इतिहास उस जीवन के किसी एक पहलू का ही अध्ययन कर पाता है। जीवन के दूसरे पहलुओ के समझने के लिये किसी जाति, देश या युग के कला-साहित्य, दर्शन, दडनीति आदि की छानबीन अपेक्षित हो सकती है।

इसलिये, यह कहना बहुत ज्यादा ठीक नही है कि जहाँ समाज-शास्त्र सामाजिक अस्तित्व के नियामक कानूनो का अध्ययन करता है, वहाँ इतिहासकार उस अस्तित्व

का मूर्त्त ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होता है।[१०] हमारा अनुमान है कि कोई भी इतिहास किसी जाति अथवा युग के सम्पूर्ण अस्तित्व या जीवन को पूर्णतया वर्णित तथा मूर्त्त नही कर सकता। इतिहासकार केवल यह कर सकता है कि वह एक जाति और उसके नेताओ के जीवन मे घटित होने वाले कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनो अथवा परिवर्तन-शृखलाओ का सम्बद्ध एव प्रभावशाली वर्णन उपस्थित कर दे। इतिहासकार विचाराधीन जीवन में से किन घटनाओं का चयन करेगा और उनके किन पहलुओ पर गौरव देगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि उस जीवन के कौन-से प्रयोजन इस इतिहास-लेखक को दृष्टि में महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष यह कि इतिहास आवश्यक रूप में अमूर्त होता है। समझा जाता है कि कथा-साहित्य मे विभिन्न पात्रो के जीवनो के पूर्ण चित्र दिये जाते है, पर ऐसी बात नही है। यह लक्षित करने की बात है कि जीवन के जिन पक्षो मे उपन्यासकार का मन रमता है, उन पर प्राय इतिहास-लेखक की दृष्टि नही जाती। इससे सिद्ध होता है कि जीवन की समृद्ध विविधता पूरी तरह न इतिहास के पृष्ठो में ही समा सकती है, न कथा-साहित्य मे। उपन्यासकार श्री ई० एम० फार्स्टर के अनुसार जीवन के मुख्य तथ्य पाँच है जन्म, भोजन, नीद, प्रेम और मृत्यु।[११] एक इतिहास-कार इन तथ्यो के बारे में कितना कम कहता है! शायद इनमे से वह मृत्यु का ही अधिक उल्लेख करता है। स्वय उपन्यासकार भी उक्त तथ्यो के बारे मे बहुत ज्यादा बात नही करता, जीवन के सम्बन्ध मे लिखते हुए वह उनका उल्लेख वस्तुगत यथार्थ के अनुरूप नही करता। आप कल्पना कर सकते है कि यदि एक उपन्यासकार उस प्रत्येक भोजन के अवसर का जो उसके हरेक पात्र के जीवन मे आता है, विस्तृत वर्णन करने लगे, तो वह अपने पाठको को कितना उबा देगा। वस्तुत., जैसा कि श्री फार्स्टर ने लिखा है,उपन्यास मे भोजनका उद्देश्य पात्रोके शरीर का पोषण नही होता; उसका उपयोग यह होता है कि अनेक लोगों को एक जगह इकट्ठा कर दिया जाय। उपन्यास में भोजन का सामाजिक प्रयोजन होता है।[१२] कथा-साहित्य मे प्रत्याहरणसे काम लिया जाता है, इसका दूसरा निदर्शन यह है कि उपन्यास के अन्दर विभिन्न पात्र एक-दूसरे के प्रति जितने सवेदनशील होते है, वैसा असली जीवन मे प्राय नही होता।

जो उपन्यास के बारे में सही है वही न्यूनाधिक जीवनी के बारे में भी सत्य है। यदि जीवनीकार वर्णित जीवन की घटनाओ मे से चयन न करे तो वह तथ्यो के बड़े-से-बडे प्रेमी के धैर्य को थका देगा।

ऊपर की विचारणाओ से दूसरा यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवीय विद्याएँ आवश्यक रूप में मूल्यानुप्राणित (Evaluative) होती है। जब जीवनीकार अथवा इतिहास लेखक उल्लेख के लिये कतिपय विवरणो का चयन करता है, और कुछ की उपेक्षा कर देता है, तो वह प्रच्छन्न रूप मे घटनाओ की महत्ता के किसी पैमाने का प्रयोग कर डालता है। जर्मन वैज्ञानिक श्री श्रोडिन्जर ने लिखा है कि जो तथ्य विज्ञान के सामान्य कथनो का आधार होते है वे चयनात्मक होते है। हम असख्य प्रयोगो को कर सकते है, किन्तु करते नही। कुछ प्रयोग बडे महँगे पडते है, और कुछ में हमारी अभिरुचि नही होती।[१४] किन्तु मानवीय अध्ययन-क्षेत्रो मे हम सिर्फ इसलिये कुछ अनुभवो की उपेक्षा कर देते है कि वे अरोचक है। इतिहासकार, अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री प्राय. उन तथ्यो की ओर ध्यान देते है जो सनसनीपूर्ण अथवा दूसरे किसी कारण से महत्वपूर्ण जान पडते है। उदाहरण के लिये किसी इतिहासकार ने कभी इसका वर्णन नही किया कि अपने आदेश या हुक्मनामे लिखते समय अशोक अथवा अकबर किस प्रकार कलम पकडते और अपनी उँगलियो को सचालित करते थे, अथवा घोडे पर चढ़ते हुए वे कैसे अपने पैर को उठाते थे।

हमने अब तक यह कहा कि मानवीय विद्याएँ आवश्यक रूप में मूल्यानुप्राणित होती है, अब हम कहना चाहते है कि उन्हे वैसा होना चाहिये, अर्थात् अपनी सामग्री के चयन मे उन्हे मूल्य-दृष्टि से काम लेना चाहिये। इन विद्याओ का यह काम नही है कि किसी घटना के सम्पूर्ण कारणो अथवा परिणामो का अध्ययन करें, उन्हे विशिष्ट कारणो और विशिष्ट परिणामो का ही अध्ययन करना चाहिए। विश्व के समस्त विवेकशील विचारक तथा शिक्षक यही करते आये है। यदि आधुनिक मनोविज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानो को साम्प्रतिक वन्ध्यापन की स्थिति से मुक्त होना है, तो उन्हें भी वैसा ही करना पडेगा।

मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के क्षेत्र मे प्रस्तुत कठिनाइयो का वर्णन करते हुए एक आधुनिक अमरीकी मानसशास्त्री ने लिखा है-

अमरीकी मनोविज्ञान ने सिद्धान्तो की बहुत कम सृष्टि की है, इस पर आश्चर्य नही करना चाहिए ..यदि वह अर्थात् अमरीकी मनोवैज्ञानिक एक वैज्ञानिक के रूप में अपनी ख्याति चाहता है, तो उसे विवश होकर अपने को अपेक्षाकृत ऐसे सरल तथ्यों के विश्लेषण तक सीमित रखना पडता है जिनमें विवर्तमान तत्व (Variables)

सख्या में कम, विविक्त, तथा कठोर प्रयोगात्मक नियंत्रण के योग्य हैं; किन्तु मानव-व्यवहार के ज्यादा महत्वपूर्ण पहलू ऐसे व्यवहार की श्रेणी मे आयेंगे, इसकी सम्भावना कम है, क्योंकि वे प्राय: अनेक कारणों के परिणाम होते हैं और सहज पकड मे आनेवाले नही होते। परिणाम यह है...कि अमरीका मे मानव व्यवहार का अध्ययन दो विरोधी रूप धारण करता है, एक ओर अनुशासनहीन कोरा चिन्तन रहता है, और दूसरी ओर कठिन अनुशासित वन्ध्यापन ।'[१५]

जहाँ कोई भी समझदार व्यक्ति अनुशासनहीन कोरे चिन्तन के पक्ष मे नही होगा, वहाँ यह स्वीकार करना चाहिए कि मानव-व्यवहार के उन ऊँचे रूपो की उपेक्षा जिन्हे समझना ज्ञान और मानवीय कल्याण दोनो दृष्टियो से महत्वपूर्ण है, किसी भी तरह उचित नही कही जा सकती। यदि मनोविज्ञान या दूसरे मानवीय शास्त्र लगातार मानव-व्यवहार के उच्चतर रूपो की अवहेलना करे, तो अवश्य ही वे वन्ध्या अथवा प्रभावशून्य हो जायेंगे, और जीवन-विवेक के प्रसार में कुछ भी योग नही दे सकेंगे। निष्कर्ष यह कि मानवीय विद्याओ को अनिवार्य रूप में मूल्य-दृष्टि से अनुप्राणित होकर महत्वपूर्ण अनुभव-क्षेत्रो का अध्ययन करना चाहिये।

मानवीय विद्याओ की तीसरी विशेषता यह है कि वे ऐतिहासिक होती हैं। इसका मतलब यह है कि वे जिस विषय-वस्तु का अध्ययन करती हैं वह मानवीय इतिहास की धारा में विद्यमान होती है। उसमे उन कर्मों तथा घटनाओ का समावेश होता है जो किन्ही व्यक्तियो अथवा समूहो के जीवन-इतिहास का अग रह चुकी हैं। यूकेन ने कहा है: 'समस्त मानव-कर्म इतिहास की चीज है। खान खोदनेवाले अथवा दूकानदार का कार्य इस वर्ष के इतिहास का भाग है, और इसलिये वह इतिहास की चीज है।'[१६]

हमें कुछ देर रुक कर ऊपर के वक्तव्य के अभिप्रायों को समझने की कोशिश करनी चाहिए। हम फिर यूकेन को उद्धृत करेंगे। वे कहते हैं: 'प्रकृति-जगत में केवल एक क्रम का अस्तित्व है, और रहा है, किन्तु आर्थिक अवस्थाओ की एक अपरिमित सख्या और अपरिमित बदलनेवाली विविधता है।'[१७] जो बात आर्थिक व्यवस्थाओ के सम्बन्ध मे सही है, वही राजनैतिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक व्यवस्थाओ पर लागू होती है। चूंकि मानवीय विद्यायें ऐतिहासिक होती हैं, उन्हे पृथक्-पृथक् विभिन्न कोटियो की व्यवस्थाओ अथवा मानवीय व्यवहार की पद्धतियो का अध्ययन

करना पड़ता है। यह बात इतिहास के बारे में बडी स्पष्ट है। काल-क्रम से हम इतिहास को प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक युगों में विभाजित करते हैं, और देशक्रम से विभिन्न राष्ट्रों के इतिहासों मे। किसी भी राष्ट्र के जीवन के किसी पहलू का इतिहास विभिन्न युगो मे एकरस नही रहता, और किन्ही भी दो राष्ट्रो का विकास-क्रम समान नही होता।

कहा गया है कि इतिहास में घटनाओ को सम्बद्ध रूप मे उपस्थित कर देना ही उनकी व्याख्या करना है। विशेष रूप में ऐतिहासिक व्याख्या सदैव किसी विशेष की व्याख्या होती है। इसलिये इतिहास नामक विज्ञान का उद्देश्य यह नही है कि वह उन नियमो की खोज करे जिनके अनुसार इतिहास की प्रगति होती है। इस प्रकार के नियमो का अध्ययन करनेवाली शाखा को, सम्भवत गलती से, इतिहास-दर्शन का नाम दिया गया है।

जैसा कि हमने पहले कहा मानवीय विद्याएँ अपनी सामग्री या तो जीवनी से या इतिहास से प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त करती हैं। सामाजिक विज्ञान इस सामग्री का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं; इसके विपरीत मानवीय अधीतियाँ (Humanities) अर्थात् कला-साहित्य, नीति-शास्त्र आदि उस सामग्री का उपयोग नवीन सृष्टि अथवा आदर्श-निर्धारण के लिये करते हैं। इस सम्बन्ध मे दो बातें उल्लेखनीय हैं। जहाँ हम इतिहासकार का नाम प्राय उस व्यक्ति को देते हैं जिसने एक या अधिक देशो के एक या अधिक युगो के सामान्य इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन किया है, वहाँ अर्थशास्त्री तथा वैसे दूसरे शब्दो के साथ उस प्रकार का कोई अनुपग नही लगता। हम एक अर्थशास्त्री से यह आशा नही करते कि उसने किसी युग अथवा देश के आर्थिक इतिहास का अध्ययन किया होगा। दूसरे, एक अर्थशास्त्री, इतिहासकार से भिन्न और इतिहास के दार्शनिक के समान ढग से, ऐसे कानूनो की खोज करता है जो इस या उस समाज पर नही बल्कि समस्त आर्थिक समाजो पर लागू होगे, उन समाजो पर जो जीवित रह चुके हैं, और उन पर जो भविष्य मे जीवित होगे।

प्रश्न है, उस व्याख्या की प्रकृति में जो इतिहासकार द्वारा विशेष का अध्ययन करते हुए दी जाती है और उसमें जो किसी समाज-वैज्ञानिक (अर्थशास्त्री, नर-वैज्ञानिक, अथवा समाजशास्त्री) द्वारा दी जाती है, क्या अन्तर होता है ? दूसरा प्रश्न है, मानवीय विद्याओ मे प्रयुक्त की जानेवाली विभिन्न पद्धतियों और उनके

द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की परीक्षा कैसे की जाय ? आगे हम इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करेंगे।

## मानवीय विद्याओं में व्याख्या : सामान्य विवेचन

जिसे हम व्याख्या कहते हैं वह एक मानवीय व्यापार है। प्रत्येक मानवीय व्यापार का कोई न कोई लक्ष्य होता है। व्याख्या का लक्ष्य किसी विषय-वस्तु के सम्बन्ध मे या तो जिज्ञासा का शमन है, अथवा उस विषय-वस्तु को समझ लेना। जो जिज्ञासा मनुष्य के द्वारा व्याख्या-सूत्र की खोज कराती है वह अवास्तविक तथा घटिया भी हो सकती है, और वास्तविक तथा गम्भीर भी। इसी प्रकार बुद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाली अवगति या समझ भी विभिन्न श्रेणियो की होती है। जिस व्यक्ति की जिज्ञासा शिक्षित और विकसित है वही उचित ढग से प्रश्न कर सकता है, वही यह भी जान सकता है कि कहाँ पहुँच कर उसके प्रश्न को रुकना अथवा नही रुकना चाहिए।

जिज्ञासा के दो सामान्य रूप हैं, एक का सम्बन्ध वस्तुओ के अस्तित्व से और दूसरे का उनके मूल्य या महत्व से होता है। किसी भी घटना अथवा स्थिति के सम्बन्ध में हम दो मौलिक प्रश्न कर सकते हैं : एक यह कि वह कैसे अथवा क्यों अस्तित्व मे में आयी, और दूसरे यह कि उसका हमारे जीवन-मूल्यो की अपेक्षा से क्या महत्व अथवा सार्थकता है ? यहाँ हम जोडना चाहेंगे कि अन्ततः हमारी जिज्ञासा के मूल में यही खोज रहती है कि कौन-सी वस्तुएँ कितनी अर्थपूर्ण अथवा महत्वशाली हैं। विभिन्न भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान उन चीजो का अध्ययन करते हैं जिनका हमारे मूल्यों से दूर का सम्बन्ध है, जब कि मानवीय अधीतियाँ उन वस्तुओ तथा अनुभवों से सम्बन्धित हैं जो हमारे मूल्यों से सीधा सम्बन्ध रखती है। किन्तु इतिहास और समाज-विज्ञान जैसी विद्याओ की विषय-वस्तु इस अर्थ मे मूल्यवान होती है कि वह हमारे जीवन को समृद्ध बनाती है। उनका अध्ययन करते हुए हम दूसरे नर-नारियो की जीवन-प्रक्रिया मे साझेदार बन जाते हैं। जिसे हम वैज्ञानिक चिन्तन कहते हैं, अर्थात् भौतिक विज्ञानो का चिन्तन, उसका भी एक सौन्दर्य-मूलक पक्ष होता है, विशेषत उस चिन्तन के उच्चतर-रूपो में। इसलिये अस्तित्व-सम्बन्धी जिज्ञासा तथा मूल्य-सम्बन्धी जिज्ञासा को एक-दूसरी से नितान्त पृथक् नही किया जा सकता, दोनों मे मूल्यात्मकता के दर्जों तथा भिन्न कोटियों के गौरव का अन्तर ही रहता है।

दो प्रकार की जिज्ञासाओं से सम्बद्ध व्याख्याएँ भी दो प्रकार की होती है, अर्थात् अस्तित्व-मूलक और आदर्श-सम्बन्धी अथवा वैज्ञानिक और दार्शनिक। अस्तित्व-मूलक अथवा वैज्ञानिक व्याख्या मूल रूप में कार्य-कारण सम्बन्ध का उद्‌घाटन करती है। इस व्याख्या में हम एक घटना को उसकी उन पूर्ववर्ती घटनाओं से सम्बन्धित करते हैं जो उसके घटित होने का कारण हुई। इसके विपरीत आदर्श मूलक व्याख्या किसी कर्म, स्थिति अथवा अनुभव का मूल्यांकन करती है। ऐसा या तो तुलना द्वारा किया जाता है, अथवा किसी आदर्श की अपेक्षा से। जिसे प्रयोजन-मूलक व्याख्या (Teleological Explanation) कहते हैं वह एक प्रकार की कार्य-कारण-मूलक व्याख्या ही होती है, क्योंकि तथा-कथित चरम हेतु (Final Cause) एक कल्पित लक्ष्य अथवा प्रयोजन के रूप में कर्ता के मन में विद्यमान रहते हुए उसके कर्म का निर्धारण करता है। इसी प्रकार तर्कमूलक व्याख्या अथवा तर्कशास्त्रीय व्याख्या (Logical Explanation) का अन्तर्भाव आदर्श-मूलक व्याख्या में किया जा सकता है। उस व्याख्या में हम किसी निष्कर्ष का मडन उसके तार्किक आधार (Ground) की अपेक्षा में करते हैं।

अद्यतन समय में कुछ विचारकों ने कार्य-कारण की धारणा की लम्बी-चौडी समीक्षा की है और यह राय दी है कि एक व्याख्या-सिद्धान्त के रूप में उसका परित्याग कर देना चाहिए। बतलाया गया है कि भौतिक विज्ञान मे कार्य-कारण सम्बन्ध की धारणा व्यर्थ हो चली है, और उसके स्थान पर सम्बद्ध परिवर्तन अथवा परिवर्तन-मूलक सहचार (Functional Correlation) की धारणा प्रतिष्ठित हो गई है। किन्तु इसमे सन्देह किया जा सकता है कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में सम्बद्ध परिवर्तन का प्रत्यय कार्य कारण-भाव की धारणा का स्थानापन्न बन सकता है। जैसा कि मैकाइवर ने दर्शित किया है, मानव-जीवन में परिवर्तन एक ही दिशा में होता है। परिवर्तन की दिशा बदलने की सम्भावना का अभाव कार्य-कारण-सम्बन्ध का आवश्यक तत्व है, जिसे गणित का कोई समीकरण (जो सम्बद्ध परिवर्तन को प्रकट करता है) अभिव्यक्ति नही दे सकता।[१८] मानवीय व्यापारों की व्याख्या कार्य-कारण की शरण लिये बिना नही हो सकती इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य स्वय अपने को एक कारण अथवा कर्ता के रूप में देखता है और उसे अपने साथियों की कारणता तथा कर्तृत्व में विशेष अभिरुचि रहती है। अपने परिवेश की अपेक्षा से उसके कर्तृत्व की क्या सम्भावनाएँ है, इसमे भी उसे गहरी अभिरुचि होती है। जब

एक फौजी दस्ता अपने सेनानायक की आज्ञा से दुश्मन पर गोले बरसाना शुरू कर देता है, तो, स्थिति को समझने मे, इस जानकारी से कोई फायदा नही होता कि वह गोलाबारी सेना-नायक द्वारा उच्चरित कतिपय ध्वनियो के उत्पादन अथवा ग्रहण से सहचरित थी। इसी प्रकार जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस की पुत्री से विवाह किया, तो उससे सहचरित हजारो घटनाएँ घटित हो रही होंगी, जैसे शहनाई तथा दूसरे बाजे बजना, तथा सैकडों नर-नारियों का इधर-उधर चलना-फिरना; किन्तु वे सहचरित घटनाएँ उस विवाह की सार्थकता समझने में तनिक भी सहायक नहीं हो सकती थी।

इन विचारणाओं से हम उस व्याख्या के बारे मे जो किसी मानवीय विद्या मे ग्राह्य हो सकती है, एक दूसरे तत्व का परिज्ञान प्राप्त करते हैं। उस व्याख्या का लक्ष्य व्याख्येय घटना के किसी खास पहलू पर प्रकाश डालना होता है, न कि घटना की समग्रता पर। मानवीय विद्याएँ घटनाओ के जिन पहलुओ मे अभिरुचि लेती है वे खास अर्थों में सार्थक या अर्थपूर्ण होते हैं। चन्द्रगुप्त के विवाह की घटना को समझने के लिये हम केवल उन्ही कारणात्मक तत्वों का विचार करते हैं जो उस विवाह के विशेष प्रयोजन को बुद्धिगम्य बना सके। सम्भवत उस विवाह का कोई राजनैतिक कारण तथा महत्व था। यह भी सम्भव है कि विवाह के कारण विशुद्ध रूप मे मनोवैज्ञानिक थे, यद्यपि राजा लोग केवल मनोवैज्ञानिक कारणो से विवाह कम ही करते हैं।

मैकाइवर ने अर्थपूर्ण ढग से कहा है: 'किसी भी घटना के कारण का उचित अन्वेषण उस विशिष्ट भेद पर ध्यान जमाता है जो दो स्थितियो मे पाया जाता है।'[११] मतलब यह है कि परीक्षक को यह देखना चाहिए कि पूर्व स्थिति की अपेक्षा से बाद की स्थिति में कौन-सा खास अन्तर पैदा हो गया है जिसकी व्याख्या की अपेक्षा है। यहा हम जोडना चाहेगे कि मानवीय स्थितियो मे उत्पन्न होनेवाला भेद या अन्तर सदैव किसी अर्थ या मूल्य का अन्तर होता है। इस सन्दर्भ में अर्थ से मतलब किसी स्थिति या घटना के उस पहलू से है जो सम्बद्ध मनुष्यो के लिये साध्य रूप मे अथवा साधन रूप मे महत्वपूर्ण है। इसका यह मतलब नहीं कि एक ही स्थिति, घटना या कर्म मे विभिन्न प्रेक्षकों के लिये एक साथ अनेक अर्थ निहित नही हो सकते। विभिन्न प्रेक्षक एक ही चीज को विभिन्न दृष्टियो से देखते है, और उसे विभिन्न रूपो मे अर्थवान पाते है। उदाहरण के लिये रूस के युद्ध मे नैपोलियन की असफलता का रूस के लिये

एक अर्थ था और फ्रास के लिये दूसरा। फ्रास की दृष्टि मे नेपोलियन की असफलता के कारण एक प्रकार के थे, और रूस की दृष्टि में दूसरे प्रकार के। इसी प्रकार दोनो देशो की दृष्टियो से नेपोलियन के हमले के परिणाम भी भिन्न-भिन्न थे।

मानवीय विद्याओ मे समस्त व्याख्याएँ अर्थपूर्ण तत्वो की भाषा में प्रकट की जाती हैं। इन तत्वो के अन्तर्गत जहाँ एक ओर कर्ताओ की प्रेरणाओ, योजनाओ तथा इरादो का समावेश होता है, वहाँ दूसरी ओर परिवेशगत उन भौतिक-सामाजिक शक्तियो का सन्निवेश रहता है जो उन योजनाओ आदि की सफलता मे सहायक अथवा विघ्न रूप होती हैं। इस प्रकार ये व्याख्याएँ एक खास अर्थ में बुद्धिगम्य बन जाती हैं; अर्थात् कोई भी समझदार मनुष्य जो विभिन्न स्थितियो का महत्त्व साध्य-साधन रूप मे हृदयगम कर सकता है, उन्हे समझ सकता है।

व्याख्या-सम्बन्धी उक्त दृष्टि को ऐतिहासिक व्याख्या के उदाहरण से समझा जा सकता है। ऐतिहासिक व्याख्या सबसे सरल कोटि की व्याख्या है जो मानवीय विद्याओ मे मिल सकती है। नीचे का उद्धरण श्री एच्० ए० एल्० फिशर द्वारा लिखित 'योरप का इतिहास' पुस्तक के नेपोलियन-सम्बन्धी अध्याय से लिया जा रहा है

इँगलैंड को नीचा दिखाने की कोशिश मे नेपोलियन ने योरपीय महाद्वीप का घेरा डालने के नये विचार की उद्भावना की। यह मानकर चलते हुए कि इँगलैंड व्यवसायियों का देश है, उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसा देश इससे अधिक कष्टप्रद चोट नही पा सकता था कि योरपीय महाद्वीप का प्रत्येक बाजार उसके माल के लिये बन्द कर दिया जाय। तदनुसार स्पेन को आज्ञा दी गई कि वह पुर्तगाल पर आक्रमण करे, और फ्रेंच सेना का एक खड नेपिल्स के राजा पर चढ दौडा, ताकि वे व्यापार की ऐसी नीति अपनाये जो फ्रास के अनुकूल हो। यह शुरू से ही स्पष्ट था कि केवल भूमध्यसागर के तटों का घेरा स्वय मे विशेप महत्वपूर्ण नही था। यह नीति अधूरे रूप में सफल नही हो सकती थी।···सार्वभौम घेरे की मृगतृष्णा से आकृष्ट हुए नेपोलियन को विवश होकर एक सार्वभौम साम्राज्य के लक्ष्य का अनुसरण करना पडा।[१]

यह अवतरण स्पष्टतया उन तत्वो की ओर सकेत करता है जो मानवीय व्यापारो निर्धारण करते हैं। नेपोलियन के योरप का घेरा डालने की नीति जहाँ एक ओर

उसकी इंगलैंड को हराने की इच्छा से प्रेरित थी, वहाँ वह नेपोलियन की उस प्रतिभा से भी निर्धारित हुई जिसने घेरा डालने के विचार की उद्भावना की। बाद की घटनाएँ, जिनके कारण उसे सार्वभौम साम्राज्य की खोज करनी पडी, जहाँ एक ओर नेपोलियन के अध्यवसाय और लक्ष्य के प्रति स्थिर आसक्ति से निर्धारित हुईं वहाँ दूसरी ओर उस चीज से जिसे हम परिस्थिति का तर्क (Logic of the Situation) अथवा परिवेश की शक्ति कह सकते हैं।

घेरा शुरू करने के बाद की नेपोलियन द्वारा अनुष्ठित क्रियाये दो-तीन सरल कोटियो के अर्थो या प्रयोजनो की भाषा मे समझी जा सकती है। दूसरी स्थितियो मे अधिक जटिल अर्थ निहित हो सकते है, जिनकी व्याख्या के लिये ज्यादा जटिल तरीको से आगे बढना पडेगा। उदाहरण के लिये जिसे हम योरपीय पुनर्जागृति कहते है उसकी व्याख्या उन बहुसख्यक कारणो के द्वारा करनी होगी जिन्होने योरपीय जनता के समस्त मनोभावों तथा मूल्यो मे एकाएक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया।

ऊपर के विश्लेषण की मदद से हम उन विभिन्न अन्वेषको के अनेक झगड़ों का निपटारा कर सकते है जिन्होने, सामाजिक विद्याओं के क्षेत्र मे, विभिन्न अन्वेषण-वृत्तियो तथा विभिन्न कारणो की महत्ता पर जोर दिया है। उदाहरण के लिये जहाँ सामाजिक विज्ञानो को महत्व देनेवाले पडितो ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मानव-व्यवहार के निर्धारण में सामाजिक कारण ही प्रधान होते है, वहाँ मनोविज्ञान के हिमायतियो ने मनोवैज्ञानिक कारणो पर विशेष बल दिया है। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री दुरखाइम ने अपनी प्रसिद्ध "आत्महत्या" शीर्षक पुस्तक में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि विभिन्न देशो मे की जानेवाली आत्महत्याओं की सख्या मनोवैज्ञानिक कारणों के आलोक मे नहीं समझी जा सकती; वह सख्या विभिन्न देशो तथा समूहो की सामाजिक स्थितियो की अपेक्षा में ही समझी जा सकती है। दुरखाइम के निष्कर्षो के प्रति सन्देह प्रकट किया गया है। विशेषत फ्रायड के अनुयायी उसके निष्कर्षो को स्वीकार नही करते। हमारा विचार है कि मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री क्रमश कुछ विशिष्ट कार्यो अथवा परिणामो की व्याख्या ज्यादा अच्छी तरह कर सकते है, और कुछ की कम अच्छी तरह। दुरखाइम के अन्वेषण का विषय मुख्यत यह समस्या थी कि क्यों विभिन्न समाजो तथा समूहो के लोग न्यूनाधिक सख्या मे आत्महत्या करते हैं। इस स्थिति की व्याख्या सामाजिक कारणों द्वारा ही हो सकती थी। इसके विपरीत मनोविज्ञान के सम्मुख दूसरा प्रश्न होगा -

एक ही सामाजिक परिस्थितियों में कुछ व्यक्ति आत्महत्या करते हैं और कुछ नही, इसका क्या कारण है? एक ही सामाजिक परिवेश मे कुछ थोडे लोग आत्महत्या करते हैं और अधिकाश लोग नही करते, इसका कारण वे मनोवैज्ञानिक तत्व ही हो सकते हैं जो कुछ व्यक्तियों को सामाजिक परिस्थिति के प्रति एक असामान्य रूप में प्रतिक्रिया करने को बाध्य करते हैं।

मानवीय व्यापारो के निर्धारण मे केवल मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक शक्तियों का हाथ नही होता, वहाँ भौगोलिक शक्तियाँ भी काम करती है, और वे शक्तियाँ भी (जैसे शरीर की रचना तथा व्यापार आदि) जिनका अध्ययन भौतिक-शास्त्र और रसायन-शास्त्र, शरीर-रचना-शास्त्र तथा इन्द्रिय-विज्ञान में होता है। किन्तु इन सब कारणों द्वारा उत्पन्न कतिपय कार्य इतने सामान्य होते हैं कि वे घटनाओ तथा क्रियाओ के उन विशिष्ट पहलुओं को प्रभावित नही करते जिनका विशिष्ट सामाजिक विज्ञानो मे अध्ययन होता है। उदाहरण के लिये नैपोलियन एक सफल सेनानायक न बन पाता यदि उसका शरीर शक्तिशाली न होता और उसके हृदय, जिगर, फेफडे आदि ठीक काम न करते होते। किन्तु यह देखते हुए कि ये विशेषताएँ उसके हजारो सिपाहियों मे पाई जा सकती थी, उन्हे सेनानायक नेपोलियन के व्यावर्तक गुण घोषित नही किया जा सकता। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। जलवायु, भोजन आदि का विभिन्न देशों के लोगो पर अवश्य ही प्रभाव पडता होगा ; वे लोगो के रूप, रग, लम्बाई, चौडाई, शारीरिक सहनशीलता आदि का निर्धारण करते होगे, किन्तु उनकी कारणता द्वारा ऐसी विशिष्ट चीजो की व्याख्या नही की जा सकती जैसे विभिन्न देशवासियो के विभिन्न चिन्तन-प्रकार, दार्शनिक विश्वास, सामाजिक-राजनैतिक सस्थाएँ, इत्यादि। कई प्रसिद्ध विचारकों ने जैसे मान्टेस्क्यू कार्ल रिटर, एफ्० रेतजेल आदि ने,[११] इस प्रकार की व्याख्याएँ देने की कोशिश की है, जो कि हास्यजनक बन गई हैं। मानवीय जगत में कार्य-कारण सम्बन्ध कैसे होता है और वहाँ आकडों से प्राप्त सहचार ( Statistical Correlation) का क्या अर्थ होता है, इसे वे ठीक से नही समझ सके।

## मात्रामूलक पद्धतियां तथा मानवीय विज्ञान

अब तक हमने यह दिखाने की कोशिश की कि मानवीय शास्त्रो में व्याख्या कार्य-कारण-मूलक होती है, और उसका सम्बन्ध घटनाओं तथा क्रियाओं में निहित विशिष्ट

पहलुओं अथवा अर्थों से रहता है, उन अर्थों से जिनके सम्बन्धो का अन्वेपण हो रहा है। किन्तु विज्ञानो के क्षेत्र में केवल विशेप घटनाओं की कारण-मूलक व्याख्या ही नही की जाती। इसके विपरीत विज्ञानों में इस वात की कोशिश होती है कि सामान्य नियमों पर पहुँचा जाय, जिनके द्वारा न केवल अतीत घटनाओं की व्याख्या हो सकेगी, बल्कि अनागत के सम्बन्ध मे भविष्यवाणियाँ भी की जा सकेंगी। अतएव, अब हमें निम्न प्रश्न पर विचार करना पडेगा : मानवीय विद्याओं मे किस प्रकार के सामान्य कथन (Generalisations) प्राप्त किये जा सकते है, और वहाँ कहाँ तक अनागत के सम्बन्ध मे भविष्यवाणियाँ की जा सकती है ?

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि सामाजिक विज्ञान अपने विभिन्न क्षेत्रो मे आगे आने वाली घटनाओं के सम्बन्ध मे ठीक भविष्यवाणियाँ नही कर पाते। इस दृष्टि से ये विज्ञान भौतिक विज्ञानो से वहुत पीछे है। सामाजिक विज्ञान हमे मानवीय परिवेश पर वैसा नियन्त्रण भी नही देते जैसा भौतिक विज्ञान जडात्मक परिवेश पर देते है। इस दृष्टि से भौतिक विज्ञानो तथा सामाजिक विज्ञानों की उपलब्धियो में वडा अन्तर है। इस अन्तर के कारण कुछ विचारको ने यह राय दी है कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे हमे उन्ही अन्वेपण-पद्धतियो का प्रयोग करना चाहिए जिनका प्रयोग भौतिक विज्ञानो में होता है। श्रीमती वारवेरा वूटन ने लिखा है : 'मनुष्य की अपने भौतिक परिवेश को नियन्त्रित करने की आश्चर्यजनक क्षमता में और उसकी अपने मामलो का प्रवन्ध करने की दयनीय अक्षमता में जो विपमता है, वह सर्वविदित है, और वडी कष्टप्रद है।'[११] इस विपमता के सकेत की स्पष्ट शिक्षा यह है कि मानवीय विद्याओं को भौतिक विज्ञानो की अन्वेषण-पद्धतियों का अवलम्व लेना चाहिये।

किन्तु भौतिक विज्ञानों की सफलता के कारण मानवीय विद्याओ को उनकी पद्धतियो का अनुसरण करना चाहिए, यह वात कुछ वैसी ही है जैसे, शेर की मजबूत शारीरिक गठन को देखते हुए, घोडे को यह सलाह देना कि वह भी शेर का भोजन किया करे। जहाँ तक इस मान्यता का प्रश्न है कि मनुष्य के अपने जीवन को ठीक से व्यवस्थित न कर सकने का कारण मानवीय विद्याओ मे गलत पद्धतियों का प्रयोग है, हम पूछेगे . उक्त दोनो चीजों का यह कार्य-कारण-मूलक सम्बन्ध स्वय किस पद्धति से अन्वेपित हुआ है ? मैं सकेत कर रहा हूँ कि उक्त मन्तव्य को उस वैज्ञानिक पद्धति से कभी प्रमाणित नही किया जा सकता जिसकी वह सिफारिश करता है। वैज्ञानिक पद्धति से इस मन्तव्य को सिद्ध करने के लिये उसके हिमायतियों को कई

काम करने पड़ेंगे। प्रथमत उन्हे "मानवीय व्यापारो का योग्यतापूर्ण व्यवस्थापन" नाम की चीज का मात्रा-मूलक संकेतक, अथवा सही माप, प्राप्त करना पड़ेगा। दूसरे उन्हे यह दिखाना होगा कि विभिन्न देशो तथा जातियो के इतिहास मे जब-जब आपेक्षिक समृद्धि या सम्पन्नता के युग आये है, तब-तब वहाँ मानवीय विद्याओ में मात्रा-मूलक पद्धतियो का प्रयोग होता रहा है। हमे मालूम नही कि उक्त मन्तव्य को मानने वालो ने कभी ऐसा दिखाने का प्रयत्न किया है। उक्त मान्यता की परीक्षा करने का एक और तरीका भी है हम देखे कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे जो बडी-बडी कृतियाँ प्रस्तुत की गई है, विशेषत वे कृतियाँ जिनका सम्बन्ध मानवीय जीवन के संचालन एवं व्यवस्थापन अर्थात् जीवन-विवेक से है, उनमे अन्वेषण की किन पद्धतियो का अवलम्ब लिया गया था। जहाँ तक हमें मालूम है इस धरती के बडे-बडे अमर विचारको ने, बुद्ध और कन्फ्यूशियस, प्लेटो और अरस्तू से लेकर लॉक, रूसो वाल्तेयर, गेटे और कान्ट, मार्क्स और गाधी तथा ह्वाइटहेड और रसेल तक—शिक्षक और विचारक जिन्होने जीवन-विवेक की दिशा मे अमर उपदेश दिये है—कभी उस प्रकार की मात्रा-मूलक विधियो का प्रयोग नही किया जो भौतिक विज्ञान मे प्रचलित है। इसका प्रमाण उपस्थित करने के लिये जीवन-सम्बन्धी किसी भी प्राचीन अथवा नवीन महान् ग्रन्थ की ओर संकेत किया जा सकता है, जैसे प्लेटो की 'रिपब्लिक', बुद्ध के "संवाद" और रसेल की "स्वतन्त्रता और संगठन" (Freedom and Organisation)।

हमें यह मानने मे कोई एतराज नही कि भौतिक शास्त्रो ने भौतिक परिवेश पर बहुत अधिक नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है और यह कि मानवीय विद्याएँ मानवीय परिवेश पर वैसा नियन्त्रण नही पा सकी हैं। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि मानवीय परिवेश पर अधिक नियन्त्रण आवश्यक रूप मे मनुष्य को अधिक सुखी बना सकेगा। मानवीय परिवेश पर नियन्त्रण की अभिलाषा दो भिन्न प्रयोजनो से हो सकती है। एक दुष्ट प्रयोजन हो सकता है, लोगो को अपना वशवर्ती गुलाम बना लेना। दूसरा प्रयोजन हो सकता है, उन्हे स्वतन्त्र तथा सुखी जीवन बिताने के योग्य बनाना। पहले प्रयोजन की पूर्ति के लिये यह ढग अपनाया जा सकता है कि लोगों की कमजोरियों तथा दुष्ट प्रवृत्तियो को बढावा दिया जाय, और उनसे फायदा उठाया जाय। किन्तु दूसरे प्रयोजन की पूर्ति के लिये समाज का ऐसा संगठन बनाना होगा जो विशेष प्रकार के चारित्रिक गुणो को प्रोत्साहन दे और इस प्रकार लोगो को कतिपय मूल्यो की उपलब्धि के योग्य बनाये। वस्तुस्थिति यह है कि अधिकाश लोग जो दूसरो

पर शक्ति चाहते है प्राय. उनकी भलाई तथा कल्याण की चिन्ता नही करते। वैज्ञानिक अन्वेषण-पद्धति क्या है, इसकी चिन्ता किये बिना ही ऐसे लोग सदा से यह जानते रहे हैं कि शक्ति की प्राप्ति तथा प्रयोग कैसे होना चाहिये। आज के युग मे दैनिक प्रेस, रेडियो, आदि के रूप में प्रचार के उपकरण अधिक बढिया हो गये हैं, जिनके कारण आज के शक्तिकांक्षी लोग जनता के मन पर अपने पूर्वजो से ज्यादा अच्छा नियत्रण कर सकते है। आज साइंस की शक्ति बहुत बढ गई है, और उसने शासको के हाथ में नागरिकों के ऊपर नियत्रण करने के असीम साधन इकट्ठे कर दिये हैं। इसलिये हमें कोई कारण नही दीखता कि आज हम यह सोचकर खिन्न हो कि मनुष्यों मे मानवीय जीवन पर नियत्रण करने की पर्याप्त क्षमता नही है। वस्तुत. आज तो हमें यह कामना करनी चाहिए कि मनुष्य की यह क्षमता और भी कम हो, ताकि अधिकाश लोग ज्यादा स्वतत्रता से रह सकें। सच यह है कि सदा की भाँति आज भी मनुष्य को उतनी यह जानने की जरूरत नही कि मनुष्य कैसे व्यवहार करते हैं, जितनी कि यह जानने की कि उन्हे कैसे व्यवहार करना चाहिए। प्रथम कोटि का ज्ञान जहाँ कुछ लोगो को स्वतत्र कर सकता है, वहाँ दूसरो को गुलाम भी बना सकता है, केवल दूसरी कोटि का ज्ञान ही शासको और शासितो सबको समान रूप में स्वतन्त्र करने वाला है।

एक दूसरे पूर्वग्रह का निराकरण भी जरूरी है, जिसके बिना मानवीय विद्याओं की अन्वेपण-पद्धति पर निष्पक्ष विचार नही हो सकता। कहा जाता है कि जहाँ भौतिक विद्याएँ लगातार उन्नति करती रही हैं, वहाँ मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे वैसी प्रगति दिखाई नही देती। हमारे विचार मे यह अभियोग निराधार है, वह स्वय उस 'दर्शन' के बारे मे भी सही नही है जिसे आज अक्सर बुरा-भला कहा जाता है। मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में जो अविच्छिन्न प्रगति नही दीखती इसका प्रमुख हेतु यह है कि उनका विषय, अर्थात् मानव-जीवन, लगातार परिवर्तित, परिवर्धित और सृजनात्मक ढग से विकसित होता रहता है। इसके विपरीत भौतिक विद्याओं का विषय प्रकृति है, जिसका रूप सदैव न्यूनाधिक वही रहता है। जैसे ही परिवेश की हालत बदलती है, मानव-जीवन नयी-नयी प्रतिक्रियाएँ करने लगता है, और उसके सम्बन्ध मे लगाया हुआ पुराना हिसाब गलत होने लगता है। इस सम्बन्ध में हम एक रोचक घटना का उल्लेख करेंगे। ब्रिटिश समाजवादी सरकार ने यह कानून बनाया कि समस्त जनता की नि शुल्क चिकित्सा की जाय। इस पर किसी ने सम्बद्ध मत्री,

श्री एन्यूरिन बीवन, से पूछा . 'क्या लोग इस सुविधा का दुरुपयोग नही करेंगे ?' इसके उत्तर में उक्त मत्री ने जो कहा वह उनके लिये उपयोगी हो सकता है जो मानवीय अन्वेषण-पद्धतियों का अध्ययन तथा निरूपण करना चाहते हैं। उन्होंने कहा · 'मानव-व्यवहार के अध्ययन की एक पूर्व शर्त यह है कि मनुष्यों को पहले व्यवहार करने दिया जाय।'[१२] कुछ सरल स्थितियों में मानवीय व्यवहार का पूर्वाभास हो सकता है, उस व्यवहार की विविध तथा जटिल सम्भावनाओं का पूरा आभास प्राय उनके निष्पन्न हो जाने पर ही हो सकता है।

वस्तुत मानवीय व्यवहार के समस्त सम्बद्ध विवरण या व्याख्याएँ कलात्मक सृष्टियों की भाँति होती हैं। आत्मसंगत तथा सतोषप्रद होते हुए भी वे प्राय अपनी परिधि में किसी एक कोटि के व्यापार के भी सम्पूर्ण विवरण को समावेशित नही कर पाती। यह भी एक कारण है कि ये विवरण तथा व्याख्याएँ मानव-जीवन के जिज्ञासुओं के लिये सदैव न्यूनाधिक रोचक बनी रहती हैं। इस दृष्टि से भौतिक विद्याएँ मानवीय विद्याओं से भिन्न तथा खराब स्थिति में होती हैं। उन विद्याओं में जिन धारणाओं तथा व्याख्याओं का प्रयोग किया जाता है, उनकी उपयोगिता व्यावहारिक होती है, ज्यो ही उनके बदले ज्यादा बढिया धारणाओं तथा व्याख्या-सूत्रों की सृष्टि हो जाती है, वे व्यर्थ हो जाती हैं। यही कारण है कि आज पढने में प्लेटो की "रिपब्लिक" जितनी उत्तेजक और उत्प्रेरक जान पडती है, वैसी न्यूटन की "प्रिन्सिपिया" (Principia) नही।

मानवीय विद्याओं के सम्बन्ध मे चिन्तन करने वाले परीक्षकों को गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्यो आज भी होमर की "इलियड", वाल्मीकि की "रामायण", अथवा कौटिल्य का "अर्थशास्त्र" और अरस्तू का "राजनीति-विज्ञान" (Politics) जैसी प्राचीन कृतियाँ रसमय तथा ज्ञानवर्धक जान पडती हैं। यही बात "भगवद्गीता", "ताउ ग्रन्थ" ( Book of Tao ) बाइबिल आदि पुस्तकों के सम्बन्ध मे, जो आज भी हमे प्रेरणा देती हैं, कही जा सकती है। यदि हम प्राचीन लेखकों, कवियो, विचारकों तथा धर्मशिक्षकों के प्राचीन महाग्रन्थों को यह कहकर तिरस्कृत कर दे कि उनकी विषय-वस्तु वैज्ञानिक ढग से परीक्षणीय नही है, तो समझ मे नही आता कि विश्व-मानव की संस्कृति मे से क्या बच रहेगा।

हमने उन पूर्वाग्रही तर्कों का निराकरण किया जो मात्रा-मूलक अन्वेषण-पद्धतियो

के प्रयोग के पक्ष मे दिय जाते है, हमने मानवीय विद्याओ के महत्व के विरोधी कतिपय पक्षपातो का भी खडन किया। इसका यह मतलब नही कि हम मात्रामूलक पद्धतियो के महत्व से अनभिज्ञ हैं, और उनके प्रयोग के विरुद्ध स्वय कतिपय पूर्वग्रहो को पकड बैठे है। हमारा अनुरोध केवल इतना है कि जब हम मानवीय विद्याओं के लिये उचित अन्वेषण-पद्धतियों के प्रश्न से उलझे, तो हम दो चीजो का ध्यान रक्खे; एक उनकी विषयवस्तु की प्रकृति का, और दूसरे उनकी अब तक प्रयुक्त चिन्तन-सरणियो और लब्धियों का। फलत हम मानवीय विद्याओ की अन्वेषण-पद्धति के सम्बन्ध मे तीन शीर्षको के अन्तर्गत विचार करेंगे: (१) उनकी विषयवस्तु की प्रकृति; (२) उनकी व्याख्याओं तथा सामान्य-कथनो का स्वरूप, और (३) उनकी व्याख्याओ तथा सामान्य-कथनो की परीक्षा अथवा प्रामाणिकता की समस्या।

## मानवीय विद्याओं की विषय-वस्तु

हम पहले ही कह चुके है कि मानवीय विद्याओ की विषय-वस्तु का निर्माण मनुष्य के ऐतिहासिक अनुभव से होता है। स्वय जीवनी भी इस अनुभव का अंग है, क्योकि व्यक्ति का इतिहास मानव-जाति के सामान्य इतिहास का ही एक विभाग या पहलू है। मानवीय विद्याओ मे व्यक्ति के जिस इतिहास का महत्व होता है वह उस व्यक्ति के शरीर के व्यापक इतिहास का वह अग होता है जिसका दूसरे सचेत मनुष्यो के जीवन पर प्रभाव पडता है। श्री ड्यूई ने एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्य का सारा व्यवहार सामाजिक होता है, अर्थात् उसके समस्त व्यवहार मे समाज के सब लोग साझेदार होते है। व्यक्ति का व्यवहार आवश्यक रूप में समुदाय के इतिहास का, और इस प्रकार मानव-जाति के इतिहास का, अग होता है।

इतिहास के प्रवाह मे से अन्वेषक लोग निम्न पद्धतियो से अपनी विषय-वस्तु प्राप्त करते है· प्राचीन अभिलेखो तथा अन्य ध्वसावशेषों की परीक्षा करके; वर्तमान का निरीक्षण करके, विभिन्न घटनाओं की पुनरावृत्ति तथा उनके आपसी सम्बन्धो का आँकडो द्वारा अध्ययन करके। ये सब पद्धतियाँ चयन और प्रत्याहरण की क्रियाओ पर निर्भर है, इन क्रियाओ का आवश्यक रूप मे अन्वेषक की रुचियो, प्रयोजनो तथा मूल्यों से सम्बन्ध होता है।

मानवीय विद्याओ मे एक दूसरे प्रकार की विषय-वस्तु भी ग्राह्य होती है; इस

विषय-वस्तु को हम "काल्पनिक प्रयोग" ( Imaginary Experiments ) कहेंगे। सब प्रकार की तर्कना का आधार हमारी वह क्षमता होती है जिसके द्वारा हम विभिन्न कथनों अथवा वक्तव्यो के बीच आक्षेप-मूलक सम्बन्ध (Implicational Connections) देखते है। मानवीय व्यापारो के क्षेत्र मे एक दूसरी कोटि के सम्बन्ध हमें एक घटना से दूसरी तक पहुँचने मे मदद देते है, अर्थात् साध्य-साधन सम्बन्ध। ये सम्बन्ध तर्कशास्त्र के आक्षेप-मूलक सम्बन्धो से भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये नेपोलियन की इगलैंड को नीचा दिखाने की इच्छा और योरप के महाद्वीप का घेरा डालने में जो सम्बन्ध है, अथवा उसकी अपना शासक-वश प्रतिष्ठित करने की महत्वाकाक्षा और आस्ट्रिया की राजकुमारी से विवाह करने मे जो लगाव है, वह इस कोटि का नही जिसकी प्रासगिकता अथवा आवश्यकता तर्कशास्त्र द्वारा सिद्ध की जा सके। उसे सिद्ध करने के लिये हमे साध्य-साधन-सम्बन्धी अपने सहज ज्ञान पर और तत्कालीन परिस्थितियो की जानकारी पर निर्भर करना पड़ेगा। तथाकथित काल्पनिक प्रयोग प्राय ऐसे सम्बन्धो पर निर्भर करते है, और यह निर्णय करने के लिये कि विभिन्न योजनाओं एव कार्य-क्रमो, तथा नीतियो एव आदर्शों मे, कौन अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है, हमें उपरोक्त सम्बन्धो पर निर्भर करना पडता हैं। इन वक्तव्यों के व्यावहारिक निदर्शन हम आगे देंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि क्योंकि मानवीय जीवन की स्थितियो तथा घटनाओ पर बडे-बडे प्रयोग नहीं किये जा सकते इसलिये यह उचित है कि हम कल्पना के द्वारा यह देखने की कोशिश करें कि दो समान स्थितियो मे एक नये तत्व का समावेश करने, अथवा एकतत्व के हटा लेने से, क्या प्रभाव पडेगा।

यहाँ हम कुछ शब्द उन तथ्यो के बारे में कहेंगे जो अन्त.प्रेक्षण (Introspection) द्वारा प्राप्त होते है। दूसरे मनुष्यो की प्रेरणाओं (Motives) तथा उनके आपसी सम्बन्धो के बारे में हमारा ज्ञान प्राय. आत्म-निरीक्षण से प्राप्त होता है। सम्भवत हम किसी दूसरे स्रोत से यह नहीं जान सकते कि प्रेम, घृणा, विस्मित अथवा क्रुद्ध होने का आन्तरिक अभिप्राय क्या होता है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि अन्त-प्रेक्षण हमें उन सब सवेदनाओ तथा आवेगो, इच्छाओ और महत्वाकाक्षाओ तथा उनके विविध सगठनो की पूर्ण जानकारी दे सकता है जिन्होंने मानव-जाति को समय-समय पर कर्म की प्रेरणा दी है। यदि इस प्रकार की जानकारी सम्भव होती तो सम्भवत मानव जीवन के ज्ञान के लिये इतिहास का ज्ञान आवश्यक नहीं होता। अन्त प्रेक्षण

की सीमाओं का निर्देश करने के लिये हम पाठकों के सामने दो बातें रक्खेंगे। प्रथमत, हमारा मानसिक जीवन हमारे नर-नारियों आदि से भरे बाह्य जगत के बोध का समानान्तर होता है, और उस बोध के साथ ही अग्रसर होता है। बाह्य जगत के विस्तृत सम्पर्क के बिना समृद्ध आन्तरिक जीवन सम्भव नही है। किन्तु किसी भी व्यक्ति के जीवन मे बाह्य सम्पर्कों की सम्भावनाएँ सीमित होती है, इसलिये कोई भी व्यक्ति यह आशा नही कर सकता कि केवल अपने जीवन मे समस्त मानव जाति की अनुभव-सम्भावनाएँ नि.शेष कर ले। दूसरे, विभिन्न लोगो की बुद्धियाँ, प्रवृत्तियाँ तथा स्वभाव अलग-अलग होते है; ये भिन्नताएँ समान परिवेश के सम्बन्ध मे भी देखी जाती है भिन्न परिवेशो का तो कहना ही क्या। दूसरी ओर यह भी सही है कि मानव व्यक्ति, कल्पना द्वारा, दूसरे मनुष्यों की बोधात्मक तथा रागात्मक प्रतिक्रियाओ से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है, बशर्ते कि वह उस दृष्टिकोण पर बिठा दिया जाय जहाँ वे दूसरे लोग है। कथा-साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन मे हम इसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित कर लेते है। मनुष्यो के बीच होने वाले आत्मिक अथवा आन्तरिक आदान-प्रदान में सर्वत्र यही प्रक्रिया रहती है। इस प्रक्रिया को हम मनोवैज्ञानिक सवेदना अथवा सहानुभूति कह सकते है। बीज-रूप मे प्रत्येक मनुष्य मे ऐसी शक्ति होती है कि वह अपने को प्रत्येक दूसरे मनुष्य की स्थिति मे रख सके। इसका यह मतलब नही कि स्वयं अपने ऊपर छोड़ दिये जाने पर प्रत्येक मनुष्य दूसरे नर-नारियो का प्रत्येक पार्ट, भौतिक अथवा मानसिक रूप मे भी, अदा कर सकता है। एक जीवनीकार अथवा इतिहासकार की सहायता से मै किंचित् दुर्बल, काल्पनिक ढंग से एक नैपोलियन की मनःस्थिति में प्रवेश कर सकता हूँ, किन्तु स्वय अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्तियों की सहायता से मै उस स्थिति की सृष्टि नही कर सकता।

## मानवीय विद्याओं में व्याख्या और सामान्य कथन

अब हम इस कठिन प्रश्न से उलझेंगे कि मानवीय विद्याओ मे व्याख्या और सामान्य कथनो का क्या रूप होता है। किसी घटना की व्याख्या करने का अर्थ है यह दर्शित करना कि कैसे वह किसी कारण अथवा हेतु-समूह से नि सृत होती है। सामान्य कथन करने का अर्थ है दो घटनाओं अथवा घटना-समूहो मे, अथवा दो घटना-रूपों मे, .आवश्यक सम्बन्ध की घोषणा करना। भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में प्राय: सभी सम्बन्ध न्यूनाधिक आवश्यक अथवा अनिवार्य होते है, और उन्हे गणित के सम्बद्ध-परिवर्तन-

मूलक समीकरणों (Functional Equations) द्वारा प्रकट किया जाता है। किसी प्राकृतिक घटना, जैसे तापक्रम के बढने की, व्याख्या करने का अर्थ है यह दिखाना कि किस प्रकार वह परिवर्तन किसी दूसरे विवर्तमान तत्व ( Variable) से सम्बद्ध परिवर्तन का लगाव रखता है। किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या में कार्य और कारण का सम्बन्ध बुद्धिगम्य तो होता है, किन्तु आवश्यक या अनिवार्य नही होता। यह बात बडी महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसका प्रभाव मानवीय विद्याओं में किये जाने वाले सामान्य कथनों पर पडता है। उदाहरण के लिये नेपोलियन ने जो योरपीय महाद्वीप का घेरा डाला था, उस पर विचार कीजिए। इस घेरा डालने की घटना का एक निर्धारक हेतु नेपोलियन की यह इच्छा थी कि वह इगलैंड को आर्थिक क्षति पहुँचाये, और इस प्रकार उसकी राजनैतिक शक्ति को कम करे, किन्तु इस प्रेरणा अथवा लक्ष्य के रहते हुए यह आवश्यक या अनिवार्य नही था कि नेपोलियन ठीक वैसा व्यवहार करे जैसा कि उसने किया। हो सकता था कि उसके मन में घेरा डालने का विचार उत्पन्न ही नही होता, और वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये किसी दूसरे उपाय का सहारा लेता। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये एक व्यक्ति जिन उपायो का अवलम्बन लेता है, उनका निर्धारण केवल उस लक्ष्य के स्वरूप से अथवा परिस्थितियो के तर्क ( Logic of Situation ) से नही होता, उसका निर्धारण कर्ता की सूझ से भी होता है। हर हालत में यह सम्भव है कि लक्ष्य और परिस्थिति दोनो मिलकर एक से अधिक कार्य-सरणियों अथवा कर्म-प्रकारो को प्रेरित करे, और इस प्रकार "वही कारण, वही कार्य" अथवा "समान कारण, समान कार्य" के नियम में हस्तक्षेप करे। इसी प्रकार, व्यावहारिक दृष्टि से एक विशेष कार्य सदैव एक विशिष्ट कारण द्वारा उत्पन्न नही होता। उदाहरण के लिये नेपोलियन की एक सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने की कामना का कारण योरपीय महाद्वीप का सफल घेरा डालने की अभिलाषा से भिन्न भी हो सकता था।

अनेक कारणवाद (अर्थात् यह सिद्धान्त कि एक ही कार्य के तरह-तरह के कई कारण हो सकते है) के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जाती है कि उसकी युक्तिसगतता इस पर आधारित है कि कार्य अथवा परिणाम को ज्यादा सामान्य रूप में ग्रहण कर लिया जाय, अर्थात् उसकी विशेषताओ का समुचित सकेत न किया जाय। उदाहरण के लिये मृत्यु का कारण विषपान भी हो सकता है और डूबना भी, किन्तु दोनो मृत्युएँ समान नही होती। इसीलिये मृत्यु के बाद परीक्षा करके डाक्टर यह बतला

पाते हैं कि उसका कारण क्या था। किन्तु इस आपत्ति का बल उस समय बहुत-कुछ कम हो जाता है जब हम इतिहास के व्यापक कार्यों अथवा परिणामों का विचार करते हैं।[१४] यह भी सभव नहीं है कि मानवीय घटनाओं की दुनियाँ में, और भौतिक जगत मे भी, कार्यों तथा कारणो का पूर्ण विशेषीकृत वर्णन दिया जा सके। समस्त कार्य-कारण-सम्बन्ध उस समूचे घटनाक्रम में घटित होता है जिसमे प्राय. सम्पूर्ण विश्व का समावेश हो जाता है। विश्व के घटना-क्रम में से किसी भी कारण अथवा कार्य को हम पूर्णतया अलग नही कर सकते। ऐसी स्थिति मे किसी कार्य का विशेषीकृत उल्लेख ( Specification ) अन्वेषक के प्रयोजन के अनुरूप ही किया जा सकता है. और कारणों का विशेषीकृत उल्लेख सम्बद्ध कार्यो की सापेक्षता मे ही हो सकता है।

ऐतिहासिक व्याख्या के उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते है। प्रथमतः उस व्याख्या में कारणो से कार्यो की ओर सक्रमण, और कार्यों से कारणों का निगमन, बुद्धिगम्य होना चाहिये। दूसरे, यद्यपि ऐतिहासिक कारणो तथा कार्यों के पारस्परिक सम्बन्ध बुद्धिगम्य होते हैं अर्थात् उन सम्बन्धों को पूरी परिस्थिति मे निहित प्रासंगिक अर्थों द्वारा समझा जा सकता है, फिर भी वे सम्बन्ध आवश्यक या अनिवार्य नही होते। उक्त दूसरे निष्कर्ष के स्पष्टीकरण की जरूरत है। हम इसे अस्वीकार नही करते कि कभी-कभी कार्य-कारण का लगाव अनिवार्य होता है; हमारा कहना है कि वह सम्बन्ध सदैव अनिवार्य नही होता। मानवीय व्यापारो तथा घटनाओ की शृखलाओं मे जो कड़ियाँ होती हैं उनमे मनुष्यों की पसन्द-नापसन्द, सकोच और हिचकिचाहट, तथा उनके कूट प्रयत्न, इनका भी समावेश होता है; विभिन्न परिस्थितियो में इनके बारे में सही भविष्यवाणियाँ करना सम्भव नही होता। इसलिये किसी देश-काल में उप-स्थित स्थिति-सस्थान के और उन परिणामों के बीच जो मानवीय कर्ताओं के हस्तक्षेप द्वारा उन सस्थानो से उत्पन्न किये जाते हैं, बनने वाला सम्बन्ध अनिवार्य न रहकर परिवर्तनीय बन जाता है। फलतः ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम के सम्बन्ध मे कभी भी पूर्णतया सही भविष्यवाणियाँ नही की जा सकती।

भौतिक परिवेश की अपेक्षा से कार्य करते हुए मनुष्य नई चीजों तथा वस्तुओ के नये सस्थानों को उत्पन्न करते हैं, ये चीजे तथा सस्थान केवल प्राकृतिक शक्तियो द्वारा उत्पन्न नही किये जा सकते। जहाँ तक ये सृष्टियाँ मनुष्य की सृजनात्मक प्रतिभा पर निर्भर करती हैं, वहाँ तक वे सफल भविष्यवाणियो का विषय नही हो सकतीं। हमारा विचार है कि इस समय ऐसा कोई व्यक्ति जीवित नही है जो ठीक-ठीक उन आविष्कारो

का पूर्वाभास ले सके जो (उदाहरण के लिये) तीन हजार ई० तक किये जा चुकेंगे। एक हजार, बल्कि सौ वर्ष, पूर्व भी यह किसी के लिये सम्भव नही था कि वह आज के मनुष्य के भौतिक तथा बौद्धिक आविष्कारो का ठीक-ठीक आभास कर ले। मनुष्य की सृजनशीलता स्वय मनुष्य की ज्ञानशक्ति का अतिक्रमण करती है। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य की वर्तमान स्थिति, कुछ हद तक भी, उसके उन सृजनात्मक व्यापारो का परिणाम है जो उसने अपने भौतिक-सामाजिक परिवेश की अपेक्षा मे अनुष्ठित किये, तो यह मानना पड़ेगा कि मानव जीवन के क्षेत्र में कार्य-कारण का सम्बन्ध अनिवार्य नही होता। हम सहज ही यह कल्पना कर सकते है कि मनुष्य का विकास जिस ढगसे हुआ है, उससे भिन्न होता। उदाहरण के लिये यह कल्पना सम्भव है कि योरप मे विज्ञान का उदय वैसे ही नही होता जैसे कि चीन और हिन्दुस्तान मे नही हुआ। यह अकेली चीज हमारी दुनिया के सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक इतिहास को बदल देती। प्रो० मैकाइवर ने लिखा है 'यदि मराथान के युद्ध-क्षेत्र मे फारस के लोग यूनानियों को हरा देते तो निश्चय ही सभ्य जगत का इतिहास एक दूसरी ही कहानी बन जाता।'[५] जब तक कि आप हीगल के साथ यह विश्वास न करे कि यूनानियों की विजय एक दैवी योजना के अनुसार शुरू से ही निश्चित थी, और योरप मे विज्ञान का उदय होना भी वैसे ही निश्चित था, तब तक आप निश्चयपूर्वक यह मन्तव्य ग्रहण नही कर सकते कि मानव जाति की इस समय जो स्थिति है, उससे भिन्न स्थिति हो ही नही सकती थी। और इस मन्तव्य को छोडने का अर्थ है इस मान्यता को छोड देना कि अतीत कारणो और उनके वर्तमान कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध है।

यहाँ एक रोचक प्रश्न उठाया जा सकता है: क्या मनुष्य की सृजनात्मक प्रतिभा स्वय उसके चारों ओर व्यापृत होने वाली शक्तियो का परिणाम नही होती।? कहा जा सकता है कि यद्यपि मनुष्य एक परिस्थिति में अनेक सभावनाओ का साक्षात्कार करता है, फिर भी वह केवल उसी सभावना को यथार्थ बना पाता है जिसे वर्तमान परिस्थितियाँ वैसी सुविधा देती है। इसके उत्तर मे हमे कहना है कि मनुष्य सदैव उसी रास्ते का अनुसरण नही करता जो सीधा अथवा बुद्धिसगत है, अर्थात् जो सर्वाधिक परिस्थितियो के अनुकूल है। मनुष्य गलतियाँ भी करता है, और ऐसा अक्सर होता है कि वह प्राप्त अवसरो का उचित उपयोग नही कर पाता। जब तक यह न माना जाय कि मनुष्यो द्वारा की गई गलतियाँ उसी प्रकार अनिवार्य होती है जैसे कि उनके भाग्यशाली

निर्णय, तब तक यह नही कहा जा सकेगा कि कोई ऐतिहासिक स्थिति अतीत कारणों का आवश्यक परिणाम है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय जीवन-स्थितियों में आवश्यक या अनिवार्य सम्बन्ध होते ही नही। जहाँ तक मनुष्य को भौतिक परिवेश, अपनी भौतिक-जैवी प्रकृति, तथा मनोवैज्ञानिक-सामाजिक प्रकृति की भी, सीमाओं में काम करना पड़ता है, वहाँ तक उसके कार्य न्यूनाधिक निर्धारित होते हैं। रूस मे नेपोलियन के पराजित होने का एक कारण यह भी था कि उसके पास रसद की कमी हो गई, और मनुष्य विना भोजन के जीवित नही रह सकते। वह इगलैंड को अपने अधीन नही कर सका, क्योंकि उस देश का समुद्रो पर अधिकार था, जहाँ नेपोलियन की प्रतिभा शक्तिहीन पड जाती थी। चूँकि मनुष्य की सृजनशील प्रतिभा वस्तुओं की प्रकृति द्वारा निर्मित सीमाओ के बीच काम करती है, इसलिये मानवीय व्यापारों की प्रगति न्यूनाधिक पूर्वभासित की जा सकती है।

तो, मानवीय विद्याओ मे किये जाने वाले सामान्य कथनो की निजी विशेषताएँ क्या होती है? इस सम्वन्ध में हमारी पहली मान्यता यह है कि वे सामान्य कथन गुणात्मक होते है, मात्रामूलक नहीं। एक सामान्य कथन दो या अधिक पदो के बीच सम्वन्ध बतलाता है। इस प्रकार का कथन मानवीय विद्याओ में समावेशित होने योग्य तभी बन सकता है जब उसमें उपस्थित कम-से-कम एक पद (Term) किसी ऐसी स्थिति या घटना का द्योतक हो जो मानवीय दृष्टि से अर्थवती है, अर्थात् जो मानव-चेतना द्वारा सहचरित है। इस प्रकार के अर्थो की मात्रा-मूलक अभिव्यक्ति सम्भव नही होती,[११] और उनसे सम्बन्धित सामान्य कथन भी मात्रा-मूलक नही हो पाते। सामाजिक विज्ञानो के किसी भी सामान्य कथन के उदाहरण से हमारे इस मन्तव्य की पुष्टि की जा सकती है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री दुरखाइम की राय थी कि समाज-शास्त्रीय अन्वेपण का प्रधान एव श्रेष्ठ उपकरण सहचरित परिवर्तन (Concomitant Variation) की पद्धति है। उसने अपने "आत्महत्या" ग्रथ मे उक्त पद्धति का उपयोग किया। यह लक्षित करने की बात है कि विभिन्न प्रकार की आत्महत्याओ के कारणों के सम्बन्ध में वह जिन सामान्य कथनों पर पहुँचा, वे सब गुणात्मक थे। उदाहरण के लिये दुरखाइम का कहना है कि अहन्तामूलक आत्महत्या (Egoistic Suicide) का कारण व्यक्ति और समाज में सामं-

जस्य का अभाव होता है। यह सामान्य कथन तीन प्रकार के विपरीत सहचारो ( Inverse Correlations ) की व्याख्या-रूप था जो उन्होने आत्महत्याओ की सख्या और (१) धार्मिक समाज, (२) पारिवारिक समाज, और (३) राजनैतिक समाज के साथ समन्वय या सामन्जस्य के दर्जों के बीच प्राप्त किये।"[२]

यह देखने की बात है कि विश्व में घटित होनेवाली कोई भी घटना हजारो दूसरी चीजो से सहचरित रहती है, और ऐसे विभिन्न घटना-समूहो के बीच, जिनमे कार्य-कारण-सम्बन्ध के अभाव का निश्चय है, सहचार (Correlation) के विभिन्न दर्जे पाये जा सकते हैं। कोहेन और नागेल नामक तर्कशास्त्रियो ने लिखा है- 'यह दर्शित किया गया है कि ब्रिटिश जहाजी बेडे पर किये जानेवाले खर्च और केलो की बढती हुई खपत मे बडा सहचार है, इसी प्रकार केन्सर की बीमारी और इगलैंड मे सेवो के आयात मे सहचार-सम्बन्ध देखा गया है।' मतलब यह कि सहचार का सकेत देने वाली सख्या हमेशा अयुतसिद्धि सम्बन्ध ( Invariable Connection ) का पर्याप्त प्रमाण नही होती। कतिपय घटनाओ अथवा परिवर्तनो की तीव्रता के दर्जों एव पीन पुन्य के बीच सहचार कभी-कभी कार्य-कारण -सम्बन्ध की दृष्टि से निरर्थक भी होता है।"[२८]

इससे यह निर्गत होता है कि दो परिवर्तनो के सहचार को तभी महत्व देना चाहिए जब उन परिवर्तनो के बीच कार्य-कारणभाव की सम्भावना हो। अन्वेषण की पहली और अन्तिम भूमिकाओ मे भी सहचार-सम्बन्धो का महत्व तभी होता है जब वे बुद्धि-गम्य सम्बन्धो का सकेत करते हों। कम-से-कम मानवीय विद्याओ की यही स्थिति है। एक गणितज्ञ भौतिकशास्त्री अन्वभाव से सहचार-सम्बन्धो की शृखला का अनुसरण कर सकता है, और उन्हे सम्बद्ध-परिवर्तन-मूलक ( Functional ) समीकरणो द्वारा प्रकट कर सकता है, किन्तु यह पद्धति सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्र में उपयोगी नही है।

अन्वेपण के प्रारम्भ मे इस बात का धुँधला आभास रहता है कि किसी कार्य या परिमाण का सम्बन्ध किसी एक स्थिति या अनेक स्थितियो से है। बाद में विश्लेपण और निरसन ( Elimination ) की क्रियाओ द्वारा, अनेक स्थितियो में पाये जाने वाले परिणाम को, एक खास कारणतत्व से सम्बन्धित कर दिया जाता है। अहन्ता-मूलक आत्महत्या की व्याख्या मे दुरखाइम ने जो पद्धति अपनाई, वह उक्त मन्तव्य का निदर्शन है।

यहाँ एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है, कोई भी सहचार-सम्बन्ध विशिष्ट परिस्थितियो मे ही सही होता है। यदि परिस्थितियाँ अधिक बदल जायँ तो सहचार-सम्बन्ध की प्रकृति भी बदल जाती है। उदाहरण के लिए दुरखाइम ने यह लक्षित किया कि इगलैंड के प्रोटेस्टेन्ट लोगों में आत्महत्याएँ उतनी सख्या मे नही होती थी, जितनी कि दूसरे देशो के प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयो मे। क्योंकि मानव-जीवन की स्थितियाँ विभिन्न देशों तथा युगो मे बहुत-कुछ भिन्न होती है, इसलिये विभिन्न घटनाओं के सहचार सम्बन्ध एकरूप ही रहे, इसकी आशा नही की जा सकती। इसलिये इन क्षेत्रो मे मात्रा-मूलक सम्बन्धो को बतानेवाले ऐसे कानूनो का पता नही लगाया जा सकता जो इतिहास के सब समाजो तथा युगो पर लागू हो सके। इन्हीं बातो को ध्यान मे रखकर सोम्बार्ट तथा कुछ दूसरे विचारको ने यह मत प्रकट किया है कि सामान्य अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त जैसी कोई वस्तु नही है, ऐसे सिद्धान्त जो किसी भी समय तथा स्थान के तथ्यो पर लागू हो सकें, इसके बदले आर्थिक पद्धतियो (Economic Systems) की एक अनिर्दिष्ट अनेकात्मक सख्या ही उपलब्ध है, और वे समष्टियाँ एक-दूसरे से भिन्न होती है।[९]

इस अनिर्दिष्टता मे यदि हम उस जटिलता को जोड दे जो एक ही कार्य के अनेक कारणो तथा एक ही कारण के अनेक कार्यो की स्थितियो से उत्थित होती है, तो मामला और भी दुरूह बन जायगा। उदाहरण के लिये दुरखाइम ने दर्शित किया है कि व्यक्ति की समाज से विच्छिन्नता का मूल धार्मिक, पारिवारिक अथवा राजनैतिक कैसे भी सामुदायिक जीवन मे हो सकता है। यह भी स्पष्ट है कि विभिन्न कोटियों की विच्छिन्नता या असामजस्य ( Disintegration ) का विभिन्न व्यक्तियो पर अलग-अलग प्रभाव पडेगा। दुरखाइम ने कुछ इस भाव से लिखा है जैसे सामुदायिक जीवन का सामजस्य ही मुख्य हो और व्यक्तियों का अपना अपना चरित्र कोई महत्व न रखता हो। वह कहते हैं कि 'किसी समूह के सामजस्य के उलटे अनुपात मे आत्महत्याओ की सख्या होती है।[१०] दुरखाइम का यह कथन उनके मनोविज्ञान-विरोधी भाव को प्रकट करता है, और वस्तुस्थिति का पूरा वर्णन नही देता। व्यक्ति केवल समूह का अग ही नही होता, एक व्यक्ति ऐसे समुदाय से भी विच्छिन्न महसूस कर सकता है जिसमे बहुत ज्यादा सामजस्य है। उदाहरण के लिये एक प्रतिभाशाली व्यक्ति ऐसे लोगो के बीच अकेलापन महसूस कर सकता है जो परस्पर पूर्ण सामजस्य महसूस करते है।

इसकी विपरीत बात भी स्पष्ट है, समुदाय की सामजस्यहीनता का उसके

विभिन्न सदस्यो पर भिन्न-भिन्न कोटियो का प्रभाव पडता है, क्योकि उनमे से कुछ ही में आत्महत्या की प्रवृत्ति जगती है।

आत्महत्याओ की सख्या को गिना जा सकता है, किन्तु "किसी समुदाय का असामजस्य" और "किसी व्यक्ति का असामंजस्य की स्थिति के प्रति सवेदनशील होना" जैसी व्यजनाओ के लिये मात्रा मूलक अभिव्यक्ति देना सम्भव नही है। इसी प्रकार "एक प्रिय बच्चे की मृत्यु माता-पिता के शोक का कारण होती है," जैसे सामान्य कथन मे मृत्यु, शोक जैसी चीजो को मात्रा-मूलक पदो मे नही बाँधा जा सकता।

निष्कर्ष यह कि मानवीय विद्याओ मे सामान्य कथन गुणात्मक होते है। हमारा दूसरा मतव्य यह है कि ये **सामान्य कथन घटनाओं तथा परिवर्तनो के बीच बुद्धिगम्य सम्बन्धों को प्रकट करते है।** हम ऊपर दिखा चुके है कि मानवीय घटनाओ के क्षेत्र मे आँकडो पर कुछ सीमा तक ही निर्भर किया जा सकता है, फलत वहाँ सामान्य कथन उक्त प्रकार के होने चाहिएँ। आँकडा-विज्ञान की सीमाएँ दर्शित करने के लिए हम यहाँ श्रीमती डोरीथी स्वेन के एक अध्ययन का हवाला देगे। श्रीमती स्वेन ने "व्यावसायिक उत्थान-पतन" तथा "कतिपय महत्वपूर्ण सामाजिक घटनाओ" जैसे विवाह, मृत्यु-सख्या, शराबखोरी, अपराध, देशान्तरगमन, आदि के बीच निर्मित होनेवाले सम्बन्धो का अध्ययन किया।[११] उन्होंने जिस प्रकार के सहचार-सम्बन्धो का पता लगाया,उनमे से दो का उल्लेख हम यहाँ करेंगे। उनका एक अन्वेषण यह था कि व्यवसाय की वृद्धि के साथ-साथ विवाहो की सख्या मे वृद्धि हुई थी। दूसरा अन्वेषण यह था कि समृद्धि के समय में मौतो की सख्या मे वृद्धि हुई।

पहले सहचार-सम्बन्ध को हम अपनी उस सामान्य जानकारी के आधार पर जो हमें युवक-युवतियो के बारे में है, समझ सकते है। व्यवसाय की उन्नति समृद्धि और सुरक्षा की स्थिति उत्पन्न करती है, जिसमें लोग विवाह द्वारा परिवार बनाकर रहने की ओर प्रेरित होते है। किन्तु दूसरा सहचार-सम्बन्ध हमे एकदम अविश्वसनीय जान पडता है। भला सम्पत्ति या समृद्धि के बढने से मृत्यु-सख्या मे क्यो वृद्धि होती है? इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'बढी हुई समृद्धि के कारण लोग शराब ज्यादा पीने लगते है,' अथवा 'उद्योग-धधो मे माताओं को अधिक काम मिलने लगता है;' अथवा 'समृद्धि के समय में तरुण एव स्वस्थ लोग अक्सर देशान्तर मे चले जाते है।'

पाठको से निवेदन है कि उक्त तथ्य तथा अन्वेपणो के सम्बन्ध मे वे कई चीजो को

लक्षित करें। (क) भौतिक शास्त्रो के क्षेत्र मे कभी भी कोई सहचार-सम्बन्ध उस प्रकार अविश्वसनीय अथवा विस्मयकारक नही प्रतीत होता, जैसा कि उक्त दूसरा सहचार-सम्बन्ध। (ख) उक्त सहचार-सम्बन्ध के विरोधाभासत्व को हटाने के लिये ऐसे व्याख्यात्मक तत्वो का सहारा लिया गया है जो हमारी सहज बुद्धि और सहज ज्ञान के अनुरूप हैं। (ग) उपरोक्त सहचार-सम्बन्ध बिल्कुल ही न पाया जाता यदि विचाराधीन प्रदेश के लोग शराब पीने के एकदम ही आदी न होते (धार्मिक कारणो से, अथवा शराबबदी के कारण), अपनी स्त्रियो को काम पर न भेजते, और देशान्तर जाने की प्रवृत्ति वाले न होते। दूसरे शब्दो मे यदि अन्वेषण का विषय ऐसे लोग होते जिनकी रहन-सहन के तरीके और सामाजिक प्रथाएँ भिन्न थी तो उक्त सहचार-सम्बन्ध का रूप बदल जाता। निष्कर्ष यह कि विचाराधीन सहचार की प्रामाणिकता सार्वभौम न होकर स्थानीय है, और उसके आधार पर किसी ऐसे नियम या कानून का निरूपण नही किया जा सकता जिसकी प्रामाणिकता सार्वभौम हो, अर्थात् जो सर्वत्र लागू किया जा सके।

वस्तुत हम उक्त सहचार-सम्बन्ध के आधार पर किसी सामान्य नियम का निरूपण नही कर सकते, इतना ही नही, उस सम्बन्ध की व्याख्या के लिये हमें मानव-व्यवहार के कतिपय ऐसे नियमो या कानूनों की जरूरत होती है जिनकी प्रामाणिकता का उक्त सहचार-सम्बन्ध से कोई लगाव नही है। इससे सिद्ध होता है कि मानवीय विद्याओ मे आँकडो द्वारा प्राप्त सहचार-सम्बन्ध वह काम नही कर पाते जो कि प्रयोगात्मक, भौतिक शास्त्रो मे अन्वेषित होने वाले सहचार-सम्बन्ध करते हैं।

मानवीय विद्याओ तथा भौतिक शास्त्रो की स्थितियो मे एक दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर है, जिस पर हमें ध्यान देना चाहिये। भौतिक शास्त्रो मे अनेक प्रयोगात्मक नियमो ( Empirical Laws ) की व्याख्या एक सामान्य सिद्धान्त द्वारा ( जैसे कि यह सिद्धान्त कि वायव्य पदार्थ परमाणुओं से निर्मित हैं) कर दी जाती है। किन्तु व्यवसाय-दशाओ तथा विभिन्न सामाजिक घटनाओ के बीच अन्वेषित किये हुए विभिन्न सहचार-सम्बन्धो की, उनके आधार पर निर्मित किसी सामान्य सिद्धान्त द्वारा, व्याख्या नहीं हो सकती। इसके विपरीत उन सहचार-सम्बन्धो की अलग-अलग व्याख्या के लिये मानवीय व्यापारो की विभिन्न प्रेरणाओ का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

## मनोविज्ञान और मानवीय विद्याएँ

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है मानवीय विद्याएँ जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धों की स्थापना करती है वे, अन्तिम विश्लेषण में, क्या मानवीय प्रेरणाओ के बीच पाये जानेवाले मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध ही होते हैं ? क्या मानवीय विद्याओं द्वारा अन्वेषित होनेवाले नियम अन्तत. मनोविज्ञान के ही नियम, अथवा मनोविज्ञान के नियमों के निगमनात्मक निष्कर्ष, ही होते है ? श्री मॉरिस जिन्सबर्ग इन प्रश्नो का स्वीकारात्मक उत्तर देते जान पडते है। वे लिखते है : 'आँकडो से प्राप्त होने वाले सहचार-सम्बन्ध बुद्धिगम्य बन जाते हैं जब उनकी व्याख्या उन प्रेरणाओं की अपेक्षा मे कर दी जाती है जिनका सकेत प्रचलित मनोविज्ञान में रहता है।'[११] किन्तु जिन्सबर्ग इस सम्भावना को स्वीकार करते है कि कुछ नियम विशुद्ध रूप में समाजशास्त्रीय हो। वह यह सम्भावना भी मानते हैं कि प्राणिशास्त्र के कुछ नियम भी विभिन्न समाजो के विकास के अध्ययन में उपयोगी हो सके।[११] किन्तु प्रसिद्ध तर्कशास्त्री तथा विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अन्वेषको के लिये यह नियम बनाया था कि 'उन्हें सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्र में कभी किसी ऐसे इतिहासाधारित सामान्य कथन को ग्रहण नही करना चाहिए जिसके लिये स्वय मानव-प्रकृति में, अर्थात् मनोवैज्ञानिक, आधार न मिल जाय।'[१२]

अपनी इस सीख के अनुसार मिल ने विपरीत निगमनात्मक पद्धति (Inverse Deductive Method ) का प्रतिपादन किया, जिसके द्वारा सामाजिक विज्ञानो के सामान्य कथनो की परीक्षा की जा सके। मिल के विचार में इतिहास हमें समाज के अनुभवाधारित नियम दे सकता है। समाजशास्त्र की समस्या यह है कि वह इन नियमो का निरूपण करे और उन्हे मानव-प्रकृति के चरम मनोवैज्ञानिक नियमो से सम्बद्ध कर दे। यह सम्बन्ध निगमन-मूलक होगा; अर्थात् यह दर्शित किया जाय कि मानव-प्रकृति के चरम नियमो के आलोक में इस प्रकार के अनुभव-मूलक नियम ही प्रत्याशित नियम है।[१३] समाजविज्ञान के नियमो का जो विवरण मिल ने दिया है वह यद्यपि हमें महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश देता है, फिर भी वह कई दृष्टियों से अपूर्ण और भ्रामक भी है। उदाहरण के लिये मिल ने इस बात की ठीक परीक्षा नही की कि मानव-प्रकृति के चरम नियमो पर कैसे पहुँचा जा सकता है। आज यह जानकर हमे बड़ा आश्चर्य होता है कि जान स्टुअर्ट मिल की दृष्टि में ये चरम नियम अनुषग-नियम (Laws

of Association) थे, अर्थात् वे नियम जिनके अनुसार मनोदशाएँ एक-दूसरे के बाद उत्थित होती हैं। मिल जिस मनोविज्ञान से परिचित था वह मूलत. अन्त-प्रेक्षण पर आधारित मनोविज्ञान था। उसकी आस्था थी कि निगमन-विधि के प्रयोग द्वारा मनोविज्ञान से उन नियमो को प्राप्त किया जा सकता है जो मनुष्य के चरित्र-निर्माण को अनुशासित करते हैं। इन नियमों के निरूपण के लिये जहाँ एक ओर यह जरूरी था कि उनका सम्बन्ध मानव-प्रकृति के चरम नियमों से जोडा जाय, वहाँ यह भी आवश्यक था कि कर्मशील मनुष्यों पर पडने वाले परिस्थितियो के प्रभाव का भी विचार किया जाय। इस सम्बन्ध मे मिल ने दो महत्वपूर्ण तथ्यो की अवगति का सबूत दिया है: एक यह कि विभिन्न कर्ताओ की परिस्थितियाँ परस्पर बहुत भिन्न होती है, और दूसरा यह कि एक-सी परिस्थितियो में भी सब मनुष्य एक तरह महसूस नही करते, और न एक प्रकार की प्रतिक्रिया ही करते है।"

किन्तु इन अन्तिम स्वीकृतियो का अर्थ इस सिद्धान्त को छोड देना है कि सामाजिक विज्ञानो के नियम अन्तत मनोवैज्ञानिक आत्मबोध से प्राप्त किये जाते है। इस मन्तव्य की कमी यह है कि वह हमारी परिस्थितियो-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि के महत्व की अवहेलना करता है। मनुष्य का जटिल इतिहास केवल, और मुख्यत भी, उसकी व्यक्तिगत मूल प्रकृति का परिणाम नही है। वह प्राय दो चीजो से निर्धारित होता है. एक विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो के विरोधी प्रयोजनो के सघर्ष से, और दूसरे उन परिस्थितियों से जो विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो की योजनाओ एव प्रयोजनो की पूर्ति में साधक या बाधक होती हैं। सामाजिक विज्ञानो मे किये जाने वाले सामान्य कथनो की परीक्षा इन सभी चीजो से सम्बन्धित अन्तर्दृष्टि द्वारा होती है।

वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनो प्रकार के मानव-जीवन मे साध्य और साधन प्राय. एक-दूसरे में मिले रहते हैं, अक्सर वे परस्पर परिवर्तनीय होते हैं। मनोविज्ञान से यह आशा की जाती है कि वह हमारी जरूरतो तथा उन लक्ष्यो की जिनके पीछे हम दौडते हैं, ठीक जानकारी दे, किन्तु हमारी जरूरते और लक्ष्य दोनों परिवेश के प्रभाव से बदल जाते है। यह परिवेश भौतिक तथा यान्त्रिक तो है ही, उससे भी ज्यादा सामाजिक होता है। इस परिवेश मे विभिन्न शक्तियाँ कैसे काम करती है, इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि हमे ऐतिहासिक अनुभव से ही प्राप्त हो सकती है। इन विचारणाओ के आलोक में मनोविज्ञान की मुख्यता के हामियों का उत्साह वैसे ही कम हो जाना चाहिए जैसे कि स्वायत्त समाज-विज्ञान के (अर्थात् इस मान्यता के

कि समाज-विज्ञान को मनोविज्ञान की अपेक्षा नही है, वह अपने मे पूर्ण है) हिमायतियों का।

यह समझना भूल होगी कि मनुष्य का ऐतिहासिक अनुभव उसकी वैयक्तिक प्रकृति के लिये बाहरी चीज होता है। वस्तुत. हम ऐतिहासिक अनुभूति को ग्रहण करते समय यह महसूस करते हैं कि वह स्वय हमारी प्रकृति एव व्यवहार की सम्भावनाओ का विस्तार मात्र है। विस्मय का प्रथम धक्का सह चुकने के बाद हम सिज़ेरी बॉर्जिया के अमानुषिक व्यवहार को भी मानवीय चरित की सम्भावनाओ के बाहर की चीज नही समझते। प्रश्न है. इतिहास और कथा-साहित्य मे हम विभिन्न परिवेशो में स्थित नर-नारियो की सवेदनाओ तथा प्रतिक्रियाओ से जो तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं, उसका क्या रहस्य है?

उसका रहस्य निम्न जान पडता है। मनुष्य एक लक्ष्यान्वेषी अथवा प्रयोजनवान प्राणी है, वह विश्व की असख्य वास्तविकताओ को साध्यो और साधनो, मूल्यो और मूल्याभावो के रूप मे ग्रहण करता है, ताकि वह उन्हे पाने अथवा दूर रखने की कोशिश कर सके। उसे विभिन्न साध्य तथा मूल्य सुपरिचित जान पडते हैं, इसलिये, उसकी दृष्टि में, वे साधन भी सुपरिचित बन जाते हैं जो उन साध्यो से अक्सर सहचरित होते हैं। मानव-प्रकृति के निसर्ग-सिद्ध साध्यो अथवा मूल्यो और अप्राकृतिक सामाजिक तथा औद्योगिक या उद्योग-तान्त्रिक साधनो की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा अनेक नये लक्ष्यो अथवा साध्यो का उदय हो जाता है, और क्रमश. वे साध्य भी सुपरिचित बन जाते हैं। सब देश-कालो के मनुष्य परिवेशगत भौतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक चीजो को भी उन्ही मूल्यो अथवा अर्थों या प्रयोजनो की भाषा में अनूदित कर लेते हैं। ये मूल्य तथा प्रयोजन या अर्थ उस सार्वभौम वर्णमाला का निर्माण करते हैं जिसकी सहायता से मानवीय विद्याओ में किये जाने वाले सामान्य कथन लिखे जाते हैं।

यही कारण है कि हम इतिहास में एक नेपोलियन की, और टॉल्स्टाय के "युद्ध और शान्ति उपन्यास" में पीये नामक नायक की, क्रिया-प्रतिक्रियाओ से तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं। परिवेश के समस्त पदार्थ, भौतिक और सामाजिक, जहाँ तक वे विभिन्न व्यक्तियों की जीवन-स्थितियो मे प्रवेश करते है, उन अर्थो तथा मूल्यो के वाहक होते है जो समस्त मानव जाति के लिये वही है। इसीलिये इतिहास अथवा कथा-साहित्य को समझने के लिये एक भौतिकशास्त्री अथवा रसायन शास्त्री का,

यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक का भी, विशेष बोध (Specialized Knowledge) निरर्थक होता है। यहाँ यह उल्लेख रोचक जान पड़ेगा कि 'काव्यालकारसूत्र' के प्रसिद्ध लेखक वामन ने कविता में अपरिचित पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग एक दोष माना है, क्योंकि वह रसानुभूति में व्याघात उपस्थित करता है।"[१७]

मानवीय विद्याओ के वे सामान्य कथन जो बुद्धिगम्य सम्बन्ध स्थापित करते है, केवल हमारे मनोवैज्ञानिक आत्मबोध की भाषा मे ही नही लिखे जाने चाहिएँ, उन्हे उस अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा मे प्रकट किया जाना चाहिए जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण साध्य-साधन पद्धति अथवा जीवन के समस्त मूल्यो एव अर्थों से होता है। इस अन्तर्दृष्टि को हम शिक्षित सहज बुद्धि (Educated Common Sense) अथवा केवल सहज बुद्धि कह सकते है। नर-विज्ञान के प्रसिद्ध विचारक नाडेल ने इस अन्तर्दृष्टि या ज्ञान को "सामान्य व्यावहारिक ज्ञान" कहा है, अर्थात् वह ज्ञान जो 'इतना सुपरिचित है कि उसकी उपस्थिति को मानकर चला जा सकता है।'[१८]

मानवीय विद्याओ के सामान्य कथन जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धो की स्थापना करते है वे सार्वभौम होते है, इसीलिये उन कथनो की प्रामाणिकता भी सार्वभौम हो जाती है। इसका मतलब यह है कि वे सामान्य कथन सब समाजो के सब व्यक्तियो के लिये कल्पनात्मक प्रामाणिकता (Imaginative Validity) रखते है। ये विचारणाएँ हमे उक्त सामान्य कथनो के सम्बन्धों मे एक तीसरा मतव्य प्रतिपादित करने की प्रेरणा देती है। **मानवीय विद्याओं में जिन सामान्य कथनों का निरूपण होता है, उनका विषय मानव-व्यवहार की सम्भावनाएँ होती है, न कि उसकी यथार्थताएँ।** भौतिक शास्त्र द्वारा अन्वेषित नियम भौतिक जगत की वास्तविक रचना या गठन को उद्घाटित करते है, अथवा उसकी सम्भाव्य गठन को—इसे अनिर्णीत छोडा जा सकता है, किन्तु यह निश्चित है कि भौतिक शास्त्र का उद्देश्य विश्व की यथार्थ रचना का वर्णन करना है। इसी प्रकार इतिहास का लक्ष्य भी यही है कि व्यक्तियो तथा समाजों के असली जीवन का वर्णन प्रस्तुत करे, किन्तु इतिहास कभी ऐसा कर पाता है, इसमे सन्देह है। अन्त तक इतिहास ऐसी घटनाओं का आलेख बना रहता है जिनका घटित होना सम्भावना मात्र होता है, भले ही उस सम्भावना के ऊँचे-नीचे अनेक दर्जे हो।

इसीलिये कुछ लोगो का मत है कि मानवीय विद्याओं के सिद्धान्त तथा व्याख्या-सूत्र कतिपय ऐतिहासिक स्थितियो पर ही लागू होते है, उन स्थितियो के बाहर उनका

कोई अर्थ नही होता। वाल्टर यूकेन ने इस मत का विरोध किया है। अर्थशास्त्र के सामान्य कथनो के बारे में उन्होंने कुछ वैसा ही मत प्रकट किया है जैसा कि हमने ऊपर व्यक्त किया। अर्थशास्त्र नामक विज्ञान के वक्तव्य अर्थात् सामान्य कथन कुछ इस प्रकार के होते है 'यदि परिपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति हो तो ..' अथवा 'यदि एक देश मे फसल बिगड जाय तो विभिन्न देशो की पारस्परिक अदायगी का सतुलन बदल जाता है ..' इत्यादि।[१९] लायोनल राबिन्स ने भी अर्थशास्त्रीय विश्लेषण द्वारा प्राप्त होने वाले कथनों के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही मन्तव्य प्रकट किया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र के विश्लेषण का प्रयोजन यह है कि 'विभिन्न कल्पित परिस्थितियो मे लोग जिस प्रकार से पसद-नापसद करेगे, उसके परिणामों का स्पष्टीकरण कर दिया जाय।'[२०]

ऊपर हमने कहा था कि मानवीय विद्याओ मे जिन बुद्धिगम्य सम्बन्धो की स्थापना की जाती है उनकी अभिव्यक्ति हमारे सहज बोध (Common Sense) की भाषा मे होनी चाहिए। जान पडता है कि रॉबिन्स के अनुसार इस सहज बोध का कार्य कुछ दूसरा ही है। वह कहते है 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त-वाक्य . कतिपय आवश्यक मान्यताओ (Postulates) से निगमन द्वारा प्राप्त होते है। इन मान्यताओ मे प्रमुख वे है जो वस्तु-सामग्री की न्यूनता का यथार्थ जीवन मे क्या प्रभाव पडता है, इसके बारे मे कतिपय सर्वानुभूत तथ्यो का सकेत करती है।...उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये हमे नियन्त्रित प्रयोगो की ज़रूरत नही होती, वे हमारे अनुभव मे उतनी ओत-प्रोत होती है कि जैसे ही हम उन्हे शब्दो मे कह देते है, वैसे ही उनकी प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है।'[२१] इस प्रकार की मान्यताओ के कुछ उदाहरण ये है : मूल्य अपेक्षाकृत कम और ज्यादा महत्व के होते है,उत्पादन मे अनेक उपादान या कारण-तत्व निहित है, भविष्य के सम्बन्ध मे विभिन्न कोटियो तथा दर्जों के अनिश्चय रहते है, इत्यादि।'[२२]

ऊपर का मन्तव्य यह मानकर चलता प्रतीत होता है कि हमारा सहज बोध सूत्रित या निरूपित (Formulated) रूप में वर्तमान होता है, जिससे वे मान्यताएँ प्राप्त की जा सकती है जो अर्थशास्त्रीय नियमो के निगमन मे पक्ष-वाक्यों (Premises) का काम दे सके। किन्तु हमारे विचार में स्थिति ऐसी नही है। सहजबोध से नि सृत होने वाले तथ्य या सत्य न तो उन स्थापनाओ की भाँति होते है जिन्हें किसी भौतिक शास्त्री की सृजनात्मक प्रतिभा उत्सृष्ट करती है, और न कान्ट की प्रज्ञा ( Under-

standing) की अनुभव-निरपेक्ष धारणाओ की तरह। उन तथ्यो या सत्यो का अर्थ-शास्त्र अथवा किसी दूसरे सामाजिक विज्ञान के सामान्य कथनों से वह सम्बन्ध भी नही होता जो निष्कृष्ट नियमो (Derivative Laws) का अधिक व्यापक मान्यताओ से होता है। इसके विपरीत हमारा विचार है कि सामाजिक विज्ञानों के नियम हमारे दैनिक अनुभव-तत्वों के कल्पना-मूलक विस्तार एवं पुनः संगठन द्वारा प्राप्त होते हैं। हमारा अनुभव साध्य-साधन-सम्बन्ध का जो ढाँचा हमें प्रदान करता है, उसे हम इस प्रकार खींचकर बढ़ा लेते हैं कि उसके भीतर इतिहास अथवा आँकड़ों में निहित वृहत्तर अनुभव का समावेश हो सके।

यदि रॉबिन्स का मत ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि एक इतिहासकार अथवा समाजशास्त्री के ज्ञान की अपेक्षा सहज बुद्धि का ज्ञान ज्यादा सामान्य अथवा व्यापक कोटि का होता है, और यह कि एक साधारण व्यक्ति साहित्य, इतिहास अथवा समाज-विज्ञान के अध्ययन से कोई खास नई चीज नही सीख सकता।

इसके विपरीत हमारा मन्तव्य इस प्रकार है इतिहास में उल्लिखित कर्मो तथा घटनाओ और कथा-साहित्य में चित्रित पात्रो को समझने तथा सामाजिक विज्ञानों मे उद्घाटित सामान्य प्रवृत्तियो को ग्रहण करने मे पाठक तथा पाठिकाएँ अपनी कल्पनात्मक तादात्म्य की शक्ति से काम लेते हैं। इस शक्ति द्वारा वे अपने को उक्त घटनाओ, कर्मों, प्रवृत्तियो आदि मे निहित जीवन-प्रक्रियाओं में क्षिप्त कर देते हैं, और इस प्रकार उनके आन्तरिक अभिप्राय को पकड लेते हैं। हमारे इस मन्तव्य से यह भी समझ मे आ जाता है कि किस प्रकार कलाओं के सेवन तथा सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में हमारे आत्मिक सत्व मे विस्तार और समृद्धि निष्पन्न होती है।

आलेखों आदि मे दी हुई सामग्री को इतिहास मे एक समंजस तथा अर्थपूर्ण समष्टि या संस्थान (Pattern) का रूप दिया जाता है। इतिहास का पाठक कल्पना द्वारा अपने को विशिष्ट परिस्थिति-संगठन में रख देता है, और उसके अभिप्राय को भीतर से जान लेता है। वह ऐसा किस प्रकार करता है? उत्तर है: परिस्थिति-समूह मे निहित अर्थों की अपेक्षा मे अपनी प्रेरणात्मक सम्भावनाओं (Motivational Possibilities) का सृजन-मूलक विस्तार करके। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में जानना एक सृजनात्मक क्रिया होती है, वह एक ऐसी क्रिया है जिसमे मनन के साथ-साथ अथवा मनन के द्वारा, व्यक्तित्व की अभिवृद्धि भी होती है। इसके

विपरीत गणित-शास्त्र तथा भौतिक विज्ञान मे तर्कना या चिंतन प्राय मनन-रूप ( Contemplative ) ही होता है, जब तक कि उसके साथ दार्शनिक जिज्ञासा का योग न हो। इतिहास से भिन्न सामाजिक विज्ञानो में ऐसे अमूर्त ढाँचो ( Abstract Models ) का निर्माण किया जाता है जो अन्वेषित अर्थो के बीच रहने वाले सम्बन्धो को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दे सकें।

मानवीय विद्याओं मे किये जाने वाले सामान्य कथनो के बारे में हमारी चौथी मान्यता उनकी परीक्षा (Verification) से सम्बन्ध रखती है। हम मानते है कि मानवीय विद्याओ में परीक्षा करने की प्रक्रिया किसी तथ्य-समूह को सम्बद्ध रूप में समझने की क्रिया की समानात्मक अथवा उससे अविच्छिन्न (Continuous) होती है। यह प्रक्रिया कुछ वैसी ही होती है जैसी कि कला-सृष्टि की क्रिया, वह कल्पना-मूलक होती है। इस मान्यता का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि यदि किसी विद्या के सामान्य कथनो की कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षा नही की जा सकती, तो उसका समावेश मानवीय विद्याओ मे नही किया जा सकेगा।

कहा गया है कि ऐतिहासिक लेखन मे व्याख्या का अर्थ होता है सफल वर्णन। किसी ऐतिहासिक घटना का सम्बद्ध विवरण प्रस्तुत करना ही इतिहास-लेखन की कला है। कथा-साहित्य में एक दूसरी क्षमता की जरूरत होती है। वहाँ एक ओर विभिन्न घटनाओ तथा कर्मों का विवरण रहता है, और दूसरी ओर विभिन्न पात्रो की आन्तरिक प्रवृत्तियो का, कथाकार को इन दोनो मे सामजस्य स्थापित करना चाहिए। यहाँ एक प्रश्न उठता है हम यह कैसे निर्णय कर पाते हैं कि किसी उपन्यास में एक पात्र ज्यादा यथार्थ वन सका है, और दूसरा कम ? प्रसिद्ध समीक्षक पर्सी ल्यूबक ने टॉल्स्टॉय के प्रख्यात उपन्यास "एना केरीनिना" को लक्ष्य करके कहा है कि उसमे लेखक ने सभी पात्रो का सफल चित्रण किया है, केवल एक को छोड़कर, वह एक पात्र एना का प्रेमी है।[१] श्री ल्यूबक का मत उचित है, लेकिन हम यह कैसे जान पाते है कि उनकी सम्मति ठीक है ? किस प्रक्रिया से हम एक बडे उपन्यासकार, वडे समीक्षक, अथवा बडे समाजशास्त्री और दार्शनिक को भी पहचान पाते है ? किसी विचारक अथवा उपन्यासकार की महत्ता की पहचान और यह आभास कि उपन्यासकार अपनी कृति को कितना यथार्थ वना सका है, मानवीय जगत् की चीजे है, जिन पर मानवीय विद्याओ के विश्लेषक चिन्तक को विचार करना चाहिए।

किसी उपन्यासकार की यथार्थ की पकड कितनी है, इसका निर्णय करने के लिये हम यह देखते हैं कि उसके द्वारा चित्रित जीवन से हम कहाँ तक तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। किसी विचारक की महत्ता को आँकने के लिये हम यह देखते हैं कि हमारे सामने किसी अनुभव-क्षेत्र का जो चित्र उसने प्रस्तुत किया है, वह कितना समंजस, स्पष्ट, तथा समृद्ध है। कलाकार का जैसा जीवन से सम्बन्ध होता है, वैसा ही सम्बन्ध समीक्षक का कलाकृतियो से होता है। कलाकार हमारे जीवन को हमारे लिये स्पष्ट कर देता है, वह हमारे जीवन को समृद्ध भी कर देता है, समीक्षक हमे उस जीवन की स्पष्टतर प्रतीति कराता है जो किसी कलाकृति मे निबद्ध होता है।

अब हम उन सामान्य कथनो की प्रकृति का, जो मानवीय विद्याओ मे पाए जाते हैं, विचार करेंगे। ये सामान्य कथन दो प्रकार के होते हैं, कल्पना-मूलक (Imaginative) और कल्पना-प्रसूत ( Speculative )। प्रथम कोटि के सामान्य कथन जीवनानुभूति के कल्पना-मूलक विस्तार अथवा पुनर्गठन से प्राप्त होते हैं। मानवीय विद्याओ मे उनका वही स्थान समझना चाहिये जो भौतिक विज्ञानो मे प्रयोगात्मक सामान्य कथनो ( Empirical Generalisations ) का होता है। मानवीय विद्याओ के ये सामान्य कथन सीधे कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष से प्रमाणित होते हैं। वे आँकड़ो ( Statistics ) द्वारा सकेतित होते हैं, प्रमाणित नही। कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष में कल्पना-मूलक तादात्म्य भी निहित रहता है, विशेषत आवेगात्मक अनुभव के क्षेत्र मे, भले ही वह तादात्म्य सदैव पूर्ण न हो।

अब हम कल्पना-प्रसूत स्थापनाओ की चर्चा करेंगे। ये स्थापनाएँ भौतिक-शास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों (Physical Theories) की समकक्ष होती हैं। ऐसी स्थापनाओं के कुछ उदाहरण हैं . आगस्त कॉम्त का तीन सोपानो का नियम अर्थात् यह नियम कि मानव-चिंतन क्रमश. धार्मिक, दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक तीन भूमिकाओ मे होकर बढता है, हर्बर्ट स्पेसर का विकास-सूत्र जो विश्व के विकास की व्याख्या करता है, कार्ल मार्क्स का इतिहास-दर्शन (Theory of History), इत्यादि। इतने व्यापक सिद्धान्तो की परीक्षा कल्पना-मूलक अन्तर्दृष्टि से नही हो सकती। अनुभव की अपेक्षा से भी उनकी परीक्षा सम्भव नही—इसका एक कारण यह भी है कि वे अतीत वास्तविकताओ से भी सम्बन्धित होते हैं, जिनका अनुभव नही हो सकता। ऐसे व्याख्या-सूत्रो के पक्ष में केवल एक ही बात होती है, यह कि वे एक बडे अनुभव-क्षेत्र को, अथवा अनेक विशाल अनुभव-क्षेत्रो को, सगठित या व्यवस्थित कर

देते है। किन्तु यह विशेषता भौतिक-शास्त्र के व्याख्या-सूत्रो में भी पायी जाती है; साथ ही उन व्याख्या-सूत्रो में एक दूसरी विशेषता होती है, अर्थात् अनुभव की अपेक्षा से परीक्षणीय होने की विशेषता। यह विशेषता मानवीय विद्याओ के उपरोक्त कोटि के व्याख्या-सूत्रों में नही होती। इससे यह अनुगत होता है कि भौतिक-शास्त्रो के कल्पना-प्रसूत व्याख्या-सूत्र मानवीय विद्याओ के वैसे व्याख्या-सूत्रो से ज्यादा विश्वसनीय होते हैं। सच यह है कि जब मानवीय विद्याएँ उक्त कोटियो के व्यापक व्याख्या-सूत्रो की उद्भावना करती है तब वे एक आपत्तिजनक अर्थ मे तत्वमीमासा-मूलक (Metaphysical) बन जाती हैं।

## सार्वभौम संयोजक कथन या वक्तव्य

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काट के अनुसार कथन (Judgments) दो प्रकार के होते हैं, सयोजक (Synthetic) और वियोजक ( Analytic )। काण्ट के अनुसार वियोजक कथन वे हैं जिनमें वाक्य का विधेयाश उद्देश्यके बारे में कोई नई जानकारी नही देता, विधेय केवल उद्देश्य का विश्लेषण कर देता है। जिसे हम परिभाषा कहते हैं वह इसी प्रकार का कथन होता है। जैसे "तीन भुजाओं वाली, एक ही धरातल मे स्थित आकृति को त्रिभुज कहते है"। इसके विपरीत सयोजक कथन वह है जिसमे विधेय (Predicate), उद्देश्य (Subject) के बारे में कुछ नयी बात बतलाता है, जैसे "श्याम आज कलकत्ते जायगा।" वियोजक कथन सार्वभौम तथा आवश्यक (Universal and Necessary) रूप में सत्य होते है। प्रश्न है—क्या ऐसे सयोजक कथन भी हो सकते है जो सार्वभौम तथा आवश्यकरूप में सत्य हो? तर्क-मूलक भाववादियो का विचार है कि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। नयी जानकारी देने वाला कोई भी कथन आवश्यक तथा सार्वभौम रूप मे सत्य नही होता। इस प्रकरण मे हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि मानवीय विद्याओं में सार्वभौम तथा आवश्यक सयोजक कथन सम्भव है या नही। हमारी मान्यता है कि मानवीय विद्याओ में वैसे कथन सम्भव है।

मानवीय विद्याओ मे किये जाने वाले सामान्य कथन इस मान्यता पर आधारित होते हैं कि मानव-प्रकृति सर्वत्र एक है। इस मान्यता का एक निष्कर्ष यह है कि किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के व्यवहार की सम्भावनाओं का कल्पना-मूलक प्रत्यक्ष और उपभोग दूसरे लोगो को हो सकता है। मानवीय विद्याओ के लिये यह मान्यता उतनी

ही जरूरी है जितनी कि भौतिक-शास्त्रो के लिये यह मान्यता कि प्रकृति-जगत् नियमित अथवा एकरूप है। भौतिकशास्त्रो मे इसे प्रकृति की एकरूपता का सिद्धान्त (Principle of Uniformity of Nature) कहते हैं। कतिपय अस्तित्व-वादियों ने यह मत प्रकट किया है कि मानव-प्रकृति नाम की कोई स्थिर चीज नही है, कि मनुष्य की प्रकृति या सार-सत्ता (Essence) लगातार बदलती या निर्मित होती रहती है। हम भी मानते हैं कि किसी खास परिस्थिति-सगठन के बीच मनुष्य विभिन्न प्रतिक्रियाएँ कर सकता है। वह आवश्यक रूप मे एक ही प्रतिक्रिया करने को बाध्य नही होता। यदि अस्तित्ववादी इतना ही कहे, तो हमे विरोध नही। किन्तु यदि वे यह नही मानते कि अपनी समस्त सृजनात्मक सभावनाओ के साथ मानव-प्रकृति विभिन्न व्यक्तियो में वही होती है, तो इतिहास लिखना और समझना दोनो असम्भव क्रियाएँ बन जायेगी। उस दशा मे इतिहासकार अतीत लोगों के जीवन को न स्वय ही समझ सकेगा, न अपने ज्ञान को दूसरे तक पहुँचा ही सकेगा। यदि एक सामान्य मानव-प्रकृति नही हो, तो हम एक-दूसरे के तर्कों को भी न समझ सकें, और सामान्य सत्यों पर पहुँचना भी असम्भव हो जाय।"

अब हम अपना पूर्व प्रश्न उठाते हैं· क्या मानवीय विद्याओ के क्षेत्र में ऐसे सत्यो को प्राप्त किया जा सकता है जो निश्चयात्मक तथा सार्वभौम हों? दूसरे शब्दों मे प्रश्न यह है: क्या हम मानवीय व्यवहार और मूल्यो के सम्बन्ध मे ऐसे सत्यो पर पहुँच सकते हैं जो आवश्यक (निश्चयात्मक) और सार्वभौम (Necessary and Universal)हो? हमने ऊपर कहा कि तर्कमूलक भाववादी ऐसे सत्यों की सम्भावना से इन्कार करते हैं। दूसरे परीक्षको का ख्याल है कि नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र जैसी आदर्शान्वेषी (Normative) विद्याओ मे ऐसे कथन सम्भव नही हैं।

भौतिकशास्त्र के क्षेत्र मे इस मान्यता के कि निश्चयात्मक सार्वभौम सिद्धान्त सम्भव नही हैं, उत्थित होने का कारण वह विचारात्मक क्रान्ति थी जिसने परम्परागत भौतिक-शास्त्र के सिद्धान्तो का निराकरण कर दिया। हम पहले ही कह चुके हैं कि भौतिकशास्त्र के व्यापक सिद्धान्त कल्पना-प्रसूत होते है, और नये प्रयोगो के आलोक मे बराबर बदलते रहते हैं। जिन्हे हम प्रयोगात्मक नियम (Empirical Laws) कहते है उनकी अभिव्यक्ति कभी पूर्णतया सही नहीं होती, बदले हुए व्यापक सिद्धान्तों के अनुरूप उन्हे प्रकट करने वाले समीकरण न्यूनाधिक बदल दिये जाते हैं। इससे यह अनुगत होता है कि भौतिक-शास्त्र के प्रयोग-मूलक नियम भी चरम नही होते।

निष्कर्ष यह कि भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में निश्चयात्मक एवं सार्वभौम सत्यों अथवा चरम सिद्धान्तों की उपलब्धि सम्भव नहीं।

अपनी पुस्तक 'भाषा, सत्य, और तर्कशास्त्र' के दूसरे संस्करण में ऐयर ने, अपने प्रथम संस्करण के मत में संशोधन करते हुए, यह मत प्रकट किया है कि अनुभव पर आधारित कुछ कथन ऐसे हो सकते हैं जो निश्चयात्मक हों, और जिनकी पूर्ण परीक्षा की जा सके। ऐसे कथनों का विषय हमारे अकेले अनुभव होते हैं—जैसे, शकर मीठी है। दूसरे किसी प्रकार के कथन निश्चयात्मक नहीं हो सकते।[४]

ऐयर के इस निराशा-व्यंजक मन्तव्य को स्वीकार करना हम आवश्यक नहीं समझते।[५]

इस सम्बन्ध में एक बात याद रखनी चाहिए। बीसवीं सदी में चिन्तन के क्षेत्र मे जो क्रान्ति हुई है उसका सम्बन्ध केवल भौतिक-शास्त्र की चिन्तन-प्रणाली से है। हमारे सहज बोध के क्षेत्र में ऐसी कोई क्रान्ति नहीं हुई है। आज भी अग्नि हमें गर्म लगती और जलाती है और पानी हमारी प्यास बुझाता है। हमारे मानवीय व्यवहार के ज्ञान के सम्बन्ध मे भी कोई वैसी क्रान्ति नहीं हुई है। फ्रायड के मनोविज्ञान ने भी मनुष्य-सम्बन्धी हमारे अतीत और वर्तमान बोध के बीच कोई खाई उत्पन्न नहीं की। यही कारण है कि हम आज भी कालिदास, शेक्सपियर आदि प्राचीन कवियों की रचनाओं में रस ले पाते हैं, और प्लेटो अरस्तू, कौटिल्य आदि की कृतियों से उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं।

फिर क्यों लोग ज्ञान की सम्भावना को लेकर इतनी निराशा तथा सन्देहवाद को प्रकट करते हैं? भौतिकशास्त्र मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है और भौतिकशास्त्र मे बौद्धिक संकट उपस्थित होने का अर्थ ज्ञान के सब क्षेत्रो मे संकट होना नहीं है। भौतिक-शास्त्रीय बौद्धिक संकट के सम्बन्ध मे हमारा मत इस प्रकार है। उस शास्त्र के समस्त सैद्धान्तिक चिंतन मे यहाँ तक कि उसके प्रयोग-मूलक सिद्धान्तो मे भी, एक विशुद्ध कल्पना का अंश होता है। जहाँ-जहाँ वह अंश मौजूद होता है वहाँ-वहाँ कुछ-न-कुछ अनिश्चय भी बना ही रहता है। भौतिक-शास्त्र अपने सिद्धान्तो के निरूपण में गणित की भाषा का उपयोग करता है, किन्तु, अन्तिम विश्लेषण में गणित हमारे मस्तिष्क की उपज है: कोई कारण नहीं कि वह भौतिक विश्व की रचना को पूर्णतया

वर्णित करने के लिये सक्षम ही हो। यह ठीक है कि भौतिक जगत् की रचना को गणित के प्रतीकों मे वर्णित करना अब तक सुविधा-जनक रहा है, फिर भी यह कहना कि विश्व की रचना या सगठन गणितात्मक है, उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना कि यह कहना कि वह सस्कृत अथवा अग्रेजी भाषा के स्वर-सगठन अथवा व्याकरणात्मक रचना के अनुरूप है। जिस प्रकार कि ज्यामिति की कई पद्धतियाँ बनी हैं, ऐसे ही यह भी सम्भव था कि अकशास्त्र और "कैलकुलस" की अनेक पद्धतियाँ बन जाती।

सहज बुद्धि के न्यूनाधिक गुणात्मक धरातल पर हमारा अनुभव भौतिक-जगत् तथा मानव-जगत् दोनो के सम्बन्ध मे आज भी निश्चयात्मक तथा सार्वभौम सत्य देता रहता है। उदाहरण के लिये हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि सामान्य मानव-शिशुओ के लिये दूध एक गुणकारी भोजन है, कि अग्नि गर्मी उत्पन्न करती हैं, कि एक प्रिय बच्चे की मृत्यु माता-पिता के शोक का कारण होती है, कि एक सुन्दर, संस्कृत और साध्वी पत्नी महत्वाकाक्षी, बुद्धिमान तथा सामाजिक पति के गर्व का कारण होती है। पाडित्य-प्रदर्शन के लिये कोई व्यक्ति उक्त सत्यो में सन्देह प्रकट कर सकता है, यह भी कहा जा सकता है कि वे कथन सुनिश्चित अर्थ वाले नही हैं, और इसलिये उनकी सही परीक्षा नही हो सकती। किन्तु किसी वक्तव्य की निश्चित अर्थवत्ता हमारे प्रयोजनो की सापेक्ष होती है, और गणित के हिसाब के बाहर कहीं भी शत-प्रतिशत निश्चित या सही वक्तव्य उपलब्ध नही हो सकते। केवल गणित के प्रतीकों में यह क्षमता है कि वे छोटे-से-छोटे अन्तर को कल्पनीय तथा प्रकाशन-योग्य बना देते हैं।

कहा गया है कि केवल वियोजक कथन ही निश्चयात्मक तथा सार्वभौम सत्य होते हैं। यह भी कहा जाता है कि तथाकथित वियोजक कथन अपनी सत्यता के लिये केवल प्रतीको के सम्बन्ध पर निर्भर होते हैं, उनका प्रतीकों के अर्थ से, और इस प्रकार अनुभव से, विशेष सरोकार नही होता; अतएव वे अनुभव द्वारा प्रमाणित या अप्रमाणित नही किये जा सकते। इस मन्तव्य के समर्थक यह भूल जाते हैं कि मानव मस्तिष्क की अपेक्षा मे ही प्रतीको के अर्थ और उन अर्थो के सम्बन्ध होते हैं। मानवीय बुद्धि की अपेक्षा से ही वे अर्थ और सम्बन्ध सार्थक तथा प्रामाणिक हो पाते हैं। अन्तिम विश्लेषण मे सामान्य (Normal) मनुष्य की कल्पना ही यह प्रमाणित कर सकती है कि किन्ही दो या अधिक अर्थो का सम्बन्ध स्थायी है, अथवा परिवर्तनीय। एक वियोजक कथन का उदाहरण लीजिये। यदि क ख को आक्षिप्त (Imply) करता है, और

ख ग को, तो क ग को आक्षिप्त करता है। कहा जाता है कि यह कथन वस्तुस्थिति के बारेमे कुछ नही कहता, केवल प्रतीकोके बारेमें ही कुछ कहता है। किन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह कथन कि क ग को आक्षिप्त करता है, एक रूपक मात्र है, क्योकि किसी प्रतीक अथवा अर्थ में ऐसी शक्ति नही होती कि वह किसी चीज़ को आक्षिप्त करे। जब हम कहते हैं कि क ग को आक्षिप्त करता है, तो उसका मतलब सिर्फ यह होता हैं कि यदि कोई व्यक्ति क नामक कथन को स्वीकार करता है तो उसे (अपनी तर्कात्मक प्रकृति द्वारा विवश होकर) ग को स्वीकार करना पडेगा। मतलब यह है कि उपरोक्त वियोजक कथन का वास्तविक विषय प्रतीक अथवा उनके अर्थ नही है, उसका असली विषय उन प्रतीको तथा अर्थों से सम्बन्धित मानव-व्यवहार की विशेष सम्भावना है। दूसरा उदाहरण लीजिये, यदि क ख से बडा है, और ख ग से बडा है, तो क ग से बडा है। यह कथन एक सार्वभौम सत्य है क्योकि वह एक ऐसे तथ्य को प्रकट करता है जिसका प्रमाण परिमाणो तथा मात्राओ से सम्बन्धित मनुष्य का अनुभव है, वह अनुभव जिसकी व्याख्या मानव-रुचियो तथा मानवीय प्रत्यक्ष-क्रिया की प्रकृति के अनुरूप होती है।

वास्तव मे तथाकथित वियोजक कथन वियोजक नही बल्कि सयोजक होते है। वियोजक कथनो का विषय प्राय प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त अमूर्त सम्बन्ध होते हैं। किन्तु सम्बन्ध उतने ही वस्तुनिष्ठ होते है जितनी कि वस्तुएँ, और यह सोचना भ्रामक है कि सम्बन्धो के बारे में किये हुए कथन या तो प्रतीको के बारे मे होते हैं अथवा विशुद्ध रूपाकारो (Forms) के बारे मे। कारण यह है कि किसी वस्तु की ओर स्पष्ट या प्रच्छन्न सकेत किये बिना किसी भी रूपाकार अथवा सम्बन्धका कोई अर्थ नही होता।[१०]

वस्तुस्थिति यह है कि वस्तुओ के रूपाकार और सम्बन्ध, जिनका अन्वेषण हम करते हैं, मानवीय रुचियो तथा प्रयोजनो की अपेक्षा से ही सार्थक या अर्थपूर्ण बनते है। मनुष्य को प्रकृति में वे ही विशेषताएँ मिलती हैं, अथवा प्रकृति मनुष्य पर केवल उन्ही विशेषताओ को प्रकट कर पाती है, जिनका मानवीय मस्तिष्क की रचना और मानवीय प्रयोजनो की अपेक्षा से कोई अर्थ होता है। मनुष्य को अपने प्रयोजनो तथा उन प्रयोजनो से सम्बन्धित गुणो एव सम्बन्धो की प्रकृति का साक्षात् ज्ञान होता है, इसीलिये वह पहले से उन नियमो को निरूपित कर पाता है जिनके अनुसार भविष्य में उन गुणो तथा सम्बन्धो के बारे मे वह तर्कना करेगा। जिन्हे हम वियोजक कथन

कहते हैं उनका विषय वस्तुत उक्त गुणो तथा सम्बन्धो के अमूर्त ढाँचे होते हैं। तथा-कथित वियोजक कथनो की शक्ति तथा प्रामाणिकता का रहस्य इस परिस्थिति मे निहित है कि उन ढाँचो के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए मानव-मस्तिष्क निश्चित सीमाओ के भीतर व्यापृत होता है।

प्रश्न है, ऐसी दशा मे निम्न दो कोटि के वाक्यो की निश्चयात्मकता में किस प्रकार का भेद माना जाय · समस्त अग्नि गर्मी उत्पन्न करती है, और यदि क ख को आक्षिप्त करता है, और ख ग को, तो क ग को आक्षिप्त करता है ?

परम्परागत तर्कशास्त्र के अनुसार एक निश्चयात्मक प्रत्यय, धारणा अथवा कथन उसे कहते हैं जिसके विरोधी की, मानव-मस्तिष्क द्वारा, कल्पना असम्भव है, अथवा, लाइबनीज के शब्दों मे, जिसके विरोधी मे अन्तर्विरोध पाया जाता है। किन्तु "विरोधी की अकल्पनीयता" एक ऐसी विशेषता है जो मानवीय कल्पना-शक्ति की सभावनाओं की सापेक्ष है। हम कहेंगे कि एक वक्तव्य निश्चयात्मक या अनिवार्य रूप में सत्य है, यदि वह मानवीय कल्पना के लिये एक मात्र सम्भव सम्बन्ध को प्रकट करता है। जिन्हे हम निश्चयात्मक एव अनिवार्य कथन कहते हैं वे मानवीय मस्तिष्क की कतिपय अपरिवर्तनीय तर्कना-सम्बन्धी आदतो का सकेत करते हैं। किन्तु मनुष्य की तर्कना-मूलक प्रकृति (Logical Nature) को उसकी सम्पूर्ण मानसिक प्रकृति से अलग नही किया जा सकता। मनुष्य जहाँ तर्कना-मूलक व्यवहार करता है, वहाँ नैतिक और सौन्दर्य-सम्बन्धी व्यवहार भी करता है। वस्तुत उसके सम्पूर्ण व्यवहार मे जैसे उसकी तर्कना-मूलक प्रकृति प्रतिफलित रहती है, वैसे ही उसकी नैतिक और सौन्दर्य-मूलक प्रकृति भी। अनुभव के किसी भी क्षेत्र में मनुष्य उस चीज का साक्षात्कार कर सकता है जिसे हमने सम्बन्धों की अकेली सम्भावना, अथवा एक मात्र संभव सम्बन्ध, कहा है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते है कि विभिन्न अनुभव तथा व्यवहार के क्षेत्रो के अनुरूप, अनेक कोटियो के निश्चयात्मक एव सार्वभौम कथन हो सकते हैं।

यह कथन कि "समस्त अग्नि गर्मी उत्पन्न करती है" वहाँ तक सत्य है जहाँ तक मनुष्य का अनुभव जाता है। किन्तु यह कल्पना की जा सकती है (जैसा कि तर्क-शास्त्री कहते हैं) कि ऐसी अग्नि भी हो जो गर्मी उत्पन्न न करे। अग्नि ठडी भी हो सकती है। इस परिस्थिति का तर्कशास्त्र पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ेगा।

किन्तु शेष दो कथनो की सत्यता से इनकार करने से तर्कशास्त्र पर भारी सकट आ जायगा।

हमारे मत मे उक्त उदाहरणो मे निम्न प्रकार का अन्तर है। पहले कथन का विषय अग्नि की प्रकृति है जिसे हम बाहर से जानते है, जब कि दूसरे वक्तव्यो का विषय मुख्यत उस मानवीय मस्तिष्क की आदतें है जिसे हम भीतर से जानते है। अतत तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो की निश्चयात्मकता का आधार यह विश्वास है कि हमारी अर्थात् मानव-मस्तिष्क की तर्क तथा कल्पना करने की आदते ज्यो-की-त्यो बनी रहेंगी। इससे यह प्रकट है कि असदिग्ध तथा निश्चयात्मक सत्य या कथन पा-सकने की दृष्टि से मानवीय विद्याएँ जिनमें तर्कशास्त्र का भी समावेश है भौतिक-शास्त्रो से अधिक सुविधा की स्थिति मे है। किन्तु चूँकि अधिकाश परिस्थितियों में, एक ही लक्ष्य अथवा स्थिति की अपेक्षा में भी, मानव व्यवहार और प्रतिक्रिया की सभावनाएँ अनेक होती है इसलिये हम प्राय संबंधों की एक मात्र संभावना अथवा एक मात्र सम्भव सम्बन्ध का कथन नही कर पाते। यही कारण है कि मानवीय विद्याओ के क्षेत्र मे अनिवार्य सम्बन्ध-कथन अथवा निश्चयात्मक कथन विरल होते है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि इस क्षेत्र मे निश्चयात्मक सयोजक कथन (Synthetic Necessary Propositions) हो ही नही सकते। जैसा कि हमने कहा तर्कशास्त्र के तथाकथित नियम या कानून मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध मे ऐसे ही कथन होते है, वे यह बतलाते है कि किसी भी कल्पनीय अवसर पर मानवीय मस्तिष्क का व्यवहार एक खास तरह का होगा। यह मानने का कोई कारण नही कि इस प्रकार के सत्य मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र तथा अन्य मानवीय विद्याओ मे प्राप्त नही हो सकते। तर्कशास्त्र से बाहर भी ऐसे कथन हो सकते है, इसके कुछ उदाहरण हम ऊपर दे चुके है।

क्या भौतिक प्रकृति के सम्बन्ध मे हम कभी निश्चयात्मक सयोजक कथन कर सकते है? प्रसिद्ध भौतिक-शास्त्री एडिंगटन ने इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक दिया है। वह कहते है 'अब इसे विज्ञान-दर्शन के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता कि प्रकृति के नियम अनिवार्य नही ही होते।'[23] एडिंगटन के अनुसार प्रकृति के कुछ नियम ऐसे है जिनका मूल हमारी ज्ञान-शक्ति की प्रकृति में होता है। ऐसे नियमो के बारे में हम यह आशा कर सकते है कि वे अनिवार्य तथा सार्वभौम रूप मे प्रकृति द्वारा पालन किये जायँगे।[24] इसी प्रकार श्री ब्रिजमैन लिखते है - 'बाह्य

प्रकृति क्या है इसके सम्बन्ध में जैसे-जैसे हमे नया प्रयोगात्मक ज्ञान मिलेगा, वैसे-वैसे हमारे विचार सदा ही बदलते रहेंगे; किन्तु प्रकृति के प्रति मनोभाव का एक अंग है जो भविष्य मे कभी नही बदलेगा, अर्थात् वह अंश जिसका ध्रुव आधार हमारे मस्तिष्कों की प्रकृति है।[५]

ये सम्मतियाँ उस मन्तव्य की, जो हमने निश्चयात्मक संयोजक कथनों के बारे मे दिया है, उल्लेखनीय ढग से पुष्टि करती है। इस प्रकार के समस्त कथन, जैसा कि हमने कहा, मानवीय बुद्धि के व्यवहार की उन संभावनाओं का उद्घाटन करते है जिन्हें मनुष्य कल्पनामूलक आत्मालोचन द्वारा जान सकता है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. बर्ट्रेण्ड रसेल कहते हैं: "अधिकांश अचेतन या अवचेतन मे उन विचारों का समावेश है जो कभी बड़े आवेगात्मक और सचेत थे, और अब भीतर निमग्न हो गये हैं। इस निमग्न करने की क्रिया को सचेत भाव से किया जा सकता है...(द कांक्वेस्ट आव् हैपीनेस, द न्यू अमेरिकन लायब्रेरी संस्करण, १९५१, पृ० ४७)।

२. दे० टुवर्ड ए जेनरल थियरी आव् ऐक्शन, संपादक टैलकाट पार्सन्स और एडवर्ड ए० शिल्स, (हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५२), पृ० ४७।

३. दे० द साइन्स आफ़ मैन इन द वर्ल्ड क्राइसिस, संपादक रॉल्फ लिण्टन, (कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, सातवां मुद्रण, १९५२), प्रेजेन्ट वर्ल्ड कण्डिशन्स इन कल्चुरल पर्सपेक्टिव, पृ० २०४।

४. अनुभव और आत्म-विश्वास का परिवर्तन मनुष्य की इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं को कैसे एकदम बदल देता है इसका प्रसिद्ध उदाहरण नेपोलियन प्रथम का जीवन है। लड़कपन में उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि पेओली नामक स्थानीय नेता के नेतृत्व में क्षुद्र कारसीका द्वीप की आजादी के लिए लड़े; सम्राट बन जाने पर समस्त योरप भी उसकी महत्वाकांक्षाओं के लिए पर्याप्त न था! कौन विश्वास करेगा कि इस नितान्त महत्वाकांक्षी मनुष्य ने सन् १७९१ में एक निबन्ध लिखा था जिसमें महत्वाकांक्षा की मूर्खता और पाप के विरुद्ध उपदेश दिया था। (दे० हालैण्ड रोज, द लाइफ आव् नेपोलियन फर्स्ट, जी० बेल एन्ड सन्स, लि० १९१९, पृ० ३३)।

५. दे० पार्सन्स ऐन्ड शिल्स, वही, पृ० ९२।

६. हालैन्ड रोज, वही, पृ० १३८, २१४।

७. दे० द प्रिन्स, (एवरीमैन, १९४५), पृ० २१३ और आगे।

८. दे० कार्ल मैनहाइम, एसेज आन सोशियालॉजी ऐन्ड साइकालॉजी, (रुतलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन, १९५३), पृ० २४१।

९. दे० एन आउट लाइन आव् माडर्न नालेज, (विक्टर गोलैंज, लन्दन १९३२), "द सायंस आव हिस्टरी" निबन्ध श्री एफ० जे० सी० हार्न शा का, पृ० ७७७।

१०. मैथड्स इन सोशल सायन्स, संपादक श्री एस० ए० राइस, (शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो, १९३१), विश्लेषण ३० श्री हैनरी पिरेन कृत, पृ० ४३५।

११. ई० एम० फार्स्टर, आसपेक्ट्स आव् द नावेल, (एडवर्ड आर्नल्ड ऐन्ड क०, लन्दन, मुद्रण १९४४), पृ० ६७।

१२. वही, पृ० ७५।

१३. वही, पृ० ७७।

१४. इरविन श्रोडिंजर, सायंस ऐन्ड ह्यूमैन टैम्परामेन्ट, (जार्ज एलेन एन्ड अनविन, लन्दन, १९३५), पृ० ६९-७०।

१५. पर्सेप्शन : ऐन ऐप्रोच टु पर्सनेलिटी, संपादक आर० आर० ब्लेक और जी० वी० रैमसै, (द रोनाल्ड प्रेस कम्पनी, न्यूयार्क, १९५१), पृ० २०९।

१६. वाल्टर यूकेन, द फाउन्डेशन्स ऑव् इकोनामिक्स, (अं० अनु० विलियम हॉज एन्ड क०, लन्दन, १९५०), पृ० ३५।

१७. वही, पृ० ४२।

१८. दे० मैकाइवर, सोशल काजेशन, (गिन एन्ड कं० बोस्टन, १९४२), पृ० ९। कार्यकारणवाद की आलोचना के लिये दे० बर्ट्रान्ड रसेल, मिस्टिसिज्म ऐन्ड लाजिक, अध्याय ९; मारिस कोहेन, रीजन ऐन्ड नेचर, (कीगन पाल, लन्दन, १९३१), पृ० २२४-२५। श्री एलियोटा कहते हैं : 'सम्बद्ध परिवर्तन के सूत्र (फंक्शनल फार्मूला) में किसी क्रिया या क्रमात्मक विकास की दिशोन्मुखता का समावेश नहीं हो सकता।' (दे० दी आइडिएलिस्टिक रिऐक्शन अगेंस्ट साइंस, मैकमिलन, १९१४, पृ० ६९) कार्यकारणवाद के समीक्षक अनुभव से नहीं, विज्ञानकी प्रतीक-पद्धतिसे संकेत लेते जान पड़ते हैं; यह चीज सदैव सहायता नहीं देती।

१९. सोशल काजेशन, पृ० १२३।

२०. ए हिस्टरी आव् योरप, (एडवर्ड आर्नल्ड ऐन्ड कं०, लन्दन, १९३७), पृ० ८३२-३३।

२१. संकेतित विचारकों के मन्तव्यों के सुविधाजनक वक्तव्यों के लिये देखिए श्री पी० ए० सारोकिन, काण्टेम्पोरेरी सोशियालॉजीकल थियरीज, (हार्पर एन्ड ब्रदर्स, लन्दन, १९२८), अध्याय ३।

२२. बारबेरा वूटन, टेस्टामेन्ट फ़ार सोशल सायन्स, (जार्ज एलेन ऐन्ड अनविन, लन्दन, १९५०), पृ० १। मात्रा-मूलक पद्धतियो के समाजशास्त्रीय प्रयोग के उदाहरणो के लिये देखिए, स्टुअर्ट सी० डॉड, डाइमेन्शन्स आफ सोसायटी (मैक मिलन, १९४०) और जी० ए० लुन्डबर्ग, फाउन्डेशन्स आफ सोसायटी (मैक मिलन, १९३९)।

२३. श्री ए० वीवन का लेख, हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली, जून ८, १९५२।

२४. यह ठीक है कि यदि नेपोलियन की सार्वभौम साम्राज्य की अभिलाषा का दूसरा कारण होता, तो वह विभिन्न विजित राज्यों पर दूसरी शर्तें लादता। फिर भी राजनीतिक प्रभुत्व का लक्ष्य वही रहता, और वह लक्ष्य काफी विशिष्ट (Specific) है।

२५. सोशल काजेशन, पृ० १७१।

२६. इस सम्बन्ध में श्री पी० ए० सारोकिन ने विस्तार से विचार किया है। दे० उनकी सोशियो-कल्चुरल काजेलिटी, स्पेस, टाइम (ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, डर्हम, नार्थ केरोलिया, १९४३)। उनके मत में प्रत्येक सांस्कृतिक पदार्थ में एक अर्थात्मक उपादान (मीनिङ्ग कॉम्पोनेण्ट) होता है जिसमें वजन, आयतन, रंग, ध्वनि, रासायनिक रचना आदि भौतिक-रासायनिक गुण नही होते। अर्थ, वस्तुतः, अभौतिक, अदेश-कालगत होते हैं। दे० पृ० ३२, ४।

२७. जान स्टुअर्ट मिल, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु लॉजिक ऐन्ड साइण्टिफिक मैथड, संपादक श्री अर्नेस्ट नागेल, (हाफनर पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क, १९५०), पृ० ३१७।

२८. एमील दुरखाइम, स्यूसाइड, (अ० अनु० रुतलेज एन्ड कीगन पाल लि० लन्दन, १९५२), पृ० २०८।

२९. श्री टैलकाट पार्सन्स द्वारा द स्ट्रक्चर आफ सोशल ऐक्शन, (द फ्री प्रेस, ग्लैंको, इलियानिस, १९४९), पृ० ४९५ पर उद्धृत।

३०. एमील दुरखाइम, वही, पृ० १५५, १००।

३१. दे० मैथड्स इन सोशल सायंस, विश्लेषण ४१, पृ० ५६७ तथा आगे।

३२. रीजन ऐन्ड अनरीजन इन सोसायटी, लांगमैन्स ग्रीन एन्ड कं० लन्दन, १९४८, पृ० ३६।

३३. वही।

३४. मिल, वही, पृ० ३४६।

३५. वही, पृ० ३४७।

३६. वही, पृ० ३१८, ३१९।

३७. दे० काव्यालंकार सूत्र २।१।८।

३८. दे० एस्० एफ्० नाडेल, द फाउन्डेशन्स आफ् सोशल एन्थ्रापालॉजी, (कोहेन ऐन्ड वेस्ट लि०, लन्दन, १९५३), पृ० २८४, २७८।

३९. वाल्टर यूकेन, फाउन्डेशन्स आव् इकोनामिक्स, पृ० २३४।

४०. लायोनल राबिन्स, ऐन एसे आन द नेचर एन्ड सिग्नीफिकेन्स आव् इकोनामिक सायंस, (मैक मिलन, लन्दन, मुद्रण, १९४९), पृ० ८३।

४१. वही, पृ० ७८, ७९।

४२. वही, पृ० ८१।

४३. दे० पर्सी ल्यूबक, द क्राफ्ट आफ फिक्शन, (जोनेथन केप, लन्दन, मुद्रण १९२६) पृ० २४८-४९।

४४. तु० की० एफ्० ए० हायक: 'एक ऐसे मस्तिष्क की चर्चा करना जिसकी रचना हमारे मस्तिष्क से मूलतः भिन्न है, अथवा यह दावा करना कि हम मस्तिष्क की मूल बनावट के परिवर्तन देख सकते हैं, एक असंभव दावा करना ही नहीं, निरर्थक बात है।' द काउन्टर रिवोल्यूशन इन सायंस, पृ० ७७।

४५. ए० जे० ऐयर, वही पृ० १०।

४६. वही, पृ० १६।

४७. मारिस आर० कोहेन ने भी तर्क-मूलक भाववाद की स्थिति का खंडन किया है। दे० ए प्रीफेस टु लाजिक, (जार्ज रतलेज ऐन्ड सन्स लि०, लन्दन, १९४६), अध्याय ३।

४८. दे० द वाकेबुलरी आफ फ़िलासफी, विलियम फ्लेमिंग कृत, तृतीय संस्करण एच० केल्डर वुड कृत, (चैनेल ग्रिफिन एन्ड कं०, लन्दन, १८७६), पृ० ३३७।

४९. द फिलासफी आफ् फिज़ीकल सायंस, पृ० २०।

५०. वही।

५१. द लॉजिक आव् मॉडर्न फिज़िक्स, पृ० १।

# अध्याय ४

## संस्कृति और सभ्यता

इस अध्याय मे हम सस्कृति के स्वरूप का विवेचन करेंगे जो कि हमारी पुस्तक का मुख्य विषय है। सस्कृति पर विचार करते हुए हमे सभ्यता के स्वरूप पर भी विचार करना पडेगा, क्योंकि ये दोनो धारणाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित है। सस्कृति और सभ्यता शब्दो का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया गया है, ये अर्थ इतने भिन्न और विविध है कि सुनकर बुद्धि विभ्रम मे पड जाती है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में ये दोनो शब्द मानव-व्यक्ति अथवा मानव-समूहो की उपलब्धियो की ओर सकेत करते है। जब हम किसी व्यक्ति या समूह को सभ्य कहते है तब हमारा भाव प्रशसा-मूलक होता है। हम यह प्रकट करते है कि उनकी जीवन-स्थितियाँ श्लाघ्य है। साधारण लोगो की इस धारणा के विरुद्ध विशेषज्ञ पुरुष सभ्यता और सस्कृति शब्दों द्वारा कुछ दूसरा ही अभिप्राय व्यजित करते है। वे न तो इस बात पर सहमत है कि इन शब्दो का वाच्य पदार्थ क्या है, और न इस पर ही कि ये शब्द प्रशसा-मूलक हैं। इन मतभेदो के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जायेंगे। प्रसिद्ध नर-विज्ञानी टाइलर के मत मे सभ्यता और सस्कृति पर्यायवाची शब्द है।[1] इसके विपरीत ब्रानिसला मैलिनाउस्की का कहना है कि सभ्यता और सस्कृति शब्दों को पर्याय मानकर प्रयुक्त नही करना चाहिए, उनका प्रयोग भिन्न अर्थो में होना चाहिए। ऊँची सस्कृति के एक खास पहलू को सभ्यता कहते है।[2] इसके विपरीत श्री हुमायूँ कबीर के मत में संस्कृति सभ्यता की फलभूत है। उनका कथन है कि सस्कृति का जन्म तभी हुआ जब सभ्यता ने अस्तित्व की समस्या को हल कर दिया, अर्थात् जब सभ्यता ने मनुष्य को दैनिक जीवन की जरूरतो से मुक्ति दी।[3] इसी प्रकार मैकाइवर ने यान्त्रिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था में अन्तर किया है। उनके अनुसार यान्त्रिक व्यवस्था उपयोगिता का क्षेत्र है, और सांस्कृतिक व्यवस्था मौलिक मूल्यो का।[4] मैकाइवर का यह भी विचार है कि सभ्यता कई अर्थो

में संस्कृति की विरोधिनी है। टाइलर की भाँति हर्स्कोविट्स का विचार है कि सभ्यता और संस्कृति एक-दूसरे के पर्याय है। वह कहते है कि संस्कृति के लिये एक शब्द है 'परम्परा', और दूसरा 'सभ्यता'।[५] प्रसिद्ध इतिहासकार ट्वायनवी संस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नही करते, उन्होने सभ्यता शब्द का ही प्रयोग किया है। किन्तु उनकी सभ्यता की धारणा मैकाइवर की धारणा से उलटी है। वह सभ्यता और यान्त्रिक व्यवस्था में तो अन्तर करते ही है, यह भी कहते हैं यान्त्रिक उन्नति न तो सास्कृतिक उन्नति के लिये जरूरी है, और न उसकी सहकारी ही है। उनका विचार है कि कभी-कभी यान्त्रिक उन्नति सभ्यता के अवरोध तथा अवनति से सहचरित रहती है। यान्त्रिक प्रगति तथा सभ्यता की प्रगति मे सहचार का अभाव है। इतिहास में ऐसा अक्सर हुआ है कि यान्त्रिक प्रगति हो रही है, और सभ्यता की प्रगति या तो नही हो रही है, अथवा उसमे अवनति हो रही है।[६] अन्यत्र उन्होने लिखा है कि कई जगह कृषि-शिल्प की उन्नति सभ्यता की अवनति से सहचरित देखी गई है।[७] तो क्या ट्वाइनबी की सभ्यता वही वस्तु है जो कि मैकाइवर की संस्कृति ? इसमें सन्देह दिखाई देता है, क्योकि ट्वाइनवी के अनुसार सभ्यता की प्रगति 'चुनौती और उसका प्रत्युत्तर' के द्वारा होती है, जब कि यह चुनौती भौतिक परिवेश द्वारा दी जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि ट्वाइनवी की सभ्यता में उपयोगिता का पहलू भी निहित है, जब कि मैकाइवर ने स्पष्ट रूप में उपयोगिता को संस्कृति का अग नही माना है।

ट्वाइनवी की भाँति ओस्वाल्ड स्पेंगलर संस्कृति तथा सभ्यता शब्दो की समुचित परिभाषाएँ नही दे सके हैं, लेकिन उनका विचार है कि सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता किसी संस्कृति की वाहरी, चरम, कृत्रिम अवस्था का नाम है। यदि संस्कृति जीवन है, तो सभ्यता मृत्यु, संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता कठोर स्थिरता। सभ्यताएँ नैसर्गिक धरती के स्थान पर आने वाले कृत्रिम, प्रस्तर-निर्मित नगर है जो 'डोरिक' तथा 'गोथिक' के आध्यात्मिक शैशव का अन्त सकेतित करते है। आदिम जगल के जर्जर, बडे दैत्य (महावृक्ष) की भाँति वे अपनी गलित शाखाएँ सैकडो, हजारो वर्षो तक फैलाती रहती है, जैसा कि चीन, भारतवर्ष और इसलामी देशो में दिखाई देता है।[८] मतलब यह है कि इन देशो की संस्कृतियाँ मर चुकी है, फिर भी वे अपने विकृत रूप में अस्तित्व को बनाये हुए है।

सभ्यता तथा सस्कृति शब्दो के अर्थ और उनके पारस्परिक सम्बन्धो के बारे में इस प्रकार के मतभेद इसके द्योतक हैं कि हम उनके सम्बन्ध मे नितान्त भ्राति की अवस्था मे है। यह मतभेद खाली परिभाषा अथवा भाषा-प्रयोग से सबधित नही है। सभ्यता और सस्कृति के सम्बन्ध मे हमारी भ्राति की जड़े बहुत गहरी है। सच यह है कि हम यह नही जानते कि मनुष्य की विभिन्न उपलब्धियो का क्या रूप और क्या मतलब है। इस मति-विभ्रम को दूर करने के लिये सबसे पहले यह समझ लेना जरूरी है कि सभ्यता और सस्कृति शब्द वर्णनात्मक धारणाएँ नही है। हमे यह मान कर नही चलना चाहिए कि इन शब्दो की वाच्य अवस्थाएँ प्रत्यक्ष जगत मे अस्तित्व रखती है। सभ्यता और सस्कृति शब्द किन्ही दीखने वाली वास्तविकताओ की ओर सकेत नही करते। साधारण बोल-चाल तथा लेखन में भी इन शब्दों का खास तरह से प्रयोग होता है और वे हमारे मन मे विशिष्ट अर्थ तथा ध्वनियाँ जगाते है। हमें अपने मन को इन अर्थो से मुक्त करना होगा। हमे यह समझना होगा कि सभ्यता और सस्कृति शब्द जटिल प्रत्यय (Constructs) है जिन्हे मानव-बुद्धि ने विशिष्ट अनुभव-क्षेत्र को बुद्धिगम्य बनाने के लिये उत्सृष्ट किया है। वस्तुत ये धारणाएँ मानव-जीवन तथा व्यवहार को समझने के लिये बनाई गई है, न कि किन्ही प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ग्राह्य चीजो के वर्णन के लिये। सच यह है कि प्राय सभी विज्ञानो मे प्रयुक्त होने वाले शब्द इस प्रकार के जटिल उत्सृष्ट प्रत्यय होते है। विज्ञान बुद्धि द्वारा निर्मित धारणाओ का प्रयोग करता है और ये धारणाएँ तथ्य-जगत के सम्बन्धो का उद्‌घाटन करना चाहती हैं। ये सम्बन्ध सीधे बाहरी जगत में दिखाई नही देते। मानव-मस्तिष्क वस्तु-जगत मे व्याप्त वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्धो के बारे में कल्पनाएँ करता है और उन कल्पनाओ को नवीन पारिभाषिक शब्दो अथवा धारणाओं द्वारा अभिव्यक्ति देता है। इसलिये हमे आगे यह मानकर चलना होगा कि सभ्यता और सस्कृति पारिभाषिक शब्द है जिन्हे हम अपनी इच्छानुसार कोई भी अर्थ दे सकते है। विभिन्न धारणाओ को इस प्रकार नये अर्थो से मडित करने का क्या अभिप्राय है? यह अभिप्राय एक ही हो सकता है, अर्थात् अनुभव-जगत को समझना या बुद्धिगम्य बनाना। किसी भी विज्ञान द्वारा प्रयुक्त धारणाओ तथा उन्हे दिये गए अर्थो की सार्थकता इसमें है कि वे धारणाएँ अनुभव-जगत के समझने मे हमारी सहायक हो। कोई विज्ञान चाहे आदर्शान्वेषी हो अथवा तथ्यान्वेषी, उसका चरम प्रयोजन यही है कि वह हमारे अनुभव को बुद्धिगम्य बना दे। बुद्धिगम्यता की दृष्टि से यह बात विशेष महत्व की नही है कि एक विज्ञान तथ्यों को महत्व देता है और दूसरा मूल्यों को। वस्तुत तथ्यान्वेषी ( Positive ) एवं

आदर्शान्वेषी ( Normative ) विज्ञानो का प्रभेद भी वही तक सार्थक है जहाँ तक वह अनुभव-जगत को समझने मे सहायक होता है।

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य सस्कृति को एक मूल्य मानते हुए उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त करना है। इसका यह मतलब नही कि हम उन तथ्यो की उपेक्षा कर सकते है जिन्हें नर-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र सभ्यता एव सस्कृति कह कर पुकारते है। हमारा विश्वास है कि स्वय मनुष्य के जीवन और व्यवहार में मूल्यो की धारणा तथा मूल्याकन का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। मूल्याकन मानव-व्यवहार की एक सार्वभौम विशेषता है। मनुष्य का प्रत्येक अनुभव और प्रत्येक व्यवहार मूल्य-भावना से अनुप्राणित रहता है। सच पूछिए तो मनुष्य की कोरे तथ्यों में शायद ही कभी अभिरुचि होती है। जिन तथ्यो मे उसकी रुचि होती है वे प्राय अर्थों या मूल्यो के वाहक होते है। मनुष्य अनुभव-जगत के तथ्यो को 'साध्यो' तथा 'साधनों' के रूप मे देखता एव जानता है; वह विश्व के उन पहलुओ में अभिरुचि नही लेता जिनका उसके स्वार्थो अथवा प्रयोजनो से कोई सम्बन्ध नही है। ऊपर से देखने से जान पड़ता है कि विज्ञान जिन प्रश्नो से उलझता है उनका मनुष्य के प्रयोजनो से कोई लगाव नही होता। किन्तु गहरी छानबीन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान के प्रश्न, अतिम विश्लेषण मे, मानव-रुचियों से असम्बद्ध नही होते, और जिस-जिस चीज में मनुष्य की रुचि होती है वह-वह चीज उसके लिए मूल्यवान होती है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि सस्कृति का मूल्यात्मक अध्ययन, उसके तथ्यात्मक अध्ययन से अलग नही किया जा सकता। तथ्य-मूलक अन्वेषण भी मूल्य-भावना से अनुप्राणित होता है और मूल्यो का अन्वेषण भी तथ्यो की अवगति पर निर्भर करता है। वस्तुत मूल्यो का अनुसन्धान वही तक महत्वपूर्ण है जहाँ तक वह हमे जीवन के तथ्यो की अवगति देता है।

इन बातो को ध्यान में रखते हुए हम उन विभिन्न दृष्टियो का मूल्याकन करेंगे जिनका उपयोग सस्कृति के अध्ययन में किया गया है।

## नर-विज्ञानकृत सस्कृति की व्याख्या

सस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण तथ्यमूलक अनुसन्धान नर-विज्ञान ( Anthropology ) नामक शास्त्र में हुआ है। नर-विज्ञान का लम्बा चौडा साहित्य है, और इधर उसके क्षेत्र में व्यवस्थित अन्वेषण होता रहा है। सस्कृति की सबसे पुरानी और

व्यापक परिभाषा टाइलर की है जो कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण के प्रारम्भ मे दी गई थी। टाइलर के अनुसार सस्कृति अथवा सभ्यता 'वह जटिल तत्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीतिरिवाजो तथा दूसरी उन योग्यताओ और आदतों का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।'[१] लिंटन नामक विद्वान ने सस्कृति को 'सामाजिक विरासत'[१०] कहा है, लॉवी के अनुसार सस्कृति 'समस्त सामाजिक परम्परा' है ।[११] हर्सकोविट्स ने सस्कृति को मनुष्य का समस्त 'सीखा हुआ व्यवहार' कहकर वर्णित किया है, अर्थात् 'वे चीजें जो मनुष्यो के पास है, वे चीजे जो वे करते है, और वह सब जो वे सोचते हैं' सस्कृति है।[१२] मैलिनाउस्की के अनुसार सस्कृति सामाजिक विरासत है जिसमें 'परम्परा से पाया हुआ कलाकौशल, वस्तु-सामग्री, यान्त्रिक क्रियाएँ, विचार, आदतें और मूल्य समावेशित है ।'[१३] सस्कृति के ये वर्णन कल्पना को स्पर्श करते है, और उनका दार्शनिक महत्व भी है। वे हमारा ध्यान उन समस्त परिवर्तनो की ओर ले जाते हैं जो, पशु की भूमिका से उत्थित होने के बाद, मनुष्य ने उत्पन्न तथा अनुभव किये है। नर-विज्ञान की पुस्तकें हमारी दृष्टि उन असख्य क्रियाओ की ओर ले जाती है जो कि मानवजाति अनुष्ठित करती पाई जाती है, यह नर-विज्ञान का महत्व है। उक्त विज्ञान की कमी यह है कि वह इन क्रियाओं के उल्लेख मे किसी चयन की आवश्यकता महसूस नही करता। वह हमसे यह कहता प्रतीत होता है कि मनुष्य जो कुछ कर रहा है, जितना कुछ कर और सह रहा है, वह सब देखने लायक है, सभी अध्ययन करने लायक है, सभी में हमें रुचि लेनी चाहिये। मतलब यह कि मनुष्य का अध्ययन करने में हमें उसकी असख्य क्रियाओ मे से किसी चुनाव की आवश्यकता नही है। मनुष्य की सारी क्रियाएँ समान रूप में महत्वपूर्ण है। नर-विज्ञान की यह अन्वेषण-विधि हमे हनुमान जी की याद दिलाती है जिन्होंने, अपने को अपेक्षित सजीवनी बूटी खोजने मे असमर्थ पाकर, सारी पहाडी को उठाकर युद्धभूमि मे पहुँचा दिया। मनुष्य के जीवन मे क्या कितना महत्वपूर्ण है, इसकी खोज न करके नर-विज्ञान हमे यह आदेश देता है कि मानव-जीवन के प्रत्येक गति-लेश को हम अपने अध्ययन का विषय बना ले।

क्रेबर का कहना है कि नर-विज्ञान का उद्देश्य समस्त सस्कृति का अध्ययन करना है—सब युगो की सस्कृति, समस्त सामग्री, उसके सब विभाग और सब पहलू। उसका उद्देश्य है उन सामान्य नियमों की जानकारी प्राप्त करना जो यह बतलाते हैं कि मानव-संस्कृति कैसे व्यापृत होती है, विभिन्न स्थितियों में मनुष्य किस तरह से

व्यवहार करता है, और संस्कृति के इतिहास में बड़े-बड़े उथल-पुथल किस प्रकार होते हैं।[१४] नर-विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की भाँति अग्रसर होता है, और यह प्रयत्न करता है कि मानव-व्यवहार के विभिन्न तथ्यों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले कार्यों (Effects) का ठीक से विवरण प्रस्तुत करके उनके पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित कर दे। नर-विज्ञान को मनुष्य में इतनी रुचि नहीं है जितनी कि उन परिवर्तनों में जिन्हें, अपने सचेत रूप में, मनुष्य उत्पन्न तथा अनुभव करता है। हर्सकोविट्स ने यहाँ तक कहा है कि 'मनुष्य पर ध्यान दिये बिना भी संस्कृति का अध्ययन हो सकता है।'[१५] किन्तु व्यवहार में नर-विज्ञान आदिम समाजों में ज्यादा अभिरुचि लेता रहा है, यद्यपि ऊँचे समाज भी उसके दायरे के बाहर नहीं हैं। दूसरे, नर-विज्ञान ने इस बात में ज्यादा अभिरुचि ली है कि वह व्यक्तियों पर पड़ने वाले संस्कृतियों के प्रभाव को प्रदर्शित करे। व्यक्तियों का संस्कृतियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस प्रश्न में उसने अधिक अभिरुचि नहीं दिखलाई है। शुद्ध वैज्ञानिक "स्पिरिट" में नर-विज्ञान विभिन्न जनसमूहों के जीवन-प्रकारों का वर्णन करने में रुचि दिखलाता रहा है। उन जीवन-प्रकारों में कौन से कम या ज्यादा महत्वपूर्ण हैं, इस प्रश्न को वह अवैज्ञानिक समझता और मानता है।

मतलब यह कि नर-विज्ञान का पंडित मूल्यांकन के प्रश्न से कतराता है। नर-विज्ञान को 'रीति-रिवाजों का विज्ञान' अथवा 'मनुष्यों का विज्ञान वहाँ तक जहाँ तक वे समाज की सृष्टि हैं,' वर्णित करते हुए रूथ बेनेडिक्ट नाम की लेखिका ने यह घोषित किया है कि विज्ञान होने के नाते नर-विज्ञान एक समाज-व्यवस्था को दूसरी की तुलना में अच्छा या बुरा घोषित नहीं कर सकता।[१६]

रूथ बेनेडिक्ट ने, नर-विज्ञान की दृष्टि को समझाते हुए, एक दूसरे तत्व पर भी गौरव दिया है। उनका कथन है कि 'मुख्य बात यह है कि अनुभव और विश्वासों के क्षेत्र में परम्परा का प्रधान हाथ रहता है। व्यक्ति का जीवन-इतिहास प्रधान रूप में इस बात का इतिहास है कि वह किस तरह अपने को परम्परा से पाये हुए पैमानों तथा व्यवहार-रूपों के अनुकूल बनाता है।' अपनी पुष्टि में उन्होंने जान ड्यूई को उद्धृत किया है। ड्यूई ने कहा है कि व्यक्ति के व्यवहार में रीति-रिवाजों का प्रभाव उसी तरह प्रधान होता है, और स्वयं व्यक्ति द्वारा रीतिरिवाजों में लाया हुआ परिवर्तन वैसे ही नगण्य होता है, जैसे कि बोलचाल में मातृभाषा से पाये हुए शब्द प्रधान होते हैं और किसी बालक द्वारा कुटुम्ब की शब्दावली में दो-चार जोड़ दिये जाने वाले निराले शब्द या व्यंजनाएँ नगण्य होती हैं।[१७]

प्रश्न है, नर-विज्ञान की दृष्टि कहाँ तक उस क्षेत्र को समझने मे सहायक है जिसका अन्वेषण करना उस शास्त्र का लक्ष्य है ? जब हम नर-विज्ञान की योग्यता का निर्णय एक शास्त्र के रूप में करेंगे तो हम मुख्यतया यही प्रश्न उठायेंगे कि वह विज्ञान हममें कहाँ तक वैज्ञानिक बोध उत्पन्न कर पाता है। क्या नर-विज्ञान अपनी वैज्ञानिक क्षमता को कम किये बिना मूल्याकन से बच सकता है? नर-विज्ञानी समाजो, सामाजिक व्यवहारो तथा प्रथाओ के लम्बे-चौडे विवरण प्रस्तुत किया करते हैं। नर-विज्ञान पर लिखी हुई पोथियाँ प्राय बडे आकार की होती हैं। इसके बावजूद भी क्या नर-विज्ञान चयन तथा गौरव देने की क्रियाओ को बचा कर तथ्यों का सकलन कर सकता है? किन्तु चयन तथा गौरव की क्रियाओ मे मूल्याकन निहित है। विशेषत. मानव-व्यवहार का अध्ययन करते समय उस व्यवहार के असख्य रूपो तथा अभिव्यक्तियो मे से चयन करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे, नर-विज्ञानी मनुष्य के रूढिमलक तथा बार-बार आवृत होने वाले व्यवहार पर इतना जोर देते हैं कि वे उन तथ्यो का ध्यान करना भूल जाते हैं जो किसी समाज को अपनी गुणात्मक नवीनता से प्रभावित करते हैं। हमारे इस वक्तव्य की सत्यता का अनुमान करना कठिन न होगा यदि हम कुछ देर के लिये आदिम समाजो को छोडकर उच्चतर सभ्य समाजों की गति-विधि का विचार करें। एक उदाहरण लीजिये। आइन्स्टाइन नामक वैज्ञानिक का जीवन असंख्य क्रियाओ या व्यवहारो से बना हुआ है जिनमे से अधिकाश रूढिमूलक हैं। उसकी वे क्रियाएँ, जिनके द्वारा उसने सापेक्षवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया, उपर्युक्त व्यवहार का एक नगण्य अश हैं। क्या इसीलिये हमें यह कहना होगा कि स्वयं आइन्स्टाइन के जीवन, तथा दूसरे करोडो नर-नारियो के जीवन मे, उसकी चिन्तनात्मक क्रियाएँ कोई खास महत्व नही रखती? आइन्स्टाइन के चिन्तन ने जो मानवता के बौद्धिक इतिहास पर लम्बा-चौडा प्रभाव डाला है क्या उसकी हम बिल्कुल ही उपेक्षा करेंगे ? और क्या यह उपेक्षा ही हमारे दृष्टिकोण को वैज्ञानिक बना देगी ? यह मानते हुए भी कि व्यक्ति के व्यवहार मे रूढि तथा रीतिरिवाजो का प्रभाव मुख्य होता है, यह नहीं कहा जा सकता कि रूढि-मूलक व्यवहार उस प्रभाव के अनुपात मे महत्वपूर्ण भी होता है, विशेषत सभ्यता तथा सस्कृति की प्रगति एव परिवर्तन के लिये।

हमारा अभिप्राय यह है कि सभ्यता तथा सस्कृति मे जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें समझने के लिये हमे मूल्याकन करते हुए चलना पड़ेगा। मूल्यांकन को बचाकर हम यह निर्णय नही कर सकते कि सभ्यता के इतिहास मे होने वाला कौन-सा परिवर्तन कितना

महत्वपूर्ण है। और जब तक हम विभिन्न परिवर्तनो के महत्व के सम्बन्ध में सहमत न हो, तब तक हम महत्वपूर्ण परिवर्तनो के कारणो का पता भी नही लगा सकते, जो कि विज्ञान का लक्ष्य है। इस प्रकार यह प्रश्न कि 'कौन-सी शक्तियाँ ऐतिहासिक परिवर्तन को प्रधानतया प्रभावित करती है?' इस दूसरे प्रश्न से असम्बन्धित नही है कि 'हम महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना या परिवर्तन, जिसके कारणो का अन्वेषण अपेक्षित है, किसे कहते हैं ?' यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। इतिहास का दृष्टि-कोण तथा इतिहास द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्न स्थिर नही रहे है, यद्यपि इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वे अब तक किसी सचेत भाव से ग्रहण किये हुए मूल्य-विज्ञान पर आधारित रहे है। उत्साही विचारक अक्सर इतिहास की दार्शनिक व्याख्याओ का निरूपण करने की कोशिश करते रहे है, लेकिन उन्होने वैसा करने से पहले यह प्रश्न उठाने की जरूरत नही समझी कि महत्वपूर्ण इतिहास किसे कहते हैं। सच यह है कि इतिहास के व्याख्याता, इतिहासकार, और नर-विज्ञानी सब, अज्ञात भाव से, सामान्य बुद्धि द्वारा माने हुए मूल्यो को ग्रहण करके चलते रहे हैं और उन्होने यह कोशिश कभी नही की कि सामान्य बुद्धि के मूल्यो-सबधी पक्षपातो पर चिन्तनात्मक ढग से विचार करें। हमारे अपने युग मे इतिहास-लेखन अथवा इतिहास-शास्त्र पर प्रजातन्त्र तथा समाजवाद जैसी विचार-पद्धतियो का निश्चित प्रभाव पड़ा है। किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि इतिहास का मुख्य काम मनुष्य की सभ्यता और सस्कृति का अध्ययन है, तो यह प्रकट है कि संस्कृति और सभ्यता की धारणाओं का स्पष्टीकरण हुए बिना इतिहास अपना कार्य उचित रूप में नही कर सकता।

नर-विज्ञान की तरफ लौटते हुए हम यह लक्ष्य करते है कि जिस ढग से यह विज्ञान अब तक अग्रसर होता रहा है, उससे वह कभी ऊँचे समाजो तथा सस्कृतियो का स्वरूपाव-गाहन कर सकेगा, इसमे सन्देह है। क्योकि सभ्य समाजो की प्रगति को समझने के लिये मूल्यानुप्राणित धारणाओ का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है। चूँकि नर-विज्ञान मूल्यात्मक धारणाओं पर विश्वास नही रखता, इसलिये वह सभ्य समाजो की प्रगति पर पड़ने वाले व्यक्तियो के प्रभावो की ठीक से छान-बीन नहीं कर सकता; और चूँकि नर-विज्ञान रूढिमूलक व्यवहार पर विशेष गौरव देता है, इसलिये वह उन आविष्कारो तथा क्रान्तियो का ठीक से अध्ययन नही कर सकता जो कि समाजो तथा जातियो के इतिहास की गति बदल देती हैं। वस्तुत मानव-व्यवहार का अध्ययन करते हुए मूल्याकन को बचाकर चलना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि मनुष्य

पग-पग पर मूल्याकन करते हुए व्यवहार करता है। मनुष्य के व्यवहार की रूपरेखा उन मूल्यो से निर्धारित होती है जिन्हें मानकर वह चलता है। उदाहरण के लिये हम यह कभी नही समझ सकेंगे कि आज की दुनिया मे जनतंत्र तथा समाजवाद के विचार इतने प्रचलित एव प्रसिद्ध क्यों हो गये, यदि हम यह देखने की कोशिश न करे कि किस तरह उन विचार-पद्धतियो ने मानव-जीवन को सुधारने में योग दिया है।

## संस्कृति की वर्ग-मूलक व्याख्याएँ

अविकसित समाजों मे सस्कृति और सभ्यता का भेद स्पष्ट नही होता, वहाँ मानव-जीवन के उपयोगी तथा निरुपयोगी पक्ष एक-दूसरे से मिले रहते है। आदिम समाजो मे वर्ग-विभाजन भी नही हो पाता। किन्तु विकसित समाजो में वर्ग-भेद स्पष्ट होने लगते है। कार्ल मार्क्स तथा टी० एस० इलियट जैसे विचारकों का मत है कि सस्कृति का विशिष्ट वर्गों से घना सम्बन्ध होता है, अर्थात् अपने विकसित रूप में सस्कृति नामक तत्व विभिन्न वर्गों के जीवन के सम्बद्ध हो जाता है।

हमारे लिए टी० एस० इलियट द्वारा दिया गया सस्कृति का विवरण विशेष महत्व रखता है, क्योकि टी० एस० इलिएट जिस सस्कृति का निरूपण करते हैं वह मूल्यात्मक है। अपनी पुस्तक Notes Toward a Definition of culture (सस्कृति की परिभाषा पर कुछ टिप्पणियाँ) मे जो कि महत्वपूर्ण विचारो तथा सकेतो से भरी है, इलियट ने सस्कृति के बारे में मुख्यत तीन बाते कही हैं :

प्रथमत इलियट ने इस बात पर गौरव दिया है कि व्यक्ति की सस्कृति समूह या वर्ग की सस्कृति पर, तथा वर्ग की सस्कृति उस सम्पूर्ण समाज की सस्कृति पर, जिसका वह वर्ग अग है, निर्भर करती है।" दूसरे, इलियट ने सस्कृति के स्तरो की धारणा का निरूपण किया है जिसकी मदद से वर्ग-विशेष की सस्कृति पूरे समाज की सस्कृति से जुदा की जा सकती है। यह लक्षित करने की बात है कि इलियट ने व्यक्ति तथा वर्ग की सस्कृतियो मे स्तरो का भेद नही माना है।

तीसरे, इलियट मानते है कि सस्कृति को सक्रान्त करने का प्रधान मार्ग कुटुम्ब अथवा कौटुम्बिक जीवन है। 'जब कुटुम्ब अपना कार्य करना बन्द कर देता है, जब वह सस्कृति-दान से विमुख हो जाता है, तब सस्कृति का अध.पतन होने लगता है।' किन्तु क्योकि कुटुम्ब या परिवार समूह अथवा वर्ग की इकाई होती है, इसलिये इलियट

इस बात के बडा पक्षपाती है कि विभिन्न सामाजिक वर्गों को जीवित रक्खा जाय। यहाँ प्रश्न उठता है कि वर्ग तथा कुटुम्ब सस्कृति के विस्तार में क्या काम करते है ? इलियट का विचार है कि कुटुम्ब मुख्य रूप मे व्यक्ति को शिष्टाचार एव रहन-सहन का तरीका सिखलाता है। यह चीज सस्कृति का महत्वपूर्ण अग है और आवश्यक रूप मे वर्ग-जीवन से सबद्ध है।[१९] सस्कृति के निर्माता शिष्ट लोग ( Elite ) समाज के निम्न स्तरो से भी आ सकते हैं। किन्तु फिर भी इलियट का विचार है कि ऐसे शिष्ट लोगो का वर्ग कायम रक्खा जाय जो सास्कृतिक जीवन का केन्द्र हो और जो कला तथा चिन्तन के क्षेत्रो मे की जाने वाली सृष्टियो का उपभोग करें। वे शिष्ट लोग जो दूसरे वर्गों तथा सामाजिक स्तरो से आये हैं, अन्त मे इस स्थायी शिष्ट वर्ग के अग बन सकते है। लेकिन स्थायी शिष्ट वर्ग का अस्तित्व अनिवार्य रूप में अपेक्षित है। वर्ग का मुख्य काम यह है कि वह शिष्ट व्यवहार के रूपो तथा मानो की रक्षा करे। ऊँचे परिवारो और उनके सदस्यों का यह कर्तव्य है कि वे वर्ग की सस्कृति को सुरक्षित रखें, जब कि सस्कृति के निर्माताओ का यह कर्तव्य है कि वे उसे परिवर्तित करे। कुटुम्ब को और भी कुछ करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपने सदस्यो मे अतीत के महापुरुषो के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करे और साथ ही आगे आने वाली पीढियो के प्रति ममत्व की भावना तथा उनके कल्याण की चिन्ता जागृत करे।[२०]

ऊपर हमने इलियट के सस्कृति-सम्बन्धी विचारो की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की। उन विचारो का सम्बन्ध मुख्यत उन स्थितियो से है जिनमें सस्कृति फल-फूल सकती है तथा आगे आने वाली पीढियो तक सक्रान्त की जा सकती है। जहाँ तक सस्कृति के स्वरूप का सम्बन्ध है, इलियट ने कोई सुनिश्चित परिभाषा नही दी है। एक जगह उन्होने कहा कि सस्कृति विभिन्न क्रियाओ का योग मात्र नही है, बल्कि वह जीवन-यापन का एक प्रकार है। अन्यत्र वह कहते हैं "हम कह सकते है कि सस्कृति वह है जो जीवन को जीने योग्य बनाती है।' इलियट ने यह भी कहा है कि सस्कृति का धर्म से गहरा सम्बन्ध होता है। इलियट ने जिन क्रियाओ या व्यापारो का सस्कृति के अन्तर्गत समावेश किया है उनकी सूची लम्बी-चौडी है। शिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओ का सेवन, आदि के अतिरिक्त इलियट ने कहा है कि किसी जाति अथवा राष्ट्र की वे समस्त क्रियाएँ जो उसे विशिष्ट बनाती है, उसकी सस्कृति का अग हैं, जैसे कि घुडदौड अथवा नावो की प्रतियोगिता, उसके खान-पान का प्रकार, उसका सगीत, आदि।

कोई भी व्यक्ति अथवा समाज सभ्यता के समस्त मूल्यो का उपभोग नही कर सकता, उन मूल्यों मे परस्पर विरोध भी हो सकता है। इसलिये इलियट का कहना है कि कोई भी व्यक्ति अथवा समाज पूर्णतया सभ्य नही हो सकता और वह व्यक्ति जो सस्कृति की प्रगति मे योग देता है, भले ही उसका योग बहुत महत्वपूर्ण हो, स्वय पूर्णतया सस्कृत व्यक्ति नही कहा जा सकता। यह जरूरी नही है कि कवि तथा विचारक जो सस्कृति को आगे बढाता है स्वय एक सुसस्कृत व्यक्ति ही हो।

हमने कहा कि इलियट ने मुख्यत सस्कृति को एक मूल्य के रूप मे निरूपित किया है। इलियट की सस्कृति के मानो मे विशेष अभिरुचि है। इस अभिरुचि के कारण ही उन्होने यह प्रस्ताव किया है कि शिष्ट वर्ग को एक स्वतत्र वर्ग के रूप मे कायम रहना चाहिए। उनका विचार है कि पिछले वर्षो मे उन वर्गो का जिनके जीवन में सस्कृति अपने उच्चतम रूप में प्रतिफलित रहती है, विघटन होता रहा है, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी देशो का यह युग सास्कृतिक अधोगति का युग रहा है। और इस समय के सास्कृतिक पैमाने पचास वर्ष पूर्व के पैमानो से निम्नतर या हीनतर है।

इलियट ने सस्कृति के पैमानो के लिए जो चिन्ता प्रकट की है, वह नि सन्देह श्लाघ्य है, किन्तु उन्होने सास्कृतिक व्यापारो की जो सूची दी है उसे पढकर मन मे कुछ सन्देह उत्पन्न होता है, यह कि इन विभिन्न क्रियाओ का आपेक्षिक महत्व क्या है। उदाहरण के लिये इलियट हमे यह नही बतलाते कि दर्शन, कविता तथा घुड़दौड में किस व्यापार को कितना महत्व दिया जाय और क्यो। उन्होने यह भी बताने की कोशिश नही की है कि सस्कृति के विभिन्न स्तरो को एक-दूसरे से कैसे अलग किया जाय। इस दिशा में इलियट ने जिस अकेले मानदण्ड की ओर सकेत किया है वह मानदण्ड है शिष्ट व्यवहार के नियम, अर्थात् तथा-कथित अभिजात वर्ग के जीवन-नियम। किन्तु इलियट ने कही उन सामान्य सिद्धान्तो का निरूपण नही किया जिनके आधार पर शिष्टता के नियमो, घुडदौड, दर्शन, नैतिकता, धार्मिकता आदि के आपेक्षिक महत्व को हृदयगम किया जा सके।

स्पेनी लेखक आर्टीगा बाइ० गैसेट इलियट के इस मन्तव्य से सहमत है कि संस्कृति विशिष्ट मानदण्डो पर आधारित है। उन्होने लिखा है कि संस्कृति के विभिन्न दर्जे प्रयुक्त मानो के न्यूनाधिक सहीपन से निर्धारित होते है। गैसेट सामान्य मनुष्य से डरते है, जो आराम से चलना चाहता है और अपने से कोई कडी माँग नही करता।

किन्तु गैसेट अभिजात-वर्ग तथा उसके शिष्ट व्यवहार के प्रशंसक नही है। उनका विचार है कि अभिजात-वर्ग का सदस्य आराम से रहने का अभ्यस्त होता है और उस प्रकार का प्राणवान् प्रयत्न नही करता जिससे व्यक्तित्व की उन्नति होती है। अभिजात-वर्ग का सदस्य विभिन्न खेलो तथा क्रीडाओ को जीवन का मुख्य व्यापार बना लेता है और शरीर की स्वच्छता तथा वेशभूषा पर विशेष ध्यान देता है। स्त्रियो से व्यवहार करते समय वह रोमान्स का अनुभव नही कर पाता।'[११] अभिजात-वर्ग पर टिप्पणी करते हुए जर्मन कवि गेटे ने लिखा था, 'यह सोचकर आश्चर्य होता है कि एक समृद्ध उच्चवर्गीय अग्रेज का कितना समय द्वन्द्व युद्ध करने तथा महिलाओं को ले-भागने में व्यय हो जाता है।'[१२]

प्रतीत होता है कि गेटे मध्य वर्ग के प्रति ज्यादा सहानुभूति रखते थे। उन्होने लिखा है कि 'योग्य व्यक्तित्व के विकास के लिये मध्यस्थिति ज्यादा अनुकूल पडती है, हम पाते है कि समस्त बडे कलाकार और कवि मध्य वर्ग में हुए है।'[१३] गैसेट पूछते हैं कि आज वह कौन है जिसके हाथो में सामाजिक शक्ति है? कौन अपनी बुद्धि तथा मस्तिष्क के रूपो को युग के ऊपर आरोपित करता है? उनका उत्तर है कि 'नि सन्देह मध्यवर्ग का मनुष्य इजीनियर, डॉक्टर, पूंजी जुटानेवाला, शिक्षक इत्यादि।'[१४] गैसेट ने बौद्ध सद्गुण अप्रमाद या उद्योगशीलता को श्रेष्ठ पुरुषो का चिह्न माना है, और वह कहते है कि यह सद्गुण मध्यवर्ग के कुछ लोगो में अधिक विकसित रूप में दिखाई देता है।

किन्तु अप्रमाद या उद्योगशीलता नाम के गुण का विभिन्न दिशाओ में उपयोग किया जा सकता है। एक व्यवसायी व्यक्ति बडा परिश्रमी हो सकता है और अपने से उसी तरह कठिन माँगें कर सकता है जैसे कि एक कलाकार या कवि। इसलिये अप्रमाद अथवा उद्योगशीलता को हम सास्कृतिक उपलब्धि का मानदण्ड नही मान सकते।

## मार्क्सवादी सिद्धान्त

अब हम एक दूसरे सिद्धान्त की परीक्षा करेंगे जो सस्कृति को वर्ग की वस्तु मानता है। हमारा मतलब मार्क्सवाद से है। मार्क्स और ऐंगेल्स की कृतियो में सस्कृति शब्द का प्रयोग कम ही हुआ है। यह कहना भी कठिन है कि वे सस्कृति को एक वर्णनात्मक धारणा मानते है या मूल्यात्मक धारणा। मार्क्स को सस्कृति के पैमानों

की चिन्ता थी, ऐसी बात भी नही है, यद्यपि वह एक अर्थ मे सस्कृति को प्रगति से सम्बन्धित करते है। मार्क्सवादी अनुभव-जगत को दो भागो में विभक्त करते है: एक भौतिक वस्तु-सम्बन्ध, और दूसरे चेतना, प्रत्यय या विचार। मार्क्सवाद बौद्धिक चेतना अथवा प्रत्ययो को वस्तु-सम्बन्धो पर आधारित बतलाता है। सस्कृति का सम्बन्ध सामाजिक चेतना से है और वह सस्कृति सामाजिक सत्ता पर निर्भर रहती है। सामाजिक सत्ता से मतलब है भौतिक सामाजिक सम्बन्ध। सामाजिक रूप में सम्पत्ति का उत्पादन करते हुए मनुष्यगण निश्चित सम्बन्धो से सम्बन्धित हो जाते है। ये सम्बन्ध अनिवार्य होते है और विभिन्न व्यक्तियो के सकल्पो से निर्धारित नही होते। इन सम्बन्धो की समग्रता किसी समाज के आर्थिक ढाँचे को निर्मित करती है। यह आर्थिक ढाँचा असली आधार होता है जिस पर कानूनी तथा राजनैतिक ढाँचा खड़ा होता है और जिससे सामाजिक चेतना के रूप स्थिर होते है। भौतिक उत्पत्ति के प्रकार सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक जीवन-व्यापारों का निर्धारण करते है।[२५] सक्षेप मे यही मार्क्स का सिद्धान्त है। मार्क्स की दूसरी मान्यता यह है कि हर युग में लोगो पर शासन करनेवाले विचार प्राय शासको के विचार होते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए सिडनी हुक कहते है कि 'समाज का वर्गो मे विभाजन विभिन्न विचार-पद्धतियो को जन्म देता है. राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक। ये विचार-पद्धतियाँ वर्ग-सम्बन्धों को प्रकट करती है, और वे या तो शासको की शक्ति को पुष्ट करने वाली होती है या उन्हे निराधार प्रदर्शित करने वाली। इस प्रकार विचार-पद्धतियो के बीच द्वन्द्व चलता रहता है। जिनके हाथों में उत्पत्ति के साधन होते है, उन्ही के हाथो में प्रचार के साधन भी होते है जैसे चर्च, प्रेस, और स्कूल। फलत किसी समय में जो विचार प्रचलित होते है वे मौजूदा व्यवस्था को आधार देनेवाले होते है।'[२६]

किसी विचार-पद्धति का मूल्याकन करने का मार्क्सवादी तरीका ऐतिहासिक है। जब तक किसी सस्कृति को उत्पन्न करने वाला वर्ग स्वयं प्रगतिशील रहता है, तब तक उसकी सस्कृति भी प्रगतिशील रहती है। जब वह प्रगतिशील नही रहता, तब उसकी सस्कृति भी प्रगतिशील नही रहती, बल्कि मूल्यहीन हो जाती है। उदाहरण के लिये जब बूर्जुआ वर्ग ने सामन्ती व्यवस्था का विनाश किया उस समय वह प्रगतिशील और क्रान्तिकारी था। कारण यह कि उस समय बूर्जुआ वर्ग सम्पत्ति का अधिक और शीघ्रता से उत्पादन कर सकता था। इतिहास के जिस युग में सामन्ती व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी उस समय बूर्जुआ वर्ग की संस्कृति प्रगतिशील तथा महत्वपूर्ण दोनो थी। लेकिन

इस समय, उत्थित होते हुए मजदूर-वर्ग की अपेक्षा में, पूँजीवादी वर्ग और वह सस्कृति जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, प्रतिक्रियावादी एव अप्रगतिशील बन गये हैं। इस समय पूँजीवादी समाज की दशा ऐसी नही कि वे अधिक से अधिक सम्पत्ति का उत्पादन कर सकें।[१७]

शासक-वर्ग जिन विचार-पद्धतियो को जन्म देता है वे उनके स्वार्थों को पुष्ट करने वाली होती हैं। ये विचार-पद्धतियाँ, अन्तिम विश्लेषण मे, उन लोगों के बीच जो उत्पादन के साधनो पर अधिकार रखते हैं और उनके बीच जो उनके अधीन रहकर उत्पादन करते हैं, ऐसे सम्बन्धों की वकालत करती हैं जो शासक-वर्गों के लिये हितकर हैं। ये विचार-पद्धतियाँ मानवजाति के लिये तब तक उपयोगी होती हैं जब तक वे उन वर्ग-सम्बन्धो की बौद्धिक पुष्टि करती हैं जो अधिक उत्पादन के आधार हैं। जब वे सम्बन्ध अनुपयोगी हो जाते हैं, जब वे अधिक उत्पादन मे बाधा बन जाते हैं, तब वे विचार-पद्धतियाँ भी, जो उन सम्बन्धो का मडन करती थी, पुरानी और अप्रगतिशील बन जाती हैं। जब पूँजीपतियो ने उत्पादन की ऐसी नई प्रक्रियाओ का आविष्कार किया जिन प्रक्रियाओ के साथ सम्पत्ति और वर्गों के नये सम्बन्ध जुडे थे तब सामन्ती युग की विचार-पद्धति, उनके सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक तथा कानून-सम्बन्धी विचार पुराने पडे गये, और वे प्रतिक्रियावादी भी दीखने लगे। अभिप्राय यह है कि समय-समय पर मानवजाति को पुरानी विचार-परम्परा से विच्छिन्न हो जाना चाहिए। इस प्रकार विच्छिन्न होकर ही मानवजाति उन्नति कर सकती है। इस प्रकार की विच्छिन्नता तब तक आवश्यक रहेगी जब तक समाजवादी समाज की स्थापना न हो जाय। इस प्रकार के समाज की स्थापना क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। ऐसी क्रान्ति अतीत से "सम्पूर्ण विचारात्मक विच्छिन्नता" उत्पन्न करेगी, क्योंकि वह मौजूदा साम्पत्तिक सम्बन्धो मे "आमूल परिवर्तन" उपस्थित कर देगी।

इस प्रकार मार्क्सवाद अतीत के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा का अनुभव नही करता। मार्क्सवाद क्रान्तिवादी है। उसके विचार मे परम्परा, इतिहास की यात्रा में, मूलत निषेधात्मक पार्ट खेलती है। परम्परा उस परिवर्तन की गति को मन्द करती है जिसे हम प्रगति कहते हैं। परम्परा मुख्यत नई विचार-पद्धति के उत्पन्न होने मे बाधा डालती है। मरी हुई पीढ़ियो की परम्परा का बोझ-मार्क्स ने एक जगह लिखा है—एक भयावने स्वप्न की तरह नई पीढी के मस्तिष्क पर पडा रहता है।[१८]

मार्क्सवाद के ये मन्तव्य कुछ ऐसी मान्यताओ पर निर्भर है जिन्हे स्वीकार नही किया जा सकता।

प्रथमत. मार्क्सवाद यह मानता प्रतीत होता है कि मनुष्य केवल मात्र एक सामाजिक प्राणी है। दूसरे, मार्क्सवादी विचार-पद्धति के अनुसार, सामाजिक जीवन वर्ग-सम्बन्धो मे, अथवा उन सम्बन्धो से निर्धारित व्यापारों मे, नि शेष हो जाता है। पहली मान्यता के अनुरूप मार्क्सवाद यह मानने से इनकार करता है कि मानवीय जीवन की कोई निजी (प्राइवेट) भूमिका, अथवा कोई ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित भूमिका, भी होती है। दूसरी मान्यता को ग्रहण करके मार्क्सवाद यह कहता प्रतीत होता है कि विभिन्न वर्गो की रुचियाँ, विचार तथा दृष्टिकोण एकदम भिन्न होते है और मानव के वे वर्ग मानो विभिन्न जीव-योनियाँ बनाते है।

इनमें से कोई भी मान्यता समीचीन नही है। सामाजिक सम्बन्ध केवल वर्ग-मूलक ही नही होता। माता का अपने बच्चे से तथा प्रेमी का अपनी प्रेमिका से जो सम्बन्ध होता है, वह किसी भी प्रकार वर्ग का सम्बन्ध नही कहा जा सकता। यही बात मित्रों के आपसी सम्बन्ध पर लागू है। हमारी एक व्यक्ति से मैत्री हो सकती है, इसलिये नही कि मै और वह एक ही वर्ग के है, अथवा हमारी सामान्य वर्ग-मूलक रुचियाँ है। मै एक व्यक्ति को इसलिये भी पसन्द कर सकता हूँ कि वह अच्छी गप करता है, या एक अच्छा खिलाडी है, अथवा कविता का प्रेमी है, अथवा पहाडी यात्राओ में रुचि रखता है। यह भी लक्षित करने की बात है कि प्रेमी और मित्र, फिर वे चाहे किसी भी वर्ग के हो, अपनी भावना के विषय के सम्बन्ध मे प्राय एक से आवेगो तथा मनोभावो का अनुभव करते है। यही कारण है कि एक आधुनिक प्रेमी उन सारे आवेगो को ग्रहण कर सकता है जो कालिदास के 'मेघदूत' मे यक्ष पर आरोपित किये गये है, अथवा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे दुष्यन्त की मानसिक प्रतिक्रियाओ मे दिखलाये गये है। और यही कारण है कि हम सूरदास के बालकाव्य मे आज भी रस ले सकते है। आश्चर्य की बात है कि वे पाठक जिनका राजकुमारो तथा राजकुमारियो से दूर का भी सम्बन्ध नही है, कालिदास के उन चौदह श्लोकों मे रस लेते पाये जाते है जिनमें कालिदास ने चारणो द्वारा अज को जगाने के लिये उसका विरुद-गान कराया है। वास्तविकता यह है कि, मानव-स्वभाव की मौलिक एकता के कारण, विभिन्न मनुष्य एक-दूसरे की सवेदनाओ तथा प्रतीतियो को ग्रहण कर सकते और उनका उपभोग कर सकते है।

## अनुभूति के आयाम या सिम्तें

ऊपर हमने कहा कि मार्क्सवादी सामाजिक जीवन को एक सकीर्ण रूप में लेते है और उसे वर्ग-सम्बन्धो से समीकृत करते है जो उचित नही है। यहाँ हम यह कहना चाहते है कि मानव-जीवन और अनुभूति केवल सामाजिक भूमिका में ही प्रसरित नही होते, वे उस भूमिका का अतिक्रमण करके दूसरी भूमिकाओ मे भी विस्तार पाते है। मनुष्य केवल मात्र सामाजिक यथार्थ के प्रति ही प्रतिक्रिया नही करता। उसके जीवन में ऐसा अवसर भी आता है जब वह मानव के समग्र अस्तित्व पर और ब्रह्माण्ड के अस्तित्व पर भी विचार करता है, एव उन दोनो के प्रति बौद्धिक तथा आवेगात्मक प्रतिक्रिया करता है। दार्शनिको के बारे मे कहा गया है कि वे देश-काल की समग्रता के दर्शक होते हैं। बुद्ध जी जैसे विचारक जो प्रश्न करते हैं, उनका सम्बन्ध किसी सकीर्ण सामाजिक जीवन से नही होता। वे प्रश्न अपनी परिधि में समग्र मानव-जीवन तया समूचे ब्रह्माण्ड को ले लेते हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्य एक दार्शनिक प्राणी है और वह पूर्णता की कामना रखने वाला धार्मिक प्राणी भी है। वह समाज से कही अधिक व्यापक वस्तु-सत्ता के प्रति प्रतिक्रियाशील होता है।

यदि हम सामाजिक जीवन का अर्थ वह जीवन समझें जिसमे देना और लेना रहता है, अर्थात् पारस्परिक सेवा के विनिमय का जीवन, तो हमें जीवन की तथा अनुभूति की एक तीसरी सिम्त भी माननी पडेगी। इस सिम्त को हम प्रगीतात्मक सिम्त या भूमिका भी कह सकते हैं। इस भूमिका में मनुष्य विभिन्न वस्तुओं से रागात्मक तथा सौन्दर्य-मूलक सम्बन्ध स्थापित करता है। जीवन तथा अनुभूति की यह भूमिका मुख्यत गीत काव्य में अभिव्यक्ति पाती है, उस गीतात्मकता में जिसके प्रमुख प्रतिनिधि वड्र्सवर्थ और शेली, कीट्स और रवीन्द्र, तथा विद्यापति और विहारीलाल है।

इधर यह फैशन हो चला है कि कला, दर्शन आदि की सामाजिक व्याख्या की जाय और उन्हें विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ पर निर्भर प्रदर्शित किया जाय। कुछ लोगो का विचार है कि हमारा समस्त ज्ञान-विज्ञान विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था का सापेक्ष होता है। इस दृष्टिकोण को "ज्ञान की समाजशास्त्रीय व्याख्या" ( Sociology of Knowledge ) नाम दिया गया है। नाम नया है, किन्तु उसमें निहित सिद्धान्त पुराना है। वह सिद्धान्त मार्क्सवाद की यह मान्यता है कि सामाजिक चेतना सामाजिक सत्ता पर निर्भर करती है,और सामाजिक सत्ता सामाजिक चेतना की पूर्ववर्त्ती होती है।

यहाँ एक रोचक प्रश्न किया जा सकता है। वे कौन-सी सामाजिक स्थितियाँ हैं जिन्होंने इस विशिष्ट सिद्धान्त को जन्म दिया है? यदि यह सिद्धान्त आज के युग की कतिपय सामाजिक परिस्थितियो का परिणाम है, तो क्या यह माना जाय कि उन परिस्थितियों के बदले जाने पर यह सिद्धान्त मान्य नही रहेगा? इसी प्रकार मार्क्सवाद की यह मान्यता कि प्रत्येक सिद्धान्त किसी वर्ग का सिद्धान्त होता है, प्रत्येक सत्य किसी वर्ग के लिये सत्य होता है, क्या स्वयं भी एक वर्ग का सत्य है? और क्या यह मान्यता कि सारी मान्यताएँ परिस्थितियो पर निर्भर करती है, स्वय किसी खास सामाजिक परिस्थिति पर निर्भर करती है? हम समझते है कि ऐसा मानना समुचित नही होगा। जब लेनिन ने कहा कि "वर्ग-सघर्ष पर आधारित समाज में निष्पक्ष समाज-विज्ञान की स्थिति सम्भव नही है", तब, निश्चित रूप में, वह यह नही कहना चाहता था कि उसकी यह मान्यता निष्पक्ष चिन्तन का फल न थी। यह भी समझ मे नही आता कि लेनिन की यह मान्यता किस प्रकार एक या दूसरे वर्ग के लिये विशेष हितकर हो सकती है।

जिसे हम ज्ञान की सामाजिक व्याख्येयता का सिद्धान्त कहते है उसकी, और लेनिन की उक्त मान्यता की, सच्चाई इस स्वीकृति पर निर्भर है कि मनुष्य में अपने व्यापारो के सम्बन्ध में, कुछ हद तक, निष्पक्ष एव तटस्थ द्रष्टा बनने की क्षमता है। यदि मनुष्य अपने को थोडी देर के लिये भी तटस्थ एव निष्पक्ष नही बना सकता, यदि वह सामाजिक जीवन द्वारा आरोपित संघर्षों तथा सम्बन्धो से अपने को अलग नही कर सकता, तो वह समाज के सघर्षो की निष्पक्ष, वैज्ञानिक व्याख्या तथा अध्ययन भी नहीं कर सकता। प्रस्तुत लेखक का विचार है कि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा मनुष्य अपने को तात्कालिक परिवेश से अलग कर सकता है, और अपने को तटस्थ द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है, और इस प्रकार वह सामाजिक जीवन-नाटक का निष्पक्ष अध्ययन कर सकता है। यही नही, प्रयत्न करने पर मनुष्य संकीर्ण सामाजिक जीवन की परिधि से ऊपर उठकर समस्त ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप में चिन्तन तथा अध्ययन कर सकता है। इसी प्रकार वह सकीर्ण वर्ग-भावना के ऊपर उठकर समस्त मानवता के दृष्टिकोण को भी अपना सकता है।

यदि अब भी कोई इस बात पर अड़ा रहे कि मनुष्य का चिन्तन सामाजिक तथा सास्कृतिक स्थितियो द्वारा निर्धारित होता है तो उत्तर है. इस प्रकार निर्धारित होने वाला चिन्तन प्राय. वही होता है जिसका विषय समाज के मूल्य है। इसका मतलब यह हुआ कि दूसरी दिशाओ मे चलने वाला चिन्तन सामाजिक स्थितियों से निर्धारित

भी समीकृत नही कर सकते। किसी भी समाज अथवा वर्ग का सम्पूर्ण व्यवहार संस्कृति का मानदण्ड नही माना जा सकता। वस्तुत सस्कृति का मूल्यात्मक विवेचन करने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले सस्कृति के स्वरूप एव पैमानो की ठीक अवगति प्राप्त कर लें, जिससे सस्कृति के विभिन्न स्तरों को अलग किया जा सके। य पैमाने, ऐसे होने चाहिएँ कि वे हमें विभिन्न समाजों, वर्गों तथा व्यक्तियों की सास्कृतिक उपलब्धियो के आँकने में सहायक हो सके। इतिहास द्वारा हम अनेक समाजो, अनेक अभिजात वर्गों, तथा बहुत-से प्रतिभाशाली व्यक्तियों का परिचय पाते हैं। ऐसी दशा मे यह सम्भव नही है कि हम किन्ही विशिष्ट समाजों, अभिजात वर्गो तथा व्यक्तियों को सास्कृतिक श्रेष्ठता के मानदण्ड के रूप मे स्वीकार कर ले। इस प्रकार का मानदण्ड या पैमाना उन सामान्य तत्वो के अन्वेपण से ही प्राप्त हो सकता है जो अपने को विभिन्न विशेपो में अभिव्यक्त करते हैं।

मैकाइवर ने एक स्थान में कहा है कि मनुष्य जो कुछ करता है उसे मुख्यत- दो व्यवस्थाओ या क्रमो मे निक्षिप्त किया जा सकता है। एक वर्ग की क्रियाओ को वह सभ्यता कहता है और दूसरे वर्ग की क्रियाओ को सस्कृति।[१९] इस सम्बन्ध में हमें कहना है कि जहाँ मनुष्य मुख्यत मूल्यो के उत्पादन के लिए व्यापृत होता है वहाँ वह कभी-कभी ऐसे काम भी कर डालता है जो मूल्यो के उत्पादक न होकर उनके विघातक होते हैं। मनुष्य ऐसी क्रियाएँ भी करता है जो निपेधात्मक मूल्यो को उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिये अनेक आक्रामक विजेताओं ने विजितों के मंदिर आदि कला-सृष्टियो का ध्वस किया है, और हत्यारे चोर-डाकू अक्सर महत्वपूर्ण वस्तुओं तथा व्यक्तित्वो को नष्ट कर डालते हैं। इन स्पष्ट तथ्यों को स्वीकार किये बिना हम सभ्यता तथा सस्कृति की मूल्यात्मक छानबीन नहीं कर सकते।

मूल्य किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस दूसरे प्रश्न के उत्तर से सम्बन्वित है कि मनुष्य किन चीजो को मूल्यवान समझते हैं। अन्तत मूल्यवान वस्तु वह है जिसकी मनुष्य कामना करता है। जान स्टुअर्ट मिल ने ठीक ही कहा था कि वांछनीय वह है जिसकी कामना की जाती है। ज्यादा उचित यह कहना है कि वाछनीय वस्तुएँ उन्ही वस्तुओं के वर्ग में पाई जा सकती है जिनकी मनुष्य इच्छा करता है। वे सभी वस्तुएँ जिनकी हम कामना करते है भले ही मूल्यवान न हो, किन्तु वांछनीय या मूल्यवान वस्तुएँ प्राय. उन्ही चीजो में मिलेगी जिनकी विभिन्न मनुष्य इच्छा या अभिलाषा करते

है। सभ्यता तथा संस्कृति वे मूल्यवान अथवा वांछनीय वस्तुएँ हैं जिन्हें मनुष्य स्वयं उनके लिये कामना का विषय बनाता है।

सभ्यता को यदि हम चरम मूल्य न मानें तो भी कोई हर्ज नहीं है। चरम मूल्य से हमारा तात्पर्य उन मूल्य से है जिसकी कामना स्वयं उसी मूल्य के लिये की जाती है, किसी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नहीं। मनुष्य सजान प्राणी होने के नाते मुख्यतः यह कामना करता है कि उसकी जरूरतें निर्विघ्न पूरी होती रहे। मनुष्य की कुछ ऐसी मौलिक क्षुधाएँ तथा जरूरतें हैं जिनके पूरा न होने से उसे अमिश्रित कष्ट होता है। दूसरे प्रकार की आकांक्षाएँ, जो मूल क्षुधाओं से सम्बन्धित नहीं हैं, उतनी कष्टकर नहीं होतीं। वैसी आकांक्षाएँ तथा इच्छाएँ अनिवार्य भी नहीं होतीं। उदाहरण के लिये यश की इच्छा एक अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत भोजन आदि की इच्छा एक अनिवार्य भूख या आवश्यकता के रूप में महसूस होती है और उसकी पूर्ति न होने से व्यक्ति को एकान्त कष्ट होता है: वह स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने में असमर्थ हो जाता है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य की सबसे पहली जरूरत यह है कि वह अपने को मौलिक क्षुधाओं तथा अपनी जैवी प्रकृति की आवश्यकताओं से मुक्त करे। सभ्यता वह उपकरण है जिसके द्वारा मनुष्य उन जीवन-स्थितियों की सृष्टि करता है जिनमें वह अपनी मूल जरूरतों को स्वतंत्रतापूर्वक पूरा कर सके। इस दृष्टि से मनुष्य और पशु में कुछ भेद होता है। पशु प्रायः भविष्य की चिन्ता नहीं करता, वह वर्तमान में जीवित रहता है, और वर्तमान की जरूरतों को पूरा करके सन्तुष्ट हो जाता है। इसके विपरीत मनुष्य भविष्य की भी चिन्ता करता है। दूसरे मनुष्य की कुछ जरूरतें ऐसी हैं जो पशुओं में नहीं पाई जातीं, जैसे कि उनकी वस्त्रों तथा घर की आवश्यकता। वे सब कला-कौशल के तंत्र और तरीके जिनके द्वारा मनुष्य अपनी मूल क्षुधाओं तथा जरूरतों को सरलता पूर्वक पूरा करता है, सभ्यता कहलाती हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात पड़ेगा कि सभ्यता द्वारा मनुष्य अपने परिवेश को इस प्रकार नियंत्रित तथा परिवर्तित करता है कि वह अधिकाधिक नर-नारियों के लिए स्वतंत्रता-पूर्वक रहने की स्थितियाँ प्रस्तुत कर सके।

जिसे हम कलाकौशल की प्रगति कहते हैं, उसके द्वारा मनुष्य एक प्रकार की स्वतंत्रता को प्राप्त करता है, अर्थात् मूल जरूरतों के दबाव से स्वतंत्रता। किन्तु कालान्तर में उसे दूसरी कोटि की स्वतन्त्रता की कमी भी खलने लगती है। विभिन्न मनुष्यों की निसर्ग-सिद्ध योग्यताओं तथा शक्तियों में भिन्नता होती है। इसका फल यह होता

बँट जाता है। अधिकांश कानूनी तथा दूसरी सस्थाओं का उद्देश्य यह होता है कि वे विभिन्न वर्गों के अधिकारो और कर्तव्यो को निर्दिष्ट कर दे, जिससे उनके बीच अनावश्यक सघर्ष न हो। फलत सभ्य समाजो मे पायी जानेवाली कानून आदि सस्थाएँ दो काम करती है एक, वे पद, श्रेणी आदि के भेदो को कानूनी रूप दे देती है, और दूसरे, वे विभिन्न कामो मे लगे हुए मनुष्यो को सुरक्षा की भावना से अनुप्राणित करती है।

एक दूसरे प्रकार की स्वतनता भी है जो कि सभ्य व्यवहार में प्रतिफलित होती है, अर्थात् प्रवृत्ति की दासता से मुक्ति या स्वतत्रता। सभ्य व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियो पर नियत्रण रखता है। वे नियत्रण उसके तथा समाज के दोनों के लिये हितकर होते हैं। कुछ सीमा तक इस प्रकार का नियत्रण स्वय समाज द्वारा आवश्यक बना दिया जाता है। किन्तु एक व्यक्ति अपनी स्वतत्र इच्छा से भी इस प्रकार के नियत्रण का अभ्यास कर सकता है, ताकि वह अपने व्यक्तित्व को उच्चतर बना सके और ज्यादा ऊँची प्रगति कर सके।

प्रथम दो अर्थों में स्वतत्रता एक ऐसी सामग्री है जो दूसरो को दी जा सकती है, और दूसरो द्वारा छीनी जा सकती है। वे भौतिक वस्तुएँ जिनके द्वारा हमारी जरूरतें पूरी होती हैं, एक व्यक्ति के अधिकार से दूसरे व्यक्ति के अधिकार में जा सकती हैं, यही नही, उन्हे अपनी इच्छा से भी एक व्यक्ति दूसरो को दे सकता है, वे दूसरो से खरीदी भी जा सकती है। जिसे हम सभ्य व्यवहार कहते हैं उसमे उक्त चीजो का लेन-देन बराबर चलता रहता है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य भौतिक सामग्री तथा शक्ति एव पद की आकाक्षा करते हैं। लक्षित करने की बात यह है कि मनुष्यो में जो अपने को स्वतत्र रखने की अभिलाषा होती है वह कभी-कभी दूसरों के बन्धन का कारण बन जाती है। मनुष्य परिश्रम से बचना चाहता है, इसलिये कुछ मनुष्य दूसरो से परिश्रम कराके अपने अस्तित्व की समस्या को हल कर लेना चाहते है। दूसरे, यह स्थिति कि कुछ लोग हमारे अधीन होकर काम कर रहे हैं, समाज मे हमारे आदर बढने का कारण बन जाती है। इस प्रकार दासता तथा स्वामित्व एव सेवक तथा सेव्य के सम्बन्धो का उद्गम होता है। अतीत युगो में मालिक लोग न केवल सेवको के परिश्रम का उपभोग करते रहे है, उनकी उन सेवको की पत्नियो के शरीरो तक भी पहुँच रही है। जब

कुछ लोग कुछ दूसरो पर निर्भर करते हैं, तो इस प्रकार की अनरीतियाँ उत्पन्न हो ही जाती हैं। अभिप्राय यह है कि भौतिक सामग्री की अभिलाषा कुछ तो इसलिये की जाती है कि वह हमारी जरूरतों को पूरा करती है, और कुछ इसलिये भी कि उसके द्वारा हम दूसरो पर अधिकार प्राप्त करके उनके श्रम से लाभ उठा सकते हैं। धन या सम्पत्ति द्वारा दूसरो के परिश्रम को खरीदने की इस शक्ति को हम एक भिन्न ढंग से भी देख सकते हैं. वह शक्ति हमें दूसरो को जरूरतो से मुक्ति देने की क्षमता के रूप मे भी दिखाई देती है। हम किसी के अधिकार या आदेश को दो भिन्न कारणों से स्वीकार कर सकते हैं: या तो इसलिये कि उस प्रकार का आज्ञा-पालन हमें अपनी जरूरतो से छुटकारा पाने मे मदद करता है; और दूसरे इसलिये कि शक्तिशाली अधिकारियों मे हमें हानि पहुँचाने की क्षमता रहती है। पहली दशा में हम अपनी सेवा तथा आदर स्वेच्छापूर्वक अर्पित करते हैं। किन्तु दूसरी दशा मे हम मन में कष्ट मानते हुए ही ये चीजें दे पाते हैं। जैसा कि हीगल ने कहा था, धन तथा सम्पत्ति स्वतंत्रता अथवा मुक्ति का रूप है। धनी लोगो की प्रशसा मुख्यत इसलिये की जाती है कि वे दूसरो को कुछ हद तक वैसी स्वतत्रता दे सकते हैं, अथवा उन्हें अपनी सम्पत्ति से प्राप्त होने-वाली स्वतत्रता मे साझी बना सकते हैं। इसलिये यह देखा जाता है कि जो धनी व्यक्ति कजूस होता है उसकी कोई परवाह नही करता। लोग उस धनी के चारो ओर मँडराना पसन्द करते है जो अपनी सम्पत्ति में से दूसरो को हिस्सा देने को तैयार रहता है। आदिम समाजो पर लिखते हुए लैन्टमैन ने लिखा है 'अन्वेषको का कहना है कि सम्पत्ति स्वयं अधिकार एवं आदर प्राप्त कराने में समर्थ नहीं होती, ये चीजें उदारता तथा मेहमानदारी द्वारा प्राप्त होती हैं। वे व्यक्ति जो हमेशा अपने मित्रो को खिलाने-पिलाने अथवा उन्हें उपहार देने को तैयार रहते हैं, आसानी से प्रभावशाली पद पा जाते हैं। उत्सवों के अवसर पर जो जितना ही अधिक धन खर्च तथा वितरित करता है, उतना ही वह सामाजिक दृष्टि मे ऊँचा होता जाता है। साथ ही कृपण व्यक्ति के लिए घृणा का भाव भी पाया जाता है।'[४] वहीं पर यह बतलाया गया है कि अन्डमन टापू मे व्यक्ति-विशेष का सामाजिक महत्व किसी सम्बन्ध पर निर्भर नहीं करता, बल्कि शिकार खेलने, मछली पकड़ने आदि की योग्यता पर निर्भर करता है और उदा-रता तथा मेहमानदारी की प्रसिद्धि पर भी। सम्पत्ति तथा उदारता के अतिरिक्त शारीरिक शक्ति, युद्ध करने की क्षमता तथा साहस भी वे गुण हैं जिन्हें आदिम निवासी प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं। ये दूसरे गुण उनके आश्रयभूत व्यक्ति को अपनी तथा दूसरों की जंगली पशुओं आदि से रक्षा करने के योग्य बनाते हैं। निष्कर्ष यह कि

कलाकौशल, भौतिक सामग्री और सस्थाएँ जो सभ्यता का निर्माण करती हैं, इसलिये मूल्यवान हैं कि वे मनुष्य की स्वतत्रता तथा सुरक्षा का कारण होती हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम सभ्यता को एक साधनात्मक मूल्य (Instrumental Value) कह सकते है जब कि स्वतत्रता तथा सुरक्षा, हमारे विचार मे, साध्यात्मक या चरम मूल्य (Ultimate Values) है। किन्तु साध्य तथा साधनो का यह अन्तर एक सापेक्ष वस्तु है। स्वतत्रता, स्वास्थ्य की भाँति, जहाँ अपने में साध्य है, वहाँ वह दूसरे मूल्यो के उपभोग का साधन भी है।

## संस्कृति का स्वरूप

अब हम सस्कृति के विषय पर आते है। हम कह सकते है कि सभ्यता मनुष्य की कतिपय क्रियाओ से उत्पन्न होने वाली चीजो का नाम है। इसके विपरीत सस्कृति मानवीय क्रियाओ का कोई कार्य नही है, मनुष्य की कुछ क्रियाएँ ही संस्कृति है। संस्कृति मनुष्य के उन व्यापारो तथा अभिव्यक्तियो का नाम है जिन्हे वह साध्य के रूप में महत्वपूर्ण मानता है। मानव-जीवन अपने को तरह-तरह की क्रियाओ मे अभिव्यक्त करता है। सस्कृति मानवीय जीवन अथवा जीवन-क्रिया के उन क्षणों का समुदाय है जो स्वय अपने मे महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। कहा जा सकता है कि हमारा समस्त जीवन बाहर की वस्तुओ से सम्बन्ध स्थापित करने में रूपाकार पाता है। जिसे हम सभ्य जीवन कहते है उसमे हमारा सम्बन्ध उन वस्तुओ से स्थापित होता है जो हमारे लिये उपयोगी है। इसके विपरीत सास्कृतिक जीवन हम उसे कहेगें जिसमे हमारा सम्बन्ध अनुपयोगी किन्तु अर्थपूर्ण वास्तविकताओ से स्थापित होता है। सचेत तथा कल्पनाशील प्राणी होने के नाते मनुष्य केवल उपयोगी वस्तुओ से ही सम्बन्ध स्थापित नही करता, वह अपने को ऐसी अर्थपूर्ण चीजो से भी सम्बन्धित करता है जो सीधे उसके अस्तित्व की पशु-सुलभ जरूरतो को पूरा नही करती। दूसरे, मनुष्य केवल अपने चारो ओर के परिवेश को जानकर सन्तुष्ट नही हो जाता, वह अपनी चेतना तथा दृष्टि से सम्मुख फैले हुए समस्त ब्रह्माण्ड को समझ लेना और उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहता है। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य केवल उपयोगिता की परिधि मे जीवित नही रहता। उसमें कुछ ऐसी रुचियाँ भी पाई जाती है जो उपयोगिता का अतिक्रमण करती हैं, वह बौद्धिक जिज्ञासा तथा सौन्दर्य की भूख से भी पीडित होता है, और इस प्रकार एक सास्कृतिक प्राणी के रूप मे जन्म लेता है।

यह मानना युक्ति-संगत जान पडता है कि सस्कृति का जन्म तब हुआ जब मनुष्य ने अपनी मौलिक जरूरतो से मुक्ति पाई, अर्थात् जब मनुष्य ने प्रकृति पर इतना नियन्त्रण कर लिया कि वह उसकी आवश्यक जरूरतो को पूरा कर सके, और जब उसने भद्र समाज की स्थापना कर ली। इसका मतलब, जैसा कि हुमायूं कबीर ने कहा है, यह होता है कि कुछ हद तक सभ्यता का निर्माण करके ही मनुष्य सांस्कृतिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है। इससे यह भी अनुगत होता है कि स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा साधन हैं, और सास्कृतिक जीवन साध्य। किन्तु वास्तविकता यह है कि सभ्यता के निर्माण तथा सास्कृतिक जीवन के उदय को इस प्रकार एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता। मनुष्य प्राय उपयोगी तथा निरुपयोगी क्रियाओ को साथ-साथ करता चलता है, उसकी उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाली तथा निरुपयोगी रुचियाँ एक-दूसरे से मिली रहती हैं। वह जिस समय खेतो में काम करता है, उसी समय गीत भी गाने लगता है, उपयोगी वस्तुओ को बनाते हुए वह यह कोशिश करता है कि वे वस्तुयें सुन्दर भी हो। आदिम मनुष्य ने जो अस्त्र तथा उपकरण बनाये है उन्हे देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके निर्माताओं में सौन्दर्य की भावना भी काम कर रही थी। आज भी जब मनुष्य भवनो का निर्माण करता है, तो जहाँ वह उपयोगिता का ध्यान रखता है, वहाँ वह अपनी सौन्दर्य-वृत्ति की माँगो को एकदम भूल ही नही जाता। इमारतो को उपयोगी बनाते हुए हम उन्हे सुन्दर बनाने का प्रयत्न भी करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य की उपयोगी क्रियाओ पर उसकी नैतिक तथा दार्शनिक आस्थाओं का प्रभाव पडता है। निष्कर्ष यह कि वास्तविक जीवन मे मनुष्य की उपयोगी तथा सास्कृतिक क्रियाएँ एक-दूसरे में मिश्रित हो जाती है। अवश्य ही विचार करने की सुविधा के लिये उन्हें विविक्त या भिन्न करना पडता है, और करना चाहिए।

सस्कृति की परिभाषा करते समय हम उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रक्खेगे। हमारी सस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है संस्कृति उन समस्त क्रियाओं को कहते हैं कि जिनके द्वारा मनुष्य अपने को विश्व की निरुपयोगी किन्तु अर्थवती छवियो से, फिर वे छवियाँ चाहें प्रत्यक्ष हों अथवा कल्पित, सम्बन्धित करता है। प्रश्न है कि वह कौन-सी क्रिया है जो मनुष्य को इस प्रकार की छवियो से सम्बन्धित करती है? उत्तर है, वह क्रिया मुख्यत जानने, चेतना अथवा बोध की क्रिया है। जानने की क्रिया सही भी हो सकती है और गलत भी, वह प्रामाणिक भी होती है और अप्रामाणिक

भी। बोध या ज्ञान की प्रामाणिक क्रिया वह है जिसे सारे मनुष्य ग्रहण तथा स्वीकार कर सकें। किसी वस्तु की उपयोगिता एक व्यक्तिगत चीज़ होती है। एक रोगी के लिये एक औषधि उपयोगी होती है, और दूसरे रोगी के लिये दूसरी। किन्तु जो वस्तु निरुपयोगी होते हुए अर्थवती या महत्वपूर्ण है, वह सब के लिये वैसी होती है। अतएव, हम संस्कृति की परिभाषा एक दूसरे ढग से भी दे सकते हैं '**संस्कृति उस बोध या चेतना को कहते हैं जिसका सार्वभौम उपभोग या स्वीकार हो सकता है, और जिसका विषय वस्तुसत्ता के वे पहलू हैं जो निर्वैयक्तिक रूप में अर्थवान हैं।** यहाँ एक दूसरी चीज पर भी ध्यान देना चाहिए। मनुष्य मे जो चेतना उत्पन्न होती है, उसकी दो विशेषताएँ हैं। प्रथमत मनुष्य की चेतना या बोध चयनात्मक होता है। मनुष्य देखने तथा जानने योग्य वस्तु-रूप मे से, अपनी रुचियो के अनुसार, चयन करता चलता है। दूसरे, मानवीय बोध या चेतना के तत्व सम्बद्ध रूप धारण करने की ओर अग्रसर रहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि मानवीय चेतना वस्तु-सत्ता को ज्यो-का-त्यो प्रतिफलित नही करती। सम्बद्ध रूप धारण करते हुए मानवीय चेतना सृजनशील बन जाती है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य की चेतना अथवा बोध-क्रिया आवश्यक रूप मे सृजनात्मक होती है।

## संस्कृति एक साध्यात्मक अथवा चरम मूल्य के रूप मे

प्रश्न है, संस्कृति की धारणा का मूल्य-तत्व ( Value ) की सामान्य धारणा से क्या सम्बन्ध है? हमारा उत्तर इस प्रकार है। मूल्य दो प्रकार के होते हैं, एक चरम तथा दूसरे साधनात्मक। साधनात्मक मूल्यो की परिभाषा चरम मूल्यो की सापेक्षता में ही दी जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि मूल्य-विज्ञान का मूल प्रश्न यही है कि हम चरम मूल्य किसे कहेगे।

चरम मूल्य या साध्य वह है जो स्वय अपने लिये कामना का विषय होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि दुनिया की सारी वस्तुएँ आत्मा के लिये प्रिय होती हैं। अभिप्राय यह है कि जीवन का चरम मूल्य या साध्य स्वय जीवन होता है। दुनिया की अशेष वस्तुएँ जीने या जीवन का उपभोग करने के लिये हैं, किन्तु स्वयं जीवन अथवा जीवनोपभोग अपने ही लिये है। फलत जीवन का उपभोग तथा जीने की क्रिया स्वय अपने मे साध्य है। ऐसी ही कुछ बात हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी कही थी। किन्तु स्पेन्सर तथा हमारे मत में थोडा-सा अन्तर है। स्पेन्सर कहता है कि हमारी

क्रियाओं का चरम लक्ष्य जीवन-व्यापार को अग्रसर करना है। किन्तु हमारा मत है कि सब प्रकार का जीवन अथवा जीवन-व्यापार हमारा लक्ष्य नहीं होता, हमारा लक्ष्य वह जीवन होता है जो सन्तोषजनक अथवा सुखमय है। फलत. हम सन्तुष्ट एवं सुखी जीवन को ही अपने प्रयत्नों का लक्ष्य मान सकते हैं और उसी को जीवन का साध्य कह सकते हैं। इस विचारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि चरम मूल्य जीवन-व्यापारो के वे रूप हैं जो अपने में कामना करने योग्य दिखाई देते हैं। उन जीवन-रूपो के बारे में एक दूसरी बात भी कही जा सकती है। ये रूप आवश्यक रूप मे सचेत होने चाहिएँ, क्योंकि अचेत जीवनावस्था का न तो हम अनुभव ही कर सकते हैं, और न उसकी कामना ही कर सकते हैं।

गौण रूप मे वे वस्तुएँ तथा प्रतीतियाँ जो हमारे भीतर मूल्यवती सचेत दशाओं को उत्पन्न करती हैं, स्वय मूल्यवान मानी जा सकती हैं। चरम अर्थ में हमारी सचेत जीवन-दशाएँ ही साध्य होती हैं, लेकिन गौण अर्थ में वे स्थितियाँ जो उन जीवन-दशाओ को उत्पन्न करती है, मूल्यवान कही जा सकती हैं। इस अर्थ में हम सूर्यास्त के दृश्य अथवा सुन्दर चेहरे को मूल्यों का वाहक कह सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम चरम मूल्यों की एक दूसरी परिभाषा देंगे। चरम मूल्य उन वस्तुओ, स्थितियो तथा व्यापारों अथवा उनके उन विशिष्ट पहलुओं को कहते हैं, जो मनुष्य की सार्वभौम संवेदना को आवेगात्मक अर्थवत्ता लिये हुए दिखाई देते हैं। जैसा कि हमने दूसरे अध्याय मे कहा था, प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक गुण सापेक्ष होता है। इसलिए यह कहने से कि वस्तुओं के सौन्दर्य आदि गुण मानव-संवेदना के सापेक्ष होते हैं, उन गुणो की यथार्थता पर कोई असर नहीं पडता। जिस प्रकार कि आक्सीजन गैस हाइड्रोजन के साथ ही जल को उत्पन्न कर सकती है और जलने योग्य पदार्थ के साथ ही अपनी जलाने की विशेषता को अभिव्यक्ति दे सकती है, उसी प्रकार वे पदार्थ जिन मे सौन्दर्य आदि मूल्य अनुस्यूत हैं, मानव-संवेदना के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए ही उन मूल्यों को प्रकट कर सकते हैं। दूसरी बात जो हमने कही वह यह है कि चरम मूल्य निरुपयोगी होते हैं। आक्सीजन गैस मनुष्य के लिए बड़ी आवश्यक है, किन्तु वह एक उपयोगी वस्तु है, और इसलिये चरम मूल्यो की कोटि में नहीं आती। उपयोगी पदार्थ के प्रति जो प्रतिक्रिया होती है वह सार्वभौम नहीं, व्यक्तिगत होती है। इनके विपरीत चरम मूल्यो के प्रति समस्त मानवो की संवेदना समान रूप में प्रतिक्रिया करती है।

जिसे हम सास्कृतिक चेतना कहते है वह उपरोक्त दोनो अर्थो मे एक चरम मूल्य है। वह जिसकी चेतना होती है वह स्वय अपने में मूल्यवान होता है और वह चेतना अपने आप मे भी चरम मूल्य की वाहक होती है। जिस यथार्थ की चेतना मनुष्य प्राप्त करना चाहता है वह दो प्रकार का है ' वाह्य यथार्थ जिसमे शुद्ध तथ्य तथा मूल्यों के वाहक तथ्य दोनो सम्मिलित है, और आन्तरिक यथार्थ, जिससे मतलव है हमारी आध्यात्मिक जीवन-सम्भावनाएँ। हमारा चैतन्य-सत्व असख्य रूपो में गठित होता रहता है, उन रूपो की अवगति सास्कृतिक चेतना का महत्वपूर्ण अग है। सच यह है कि हमारे आत्मसत्व के ये रूप ही सस्कृति है, और उन रूपो के बारे मे चर्चा भी सस्कृति का अग है।

तो, सस्कृति उन क्रियाओं को कहते है जो हमें स्वय अपने मे मूल्यवान अथवा महत्वपूर्ण जान पडती है। एक क्रिया ऐसी हो सकती हे जो विशुद्ध रूप मे सास्कृतिक क्रिया है, अर्थात् जिसमे उपयोगिता का पक्ष विल्कुल नही है, जो न तो उपयोगिता के लिये अनुष्ठित ही की जाती है और न जिसका परिणाम ही उपयोगी होता है। दार्शनिक चिन्तन और कविता लिखने की क्रियाएँ इस अर्थ मे सास्कृतिक है। दूसरी क्रियाए ऐसी ही हो सकती है जो उपयोगी है, और साथ ही विशुद्ध सार्थकता की वाहक भी दिखाई पडती है। उदाहरण के लिये यदि कोई नेता चुनाव के अवसर पर वढिया व्याख्यान देता है तो वह व्याख्यान, एक दृष्टि से उपयोगी होते हुए भी, दूसरी दृष्टि से सांस्कृतिक क्रिया वन जाता है, क्योकि वह लोगो को व्याख्यान-कला के कारण भी महत्वपूर्ण जान पडता है। सस्कृति का निर्माण करने वाली चेतना दो चीजो से निर्धारित होती है। एक ओर वह यथार्थ द्वारा निर्मित या निर्धारित होती है, और दूसरी ओर मानवीय रुचियो द्वारा। सास्कृतिक चेतना की परिधि या प्रगति उस यथार्थ के अनुसन्धान द्वारा घटित होती है जिसमें मानव जाति की अभिरुचि है। मानवीय रुचियाँ, कहना चाहिए, वह आकार या ढाँचा प्रदान करती है जिसके भीतर यथार्थ को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सास्कृतिक चेतना व्यक्ति और ब्रह्माण्ड के वीच पुल का काम करती है, उस चेतना में व्यक्ति की आतरिकता तथा यथार्थ की वस्तु-निष्ठता का सगम होता है। चूंकि चेतना मूलत वस्तु-चेतना होती है, इसलिये कहना चाहिए कि चेतना-सम्पन्न जीवन वह जीवन है जिसमे व्यक्ति यथार्थ से सचेत सम्वन्ध स्थापित करता है। व्यक्ति के सचेत जीवन की समृद्धि, इसीलिये, उस यथार्थ के विस्तार से घटित होती है जिससे उसने सचेत सम्वन्ध स्थापित कर लिया है, और

सचेत जीवन की प्रभविष्णुता का माप वह सगठन तथा एकता होती है जो कि व्यक्ति अपने अनुभवो के बीच स्थापित कर पाता है। सास्कृतिक चेतना की प्रामाणिकता की पहचान यह है कि उसे दूसरे मनुष्य ग्रहण या स्वीकार कर सकें।

मनुष्य की सास्कृतिक क्रिया यथार्थ तथा मानव-अभिरुचि नाम के दो ध्रुवो के बीच सचरित होती रहती है। मनुष्य का अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ ज्ञान उसकी रुचियो तथा पक्षपातो से निर्धारित होता है, उसकी व्यक्तिगत रुचियो से नही, अपितु मानवजाति की आन्तरिक रुचियो तथा आवश्यकताओ से। इस प्रकार मानवीय बोध की सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता और उस बोध की एकान्त आत्मनिष्ठता मे कोई विरोध नही है। न यही सम्भव है कि सास्कृतिक चेतना दोनो मे से एक ही ध्रुव पर टिकी रहे। मनुष्य के लिये यह सम्भव नही कि वह वस्तुगत परिवेश से, जो भौतिक और सामाजिक दोनो हो सकता है, विच्छिन्न होकर रहे, और न यही सभव है कि वस्तु-चेतना उस अर्थवत्ता से रहित हो जो कि उसे जीवन के लिये महत्वपूर्ण बनाती है। कोई चर्चा कितनी भी वैज्ञानिक तथा वस्तुनिष्ठ क्यो न हो, वह आत्मगत रुचियो द्वारा निर्धारित रहती है। भेद यही है कि प्रामाणिक बोध जिन रुचियो द्वारा निर्धारित होता है वे वैयक्तिक न होकर जातिगत अर्थात् मानवीय आन्तरिक रुचियो द्वारा निरूपित होती है।

यहाँ हम पाठको का ध्यान एक जटिलता की ओर आकृष्ट करेंगे। मानवीय चेतना का विषय सदैव विद्यमान यथार्थ ही नही होता, वह सभावनाओ में उतनी ही रमती है जितनी कि विद्यमान वस्तुओ में। मनुष्य मूलत. एक योजनाएँ बनानेवाला प्राणी है। वह लगातार सामाजिक तथा भौतिक परिवेश को अपने प्रयोजनो तथा योजनाओ के अनकूल बनाने की चेष्टा करता रहता है। अपने परिवेश को इस प्रकार बदलने की यह क्षमता मनुष्य की उस शक्ति से सहचरित होती है जिसे प्रत्याहरण (Abstraction) कहते हैं। यह प्रत्याहरण की क्रिया प्रतीको के प्रयोग द्वारा सहल हो जाती है। वस्तु की समग्रता मनुष्य के लिये महत्वपूर्ण नही होती, मनुष्य सदैव वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ मे अभिरुचि लेता है। एक समय में अथवा विशिष्ट अवसर पर मनुष्य किसी वस्तु के एक पहलू मे रुचि रखता है, तो दूसरे अवसर पर उसके दूसरे पहलू मे। मनुष्य शब्द आदि प्रतीको का प्रयोग वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ को सकेतित करने के लिये करता है। इसके उपरान्त वह उन प्रतीको को एक-दूसरे से सम्बन्धित करके समष्टि के रूप में ढालने लगता है और फिर इस समष्टि से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार, अपनी सृजनात्मक बोध-क्रिया द्वारा, मनुष्य

यथार्थ के विविध प्रतीक-मूलक सस्थान (Symbolic Patterns) उत्पन्न करता रहता है। ये सस्थान मुख्यत. उसकी कल्पना मे प्रकट होते है, और उनसे मनुष्य का सम्बन्ध भी कल्पना के धरातल पर घटित होता है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यथार्थ का अर्थ केवल भौतिक वस्तुएँ ही नही है। यथार्थ के भीतर नर-नारियों, यहाँ तक कि उन देवताओ तथा दैत्यो आदि का भी जिनके जीवन मे हम अभिरुचि लेते है, समावेश है, और उन विभिन्न मनोभावो, आवेगों आदि का भी, जो हमारे ऊपर प्रभाव डालते है। कल्पना द्वारा गढे हुए कतिपय सस्थानो मे से कुछ को मनुष्य यथार्थ भी बना लेता है। किन्तु यथार्थ रूप मे उतारने से पहले ही मनुष्य अपनी कल्पना-सृष्टि के विविध रूपो के अपेक्षित मूल्यो का विवेचन कर लेता है, और यह भी निर्णय कर लेता है कि वे कहाँ तक यथार्थ रूप में उतारे जा सकते है। इन काल्पनिक सस्थानो की सृष्टि विभिन्न क्षेत्रो में विभिन्न नियमो के अनुसार घटित होती है। कला के क्षेत्र मे वे नियम एक प्रकार के हैं, तो राजनैतिक व्यापारो तथा आर्थिक योजनाओ में अथवा भौतिक-विज्ञान के सैद्धान्तिक चिन्तन मे, दूसरे प्रकार के। उन नियमो की न्यूनाधिक चेतना, कम या ज्यादा स्पष्ट रूप में, सारी मानव जाति मे पाई जाती है। अपने को सम्भावनाओं की दुनियाँ मे प्रतिष्ठित करती हुई मानव-चेतना, वाह्य तथा आन्तरिक जगत दोनो मे, अपने अस्तित्व को प्रसरित करती है। कल्पना-मूलक क्रिया मे चेतना वाह्य जगत् का अनुशीलन तो करती ही है, वह कुछ हद तक उसकी प्रतीकात्मक सृष्टि भी करती है। भौतिक शास्त्र वाह्य जगत् का प्रतिफलन ही नही करता वह वस्तुत, अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा, उस जगत् का पुनर्निर्माण करता है। इस प्रकार मनुष्य के कल्पना-मूलक तथा प्रतीक-आधारित जीवन मे वोध-क्रिया वस्तुतः सृजन-क्रिया वन जाती है।

मनुष्य की यह सृजन-क्रिया उसकी वुद्धि, उसकी यथार्थ की पकड़, और उसकी सस्कृति इन सव की मापक होती है। जिसे हम वुद्धि कहते है, वह वह शक्ति है जिसके द्वारा हम इन्द्रियग्राह्य अथवा प्रतीक-वद्ध यथार्थ को पकडते या नियन्त्रित करते हैं। किन्तु कोई कलाकार या विचारक कला अथवा ज्ञान के क्षेत्र में तव तक वडी सृष्टियाँ नही कर सकता जब तक उसका यथार्थ सामग्री पर विस्तृत अधिकार न हो। महती वौद्धिक सृष्टि के लिये दो चीजें जरूरी हैं, एक यह कि परीक्षक का यथार्थ के विविध रूपो से विस्तृत परिचय हो, और दूसरे यह कि उसका मस्तिष्क यथार्थ से आकलित किये हुए तत्वो को एकता अथवा समष्टि में ढालने की विकसित क्षमता रखता हो।

## संस्कृति की सार्थकता

यह कहने का क्या मतलब है कि सांस्कृतिक क्रियाएँ निरुपयोगी होती हैं ? क्या यह कथन, शिष्ट ढग से, यही संकेतित नही करता कि संस्कृति एक व्यर्थ वस्तु है, शायद व्यक्ति तथा उसकी जीव-योनि की सुरक्षा की दृष्टि से ? सचमुच ही यह सिद्ध नही किया जा सकता कि संस्कृति का मानव-जाति के प्राण-धारण अथवा जीवन के लिये कोई महत्त्व होता है। किन्तु कला, दर्शन आदि क्रियाओ को निरुपयोगी कहने का अर्थ यह नही है कि उनका कोई महत्व नही है। वस्तुत संस्कृति का अस्तित्व इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य केवल एक जीवन-सम्पन्न प्राणी ही नही है, मनुष्य उपयोगिता के वृत्त के बाहर जाना चाहता है, और जा भी पाता है। मनुष्य अपने को ऐसे यथार्थों से सम्बन्धित करना चाहता है जिनका उसके जीवन की जरूरतो से कोई सीधा सम्बन्ध नही है। वह केवल उसी परिवेश को नही समझना चाहता जो उसे चारो ओर घेरे हुए है, उसकी जिज्ञासा समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर लेती है। वस्तुत मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपने को, सचेत रूप में, विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करके जीवित रहना चाहता है। एक ऐसे प्राणी के रूप में, जिसकी कुछ निश्चित जरूरते है, मनुष्य सन्तुष्ट नही रह पाता, वह यह महसूस करना चाहता है कि वह समस्त ब्रह्माण्ड का नागरिक है। यह लक्ष्य करने की बात है कि दुनिया का कोई बडा धर्म अथवा दर्शन नही है जिसने मनुष्य की पशु-सुलभ जरूरतो को पूरा करने की अपेक्षा सत्य, सौन्दर्य आदि की खोज को अधिक महत्व नही दिया है। एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है। दुनियाँ के अभिजात वर्गो ने हमेशा शारीरिक श्रम को नीची दृष्टि से देखा है। देखा गया है कि आदिम समाजो मे भी हाथ के कामो को नीची दृष्टि से देखा जाता है। लैन्टमैन ने लिखा है 'क्यो जुलाहे का काम खराब समझा जाता है, इसकी कोई व्याख्या समझ मे नही आती, सिवाय इसके कि हाथ से किया जानेवाला काम विशेष आदर की दृष्टि से नही देखा जाता।' वस्तुत केवल उपयोगिता से सरोकार, केवल उन चीजो की चिन्ता करना जिन से हमारी जरूरते पूरी होती है, उच्चतर कोटि के मनुष्यो के लिये उचित नही समझा जाता। उच्चतर कोटि के मनुष्य प्राय सदैव ऐसे कामो मे लगे रहते है जो उपयोगी न होते हुए उनके अस्तित्व को विस्तृत एव समृद्ध बनाने वाले होते है। वे क्रियाएँ जिन्हे हम संस्कृति कहते है इसी कोटि की क्रियाएँ होती है।

सास्कृतिक क्रियाएँ वे है जो हमे ऐसी यथार्थ एव कल्पित वस्तुओ के अनुचिन्तन मे सलग्न करती है जिनका हमारी वैयक्तिक जरूरतो से कोई सम्बन्ध अथवा उनके लिये कोई उपयोग नही है। सास्कृतिक क्रिया हमारी चेतना का विस्तार करती है, इसलिये नही कि वह विस्तार उपयोगी चीज है, बल्कि इसलिये कि उससे हमारे अस्तित्व का प्रसार होता है। सस्कृति वस्तुत हमारे अवकाश के क्षणों की सृष्टि है। वह हमारे मन तथा बुद्धि की उस दशा मे उत्पन्न होती है जिसमे हम वैयक्तिक स्वार्थो से मुक्त होकर स्वतत्र भाव से मूल्यो के जगत् मे विचरण करते है। सास्कृतिक क्रिया हमे उन वस्तुओ तथा मूल्यो में अभिरुचि लेने को आमन्त्रित करती है जिनका जीवित रहने के व्यापार से सीधा सम्बन्ध नही है। मानवीय चेतना, विभिन्न इद्रियो के माध्यम से, असख्य सवेदनों को एकत्रित करती है। मानवीय बुद्धि इस सवेदन-समूह मे, विभिन्न प्रतीतियो की राशि मे, एक क्रम स्थापित करने का प्रयत्न करती है। एक ओर तो मनुष्य यथार्थ को उसकी समग्रता मे जानने को बेचैन रहता है, दूसरी ओर वह उस यथार्थ को अपनी आन्तरिक माँगो के अनुरूप सम्बद्ध तथा सगठित करने को विवश होता है। विज्ञान की सिद्धान्त-सृष्टियाँ जहाँ एक ओर बाह्य यथार्थ को प्रतिफलित करने का दावा करती है, वहाँ दूसरी ओर वे मानवीय बुद्धि की माँगो के अनुकूल भी होती है। यही बात न्यूनाधिक दर्शन के सम्बन्ध में कही जा सकती है, यद्यपि तर्क-मूलक भाववाद ने हमे दर्शन के प्रति सशक बना दिया है। विज्ञान मे ज्ञान के प्राप्त करने की क्रिया सृजनात्मक भी होती है और बाह्य यथार्थ को प्रतिफलित करनेवाली भी। वैज्ञानिक बोध का सगठन जहाँ सृजन-क्रिया की अपेक्षा रखता है, वहाँ उसका फल या परिणाम बाह्य जगत् का प्रतिफलन होता है। किन्तु कला-साहित्य के क्षेत्र मे स्थिति कुछ भिन्न है। **कला के क्षेत्र में एक नये अनुभवसंस्थान को प्रभावपूर्ण ढंग से कल्पना में प्रत्यक्ष करने का अर्थ वैसे संस्थान को उत्पन्न करके यथार्थ बना देना होता है।** साहित्य में हम कल्पना द्वारा नवीन मनोदशाओ की सृष्टि करते है। यह सृष्टि अपने से बाहर किसी चीज को प्रतिफलित नही करती, जैसा कि विचार-सृष्टि करती है। एक तरह से हम कह सकते है कि वैज्ञानिक सृष्टि की भाँति कला-सृष्टि का उद्देश्य भी किसी विषय का बोध प्राप्त करना है। किन्तु कला जिस वस्तु या यथार्थ का बोध खोजती है, वह यथार्थ स्वय हमारा जीवन है, हमारा वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन। इसीलिए कला-सृष्टि का अपने युग तथा समाज से घना सम्बन्ध होता है। किन्तु कला तथा विज्ञान दोनो मे एक समानता यह है कि दोनो को सामने फैले हुए अनुभव-जगत् से चयन करना पड़ता है, और आकलित तत्वो को नये रूपो मे व्यवस्थित

कर देना पड़ता है। विज्ञान के द्वारा उत्पन्न किये हुए नये सत्यान वहीं तक प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण होते है जहाँ तक वे बाह्य जगत् के क्रम या व्यवस्था को प्रतिफलित करते हैं। इस दृष्टि से कला की स्थिति भिन्न है। कला-सृष्टि की सत्यता किसी बाह्य यथार्थ के प्रतिफलित करने में नहीं, उसकी सत्यता कल्पनामूलक होती है। यदि कोई कलाकृति वस्तुत उपभुक्त आवेगात्मक अनुभूति को प्रकट करती है, तो हम उस अनुभूति को प्रामाणिक तथा यथार्थ कहेंगे। कलात्मक अनुभूति की सत्यता इसमें है कि हम उसे ग्रहण करके अपने चेतना-मूलक जीवन का अंग बना सकें। इस दृष्टि से कला सीधे हमारे आवेगात्मक जीवन को समृद्ध करती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या संस्कृति केवल कल्पना की चीज है? क्या उसका यथार्थ जीवन पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता? इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर करता है कि हम यथार्थ जीवन से क्या समझते हैं। हमने बार-बार यह बतलाने की कोशिश की है कि मनुष्य केवल उपयोगिता की परिधि में जीवित नहीं रहता, अपितु प्रयत्न करके अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहता है। लेकिन एक बात है। मनुष्य ब्रह्माण्ड के बारे में केवल प्रिय आस्थाओं एव विश्वासों को ग्रहण करके नहीं चलना चाहता। इसके विपरीत वह यथार्थ के अप्रिय-से-अप्रिय रूपों को वस्तुगत रूप में जान लेना चाहता है। वस्तुत मनुष्य को तब तक चैन नहीं पड़ता जब तक वह उन सारे तथ्यों को न जान ले जिनका उसके विश्वासों एवं आस्थाओं के लिये कोई अर्थ है। विश्व के यथार्थ के प्रति मनुष्य का मनोभाव बड़ा गम्भीर एवं वस्तुनिष्ठ रहता है। ब्रह्माण्ड के बारे में वह जिन कल्पना-मूलक सिद्धान्तो की रचना करता है उनकी सत्यता के लिये वह उतना ही चिन्तित रहता है जितना कि अपनी बड़ी-से-बड़ी व्यावहारिक जरूरतों के लिये। ब्रह्माण्ड का स्वरूप क्या है और उस ब्रह्माण्ड में स्वयं उसके जीवन की सम्भावनाएँ क्या हैं, इसके बारे में मनुष्य बड़े सतर्क भाव से अन्वेषण करता है। इस सतर्कता का कारण है। मनुष्य ब्रह्माण्ड के बारे में जो धारणा बनाता है वह उसकी अभिरुचियों का स्वरूप निर्धारित करती है और जीवन के विभिन्न मूल्यों के प्रति उसकी दृष्टि को गठित करती है। सम्पत्ति, शक्ति, सुख देश-कल्याण, युद्ध, सधि, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि के बारे में मनुष्य जिस दृष्टिकोण को अपनाता है उसका निर्माण उस जीवन-दर्शन की छाया में होता है जो उसने विश्व की समग्रता पर चिन्तन करते हुए उपलब्ध किया है।

जिसे हम मनुष्य का व्यावहारिक जीवन कहते हैं वह निरन्तर उसके

सास्कृतिक व्यक्तित्व से प्रभावित एव गठित होता रहता है। वस्तुत सास्कृतिक जीवन मे लगातार उपयोगी एव निरुपयोगी तत्वो की क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। एक ही जरूरत कई तरह से पूरी की जा सकती है। सस्कृत व्यक्ति अपनी जरूरत को ऐसे ढग से पूर्ण करता है कि उसकी पूर्ति के साथ किसी ऊँचे मूल्य का लाभ भी हो जाय; वह उसे मोहक, उदार अथवा साहसपूर्ण ढग से पूरा करता है। एक सस्कृत व्यक्ति के जीवन मे वहुत-सी उपयोगी क्रियाएँ एक ऐसे कार्यक्रम का अग वन जाती है जिसका उद्देश्य कतिपय मूल्यो एव आदर्शो की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सस्कृति जीवन के मामूली कार्यकलापो को एक नये सौन्दर्य से मडित करती है। एक असभ्य जगली मनुष्य के लिए नारी एक ऐसी चीज है जो उसकी विशिष्ट जैवी आवश्यकता को पूरा करती है, किन्तु एक सस्कृत प्रेमी की दृष्टि मे, जिसका मस्तिष्क दर्शनो कवियो और दार्शनिकों के सम्पर्क मे गठित हुआ है, वह नारी उन सब तत्वों की प्रतीक वन जाती है जो कि सुन्दर तथा शोभन हैं, उसकी दृष्टि में वह सम्पूर्ण माधुरी तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य की मूर्ति दिखाई देती है और सृष्टि के मधुर रहस्य-सी प्रतिभासित होती है। इसीलिये प्रेमी को लगता है कि अपनी प्रेमिका को प्राप्त करके उसका अस्तित्व परि-पूर्ण सार्थकता को प्राप्त कर सकेगा। इस प्रकार सस्कृत व्यक्ति जीवन की तुच्छ से तुच्छ वस्तुओ तथा क्रियाओं को ब्रह्माण्ड के सारे तथ्यो एवं मूल्यो की पृष्ठभूमि मे देखता है। दूसरो को जो चीज तुच्छ एव अपदार्थ जान पडती है, वह सस्कृत व्यक्ति को बहुत महत्वपूर्ण दिखाई दे सकती है, और दूसरो को जो चीजे वड़ी कीमती जान पड़ती है, वे उसे तुच्छ प्रतीत हो सकती है। सास्कृतिक चेतना जीवन की करुणा तथा सौन्दर्य दोनो को वढे-चढे रूप में प्रदर्शित करती है।

किसी व्यक्ति की संस्कृति वह मूल्य-चेतना है जिसका निर्माण उसके सम्पूर्ण वोध के आलोक मे होता है। सास्कृतिक चेतना जितनी मूल्य-चेतना है उतनी ही तथ्य-चेतना भी है। वह चेतना यथार्थ तथा सम्भाव्य को अर्थवत् के रूप मे ग्रहण करती है। मनुष्य लगातार जीवन की नई सम्भावनाओं का चित्र बनाता रहता है। यह सम्भाव्य चित्र ही वे मूल्य हैं जिनके लिये वह जीवित रहता है। जिन आदर्शो एव मूल्यों को लेकर मनुष्य जीवित रहता है उनकी गरिमा और सौन्दर्य उस मनुष्य के सांस्कृतिक महत्व का माप प्रस्तुत करते है।

सोरेन कीर्केगार्ड ने एक स्थान पर उस सौन्दर्यवाद के प्रति घृणा का प्रदर्शन किया है जो काल्पनिक विभिन्न सभावनाओ के साथ क्रीड़ा करता है और अपने को, व्याव-

हारिक स्तर पर, विवाह, जीविका के साधन, आदि के सम्बन्ध मे बाँध देना नही चाहता। कीर्केगार्ड के विचार मे आज के युग का दुर्भाग्य यह नही है कि वह एकागीहै, बल्कि यह कि वह अमूर्त रूप में अनेकागी है। एकागिता बुरी चीज हो सकती है, लेकिन अमूर्त अनेकरूपता ज्यादा बुरी चीज है। कोई भी सशक्त व्यक्तित्व किसी-न-किसी अर्थ में एकागी होता है; यह एकागिता उसमें महत्व का प्रमाण होती है। वह यह प्रदर्शित करती है कि उस व्यक्ति मे कठोर सकल्प-शक्ति है और वह निश्चित रूप में कोई एक चीज बन जाना चाहता है, न कि अनिश्चित रूप में अनेक चीजें।"

ऊपर के उद्गार हमें उन आलोचनाओ की याद दिलाते है जो कि सुकरात के इस सिद्धान्त के विरुद्ध कि नैतिक श्रेष्ठता और ज्ञान एक ही चीज है, दी गई है। सुकरात के विरुद्ध कहा गया है कि व्यक्ति यह जानते हुए भी कि अच्छाई क्या है, बुराई की ओर जा सकता है; इसलिये नैतिक अच्छाई और ज्ञान एक नही है। सुकरात के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि जो ज्ञान सतर्क अन्वेपण एव गम्भीर मनन द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह जीवन को अप्रभावित नही छोडता। यथार्थ के गम्भीर ज्ञान का हमारी आस्थाओ तथा विश्वासो पर प्रभाव पडना चाहिए और उसे हमारे जीवन पर निश्चित प्रभाव डालना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान हमे यह योग्यता देगा कि हम जीवन के मूल्यों को खास क्रमों में व्यवस्थित कर ले। इसीलिये यह कहा जाता है कि धर्म और दर्शन, जो कि हमारी मूल्य-भावना को प्रभावित करते हैं, सस्कृति का एक आवश्यक अग है। वस्तुस्थिति यह है कि आज का मनुष्य क्रमश धर्म और दर्शन से वञ्चित हो गया है, जिसके फलस्वरूप वह कभी-कभी वैसा छिछला सौन्दर्यवादी बन जाता है जिसका कीर्केगार्ड ने उल्लेख किया है।

सार-रूप में हम कह सकते है कि सस्कृति वस्तु-जगत् के उन पहलुओ की जीवत एवं शक्तिपूर्ण चेतना है जो, उपयोगी न होते हुए भी, अर्थवान् होते है, लाभदायक न रहते हुए भी महत्व रखते है। इस प्रकार की चेतना से सम्पन्न होकर मनुष्य अपने को वस्तु-जगत् की परतन्त्रता के क्रम से मुक्त कर लेता है और उसका प्रवेश मूल्यो के जगत् में हो जाता है, जहाँ मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता का साम्राज्य है। इस जगत् में पहुँचकर मनुष्य उन चीजो से सपर्कित हो जाता है जिनका सम्बन्ध उसकी विशुद्ध आध्यात्मिक सत्ता से है। इस आत्मिक सत्ता की जरूरते मनुष्य की उन जरूरतो से जिनका सम्बन्ध उसकी जीव-प्रकृति से है कम महत्वपूर्ण नही होती, बल्कि कभी कभी ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। और आत्मिक जरूरतो की पूर्ति के लिये वस्तु-जगत् की

उतनी ही प्रामाणिक जानकारी अपेक्षित होती है जैसी कि जीव-प्रकृति की जरूरतो की पूर्ति के लिये। मतलब यह है कि आत्मिक क्षेत्र मे प्रामाणिकता की माँग किसी भी प्रकार कम नही हो जाती। जिस प्रकार गन्दा पानी अथवा मृगमरीचिका का जल किसी को भला नही लगता, उसी प्रकार मिथ्या कला अथवा मिथ्या कविता भी सवेदनशील व्यक्ति को रुचिकर नही जान पडती। मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया का क्षेत्र और उसके मूल्यो का क्षेत्र उसी प्रकार निश्चित नियमो के अधीन है, जिस प्रकार देशकाल में फैला हुआ भौतिक जगत्। मानवीय सास्कृतिक क्रियाओं की सृष्टि जहाँ तक प्रामाणिक होती है, वहाँ तक वैसे ही निर्वैयक्तिक होती है जैसे कि उसकी व्यावहारिक क्रियाओ की सृष्टि।

## सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध

अब हम सस्कृति तथा सभ्यता के प्रभेद और उनके सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करेंगे। हमने मैकाइवर तथा हुमायूँ कबीर के इस मन्तव्य को प्राय स्वीकार कर लिया है कि सभ्यता का सम्बन्ध उपयोगिता के क्षेत्र से है, और सस्कृति का मूल्यो के क्षेत्र से। यह भी कहा जा सकता है कि सभ्यता तथा सस्कृति उन उपलब्धियों एवं क्रियाओं से सम्बन्धित हैं जो क्रमश. मानव अस्तित्व की रक्षा तथा प्रसार करनेवाली हैं। मैकाइवर तथा हुमायूँ कबीर ने यह भी सकेतित किया है कि संस्कृति तथा सभ्यता में वही सम्बन्ध है जो साध्य तथा साधनो मे होता है।

किन्तु सभ्यता तथा सस्कृति का सम्बन्ध इतना सीधा नही है, और उनके भेद को इस प्रकार निरूपित करना भी पर्याप्त नही। वस्तुत सस्कृति और सभ्यता को एक-दूसरे से नितान्त जुदा नही किया जा सकता, ठीक वैसे ही जैसे कि साध्य तथा साधनो को एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् नही किया जा सकता। कल्पना की क्रिया के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ सौन्दर्य तथा उपयोगिता के पहलू एक-दूसरे से अनिवार्य रूप मे मिश्रित हो जाते हैं।

सभ्यता तथा सस्कृति दोनों मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य या परिणाम हैं। जब यह क्रिया उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान होती है तब सभ्यता का जन्म होता है, और जब वह मूल्य-चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है, तब सस्कृति का उदय होता है। किन्तु वैज्ञानिक चिन्तन एव सामाजिक और राजनैतिक

चिन्तन दोनो क्षेत्रो मे उपयोगिता एव मूल्य-चेतना के पहलू एक-दूसरे मे मिल जाते है। जहाँ तक एक वैज्ञानिक सत्य की खोज करता है, वहाँ तक उसकी क्रिया सास्कृतिक है, किन्तु जब एक आविष्कर्ता अथवा इजीनियर के रूप मे वह प्राकृतिक शक्तियो को मनुष्य की उपयोगिता के लिये नियन्त्रित करना चाहता है, तब वह सभ्यता का निर्माता बन जाता है। सलिवन ने लिखा है कि 'विज्ञान का महत्व उसकी व्यावहारिक उपयोगिता मे है और इसमें भी कि वह हमारी निरुपयोगी जिज्ञासा-वृत्ति को सन्तुष्ट करता है। उसे इसलिये भी महत्व दिया जाता है कि वह हमारी मननशील कल्पना के सम्मुख नितान्त आकर्षक, सुन्दर पदार्थ को उपस्थित करता है।'[१४] इसी प्रकार सामाजिक-राजनैतिक चिन्तन में उपयोगी तथा सुन्दर दोनो का समावेश हो सकता है। प्लेटो से लेकर आज तक विभिन्न विचारको ने जो आदर्श समाज की रूपरेखा खीचने के प्रयत्न किये है वे केवल मनुष्य की उपयोगिता का ध्यान नही करते, बल्कि यह भी विचार करते है कि मनुष्य अपनी आत्मिक आकाक्षाओ को कैसे पूर्ण करे। प्लेटो के "रिपब्लिक" नामक ग्रथ में जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई है वे दो कारणो से सस्कृति का अग समझी जानी चाहिएँ। प्रथमत इन विचारणाओ के पीछे प्लेटो का कोई वैयक्तिक स्वार्थ या उद्देश्य नही था, उनका लक्ष्य मानव-समाज को समुन्नत बनाना था। दूसरे, वहाँ जिन मानवीय हितो के प्रश्न उठाये गये है वे उपयोगी अथवा व्यावहारिक से अधिक आध्यात्मिक है। जब प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की कल्पना की तो वह मुख्य रूप से यह नही सोच रहे थे कि मनुष्य की भौतिक जरूरतें कैसे पूरी की जा सकती है। वस्तुत उनके चिन्तन का मुख्य विषय यह था कि किस प्रकार मनुष्यो के बीच, उन मनुष्यो के जिनकी जीवन-विधियाँ और स्वभाव अलग-अलग होते है, उचित सम्बन्ध स्थापित हो सकते है। सामाजिक एव राजनैतिक चिन्तन का वह पहलू जो मुख्यत मानवीय सम्बन्धो के औचित्य एव सौन्दर्य के बारे मे सोचता है, एक सास्कृतिक व्यापार कहा जा सकता है। इसी प्रकार एक सुधारक की यह चिन्ता कि दलितो तथा दुर्बलो का जीवन सुधर जाय, एक सास्कृतिक चिन्ता है, क्योकि उसके मूल्य मे निर्वैयक्तिक नैतिक भावना तथा करुणा का भाव है। मानव-समाज के सगठन की वे योजनाएँ, जो अधिक सौन्दर्य एव न्याय की स्थापना करना चाहती है, उन्ही विचारको द्वारा प्रस्तुत की जा सकती है जो सास्कृतिक क्रियाओं मे लगे है, और इस प्रकार के विचारक उन्ही समाजो मे उत्पन्न हो सकते है जो सास्कृतिक दृष्टि से उन्नत है। इन विचारणाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक ऐसा समाज अथवा जाति जो सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत नही है, ऊँची कोटि की सभ्यता को भी जन्म नही दे सकती।

जब तक लोग संस्कृति के विशिष्ट धरातल तक नही पहुँच जायँ, तब तक वे प्रजातन्त्र तथा समाजवाद जैसे जटिल सामाजिक-राजनैतिक और आर्थिक सगठनो को उत्पन्न नही कर सकते। इसी प्रकार वे लोग जो केवल ज्ञान के लिये वैज्ञानिक अन्वेषण नही करते, उच्च कोटि के उत्पादन-तंत्रो का आविष्कार करके कला-कौशल के क्षेत्र में विशेष प्रगति नही कर सकते।

इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि **सभ्यता सांस्कृतिक क्रिया की ही आनुषंगिक उपज या परिणाम है।** मूल्यो के उस तटस्थ एव निर्वैयक्तिक अनुसधान के बिना, जिसे हम सस्कृति कहते है, न तो सभ्यता अस्तित्व मे ही आ सकती है, और न वह अपना अस्तित्व बनाए ही रख सकती है। वे रूढियाँ तथा प्रथाएँ, वे कानून तथा सस्थाएँ, जो सभ्य व्यवहार का आधार है, उस व्यवहार की जो मनुष्यों के बीच सहयोग एव बन्धुत्व की भावना स्थापित करता है, मूलत उस सृजन की प्रवृत्ति मे उदित होती है जो मानव-सम्बन्धो के अधिक सुन्दर रूपो की परिकल्पना करती है।

हमारा यह मन्तव्य मार्क्सवाद से भिन्न है, और वह दो तरह से। प्रथमतः हम मार्क्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार नही करते कि सत्ता चेतना की पूर्ववर्तिनी होती है। यह सिद्धान्त सभ्यता तथा सस्कृति के क्षेत्रो पर लागू नही है। हो सकता है कि तत्व-मीमासा की दृष्टि से सत्ता-चेतना की पूर्ववर्ती थी। किन्तु जब हम मनुष्य द्वारा उत्पन्न परिवर्तनो की बात करते है तब हमे मानना पडता है कि चेतना निश्चित रूप मे सत्ता की पूर्ववर्ती होती है। उदाहरण के लिये भाप का इजिन तथा वायुयान पहले अपने आविष्कर्ताओ के मन में प्रत्ययो या कल्पनाओं के रूप मे अस्तित्ववान् हुए होगे; बाद में उन्हे भौतिक अस्तित्व में लाया गया। इसी प्रकार जनतंत्र तथा समाजवाद नाम के सामाजिक तथा राजनैतिक सगठन पहले विचार-रूप मे कतिपय क्रान्तिकारी चिन्तको के मन मे उदित हुए, उसके बाद ही उन्हे अस्तित्व में लाया जा सका। जहाँ यह कहना ठीक है कि यथार्थ के आधार पर ही मनुष्य की कल्पना सृजनात्मक ढग से व्यापृत हो सकती है, वहाँ इससे भी इनकार नही किया जा सकता कि वह कल्पना नूतनताओ की सृष्टि भी करती है। कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार नही करेगा कि वायुयान तथा रेडियो पहले से प्रकृति-जगत् मे मौजूद थे और यह कि उनका आविष्कार वस्तुत एक नई चेतना नहीं थी, बल्कि एक पहले से मौजूद वास्तविकता का प्रतिफलन मात्र थी।

मार्क्सवाद से हमारा मन्तव्य एक दूसरे प्रकार भी भिन्न है। अपने उपर्युक्त

मन्तव्य के विरुद्ध मार्क्सवाद ज्ञानमीमासा मे व्यवहारवाद का हामी है। मार्क्सवाद का कहना है कि चिन्तन को व्यवहार से अलग नही किया जा सकता। स्वय इद्रिय-ज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया है, अर्थात् बाह्य परिवेश को बदलने का एक ढग। सिडनी हुक ने लिखा है कि 'परिवेश के अनकूल बनने मे जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है उसी से ज्ञान उत्पन्न होता है। जानने का अर्थ यह नही है कि एक पूर्वसिद्ध वास्तविकता का प्रतिफलन हो जाय अथवा उसका चित्र खड़ा हो जाय, जानना वस्तु-सत्ता पर क्रिया करने का एक ढग है जानने में हम वस्तु-सामग्री का केवल चिन्तन ही नही करते, बल्कि उसका व्यावहारिक उपयोग करते हैं।' यह मन्तव्य, जो कि अध्यात्मवादी ज्ञानमीमासा का प्रभाव दिखलाता है, सही नही है, यदि व्यवहार का अर्थ दीखने वाली क्रिया माना जाय। इसके विपरीत यदि यह मन्तव्य सही है तो मार्क्सवाद की निम्नलिखित उक्ति निरर्थक हो जाती है - 'दार्शनिको ने अब तक विभिन्न ढगो से विश्व की व्याख्या ही की है, प्रश्न यह है कि उसे बदला किस तरह जाय।' मार्क्सवाद के विचाराधीन मन्तव्य के अनुसार तो व्याख्या को, जो जानने का एक रूप है, व्यवहार से अलग किया ही नही जा सकता, उस व्यवहार से जिसका मतलब परिवेश पर क्रिया करना होता है।

जिसे हम सास्कृतिक क्रिया कहते है, जिसमे विज्ञान, दर्शन आदि का समावेश है, वह न तो एक पूर्वसिद्ध परिवेश का प्रतिफलन-रूप ही है, और न उस परिवेश को बदलने-रूप। उसका वास्तविक रूप कुछ दूसरा ही है। सास्कृतिक क्रिया अथवा बोध-क्रिया मे हम सामाजिक-भौतिक परिवेश की, मानवीय दृष्टि से सार्थक रूप में, कल्पना द्वारा पुन सृष्टि करते हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सास्कृतिक क्रिया का मानवीय मूल्य-चेतना से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि कल्पना की सृजन-क्रिया से।

मानव-समाज की समस्त उपलब्धियाँ सभ्यता तथा सस्कृति के अन्तर्गत आ जाती है। मनुष्य की सास्कृतिक चेतना जिन मूल्यो की सृष्टि करती है उनमें कुछ सभ्यता के उच्चतर पहलुओ मे प्रतिफलित एव चरितार्थ हो जाते है, उन पहलुओ अथवा रूपो में जिन्हे सस्थाबद्ध व्यवहार कहते है। जिन्हें टी० एस० इलियट शिष्ट व्यवहार के रूप कहता है और जिन्हे वह तथा अन्य कुछ लेखक विशेष महत्व देते है, वे वस्तुत सभ्य व्यवहार का अग हैं, वे उन प्रथाओ तथा रूढियो का अग है जिनका पालन वाछनीय एव आदृत व्यवहार समझा जाता है। शिष्ट व्यवहार के रूपों का उदय

मनुष्य की उस सौन्दर्य-चेतना मे होता है जो वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के अधिक सन्तोषप्रद रूपो की कल्पना करती है। विवाह, धार्मिक उपासना, यज्ञों आदि के अवसर पर जो तरह-तरह के जटिल रीति-रिवाज तथा विधान अनुष्ठित किये जाते है, उनके बारे मे जहाँ एक ओर यह धारणा रहती है कि वे सम्बद्ध व्यक्तियो का कल्याण करनेवाले है, वहाँ यह भी महसूस किया जाता है कि वे विशिष्ट अवसर को शानदार तथा सुन्दर बना देते है। शिष्ट व्यवहार के रूपो के मूल मे भी सुन्दर की मूल चेतना रहती है, यद्यपि बाद मे यह समझा जाने लगता है कि उनका अनुष्ठान सुरुचि तथा आदरणीयता का द्योतक होता है। जिसे हम अभिजात वर्ग कहते है, उसमे एक दूसरे प्रकार का व्यवहार भी पाया जाता है, वह व्यवहार जिसे वैवलेन नामक विचारक ने "प्रदर्शन के लिए फिजूलखर्ची" (Conspicuous Consumption) कहा है। वैवलेन का कहना है कि अभिजात वर्ग के अमीर लोग अनेक काम सिर्फ इसलिये करते है कि वे फिजूलखर्ची द्वारा लोगो पर अपनी महत्ता का सिक्का जमा सके।

अपने आत्मिक तथा भौतिक दोनो पक्षो में सभ्यता को संस्कृति के उस अंश से समीकृत किया जा सकता है जो समस्त जनता की चीज बन गया है। अपने भौतिक तथा आत्मिक दोनो रूपो मे सभ्यता को सास्कृतिक चेतना का वह अग माना जा सकता है जो अभ्यस्त व्यवहार (वैयक्तिक तथा सामाजिक आदतो एवं प्रथाओ) के रूप मे परिणत हो चुका है। सभ्य व्यवहार के नियम या रूप, जिनमे शिष्टता के रूपो, प्रथाओ तथा व्यावहारिक रूढियो सब का समावेश है, रूढिवादी शक्तियो की भाँति व्यापृत होते है और सस्कृति की प्रगति में बाधा डालते है। दर्शन और कला के क्षेत्रो में भी चिन्तन तथा आवेगात्मक प्रतिक्रिया के रूप प्रतीकों में बँध जाते है। इस प्रकार जब सस्कृति प्रवाहमयी तथा सृजनात्मक न रहकर लीक-बद्ध बन जाती है, तब उसे सभ्यता कहते है। इस महत्वपूर्ण अर्थ मे यह कहा जा सकता है कि सभ्यता सस्कृति का अनिवार्य गन्तव्य या गति है, और वह सस्कृति की विरोधिनी है। मैकाइवर ने लक्ष्य किया है कि सस्कृति की अपेक्षा सभ्यता ज्यादा आसानी से सक्रान्त की जा सकती है 'सस्कृति उन्ही को प्रेपित की जा सकती है जो समानधर्मा है। जिसमे कलाकार की विशेष सवेदना नही है वह कला का रस नही ले सकता, और जिसकी श्रवण-शक्ति सागीतिक क्षमता नही रखती, वह सगीत का आनन्द नही ले सकता।'[३५] सस्कृति के प्रेषण की दृष्टि से कुटुम्ब या परिवार का विशेष महत्त्व नही है, जैसा कि

इलियट का खयाल है। कुटुम्ब या परिवार अपने सदस्यों को सभ्य बना सकता है, लेकिन उनमें उच्च सांस्कृतिक रुचियां उत्पन्न नहीं कर पाता।

## संस्कृति के स्तर . सांस्कृतिक महत्व के प्रतिमान

एक व्यक्ति वहां तक संस्कृत कहा जा सकता है जहां तक वह सचेत, निर्वैय-क्तिक एवं सृजनात्मक ढंग से जीवन यापन करता है। प्रत्येक मनुष्य संस्कृत होता है, उस हद तक जहां तक वह पशु-सुलभ जीवन के ऊपर उठता है। संस्कृति की प्रौढ़ता अथवा उसके स्तर का निर्णय करने के लिये उन चीजों को देखना होगा जो उस व्यक्ति की चेतना, सृजनशीलता तथा निर्वैयक्तिकता के आयाम एवं दर्जों का निर्धारण करती हैं। दूसरी चीज जो सांस्कृतिक स्तर अथवा सांस्कृतिक श्रेष्ठता का निर्धारण करती है, सच्चाई अथवा प्रामाणिकता की भावना है। संस्कृत होने का अर्थ यथार्थ से पलायन नहीं है। संस्कृत व्यक्ति में यथार्थ की भावना अधिक ठोस तथा गहरी होती है। किसी क्षण में हम जिस दुनिया का अनुभव करते हैं वह विशाल यथार्थ का अंश मात्र है। पूर्ण यथार्थ बड़ी लम्बी-चौड़ी चीज है, जिसकी चेतना वैज्ञानिक तथा दार्शनिक में रहती है। समझा जाता है कि कला के क्षेत्र में कल्पना ज्यादा मुक्त होती है, और वहां यथार्थ-दृष्टि का उतना महत्व नहीं होता। लेकिन ऐसी बात नहीं है। बड़े कलाकार की सृजन-क्रिया लगातार यथार्थ की प्रकृति से निर्धारित होती है, और उसकी यथार्थ-दृष्टि उसकी सृष्टि की प्रौढ़ता तथा प्रामाणिकता को प्रभावित करती है। यदि हम कथा-साहित्य के इतिहास पर ध्यान दें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। कथा कहने की कला का लगातार विकास हुआ है। यह विकास अधिकाधिक यथार्थवाद की ओर हुआ है। प्राचीन कथा-साहित्य में, जिसमें बाणभट्ट तथा दंडी जैसे बड़े लेखकों की "कादम्बरी" और "दशकुमार-चरित" जैसी महत्वपूर्ण कृतियों का समावेश है और "अलिफलैला" जैसे कम महत्व के ग्रंथों में, अलौकिक तत्व अर्थात् जादू-टोने आदि का स्वच्छन्द समावेश है। इन तत्वों द्वारा पुराने लेखक पाठकों में उत्सुकता तथा आश्चर्य की भावनाएँ जागृत रखते हैं। इसके विपरीत आधुनिक काल के उपन्यासों में, जैसे टॉल्स्टॉय की "अन्ना" अथवा दास्ताएव्स्की के "क्राइम एण्ड पनिशमेन्ट" में उस प्रकार उत्सुकता जगाने के लिये विशुद्ध रूप में यथार्थ जीवन के तत्वों का ही उपयोग किया जाता है। चूंकि जीवन की क्रियाएँ सृजनात्मक तथा परिवर्तनीय हैं, चूंकि जीवन किसी एक बंधे हुए ढर्रे पर नहीं चलता,

इसलिये आश्चर्य तथा उत्सुकता उत्पन्न करने के लिये यह जरूरी नही कि उस जीवन मे कृत्रिम, बाहर से निर्धारित, वक्र मोड दिखाये जायँ। जीवन अपने मे ही आश्चर्य-जनक नवीनताओ को उत्पन्न करता रहता है। इसलिये पूर्ण रूप मे यथार्थवादी उपन्यासकार स्वय जीवन के भीतर निहित अनेक तथा विविध यथार्थ-सभावनाओ का चित्रण कर सकता है। जिस प्रकार आज के उपन्यास मे यथार्थ का विशेष आग्रह है, वैसे ही आधुनिक ऐतिहासिक अन्वेषणो तथा वैज्ञानिक शोधो में भी यथार्थ का आग्रह बढा हुआ दिखाई देता है। हमारा युग केवल उसी सत्य को स्वीकार करके चलना चाहता है जिसकी परीक्षा की जा सके। वह उन सत्यो पर जिनकी परीक्षा सम्भव नही है, विचार भी नही करना चाहता। इस दृष्टि से वह दार्शनिक सम्प्रदाय जिसे तर्क-मूलक भाववाद कहते है, हमारी शताब्दी की सास्कृतिक प्रौढता का प्रमाण है। सास्कृतिक चेतना यथार्थ के बीच प्रसरित होना चाहती है, यह यथार्थ से पलायन करके कल्पना मे शरण लेना नही चाहती। वस्तुत सास्कृतिक क्रिया मे जिस कल्पना का उपयोग होता है उसका लक्ष्य यथार्थ की वास्तविक रचना का उद्घाटन है, न कि यथार्थ को विकृत करना। कला तथा विज्ञान दोनो क्षेत्रो में बड़े लेखक तथा विचारक यथार्थ से पलायन नही करते, इसके विपरीत वे अधिकाधिक यथार्थ को ग्रहण करके चलते है। किन्तु यथार्थ की इस माँग का यह अर्थ नही है कि हम जीवन के उन क्षेत्रों से बचने का प्रयत्न करे जहाँ विज्ञान की गति नही है, और जहाँ गणित का हिसाब अथवा भौतिकशास्त्र की नापतौल सम्भव नही है। जो व्यक्ति इस प्रकार विशुद्ध गुणात्मक यथार्थ से बचकर केवल उस यथार्थ को ग्रहण करना चाहते है जिसे भौतिक-शास्त्र द्वारा मात्रा-मूलक सूत्रो से समझा जा सकता है, वे अपने व्यक्तित्व के प्रसार और सास्कृतिक उन्नति के द्वार स्वयं ही बन्द कर देते है। यथार्थ का आग्रह अच्छी चीज है, वैज्ञानिक 'स्पिरिट' भी श्लाघ्य है, किन्तु इसका यह मतलब नही कि हम अपनी यथार्थ-दृष्टि को संकीर्ण कर ले, और जीवन के गुणात्मक अनुभवो की ओर से अपनी बुद्धि और मन के रास्ते बन्द कर लें।

सास्कृतिक प्रौढता मे सबसे महत्वपूर्ण तत्व निर्वैयक्तिकता है। प्रथम दृष्टि में ऐसा जान पडता है कि निर्वैयक्तिकता एक अस्पष्ट एवं निरर्थक धारणा है। कैसे कोई व्यक्ति उस चीज में रुचि ले सकता है जो उसके व्यक्तित्व का अतिक्रमण करती है, अथवा उससे असबधित है? किन्तु निर्वैयक्तिक होने का अर्थ व्यक्तित्वशून्य होना नही है। वस्तुत यह धारणा वैयक्तिक की विरोधिनी नही है, बल्कि उसकी विरोधिनी

है जो केवल व्यक्तिगत है। निर्वैयक्तिकता का अर्थ है सार्वभौमता। इस सार्वभौमता के दर्जे हो सकते हैं। सार्वभौमता से मतलब है उन चीजों में रुचि होना जो अपने व्यक्तित्व से बडी अथवा व्यापक है, जैसे जाति, राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानवता। ऐसा जान पडता है कि वे रुचियाँ जो केवल व्यक्तिगत होती हैं, सम्पत्ति अथवा दूसरी वस्तु-सामग्री से सम्बन्ध रखती हैं। जब हम एक सुन्दर मूर्ति अथवा चित्र की प्रशसा करते हैं, तब एक सास्कृतिक क्रिया करते होते हैं, उस प्रशसा में दूसरे लोग साक्षी हो सकते हैं। किन्तु जब मैं उन चीजों के प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ तब मेरा कार्य एक निजी अथवा व्यक्तिगत कार्य बन जाता है। किसी रुचि अथवा स्वार्थ की सार्वभौमता मापने के लिए यह देखना चाहिए कि उसकी विशुद्ध व्यक्तिगत स्वार्थ से कितनी ज्यादा दूरी है, और वह सम्पूर्ण मानवजाति की रुचियो तथा हितों के कितनी निकट है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये कि सवेरे के अखबार में किसी उत्तर प्रदेश के नागरिक ने ये खबरे पढीं "उत्तर प्रदेश के मन्त्रिमडल मे सकट", "भारत और पाकिस्तान में कश्मीर को लेकर तनाव में वृद्धि," तथा "फारमूसा को लेकर विश्वयुद्ध की सभावना।" एक सस्कृत व्यक्ति होने के नाते उक्त नागरिक इन सभी खबरो मे अभिरुचि लेगा। किन्तु, यदि वह एक ऐसा सस्कृत व्यक्ति है जिसकी रुचियाँ प्रौढ बन चुकी है, तो वह सबसे ज्यादा विचलित अन्तिम खबर से होगा। कारण यह है कि विश्व-युद्ध की तुलना में बाकी दो खबरे जो कि क्रमश एक प्रान्त अथवा देश से सम्बन्ध रखती हैं, अपेक्षाकृत कम महत्त्व की हैं। एक सस्कृत व्यक्ति का अवधान उन खबरो पर अपेक्षाकृत कम केंद्रित होना चाहिए। पूर्णतया सस्कृत व्यक्ति वह है जो पूर्ण रूप से मानवजाति की रुचियों तथा मानवीय मूल्यो से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उनके लिये सघर्ष करता हुआ उनके सरक्षक का काम करता है।

सांस्कृतिक जीवन की सार्वभौमता की स्थापना मानवीय अनुभूति की सिम्तों अथवा आयामो की अपेक्षा से भी की जा सकती है। जो मनुष्य जितने अधिक विस्तृत क्षेत्र के प्रति प्रतिक्रिया करता है, वह उतना ही संस्कृत होता है। उसकी तुलना मे जो विश्व की सामाजिक-राजनैतिक तथा आर्थिक वास्तविकता के प्रति जागरूक है, वह व्यक्ति जिसका जीवन केवल उसके अपने राग-विरागो, प्रेम-घृणा, हानि-लाभ आदि द्वारा निर्धारित रहता है, कम सस्कृत है। मार्क्सवादी आलोचको का यह विचार ठीक है कि वे लेखक, उपन्यासकार और नाटककार, जिनके पात्र, अपने व्यापारो द्वारा, सामाजिक शक्तियो के प्रभाव को व्यजित करते है, ज्यादा बडे

लेखक होते हैं। उनकी रचनाओं में सामाजिक वास्तविकता का समावेश रहता है। किन्तु वह मनुष्य जिसने सस्कृति के उच्चतम धरातल को प्राप्त कर लिया है, केवल मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक भूमिका में ही जीवित नहीं रहता। वह समूचे ब्रह्माण्ड की अपेक्षा मे जीवित रहता है, और उस ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप में सोचता तथा महसूस करता है। श्रेष्ठतम लेखकों की कृतियाँ, इसीलिये, मनुष्य के मनोवैज्ञानिक एव सामाजिक पहलुओ का चित्रण करके ही नहीं रह जाती, वे मानव अनुभूति की धार्मिक-दार्शनिक सिम्तो का भी स्पर्श करती हैं।

सस्कृत व्यक्ति के विचार तथा आदर्श एक दूसरी चीज से भी सपृक्त या सम्बन्धित रहते हैं, अर्थात् उस अनुभूति तथा व्यवहार से जो मनुष्य के इतिहास मे सचित हैं। सस्कृत व्यक्ति की चेतना केवल अपना देशगत या भौगोलिक विस्तार ही नहीं करती, वह कालिक विस्तार को भी अपनी परिधि मे ले लेना चाहती है। वह उस समस्त अनुभूति को, उस समस्त बोध तथा रागात्मक क्रिया को, जो मानवजाति ने अपनी विचारात्मक तथा कलात्मक सृष्टियो मे सचित रखी है, आत्मसात् कर लेना चाहती है। विश्व की अवगति से सम्बद्ध किसी भी अनुभव-समावना को वह छोडना नहीं चाहती। मनुष्य की ऐतिहासिक अनुभूति का विषय मुख्यत. सामाजिक वास्तविकता है, किन्तु वह धार्मिक-दार्शनिक सिम्त को भी छूती है। इतिहास जहाँ एक ओर हमे उन शक्तियो से परिचित कराता है जो मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है, वहाँ वह हमारे सामने मानवता के चरम गन्तव्य की समस्या भी प्रस्तुत करता है। विभिन्न परिवेशो तथा युगो मे मनुष्य की उपलब्धियाँ क्या-क्या रही हैं, वह अपने व्यक्तित्व को कहाँ तक, किस ऊँचाई तक, उठा सका है, यह अवगति इतिहास पढने से मिलती है। इसलिये हम उस किसी भी व्यक्ति को पूर्णतया सस्कृत नहीं कह सकते जिसमें ऐतिहासिक सवेदना विकसित नहीं हुई। यह सवेदना प्रौढ जीवन-दर्शन का आवश्यक अग है।

हमने कहा कि निर्वैयक्तिकता सार्वभौमता का नाम है। निर्वैयक्तिकता का अर्थ यह भी है कि मनुष्य उन चीजो के प्रति, जो केवल व्यक्तिगत अथवा स्थानीय हैं, उदासीनता की भावना विकसित करे। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सस्कृत होता है वह उन चीजो से, जिनका सम्बन्ध केवल उससे अथवा उसके स्वार्थो से है, उतना ही कम प्रभावित होता है। इसी प्रकार वह उन चीजो से विशेष प्रभावित नहीं होता जो एक छोटे दायरे से सम्बन्ध रखती हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति किसी छिछले अर्थ में

भावुक नही होता। किन्तु उदासीनता का अर्थ मानवीयता का अभाव नही है, उसका प्रधान चिह्न है, सतुलन और स्थिरता। इस प्रकार का व्यक्ति उन्ही चीजो से अधिक प्रभावित होता है जिनका, गहरे अर्थ में, मानवीय, ऐतिहासिक अथवा विश्वजनीन महत्व है।

निर्वैयक्तिकता का सामान्यरूपता (Normality) से घना सम्बन्ध है। जो निर्वैयक्तिक है वही पूर्णतया सामान्य तथा स्वीकार्य है। जिस व्यक्ति पर एक खास वर्ग की आस्थाओ, रुचियो तथा भावनाओ का जितना ही अधिक प्रभाव होता है वह मनुष्य की सामान्य 'स्पिरिट' से उतना ही दूर रहता है। यह आवश्यक नही है कि जो सामान्य है वह मौलिक या आदिम भी हो, यद्यपि यह ठीक है कि श्रेष्ठ कला एक खास अर्थ मे हमारी मूल प्रवृत्तियो को सन्तुष्ट करती है। मनुष्य की सामान्य-रूपता मे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसकी समस्त सृजनात्मक समृद्धि का समावेश रहता है। आवश्यक यही है कि इस समृद्धि का विकास सामान्य मानवीयता के नियमो के अनुरूप हो। मनुष्य जब अपनी अन्त प्रकृति के नियमो के विरुद्ध जाता है, तभी उसका चिन्तन और आवेग अप्रामाणिक बन जाता है। सामाजिक विज्ञानो तथा कलाओ की उन्नति इसमें है कि उनमे निबद्ध प्रतीतियाँ तथा आवेग क्रमश मनुष्य की सामान्य अन्त प्रकृति के निकट या अनुरूप होते जायँ।

सच्ची सामान्यरूपता का अर्थ है, पूर्ण सार्वभौमता। सामान्यरूपता वह योग्यता है जो हमें किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र के दृष्टिकोण से नही, बल्कि मनुष्य मात्र के दृष्टिकोण से देखने योग्य बनाती है। इस सामान्यरूपता की गठन में दो तत्व रहते हैं: मनुष्यो की जैवी प्रकृति एव भौतिक गठन की एकता, तथा उनकी वह शक्ति जिसके द्वारा वे अपने को एक-दूसरे की स्थिति मे कल्पना द्वारा रख सकते है। अधि-काश मनुष्यो की कल्पना-शक्ति पूर्णतया विकसित नही हो पाती। कल्पना-शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन धीरे-धीरे हो रहा है, और वह प्रस्फुटन मनुष्य की सास्कृतिक प्रगति मे प्रतिफलित होता रहता है। बहुत थोडे परीक्षक है जो मनुष्य की सामान्य अन्त प्रकृति के दृष्टिकोण को पूर्णतया अपना पाते है, और वह भी कतिपय सीमित क्षेत्रो मे। अधिकाश लोग अपने को एक या दूसरे वर्ग, जाति अथवा देश से समीकृत कर लेते है। सस्कृति की दृष्टि से किसी मनुष्य की सामान्यरूपता का मतलब है उसकी वह शक्ति जिसके द्वारा वह, कल्पना द्वारा, अपने को दूसरो की स्थिति में रखते हुए उनके विचारो तथा आवेगो को आत्मसात् कर लेता है। आगे हम देखेंगे कि मनुष्य का नैतिक

व्यवहार भी उसकी कल्पनात्मक तादात्म्य की क्षमता पर निर्भर करता है। यहाँ हमें यह लक्षित कर लेना चाहिए कि मनुष्य की सारी तर्कना-शक्ति तथा चिन्तन, और उसकी दूसरो को युक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता, इस पर निर्भर करती है कि विभिन्न सम्बद्ध मनुष्य अपने को सामान्य मानवीय प्रकृति के दृष्टिकोण पर पहुँचा सकें।

## प्रतिभा और सांस्कृतिक प्रगति . विद्रोह के अन्तर्नियम

सच्चे अर्थ में सांस्कृतिक क्रिया वह है जो किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र के लिये नही, अपितु समस्त मानव-जाति के लिये, नये क्षेत्रो की विजय करती है। निर्वैयक्तिक जीवन के प्रकार वे तरीके हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने तथा मानव-जाति के बीच तादात्म्य स्थापित करता है। ऐसा जान पडता है कि जीवन के मुख्य प्रवाह से विच्छिन्न होकर व्यक्तित्व की छोटी-छोटी धारायें पुन उस बडे प्रवाह मे लौटने का प्रयत्न कर रही हो।

जीवन की ये क्रियाएँ व्यक्ति के परम आनन्द का स्रोत होती हैं। मनुष्य निर्वैयक्तिक ढंग से जीवित रहना चाहता है। कवि ऐसी कविता लिखना चाहता है जो सर्वग्राह्य हो, दार्शनिक ऐसी युक्तियो की उद्भावना करना चाहता है जिन्हें सब स्वीकार कर सकें—इसलिये नही कि उसकी कुछ वाहरी अथवा सामाजिक जरूरतें हैं, जैसा कि फ्रायड के अनुयायियो का विचार है, वल्कि इसलिये कि यह उसकी अन्त प्रकृति की माँग है। श्रेष्ठतम सांस्कृतिक सृष्टियाँ सामाजिक माँगो का परिणाम नही होती, वे अपनी उत्पत्ति के वाद सामाजिक माँग पैदा करती है। यह आश्चर्य की वात है कि कवि जिस समय अपनी रचना मे लगा होता है, और जिस समय उसकी सृजनात्मक उत्तेजना सव से ऊँचे विन्दु पर पहुँची हुई होती है, उस समय वह स्वयं यह निर्णय कर लेता है कि कोई उपमा या रूपक उसके मानवीय पाठको को प्रिय लगेगी या नही। सृजन मे लगा हुआ कलाकार इस भाँति व्यवहार करता है मानो कि सवसे ऊँचा निर्णायक, मानवीय अन्त प्रकृति का श्रेष्ठतम प्रतिनिधि या प्रवक्ता, स्वय उसी की अन्तरात्मा मे पैठकर उसे उचित निर्देश दे रहा हो।[१९]

व्यक्ति सुखी तव होता है जब उसकी क्रियाएँ उस समाज के लिये, जिसका वह अंग है, ग्राह्य हो, और उसके कष्ट का सवसे वडा कारण उसके व्यक्तित्व की वे चीजें होती हैं जिन्हे समाज स्वीकार नही करना चाहता।

यहाँ एक जटिल प्रश्न उठ खड़ा होता है। यदि व्यक्ति अपने और समाज के सामंजस्य को इतना अधिक महत्त्व देता है तो कभी-कभी ऐसा क्यों हो जाता है कि वह समाज के विरुद्ध, समाज की मान्यताओं के प्रतिकूल, विद्रोह करने लगता है? और उस विद्रोह का क्या तत्त्व है जो प्रगति का कारण बन जाता है, अर्थात् जिसे बाद की पीढ़ियाँ प्रगतिशील विद्रोह कह कर वर्णित करती हैं? वे कौन से तत्त्व हैं जिनसे विद्रोह की भावना प्रेरणा तथा शक्ति ग्रहण करती है?

विद्रोह तथा क्रान्ति में कुछ अन्तर है, विद्रोही तथा क्रान्तिकारी व्यक्ति कुछ भिन्न प्रवृत्तियों के होते हैं। विद्रोही उस व्यक्ति को कहते हैं जो समाज के अनुरूप नहीं चल सकता और जो अपने व्यापारों में समाज का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता। विद्रोही अपनी स्वतंत्रता चाहता है। इसके विपरीत क्रान्तिकारी व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करके सन्तुष्ट नहीं हो जाता। क्रान्तिकारी चाहता है कि वह स्वयं समाज को परिवर्तित कर दे और उसे अभिलषित रूप में ढाल दे। क्रान्तिकारी एक ज्यादा कट्टर विद्रोही होता है। विद्रोही की भाँति वह अपने भिन्न मार्ग के लिये पश्चात्ताप नहीं करता, इतना ही नहीं, उसका यह मनोभाव होता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा ज्यादा विवेक है, और यह कि उसकी अन्तर्दृष्टि (Vision) दूसरों से श्रेष्ठ है। वह चाहता है कि उसके विवेक और उसकी दृष्टि से समाज लाभान्वित हो। विद्रोही की तुलना में क्रान्तिकारी अधिक वस्तुगत होता है, उसका लक्ष्य होता है उन शक्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेना जो समाज का नियंत्रण करतीं और समाज की गति को निर्धारित करती हैं।

विद्रोहियों में भी दो वर्ग के व्यक्ति पाये जाते हैं एक वे जो तत्त्वतः रूप में सामाजिक हैं, और दूसरे जो मूलतः असामाजिक हैं। असामाजिक विद्रोही वे हैं जो निषेधात्मक रूप से समाज की व्यवस्था का विरोध करते हैं, जैसे कि चोर-डाकू तथा अन्य अपराधी। तत्त्वतः रूप में सामाजिक विद्रोही वे हैं जो समाज के अन्यायपूर्ण एवं अवांछनीय प्रतिबन्धों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। इस प्रकार का विद्रोही दूसरों से सहानुभूति और कभी-कभी प्रशंसा भी पाता है, यद्यपि विद्रोह का झंडा खड़ा करते समय वह प्रायः अकेला होता है। जब ऐसे व्यक्ति को बहुत-से सहानुभूति देनेवाले मिल जाते हैं, तो उसका विद्रोह क्रमशः ज्यादा सक्रिय रूप धारण कर लेता है। बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्रों में ऐसा व्यक्ति विद्रोही हो सकता है जिसने विद्रोह की प्रेरणा कहीं बाहर से पाई है। ऐसे व्यक्ति द्वारा किया हुआ समाज का विरोध तब तक प्रभावशाली नहीं

हो सकता जब तक शिक्षा द्वारा, अथवा मौजूदा मानवीय सम्बन्धों के परिवर्तन द्वारा. स्वयं अपने समाज में विद्रोही को सहानुभूति देनेवाले न मिल जायँ।

विद्रोही का लक्ष्य होता है अस्वाभाविक अथवा अन्यायपूर्ण प्रतिबन्धो को हटाना, जब कि क्रान्ति का लक्ष्य रहता है विभिन्न मनुष्यो के लिये उपलब्ध अवसरो तथा साधनो का पुनर्वितरण। क्रान्ति की आवश्यकता तब होती है जब कि नये ज्ञान तथा नये परिवेश के सन्दर्भ मे लोगो को यह महसूस होता है कि उनकी जीवन-स्थितियों मे सुधार हो सकता है, और वे लोग जो अब तक आराम तथा सुख के साधनों पर अधिकार किये हुए थे, उस सुधार की राह मे विघ्न डालने लगते है। मौजूदा स्थिति के समर्थक लोग, जो स्वय आराम से रहते रहे है, यह मानकर चलते है कि पुरानी प्रथाओ का पालन करते रहना ही उचित व्यवहार है, और वे उन लोगों को जो अब तक इतने सौभाग्यशाली नही रहे है और नये परिवेश मे अपने भीतर नई आशाये जगाते है, अपेक्षित परिवर्तनो की माँग से रोकते है। जो स्वय पुराने मूल्यो को मानते हुए तथा लीको मे चलते हुए सुख-पूर्वक जीवन-यापन करते रहे है, वे उन लोगो की आकाक्षाओ को सहानुभूति नही दे पाते जो अपने सम्मुख नवीन जीवन की सम्भावनाओ को देखते हुए सामाजिक-राजनैतिक एव आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन की कामना तथा माँग करते है। ऐसी दशा मे धीरे-धीरे परिवर्तनवादियो से सहानुभूति करनेवालो की सख्या बढने लगती है। बात यह है कि जब मनुष्यो के सम्मुख श्रेष्ठतर व्यवस्था का चित्र आ जाता है तो वे स्वत उसकी ओर आकृष्ट होने लगते है, और उसे यथार्थ रूप में उतारने के लिये प्रयत्न करने लगते है। जैसे ही कोई विचारक मौजूदा व्यवस्था से श्रेष्ठतर व्यवस्था की कल्पना उनके सम्मुख प्रस्तुत करता है, वैसे ही उन लोगो की पुरानी व्यवस्था पर से, फिर चाहे वह कितनी ही प्राचीन क्यों न हो, आस्था हटने लगती है, और इस प्रकार क्रमश उस मौजूदा व्यवस्था को परित्यक्त हो जाना पड़ता है। मनुष्य मे जो निर्वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ है वे उसे बाध्य करती है कि वह कल्पना द्वारा उपस्थापित नई व्यवस्था का हामी बन जाय। और इस नई व्यवस्था के हामियों मे सिर्फ वे ही लोग नही प्रविष्ट हो जाते जो मौजूदा व्यवस्था मे सुखी जीवन नही बिता पा रहे है, बल्कि वे भी जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत धन-सम्पत्ति तथा शक्ति पर अधिकार पाये हुए है। अक्सर यह देखा गया है कि किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता या तो ऊँचे वर्गो में से आते है, या फिर उन बुद्धिजीवियो के वर्ग से जो ऊँचे वर्गों से सम्बन्धित अथवा उनके निकट है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवजाति की प्रगति दो विरोधी चीजों से निर्धारित होती है। प्रथमतः यह जरूरी है कि व्यक्ति अपने विचारों तथा भावनाओं दोनों में समाज के अनुरूप बने, और दूसरे, यह भी जरूरी है कि व्यक्ति उस समाज के विरुद्ध, जो किसी जर्जर रूढ़िवादी व्यवस्था को पकड़कर बैठा है और नयी कल्पनाओं द्वारा उपस्थापित प्रगति की सम्भावनाओं का स्वागत नहीं करता, विद्रोह करे। जहाँ यह ठीक है कि मनुष्य पुरानी रूढ़ियों एवं प्रथाओं का अनुसरण करके जीवित रहते हैं, वहाँ यह भी सत्य है कि मनुष्य की उन्नति प्रायः रूढ़ियों के परित्याग तथा सृजनात्मक कल्पना के व्यापार द्वारा घटित होती है। जिन्हें समाजविज्ञान के पण्डित 'संस्कृतियाँ' कहते हैं वे वास्तव में विभिन्न जीवन-प्रकार हैं जिन्हें विभिन्न समाजों या जातियों ने अपनी भिन्न ऐतिहासिक तथा भौतिक परिस्थितियों में विकसित किया है। अपने अतीत इतिहास के आलोक में देखे जाने पर विभिन्न 'संस्कृतियाँ' उन समाजों की उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं। किन्तु जो संस्कृति इतिहास द्वारा उपस्थित की हुई नई सम्भावनाओं के अवसर का लाभ नहीं उठाती और सृजनात्मक ढंग से आत्म-विस्तार नहीं करती, वह अप्रगतिशील अथवा पश्चाद्गामिनी बन जाती है। सांस्कृतिक आत्म-विस्तार की नई सम्भावनाओं का संकेत करना प्रतिभाशाली व्यक्तियों का विशिष्ट कार्य है।

विभिन्न प्रतिभाशाली जो काम करते हैं वह देश-काल तथा परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेता है। उनकी विभिन्नता का दूसरा कारण प्रतिभाशालियों की भिन्न प्रकृतियाँ या स्वभाव होते हैं। शान्ति के समय में वे प्रतिभाशाली व्यक्ति जो मौजूदा व्यवस्था को स्वीकार करके चलते हैं मुख्यतः दो काम करते हैं: प्रथमतः वे उन सिद्धान्तों तथा प्रतिज्ञाओं को स्पष्ट करते हैं जो उस व्यवस्था का आधार हैं। दूसरे विचार तथा संवेदनाओं की उपलब्ध सामग्री के आधार पर, वे समृद्ध एवं सुखी जीवन की उपलब्ध सम्भावनाओं का निरूपण या उद्घाटन करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार की प्रतिभा क्लासिक्स को जन्म देती है जिनकी प्रमुख विशेषता सन्तुलन है। दर्शन में वह प्रायः एकत्ववादी अथवा अद्वैतवादी विचार-पद्धतियों को उत्पन्न करती है। ये विचार-पद्धतियाँ ईश्वरवादी अध्यात्मवादी तथा भौतिकवादी भी हो सकती हैं। यदि उस शान्ति के समय में विभिन्न दिशाओं में नये अन्वेषण भी हो रहे हों, तो उन 'क्लासिक्स' के रूप में 'रोमैण्टिक' उत्साह एवं उल्लास का पुट भी आ जाता है। वर्जिल तथा दान्ते, पार्मेनिडीज तथा स्पिनोज़ा पश्चिम में,

और वाल्मीकि, भास तथा बादरायण पूर्व मे प्रथम कोटि की शान्तियुगीन प्रतिभाएँ हैं, जब कि कालिदास, शेक्सपियर तथा हीगल दूसरे वर्ग के प्रतिभाशाली लेखक हैं। सक्रमण, उथल-पुथल एव सघर्ष-युगो मे उत्पन्न होनेवाली प्रतिभाएँ दूसरी ही प्रकृति की होती हैं। उनमें तीक्ष्णता, तीव्रता तथा क्षुब्ध आवेग रहता है। उनमे से कुछ सशयालु तथा आलोचनाशील होते हैं, और कुछ नवीन सिद्धान्तो तथा आदर्शो की कल्पना करनेवाले। महाभारतकार, प्लेटो, रूसो और वाल्तेयर, दास्ताएव्स्की, इब्सन तथा बर्नार्ड शा इसी कोटि की प्रतिभाएँ हैं।

प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा साधारण नर-नारियो मे अनेक भेद होते है। अधिकाश मनुष्य जीवन तथा जगत् के तथ्यो एव मूल्यो पर सीधे दृष्टिपात नही करते, उनका देखना विभिन्न प्रतीको तथा नारो अथवा स्वीकृत सिद्धान्तो से प्रभावित रहता है। इसके विपरीत प्रतभाशाली व्यक्ति प्रतीक-रूप में बँधी बौद्धिक धारणाओं से इतना प्रभावित नही होता। उसकी क्रान्तदर्शिनी दृष्टि स्वीकृत मान्यताओं तथा चिन्तन-प्रकारो को भेदकर सीधे यथार्थ से सम्पर्क स्थापित करती है। उसकी आवेगमयी प्रकृति वस्तु-सत्ता के सम्बन्ध मे सुनी-सुनायी बातों को ग्रहण करके सन्तुष्ट नही हो जाती। प्रतिभाशाली तथा पडित मे मुख्य भेद यह है कि प्रथम मे यथार्थ को सीधे सम्पर्क द्वारा जानने की कामना रहती है, जब कि पडित व्यक्ति प्राय. यथार्थ को स्वीकृत मान्यताओ के माध्यम से देखता है। पडित का मुख्य काम होता है, दूसरों द्वारा निर्मित धारणाओं तथा सिद्धान्तो की छानबीन करना। वह विभिन्न सिद्धान्तो पर विचार करता है, और उनकी आन्तरिक सगति से पुलकित तथा उनके अन्तर्विरोधो से असन्तुष्ट होता है। प्रतिभाशाली मे प्रतिपादित सिद्धान्तो के तर्क-मूलक सगठन को सराहने की क्षमता नही होती, ऐसी बात नही। किन्तु वह किसी सिद्धान्त से तब तक सन्तुष्ट नही होता जब तक कि वह सिद्धान्त उसके अपने अनुभूत यथार्थ की परिपूर्ण व्याख्या न करे। वह उस चातुर्य से उतना प्रभावित नही होता जो किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में दर्शित होता है, वह यह देखना चाहता है कि विचाराधीन सिद्धान्त कितने लम्बे-चौड़े यथार्थ की व्याख्या करने, उसे सबद्ध रूप मे प्रस्तुत करने मे समर्थ हुआ है। कोई भी सिद्धान्त यथार्थ अथवा वास्तविकता के किसी अश को सम्बद्ध रूप मे प्रस्तुत करता है। यदि एक प्रतिभाशाली किसी प्राचीन, स्वीकृत सिद्धान्त को मान्यता नही दे पाता तो उसका कारण यह नही होता कि वह स्वय अपनी मौलिकता को प्रमाणित करने के लिये अधीर है, बल्कि यह कि स्वीकृत सिद्धान्त उस यथार्थ

की ठीक व्याख्या नहीं करते जिसे प्रतिभाशाली ने स्वय अपनी अनुभूति में प्रत्यक्ष किया है।

इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति उपेक्षित यथार्थ का प्रवक्ता होता है। यह यथार्थ बाह्य प्रतीतियाँ तथा सम्बन्ध हो सकते हैं, किन्तु अक्सर, विशेषत सामाजिक-राजनैतिक मूल्यों के क्षेत्र में, उस यथार्थ का अस्तित्व आत्मगत तथा कल्पना-मूलक होता है। एक क्रान्तिकारी विचारक तीक्ष्ण ढग से हमारा ध्यान आशाओं एव उन मनोरथों की उस विफलता की ओर आकृष्ट करता है जो बचाई जा सकती थी, और उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का सकेत करता है जो उन कष्टों तथा विफलताओं का मूल कारण है। दूसरा प्रतिभाशाली लेखक, कल्पना द्वारा नवीन अनुभव-समष्टियों की सृष्टि करके, हमारी प्रतीति तथा सवेदना का विस्तार करता है। अक्सर प्रतिभाशाली किसी परिचित पदार्थ अथवा स्थिति में एक नये, अतर्कित तत्त्व का सकेत करके हमें आनन्दपूर्ण अचरज में डाल देता है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रतिभाशाली अवगति तथा सवेदना का तीव्र केन्द्र होता है और वह अधिक सूक्ष्म तथा समृद्ध जीवन-रूपों को अभिव्यक्ति देने-वाला होता है। प्रतिभाशाली पर प्रतीक-बद्ध मान्यताओं का उतना अधिक प्रभाव नहीं होता, और वह अपनी भावनाओं का उतना दमन नहीं करता। यही कारण है कि उसके लिए परम्परा को छोड़ देना अपेक्षाकृत सरल होता है। वस्तुत प्रतिभा-शाली व्यक्ति, और विशेषत कलाकार, मनुष्य की आदिम मूल प्रवृत्तियों के ज्यादा निकट होता है। वह आदिम मनुष्य की भाँति प्रारम्भिक विस्मय की भावना से वस्तुओं को देखता और उनके सम्बन्ध में महसूस करता है। किसी समाज की जीवन-शैली मुख्यत दो तरह की होती है। प्रथमत, भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियों के अनुरूप, उस समाज में लोग विभिन्न ढगों से अपनी मूल जरूरतों को पूरा करते हैं। दूसरे, प्रत्येक समाज में कुछ धार्मिक-दार्शनिक मान्यताएँ तथा रूढ़ियाँ प्रचलित होती हैं, जिनमें से कुछ शासक लोगों के लिए लाभकारी होती हैं। विभिन्न समाज इन दोनों जीवन-प्रकारों की दृष्टि से भिन्न होते हैं, किन्तु उनका प्रमुख भेद मान्यताओं तथा रूढ़ियों से सम्बन्धित रहता है। अतीत के प्राय प्रत्येक समाज में अधिकाश जनों की जीवन-स्थितियाँ कठिन रही हैं। उन स्थितियों के फलस्वरूप अधिकाश लोग काफी परिश्रम करके अपनी जरूरतें पूरी करते रहे हैं, जब कि थोड़े से मनुष्य अपेक्षाकृत आराम से रह सके हैं। स्वतन्त्रता, आत्मसम्मान तथा गौरव की भावनाएँ,

कलात्मक एव बौद्धिक व्यापारो के लिये अवकाश, सुन्दर नारियाँ तथा दूसरे सुख के साधन---ये चीजे प्राय परिश्रम करनेवाले अधिकाश लोगो को कभी प्राप्त नही रही। दास, सेवक तथा शूद्र उनसे प्राय वंचित रहे, और उन पर कुछ थोडे से शक्तिशाली लोगो का एकाधिकार रहा। इस विभिन्नता को कानूनी रूप देने के लिये तरह-तरह के नियम, विधि-निषेध तथा रूढियाँ बनाई गई जिनकी भूलभुलैयों मे मानव-कर्म के प्राकृतिक स्रोत दीखना बन्द हो जाते है। यहाँ यह भी कह देना जरूरी है कि कुछ नियम तथा विधि-निषेध स्वयं सामूहिक जीवन के लिये आवश्यक होते है, और व्यक्तियों द्वारा थोडा-बहुत आत्म-नियत्रण स्वय उनके लिए भी हितकर होता है।

कृत्रिम रूढियो का मूल कुछ भी हो, प्रतिभाशालियो द्वारा अक्सर उनका उद्घाटन एव विरोध होता है। बात यह है कि प्रतिभाशाली स्वभावत रूढिवादी नही होता, और वह मानवीय क्रियाओ की तह में जाने का अभ्यस्त होता है। एक विद्वान् ने कहा है, 'कोई भी सस्कृति क्यों न हो, साहित्य के मूल विषय प्राय. वही रहते है . उन विषयो का मानव-प्रकृति के जैवी आधारो से सम्बन्ध रहता है, उनका मनोवैज्ञानिक मूल तत्वो तथा सामूहिक अनुभूति की जरूरतो से भी लगाव होता है। इसलिये विभिन्न सस्कृतियो के साहित्य बाहरवालो के लिये सार्थक प्रतीत होते हैं, जब कि वहाँ की सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा अन्य मूल्य उन बाहरवालो को अर्थहीन जान पडते है।'[१७] इसका मतलब यह नही कि विभिन्न समाजों की भिन्न रूढियाँ तथा प्रथाएँ वहाँ के साहित्यो को प्रभावित नही करती, किन्तु प्रभावित करते हुए भी वे उस साहित्य में प्रधान तत्व नही होती। वह साहित्य जो सांस्कृतिक आवरणो अर्थात् प्रथाओ तथा रूढ़ियो मे ज्यादा फँस जाता है, धीरे-धीरे अपनी शक्ति या प्राणवत्ता को को खो देता है, उसमे पुन. प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिये यह जरूरी होता है कि बाद के लेखक उसे फिर घसीटकर मूल प्रवृत्तियो के निकट ले आएँ। साहित्य के इतिहास मे उन लेखकों के व्यक्तित्व जिन्होने अपने-अपने साहित्यो को पुन मूल प्रवृत्तियों के निकट स्थापित किया है, काफी प्रमुख रहे हैं। उदाहरण के लिये हम रूसो, वर्ड्स्वर्थ, टॉल्स्टाय, कार्लाइल, एमर्सन, नीत्शे, लारेन्स तथा जेम्सज्वाइस के नाम ले सकते है जिन्होने क्रमश. प्रकृति, किसान, वीर पुरुष, यौनस्वच्छन्दता आदि पर गौरव दिया। विचारो के क्षेत्र में आलोचनात्मक विश्लेषण जो किसी धारणा को मूल यथार्थ से सम्बन्वित करता है, उसी प्रकार चिन्तन को नया जीवन प्रदान करता है।

इस दृष्टि से देखने पर जान पडेगा कि, विभिन्न रूढियो तथा प्रथाओं द्वारा विभक्त

किये हुए समाजो को, प्रतिभाशाली व्यक्ति एकता-सूत्र में आबद्ध करने के उपकरण बन जाते हैं।

तो, विद्रोह के अन्तर्नियम अथवा नियम-सूत्र क्या हैं ? ये सूत्र या नियम अपने को मानवीय जीवन तथा प्रकृति की दो मांगो में अभिव्यक्त करते हैं। एक ओर मनुष्य स्वतन्त्रता की मांग करता है, और दूसरी ओर वह अपने आत्म-विस्तार अथवा आत्म-प्रसार के लिए अवकाश चाहता है। पहली मांग मुख्यत नैतिक है, और वह अपने को सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनो के रूप में प्रकट करती है। यह मांग प्राय: तब उत्थित होती है जब उत्पादन-तन्त्रो की प्रगति बदले हुए भौतिक परिवेश में नई सामाजिक व्यवस्था की कल्पना को जगाती है, अर्थात् ऐसी व्यवस्था के स्वप्न को जिसमें अधिकाश लोगो को अधिक सुख तथा स्वतन्त्रता मिल सकेगी। दूसरी मांग, जिसका सम्बन्ध अस्तित्व के प्रसार से है, उतनी अधिक स्पष्ट नही हो पाती और अपेक्षाकृत कम लोगो मे उत्पन्न होती है। यह मांग कला, विज्ञान तथा दर्शन में कुछ ज्यादा सूक्ष्म कोटि के विद्रोहो को जन्म देती है।

प्रत्येक दशा में मनुष्य की विद्रोहात्मक मांगो का सम्बन्ध उसकी सृजनशील प्रकृति से होता है। जैसे ही मनुष्य को जीवन की श्रेष्ठतर सभावनाएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं, उसके लिए मौजूदा स्थिति से सन्तुष्ट रहना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार जब नया बोध एक अनुभव-क्षेत्र को नये ढग से व्यवस्थित करने की सम्भावनाओ का उद्‌घाटन करता है, तो पुरानी विचार-पद्धतियों की साख कम होने लगती है, और उन्हे मानकर चलते रहना कठिन हो जाता है। विशेषत: प्रतिभाशालियो की मानसिक गठन ऐसी होती है कि वे निरन्तर जीवन तथा अनुभूति के ज्यादा सन्तोषजनक सस्थानो की परिकल्पना करते रहते हैं, और जब एक बार ऐसे सस्थान की परिकल्पना कर ली जाती है, तो यह केवल समय की बात रह जाती है कि कब उस सस्थान को दूसरे लोग ग्रहण अथवा स्वीकार करेंगे।

मार्क्सवादियो का विचार है कि विचारात्मक विद्रोह आवश्यक रूप में सामाजिक व्यवस्थाओ मे होनेवाले परिवर्तनो से सम्बन्धित रहते हैं। किन्तु यह मन्तव्य निरपवाद रूप मे सत्य नही है। उदाहरण के लिये सापेक्षवाद ने चिन्तन के क्षेत्र में जिस क्रान्ति को उत्पन्न किया है उसका तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक उथल-पुथल से कोई खास सम्बन्ध नही था। यही बात उन क्रान्तिकारी विचारात्मक परिवर्तनो के सम्बन्ध

मे कही जा सकती है जो डार्विन तथा फ्रायड के प्रभावो से घटित हुए। जैसा कि हम पहले कह चुके है, मनुष्य केवल मात्र एक राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीव नही है, उसके जीवन मे कुछ ऐसी क्रान्तियाँ भी होती है जिनका उसके वर्ग तथा समाज के लिये आवश्यक रूप मे महत्व नही होता। कभी-कभी एक व्यक्ति के जीवन मे अकस्मात् धार्मिक काया-पलट (Conversion) हो जाता है, और वह व्यक्ति एकाएक एक दुष्ट तथा पापी आदमी से धर्मात्मा बन जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन का उसकी सामाजिक-राजनैतिक मान्यताओ पर भी प्रभाव पडे, यह आवश्यक नही है। हमारे कहने का यह मतलब नही है कि मनुष्य के संस्थाबद्ध व्यवहार (Institutional Behaviour) तथा उसकी सास्कृतिक क्रियाओ मे कोई सम्बन्ध ही नही होता, फिर भी, हमारे विचार मे, ये दोनो पक्ष इतने भिन्न होते है कि एक को दूसरे का कार्य कहना समुचित नही होगा। किसी व्यक्ति की दार्शनिक अथवा कला-सम्बन्धी मान्यताएँ उसके विशेष पेशे अर्थात् जीविका अर्जित करने के ढंग से सम्बन्धित नही होती, ठीक वैसे ही जैसे आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद का उसके यहूदी अथवा जर्मन होने से कोई खास सम्बन्ध नही है। हमारे विचार मे मनुष्य की दार्शनिक मान्यताएँ उन परपरागत तथा समकालीन विचार-पद्धतियो से जिनसे वह परिचित है—और उन पद्धतियो का सम्बन्ध दर्शन से ही नही, भौतिक विज्ञानो तथा मानवीय विद्याओ से भी हो सकता है—प्रभावित होती है, उसकी इस स्थिति से नही कि वह मध्य अथवा अभिजात वर्ग का सदस्य है और अपनी जीविका एक खास ढग से कमाता है। मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त कि सस्कृति आर्थिक सम्बन्धो पर निर्भर करती है, उन दार्शनिक तथा सास्कृतिक मतभेदो की व्याख्या नही कर सकता जो एक ही वर्ग अथवा जाति के समकालीन विचारको मे पाये जाते है। उदाहरण के लिये हमारे देश मे बहुत दिनो तक एक-सी ही सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियो मे विभिन्न दर्शन-पद्धतियाँ, हिन्दुओं तथा बौद्धो के दार्शनिक सम्प्रदाय, साथ-साथ विकसित होते रहे।

वस्तुत प्रतिभाशाली में देखने तथा महसूस करने की शक्तियाँ इतनी विकसित होती है, और उसकी अतीत ज्ञानराशि एव सस्कृतियो को ग्रहण करने की क्षमता इतनी अधिक होती है, कि वह सम्भवत अपने को एक वर्ग की चेतना की परिधि में सीमित नही रख सकता। अक्सर प्रतिभाशाली अपने ही वर्ग की जरूरतो तथा मूल्यो के प्रति विद्रोह करता है। इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि अधिकाश प्रतिभाशाली या तो मध्यवर्ग के अथवा अभिजात वर्ग के हुए है। इसीलिए अधिकाश क्रान्तिकारी

विचार-पद्धतियो का सृजन उन्ही वर्गों के अध्ययन के लिए होता रहा है। स्वय प्रजातन्त्र तथा समाजवाद के अधिकाश प्रचारक, जिनमे मार्क्स और लेनिन को भी गिना जा सकता है, मध्य अथवा अभिजात वर्ग के थे। निष्कर्ष यह है कि सस्कृति जहाँ तक प्रतिभाशालियो द्वारा निर्मित होती है, वहाँ तक वह किसी वर्ग की वस्तु नही मानी जा सकती। इसका मतलब यह हुआ कि अपने उन रूपो में भी जिनमे वह सामाजिक-राजनैतिक सस्थाओ को प्रभावित करती है, सास्कृतिक चेतना आर्थिक वर्ग-सम्बन्धो द्वारा निर्धारित होती है, ऐसा नही माना जा सकता। हम पूछते है कि जब विद्रोही लेखक स्वय अपने वर्ग की जरूरतो अथवा व्यवहारो के प्रति विद्रोह करता है तो उसका उन वर्गो से कैसा सम्बन्ध होता है? मार्क्सवादी कहते है कि कभी-कभी एक व्यक्ति अपने वर्ग का परिवर्तन कर लेता है, जिसका मतलब है कि विद्रोही विचारक नेता अपनी आत्मीयता दलित वर्ग से स्थापित कर लेता है। लेकिन हम पूछते है कि क्यो वे विचारक और नेता अपनी वफादारी एक वर्ग से हटाकर दूसरे को दे देते है? इसका एकमात्र सम्भव तथा समुचित उत्तर यह है कि वे विचारक तथा नेता न्याय की भावना से इतने प्रभावित होते है कि वे स्वय अपने वर्ग के सदस्यो का विरोध करने लगते है। किन्तु इस विरोध का यह मतलब नही होता कि वे अपने को शोषितो तथा दलितो के वर्ग से एकीकृत कर लेते है। यदि ऐसा हो तो अब उन्हे शेष समस्त विश्व का दुश्मन बन जाना पडे। विरोध का वास्तविक कारण यह होता है कि वे मौजूदा व्यवस्था तथा सम्बन्धो को अन्यायपूर्ण समझते है, और उस श्रेष्ठतर व्यवस्था को सहानुभूति देते है जो नई परिस्थितियो द्वारा सभव बना दी गई है। ईसा, गाधी तथा स्वय मार्क्स जैसे शिक्षक तथा विचारक जो दलितो के प्रति सहानुभूति प्रकट करते है, उसका कारण कोई सकीर्ण वर्ग की भावना नही होती, उसका कारण सिर्फ यही होता है कि उन शिक्षको तथा विचारको मे यह इच्छा रहती है कि इस पृथ्वी पर ऐसी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्थाएँ रहे जिनमे अधिकाधिक नर-नारी सुख तथा स्वतन्त्रता का जीवन व्यतीत कर सके। ऐसे शिक्षको तथा विचारको को, सपूर्ण अर्थ में, समस्त मानवता का हित-चिन्तक कहना चाहिए, न कि किसी वर्ग का हितैषी। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ तथा महत्वाकाक्षाओ से ऊपर उठकर ये शिक्षक तथा विचारक ऐसे मूल्यो को प्रचारित करना चाहते है जो वस्तुत सार्वभौम है। उदाहरण के लिये मार्क्स के "पूंजी" ग्रथ में एक अध्याय है जिसका शीर्षक है, "काम-काजी दिन"। इस अध्याय में यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार उस समय के श्रमिक बहुत ज्यादा घटो तक अपने मालिको के लिये काम करते थे, जिससे वे बेहद

थक जाते थे। यह अध्याय सभी पाठको के मन मे श्रमिकों के प्रति सहानुभूति जगाता है। उन पाठको मे पूंजीपति भी हो सकते हैं। ऐसे शिक्षको तथा विचारको की भावी समाज-सम्बन्धी कल्पनाएँ ऐतिहासिक महत्व प्राप्त कर लेती है, यह उन श्रम तथा श्रमिको से सम्बन्ध रखनेवाले कानूनो से सिद्ध है जो, पूँजीवादी देशो मे भी, मार्क्स-वाद के प्रचार के बाद बनाये गये। तब से अब तक इगलैण्ड आदि देशों में बने हुए कानूनो द्वारा श्रमिको की दशा क्रमश सुधरती ही गई है। इसका यह मतलब नही कि मार्क्सवाद के प्रचार के बाद पूँजीवादी मालिक स्वार्थहीन बन गये, अथवा उन्होने अनैतिक व्यवहार बन्द कर दिया; मतलब यह है कि उन मालिको को क्रमश. सर्व-साधारण की बदली हुई नैतिक भावना के अनुरूप बन जाना पड़ा है, उस भावना के जो राज्य के विधानो मे क्रमश अभिव्यक्ति पा रही थी।

प्रश्न है, प्रतिभाशाली का अपने समय तथा लोगो से क्या सम्बन्ध होता है? हमारे विचार मे यह सम्बन्ध पारस्परिक प्रभाव रूप होता है। प्रतिभाशाली अपने युग को वैसे ही प्रभावित करता है, जैसे कि युग स्वय उसको। यदि यह माना जाय कि प्रतिभाशाली समाज की गति का निर्धारण नही करता, तो यह कहना होगा कि प्रतिभा एक व्यर्थ वस्तु है। और यदि यह कहा जाय कि युग का प्रतिभाशाली के व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नही पडता, तो यह अनुगत होगा कि प्रतिभा का अपने युग से कोई खास सम्बन्ध नही होता। किन्तु यह निश्चित है कि प्रतिभा पर उसके युग का प्रभाव पडता है। जिस समय प्रतिभाशाली का प्रशिक्षण चलता है, उस समय उसके देखने तथा चिन्तन करने की शक्तियाँ, उसकी नैतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी सवेदनाएँ, युग तथा समाज की रुचियो द्वारा निर्धारित होती हैं। युग तथा जाति की समृद्ध सास्कृतिक परम्परा में प्रविष्ट होते हुए ही प्रतिभाशाली शिक्षित बनता है। यह ठीक है कि दूसरों की अपेक्षा प्रतिभाशाली अपने लोगो तथा दूसरी जातियो की भी सास्कृतिक परम्पराओ को अधिक आत्मसात् कर पाता है, किन्तु जब वह उन परम्पराओ की व्याख्या करता है, तो उस पर अनिवार्य रूप में अपने युग की जरूरतो तथा मूल्यो का प्रभाव पडता है।

स्वयं प्रतिभाशाली अपने युग को दो चीजे देता है। प्रथमत वह उन मूल्यो तथा प्रतीतियो को जो उसके समाज की चेतना मे ग्रथित हैं, स्पष्ट अभिव्यक्ति देता है, दूसरे, अपनी सृजनात्मक शक्तियो का उपयोग करते हुए वह अपने युग की अनुभूतियो, सवेदनाओं तथा क्रियाओ के नये, अधिक सन्तोषप्रद सस्थानो का सकेत करता है। जो प्रतिभाशाली जितना ही अधिक बडा होता है वह अपने युग की अनुभूतियो का उतना ही

अधिक विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण कर पाता है, और उसके द्वारा किये हुए समन्वय, पुनर्गठन अथवा नवीन संस्थानों के निर्माण उतने ही अधिक विशाल तथा लोगों की जीवन-दिशा को परिवर्तित करनेवाले होते हैं।

प्रतिभाशाली एक तीसरी चीज भी समाज को देता है, उसकी यह देन नैतिक होती है। जिन्हें हम रूढ़ियाँ तथा प्रथाएँ कहते हैं वे अक्सर मानवजाति की अग्रगति में बाधक हो जाती हैं। रूढ़ियाँ आदर करने योग्य परम्परा समझी जाती हैं, उनकी मान्यता के मूल में अक्सर दम्भ तथा प्रवचन रहता है। अधिकांश लोग पुरानी रूढ़ियों के दबाव से कष्ट सहते हुए भी उनका परित्याग करना कठिन पाते हैं। किन्तु प्रतिभाशाली में इतनी शक्ति और साहस होता है कि वह रूढ़ियों की जड़ पर आघात करे, और सामाजिक व्यवहार के पीछे छिपे हुए दम्भ को प्रकट कर दे। ऐसा करते हुए प्रतिभाशाली व्यक्ति अनिवार्य रूप में समाज के रोष तथा लोगों की शत्रुता का भाजन बन जाता है। किन्तु फिर भी अन्त में वह यह दिखाने में समर्थ होता है कि मौजूदा व्यवस्था खोखली अथवा अनुचित है। कारण यह है कि प्रतिभाशाली की प्रतीतियाँ, भावनाएँ तथा आदर्श मानवीय आत्मा के सामान्य रूप की सृजनात्मक जरूरतों के ज्यादा निकट होते हैं। इसीलिये लोग उन्हें क्रमश ग्रहण कर लेते हैं।

सामान्य मानवात्मा की जरूरतों को सृजनात्मक कहने से हमारा क्या तात्पर्य है? इस व्यंजना का मतलब इस बात पर गौरव देना है कि मनुष्य की जरूरतें एक स्थिर तथा निर्दिष्ट मात्रा नहीं हैं। जैसे-जैसे मनुष्य के भौतिक परिवेश तथा उत्पादन-तन्त्रों में परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे उसके जीवन की सम्भावनाएँ, और साथ ही उसकी जरूरतें, बदल जाती हैं। उदाहरण के लिये एक ऐसे समाज में जिसका काफी उद्योगीकरण हो चुका है, श्रमिकों की माँग ज्यादा ऊँची होती है बनिस्बत उस देश के जहाँ उद्योग-धंधे नहीं, अथवा अविकसित अवस्था में हैं। मनुष्य की एक ही कोटि की रुचियाँ भी देश तथा काल के अनुसार बदलती रहती हैं। तो क्या यह कहना चाहिए कि मनुष्य की जरूरतें एक प्रकार की ऐतिहासिक आवश्यकता बन जाती हैं, जिन्हें पूरा करने-कराने के लिए ऐतिहासिक शक्तियाँ प्रतिभाशाली का बरबस आह्वान करती हैं? क्या यह मानना चाहिये कि इतिहास की आन्तरिक जरूरतें अनिवार्य रूप में कतिपय परिवर्तनों को उत्पन्न करती हैं? उक्त प्रश्नों के उत्तर, हमारी समझ में, नकारात्मक होने चाहिएँ, यद्यपि मार्क्सवाद की धारणा हमसे विपरीत है। "ऐतिहासिक आवश्यकता" जैसी व्यंजनाएँ रूपकात्मक हैं, वे वैज्ञानिक अर्थों की समुचित वाहक

नही हो सकती। हमे यह नही भूलना चाहिए कि किसी भी युग मे मनुष्यों के प्रयत्न ऐसे विविध क्षेत्रों मे अनुष्ठित होते है जहाँ अनेक सम्भावनाएँ वर्तमान रहती है। मनुष्यो की विभिन्न आवश्यकताएँ, उनकी विभिन्न जरूरतो के वर्ग एक-दूसरे से साध्य-साधन रूप में सम्बन्धित रहते है और विभिन्न परिस्थितियों मे कुछ जरूरते ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती है और कुछ कम, फलत विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य अपनी जरूरतो को विभिन्न ढगो से पूरा करता रहता है। इसलिये जब प्रतिभाशाली एक नई व्यवस्था का स्वप्न हमारे सामने रखता है तो यह नही समझना चाहिए कि वह इतिहास के आनेवाले रूप का आभास भी देता है। ऐसा मानने से उस स्वप्न या प्रतीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता का लोप हो जायगा, अर्थात् उस विशेषता का जिसका सम्बन्ध सृजनशील प्रतिभा से है। जहाँतक प्रतिभाशाली सृजनशील होता है वहाँ तक वह इतिहास द्वारा निर्धारित नही होता, और जहाँ तक इतिहास प्रतिभाशालियों की सृजनशीलता द्वारा प्रभावित होता है वहाँ तक यह मानना चाहिए कि उसकी प्रगति निश्चित नियमो द्वारा बँधी हुई नही है। यदि ऐतिहासिक आवश्यकताएँ महापुरुषों को बुला सकती, तो दुनिया के किसी राष्ट्र में कभी अवनति न होती, और सब देशों का इतिहास एक ही वेग से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहता। किन्तु विभिन्न देशो की प्रगतियो का इतिहास यह सिद्ध करता है कि ऐतिहासिक प्रगति एक अनिवार्य चीज नही है। जहाँ कुछ देशो ने कुछ शताब्दियो तक लगातार उन्नति की है, वहाँ दूसरे देश उन शताब्दियो मे, अथवा अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक जीवन मे, बहुत कम उन्नति करते पाये जाते हैं। एक दूसरी बात भी है। महापुरुषों के उत्पन्न होने का अर्थ यह नही है कि कोई देश उन्नति करेगा ही। यह भी हो सकता है कि एक देश के निवासी महापुरुषो के बताये हुए रास्ते पर न चलें, और इस प्रकार उन्नति न कर सके।

इतिहास की प्रगति मे प्रतिभाशाली व्यक्ति जो पार्ट खेलता है उसकी तुलना शतरज के खेल के एक द्रष्टा से की जा सकती है। वह द्रष्टा समय-समय पर निपुण सुझाव दे सकता है। किन्तु जिस खिलाडी को वह सुझाव देता है उसके लिये यह अनिवार्य नही है कि वह उस सुझाव को मानकर चले। खिलाडी द्रष्टा के सुझाव को तभी मानेगा जब उसे यह विश्वास होगा कि वह सुझाव उपयोगी है, और यह भी कि उस सुझाव को ग्रहण करके वह आगे साहस के साथ उसका निर्वाह करता चला जायगा। सामाजिक तथा राजनैतिक विचारक जिन आदर्श व्यवस्थाओ की कल्पना करते है वे कुछ ऐसे ही सुझावो के समान होती है। किसी देश के निवासी उन व्यवस्थाओ को यथार्थ रूप मे

ओर अग्रसर हो रहा है। यह भी नही कहा जा सकता कि मनुष्य का एक निश्चित लक्ष्य है, अथवा मानव-जीवन का एक चरम उन्नत रूप है, जिसकी ओर विभिन्न जातियाँ या समाज अनवरत बढते जा रहे हैं। हम मानते है कि इस प्रकार के किसी चरम लक्ष्य की कल्पना करना हमारे लिए सम्भव नही है।

निष्कर्ष यह कि इतिहास किसी निश्चित, पूर्व-निर्धारित ढर्रे पर नही चला जा रहा है, और उसके आगे आनेवाले रूपो का पूर्ण अनुमान अभी नही किया जा सकता। यह निष्कर्ष एशिया आदि देशो के लोगो को, जो परम्परावादिता की लम्बी और गहरी नीद से हाल ही में जग रहे हैं, उत्साहवर्द्धक होना चाहिए; वह उस योरप के लोगों को भी, जिसके पतन की भविष्यवाणी डेनीलेव्स्की, स्पेंगलर श्यूबार्ट तथा वार्डाएव जैसे विचारको ने की है, अच्छा लगना चाहिए। वस्तुत. मनुष्य के लिखित इतिहास की अवधि और विस्तार इतना छोटा है कि उसके आधार पर हम जातियो तथा सस्कृतियो के भविष्य के सम्बन्ध मे लम्बे-चौडे सामान्य कथन नही कर सकते। इस सन्दर्भ मे यह बात लक्षित करने की है कि क्रेवर नामक विद्वान् ने विभिन्न देशो तथा जातियो के अतीत इतिहास की परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला है कि एक ही जाति के इतिहास में सृजनात्मक अथवा सास्कृतिक प्रगति के युगों की कई आवृत्तियाँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिये क्रेवर का विचार है कि हमारे देश के सास्कृतिक इतिहास में कम से कम दो बार ऐसे युग आये जब सस्कृति के विभिन्न क्षेत्रो में तेजी से प्रगति हुई। कुछ देशो में प्रगति के दो से अधिक युग भी आये हैं। निष्कर्ष यह कि स्पेंगलर जैसे विद्वानों का यह कहना कि एक सस्कृति पैदा होकर बढती हुई अनिवार्य रूप मे मृत हो जाती है, विश्वसनीय सत्य नही है।

एक प्रगतिशील व्यक्ति, समाज या जाति क्रमश. उस स्थिति की ओर अग्रसर होती है जो प्रतिभाशाली के जीवन मे पायी जाती है। कुछ लोगो का विचार है कि जिन्हे हम प्रतिभाशाली कहते हैं वे प्राय सनकी, असतुलित तथा असामान्य होते है, कि वे भावुक तथा स्वप्नदर्शी होते हैं, जिनकी कल्पनाओ का यथार्थ से लगाव नही होता। उत्तर मे निवेदन है कि यह वर्णन सब प्रकार के प्रतिभाशालियो पर लागू नही है। उदाहरण के लिये नेपोलियन जैसे सेनानी तथा बिस्मार्क जैसे राजनीतिज्ञ इस कोटि में नही आते। न यह वर्णन दुनिया के बडे विचारको तथा वैज्ञानिकों पर, जैसे न्यूटन तथा आइनस्टाइन, अरस्तू और डेकार्ट, लाइबनिज और कान्ट, बर्गसां, बर्ट्रान्ड रसेल आदि पर ही लागू होता है। सम्भवत यह वर्णन कुछ हद तक कलाकारो तथा साहित्यिक

प्रतिभाओं के लिये, जिनकी प्रकृति बडी सवेदनशील होती है, सही समझा जा सकता है। पूछा जा सकता है कि इस प्रकार की प्रकृतियो अथवा पुरुषो को सास्कृतिक प्रगति का आदर्श कैसे कथित किया जा सकता है?

हमारा विश्वास है कि ऊपर की आपत्तियाँ गलतफहमी तथा भ्राति पर आधारित है। जब हम कहते हैं कि प्रतिभाशाली मानवीय उन्नति का आदर्श होते हैं, तो हमारा मतलब यह नही है कि हमें उनकी कमजोरियो का अनुकरण करना चाहिए। हम उनका अनुकरण उन्ही चीजो में करे जो उनके व्यक्तित्वों को शक्तिमान बनाती हैं। समस्त कलाकार तथा साहित्यिक असतुलित प्रकृति के होते है, ऐसा नही कहा जा सकता। रस्किन ने सकेतित किया है कि बडे कलाकार अपनी रचनाओ में नितान्त वस्तुनिष्ठ एव सतुलित होते हैं, और वे बाह्य वस्तुओं पर अपनी भावनाओ का आरोप नही करते फिरते। यह ठीक है कि कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति, जिनमें कलाकारों की भी गणना है, असतुलित तथा अव्यावहारिक दिखाई पडते है। किन्तु इसका कारण यह है कि प्रतिभावान् व्यक्ति रूढियो तथा परम्पराओं का उतना आदर नही करते, और जनमत की परवाह किये बिना, अपनी सच्ची भावनाओ को साहसपूर्ण ढग से प्रकट करते हैं। हमारा विश्वास है कि इस प्रकार के साहस तथा सच्चाई का आकलन सास्कृतिक प्रगति के लिये आवश्यक चीज है।

मनुष्य बिना किसी खतरे के प्रतिभाशालियो के कतिपय गुणो का अनुसरण कर सकते है, जैसे उनका सत्य के प्रति आग्रह, उनकी यह प्रवृत्ति कि वे यथार्थ के अधिकाधिक विस्तार से सम्पर्क स्थापित कर लें, उनकी नूतनताओ का सृजन करने की प्रवृत्ति, उनकी न्याय-भावना, और दलितों के प्रति ममता तथा करुणा का भाव। प्रतिभाशाली अपने छोटे, व्यक्तिगत हानि-लाभ की विशेष चिन्ता नही करता, वह प्राय उस चीज में रुचि लेता है जिसका सार्वभौम एव स्थायी महत्व है। इसका मतलब यह नही कि हमें अपने साधारण जीवन के दैनिक कर्तव्यों की अवहेलना करनी चाहिए। मतलब यह है कि हम अपने छोटे-छोटे कामो तथा कर्तव्यो को करते हुए भी केवल व्यक्तिगत हानि-लाभ का विचार न करें, बल्कि यह बात ध्यान में रखें कि हम उन कामो का अनुष्ठान समाज की रक्षा तथा हित के लिये कर रहे हैं।

इलियट ने कहा है कि वह व्यक्ति जो सस्कृति को आगे बढाता है, आवश्यक रूप मे सुसस्कृत व्यक्ति नही होता, दो कारणो से। प्रथमत ऐसा व्यक्ति एक सकीर्ण

क्षेत्र का विशेषज्ञ हो सकता है, और दूसरे, उस व्यक्ति में शिष्टता की कमी हो सकती है। इस सम्बन्ध मे हमे यह कहना है कि एक कलाकार भी तब तक अपने क्षेत्र में बहुत ऊँची उपलब्धियाँ नही कर सकता जब तक उसका ज्ञान के दूसरे क्षेत्रो से अच्छा परिचय न हो। दुनिया के प्राय सभी लेखक और कवि जैसे शेली और वर्ड्स्वर्थ, शेक्सपियर और दान्ते, कालिदास और तुलसीदास, बहुश्रुत एव व्यापक रुचियो वाले हुए है। हो सकता है कि कतिपय सगीत-विशारदों तथा चित्रकारो मे व्यापक रुचि एवं बौद्धिक श्रेष्ठता का अभाव रहा हो, क्योकि इन कलाओ का विषय विशुद्ध रूप में इन्द्रिय-ग्राह्य होता है, किन्तु इस प्रकार की प्रतिभाओ का मनुष्यो के जीवन पर, शायद, उतना प्रभाव नही पडता जितना कि पिछली कोटि के लेखको का, जिसका मतलब यह है कि उनकी सास्कृतिक देन कवियों तथा लेखकों के समकक्ष नही होती। जहाँ तक इलियट की दूसरी विचारणा का सम्बन्ध है, जिसके कारण उन्होंने प्रतिभाशाली को असंस्कृत कहा है, हमारा कहना है कि किसी प्रतिभाशाली की सस्कृति तथा उसकी सास्कृतिक देन का मूल्याकन केवल उस जाति या समाज की दृष्टि से नही किया जा सकता जिसका वह सदस्य है; उसका मूल्याकन समस्त मानव-जाति की दृष्टि से होना चाहिए। प्रतिभाशाली स्वभावत अपने समाज की कृत्रिमताओं के विरुद्ध विद्रोह करता है। उसकी कामना होती है कि वह मनुष्यो को कृत्रिम व्यवहारों तथा शिष्टता के प्रकारों से मुक्त करके उन्हें अधिक स्वाभाविक ढग से जीने तथा महसूस करने की प्रेरणा दे।

साराश रूप मे हमारा मन्तव्य इस प्रकार है। किसी व्यक्ति तथा समाज की प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि वह क्रमश देखने तथा महसूस करने के उन ढगों का अतिक्रमण करे जिनका सम्बन्ध विशिष्ट व्यक्ति अथवा समाज से है, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण मानवजाति के दृष्टिकोण को अपना ले। विभिन्न जातियाँ जिस हद तक प्रगति करती हैं, उस हद तक वे सार्वभौम मनुष्य के दृष्टिकोण की ओर अग्रसर होती हैं। इस प्रकार अग्रसर होती हुई जातियो का नेतृत्व प्रतिभाशाली व्यक्ति करते है। हम यह नही कह रहे हैं कि प्रतिभाशालियो के विचार तथा आवेग अपनी जाति अथवा समाज से एकदम असबधित होते है। किन्तु हम यह कहना चाहते हैं कि प्रतिभाशाली लोग प्राय विद्रोही होते है, और अपने व्यवहार मे वे जिन-जिन चीजो मे विद्रोह करते है, उन-उन चीजों मे वे अपने समाजो को क्रमश सार्वभौम मनुष्य के दृष्टिकोण की ओर ले जाते हैं। प्रतिभाशालियो की अधिकाश शक्ति उन विचारों तथा

रूढियो के विरोध में खर्च हो जाती है जो एकदेशी अथवा सकीर्ण दृष्टिकोण को प्रकट करते है।

हीगल और मार्क्स का यह मन्तव्य कि इतिहास को आगे बढानेवाली शक्ति निषेध या विरोध है, कुछ ऐसे ही सत्य को प्रकट करता है। प्रतिभाशाली लोग जितने जोरशोर से पुरानी मान्यताओ का विरोध करते है, उसकी तुलना मे उनकी नये सत्यो की खोज अपेक्षाकृत कम महत्व की होती है। बाद की पीढियाँ ही यह निश्चित कर सकती है कि उन्होने सत्यो का जो रूप स्थिर किया, वह कहाँ तक ग्राह्य तथा उपयोगी है।

मार्क्सवाद के विरोध में हम यह मानते है कि सस्कृति एक मानवीय चीज है, केवल एक वर्ग की चीज नही। इसका मतलब यह हुआ कि विभिन्न मनुष्यो के सास्कृतिक विभाग उनके वर्ग-विभाग के समरूप नही होते, यद्यपि यह ठीक है कि विभिन्न वर्गो के बालक समान अवसर न पाने के कारण विभिन्न कोटियो की सस्कृति तथा सभ्यता का विकास कर लेते है। शिक्षा आदि की सुविधाएँ प्राप्त होते ही वे वर्ग जो अब तक पिछडे हुए थे, अपने शासक वर्गों की संस्कृति को स्वभावत आत्मसात् कर सकते है। वस्तुत एक वर्ग या देश की सस्कृति दूसरे देश तथा वर्ग की सस्कृति की विरोधिनी न होते हुए उसकी पूरक होती है। यदि सस्कृति का अर्थ कल्पना-मूलक सामान्य चेतना या बोध समझा जाय, तो कहना होगा कि विभिन्न देशों की सस्कृतियाँ एक-दूसरे से सम्पर्कित होकर पारस्परिक समृद्धि का ही कारण होगी। यही कारण है कि विभिन्न देशो के उपन्यास जिनमें विभिन्न वर्गो तथा जातियो के जीवन-विवरण रहते है, लेखकों से भिन्न देशो तथा जातियो के सदस्यो द्वारा भी आन्दपूर्वक पढे जाते है।

विभिन्न समाजो तथा जातियो की उन्नति का अर्थ यह है कि वे क्रमश उन सिद्धांतो, मान्यताओ तथा व्यवहारोके बदले जो सकीर्ण परम्परासे प्राप्त हुए है,उन मन्तव्यो तथा आदर्शों को गहण कर ले जिन्हे सारी मानवजाति स्वीकार कर सकती है। विभिन्न समाज तथा व्यक्ति अपने विचारो तथा व्यवहारों में दो प्रकार से परिवर्तन करते है, सृजनशील प्रतिभाओं के प्रभाव से, अथवा दूसरी जातियो तथा समाजो के सम्पर्क से। मनुष्य स्वभावत सत्य को स्वीकार करना चाहता है, वह यह भी चाहता है कि उसका दूसरे मनुष्यो से अधिकाधिक तादात्म्य हो। एक ओर वह अपने विश्वासो तथा विचारो के लिये सार्वभौम प्रामाणिकता चाहता है, और दूसरी ओर वह अनियम तथा

खामखयालीपन को बचाकर चलना चाहता है। मनुष्य इस प्रकार की चिन्ता करता है, इसका सबसे बडा सबूत यह है कि वह अपने अन्वेपण के तरीकों एव अपनी आस्थाओं के आधारो की लगातार परीक्षा करता रहता है। मनुष्य की यह आलोचनात्मक प्रवृत्ति वह शक्ति है जो लगातार सब जातियो को एक-दूसरे के निकट लाती रही है, और उनमे सास्कृतिक ऐक्य उत्पन्न करती रही है। धीरे-धीरे व्यक्ति अपने पक्षपातों तथा शकाओ के ऊपर उठकर सामाजिक सत्यों को ग्रहण करता है, और धीरे-धीरे विभिन्न ज।तियाँ दलगत आदर्शों की सीमाओ से उठकर सम्पूर्ण मानवजाति के दृष्टिकोण को अपनाने की ओर अग्रसर होती हैं। जो बात विभिन्न जातियो अथवा समाजों के सम्बन्ध मे सही है, वही विभिन्न वर्गो के भी। सास्कृतिक क्रिया के क्षेत्र में मानवजाति की उन्नति का अर्थ यह होगा कि वह क्रमश. एकवर्गता की दशा की ओर तथा एक समाज की स्थिति की ओर, अग्रसर हो। इस वर्ग या समाज के सदस्य उन आदर्श कलाक.रो तथा विच.रकोके समरूप होंगे जिनकी सास्कृतिक सृष्टियाँ सपूर्ण म.नवजाति को आनन्द देती हैं।

हमारे इस मन्तव्य का कि प्रगतिशील जातियाँ तथा समाज प्रतिभाशाली की स्थिति की ओर बढते हैं, ट्वाइनबी ने, सभ्यताओं की उत्पत्ति तथा प्रगति का विश्लेपण करते हुए, बढिया समर्थन किया है। सभ्यताओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उनका कहना है कि '

'आदिम समाजो तथा सभ्य समाजो मे एक और अन्तर उनकी अनुकरण-पद्धति की दिशा से सम्बन्वित होता है . आदिम समाजो में प्राय पुरानी पीढियो तथा मृत पूर्वजो का अनुकरण किया जाता है . जब कि उन समाजो मे जो सभ्यता की ओर बढ़ रहे है, अनुकरण की क्रिया उन व्यक्तियो तथा नेताओ पर संसक्त रहती है जो सृजनशील हैं। ऐसे समाजो मे, जैसा कि वाल्टर बेजहाट ने कहा है, रूढि की जमी हुई तह खडित हो जाती है, और समाज परिवर्तन तथा प्रगति के पथ पर गतिशील होने लगता है।'

उक्त लेखक के मत में सभ्यताओ का जन्म ही नही, उनकी प्रगति भी, सृजनशील व्यक्तित्वो के निर्देशो की स्वीकृति से होती हैं। हैनरी बर्गसा ने प्रतिपादित किया है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति, कम-से-कम नैतिक तथा धार्मिक शिक्षक, अपने वर्ग अथवा जाति के प्रवक्ता नही होते, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के प्रवक्ता होते हैं। उनके सम्बन्ध

में बर्गसा का कहना है 'कुछ ऐसी प्रतिष्ठित आत्माएँ उत्पन्न हुई है जिन्होने यह समझा कि उनका सम्बन्ध समस्त मानवात्माओं से है। अपने वर्ग की सीमित एकता के दायरे में न रहकर —उस दायरे के जो स्वय प्रकृति ने स्थापित किया है—उन आत्माओ ने, अपने प्रेम के अतिरेक में, समस्त मानवता का आह्वान किया है।'[१८]

सशयवादियो तथा सापेक्षवादियो का यह कहना कि समस्त सत्य तथा आदर्श आपेक्षिक होते है, एक अत्युक्ति है। हमें दो प्रकार की सापेक्षता मे भेद करना चाहिये, एक सत्य तथा आदर्श विशेष वर्ग के अनुभव तथा हितो का सापेक्ष होता है, जब कि दूसरे सत्यों तथा आदर्शों की सापेक्षता सम्पूर्ण मानवता की अनुभूति तथा जरूरतो से सम्बन्ध रखती है। कोई भी सशयवादी इस दूसरी कोटि की सापेक्षता का अतिक्रमण नही कर सकता, और कोई भी व्यक्ति ऐसे सत्य की उपलब्धि नही कर सकता जो अतिमानवीय है। जिन्हे हम तर्कशास्त्र के नियम कहते है, और जो सम्पूर्ण मानव-चिन्तन का आधार होते है, वे अन्तिम विश्लेषण में मानव-व्यवहार के नियम ही है। ये नियम प्रतीको में अभिव्यक्ति पानेवाले सम्बन्धो को व्यवस्थित करने मे प्रतिफलित होते है। यह उचित ही है कि उन नियमो को हम मानव-चिन्तन के सार्वभौम तथा प्रामाणिक नियम मानते है।

ऊपर की विचारणाओ का साराश इस प्रकार है। सस्कृति की व्याख्या मूल्य-रूप में करते हुए उसे *उन क्रियाओ का समुदाय* मानना चाहिए जो हमारे अस्तित्व की रक्षा के लिये जरूरी न होते हुए हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध बनानेवाली है; मनुष्य के व्यक्तित्व की यह समृद्धि मुख्यत उसके चेतना-मूलक विस्तार द्वारा घटित होती है, अर्थात् उन क्रियाओ द्वारा जिनसे मनुष्य यथार्थ की सार्वभौम रूप में अर्थवती छवियों से सम्बन्ध स्थापित करता है, और उनके प्रति उपयुक्त मनोभाव बनाता है। सस्कृति ही मानव-प्रगति का एकमात्र उपकरण है,और इस प्रगति का माप भी सस्कृति ही है। सस्कृति वह चीज है जिसे मनुष्य स्वय उसके लिये उपलब्ध करना चाहता है। वास्तव में सस्कृति उच्च तथा समृद्ध जीवन का पर्याय है, उस जीवन का जो सृष्टि के प्राणियों मे केवल मनुष्य को ही उपलब्ध हो सकता है, और जिसका सम्बन्ध मनुष्य की विशिष्ट शक्तियों तथा विशेषताओ से है। सास्कृतिक जीवन तात्विक रूप में उच्च मानवीय जीवन होता है, वह जीवन ऐसा भी है जिसका सब मनुष्य उपभोग कर सकें। एक गहरे अर्थ में सास्कृतिक जीवन मानवता का सामान्य या सामाजिक जीवन है। सास्कृतिक जीवन ऐतिहासिक होता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि उस जीवन का

उपभोग तथा प्रसार, व्यक्ति तथा जाति दोनों में, एक जीवनव्यापी क्रिया होती है। व्यक्ति की एक जिन्दगी होती है जिसे वह अकेले जीता है और जिसका उसकी मृत्यु के साथ अन्त हो जाता है। इस जीवन की प्रक्रियाएँ प्राणि-शास्त्र तथा इन्द्रिय-विज्ञान का विषय है। इसके विपरीत उसके बोधात्मक तथा आवेगात्मक जीवन की कुछ ऐसी प्रतीतियाँ है जो दूसरी चेतनाओ के सम्पर्क द्वारा प्रज्ज्वलित होती है, और जिन्हें वह दूसरो मे सक्रान्त कर देना चाहता है। इस प्रकार के जीवन-क्षणो को मनुष्य ने अपने साहित्य, इतिहास-ग्रथो, जीवनियो तथा वैज्ञानिक और दार्शनिक चिंतन-पद्धतियो मे अमर कर दिया है। इस प्रकार के जीवन-क्षणों में मनुष्य वास्तविकता के किसी अर्थवान् क्षेत्र के सम्मुख उपस्थित होता है। वास्तविकता की ये अर्थवती छवियाँ प्राय वे कल्पित सम्बन्ध होते हैं जिन्हें मनुष्य अपनी चेतना तथा वस्तु-जगत की किसी स्थिति के बीच, अथवा अपने तथा दूसरी चेतनाओं के बीच, स्थापित करता है। हमें याद रखना चाहिए कि जिसे मानव-व्यक्तित्व कहते हैं वह इसी प्रकार के सम्बन्धो द्वारा निर्मित चेतना-केन्द्र या चेतना-सस्थान होता है। सस्कृति उस प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा विभिन्न चेतना-केन्द्रो से सम्बन्धित सृजनात्मक जीवन के अर्थपूर्ण क्षण, जो अतीत और वर्तमान मे फैले हुए हैं, प्रत्यक्ष एव आत्मसात् किये जाते हैं। सस्कृति उस क्रिया-समूह का नाम है जिसके द्वारा विभिन्न व्यक्ति मानवजाति के सृजनात्मक जीवन में भाग लेते और उसे समृद्ध करते हैं।

कोई भी व्यक्ति, जाति या युग अपने अकेलेपन मे मानवीय अस्तित्व की उन असख्य सम्भावनाओ का साक्षात्कार नही कर सकता जो कि मानव चेतना तथा वास्तविकता के बीच स्थापित होने वाले असख्य भौतिक तथा आध्यात्मिक, यथार्थ तथा कल्पित, सम्बन्धो द्वारा निरूपित होती है। प्रत्येक युग तथा जाति की कुछ अपनी समस्याएँ होती है, उसकी अपनी रुचियाँ होती है, और अपने विशिष्ट उपकरण होते है। इन कारणो से प्रत्येक युग और जाति वास्तविकता के विभिन्न अर्थवान रूपो का अन्वेषण तथा उद्घाटन करती है, और उनसे अपने ढग से सम्बन्ध स्थापित करती है। इन सम्बन्ध-सस्थानों मे से कुछ ऐसे होते हैं जो सम्पूर्ण मानवजाति के लिये प्रामाणिक जान पड़ते है, और उसके द्वारा स्वीकृत किये जा सकते हैं। ये सम्बन्ध भाषाबद्ध रूप मे आगे आने वाली पीढियो को प्राप्त होते है और परम्परा अथवा विरासत कहलाते हैं। जो सम्बन्ध-सस्थान

जितना ही अधिक सार्वभौम होता है, बाद की पीढ़ियाँ उसे उतना ही अधिक महत्व देती हैं। अपनी न्यूनाधिक सार्वभौमता के अनुपात से वे सस्थान एक जाति या समाज, अथवा अनेक समाजो, अथवा सम्पूर्ण मानवजाति के लिये महत्वपूर्ण धरोहर बन जाते हैं। इन विचारणाओ से हम "क्लासिक्स" की उचित परिभाषा पा सकते हैं। "क्लासिक" वह बोधगम्य अभिलेख है जो आज भी, यदि पूर्णतया नही तो अशत, उस जीवन-स्पन्दन को हमारे भीतर जगा सकता है जो उसकी प्रेरणा के मूल मे था। कोई "क्लासिक" कितना सत्य है, तथा महत्वपूर्ण है, यह जानने के लिये देखना चाहिए कि वह देश तथा काल मे कितने अधिक सस्कृत मनुष्यो को प्रभावित करता है।

क्लासिकी सस्कृति का सम्पर्क मनुष्यों को दो प्रकार से प्रभावित करता है। प्रथमत. वह उनमें जीवन तथा यथार्थ के उन रूपो अथवा पक्षो की सबल अनुभूति जगाता है जिनकी ओर आज उतना ध्यान नही दिया जा रहा है। इस प्रक्रिया द्वारा प्राचीन साहित्य सीधे हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध करता है। इस प्रकार प्राचीन साहित्य की शिक्षा, हमारे व्यक्तित्व का प्रसार करती हुई, प्राचीन उपलब्धियों को सुरक्षित रखती है। दूसरे, उस शिक्षा द्वारा हम इस योग्य बन जाते हैं कि कलात्मक सौन्दर्य के क्षेत्र तथा बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्रो में आगे चिन्तनात्मक प्रगति कर सकें। मानवजाति के इतिहास में होने वाली सास्कृतिक प्रगति मुख्यत प्रतीकात्मक लेखो अथवा ग्रथो के रूप में ही सुरक्षित रहती है। मानव शरीर में होने वाले परिवर्तन मनुष्य की बीजावस्था (Germ-Plasm) को प्रभावित करके आगे आने वाली पीढ़ियों तक स्वत पहुँच जाते हैं, किन्तु उसके आत्मिक परिवर्तन इस प्रकार स्वत सक्रात नही होते। बलिष्ठ व्यक्ति का बच्चा शारीरिक दृष्टि से बलवान हो सकता है, किन्तु एक कलाकार तथा विचारक की सतति स्वय ही कला-सृजन अथवा चिन्तन-शक्ति से सम्पन्न नही हो जाती। वस्तुत मनुष्य की आत्मिक उपलब्धियाँ शिक्षा द्वारा ही आगे की पीढ़ियो को मिलती है, मनुष्य के आत्मिक विकास का उपकरण शिक्षा ही है। किन्तु हमारे आत्मिक विकास का लक्ष्य मुख्यत जीवन का सरक्षण नही, अपितु उसकी समृद्धि और प्रसार है। अपनी दैनिक आवश्यकताओ से ऊपर उठते ही मनुष्य इस प्रकार की समृद्धि और प्रसार के लिये आकुल होने लगता है, जिसके फलस्वरूप उसके सास्कृतिक विकास का सूत्रपात होता है। इस विकास का इतिहास ही मानव-इतिहास का महत्वपूर्ण पक्ष है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. ई० ई० टाईलर, प्रिमिटिव कल्चर, भाग १ (जान मरे, लन्दन, चतुर्थ संस्करण, १९०३), पृ० १।

२. एन्साइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज, भाग ४, पृ० ६२१।

३. हुमायूं कबीर, आवर हैरिटेज, (द नेशनल इन्फार्मेशन ऐन्ड पब्लिकेशन्स लि०, बम्बई, दूसरा मुद्रण, १९४७), पृ० ६।

४. ई० मैकाइवर, सोशल काजेशन, अध्याय १०; और आर० एम० मैकाइवर और सी० आर० पेज, सोसायटी: ऐन इण्ट्रोडक्टरी एनॉलिसिस, (मैकमिलन, १९४९), पृ० ४९८ तथा आगे।

५. एम्० जे० हर्सकोविट्स, मैन ऐन्ड हिज वर्क्स, (अल्फ्रेड ए० नाफ, १९४९), पृ० १७।

६. आर्नल्ड जे० ट्वाइनबी, ए स्टडी ऑव् हिस्टरी, डी० सी० सामरवेल कृत संक्षेप, (ज्याफरे कम्बरलेज, लन्दन, तीसरा मुद्रण १९४९), पृ० १९६।

७. वही, पृ० १९५।

८. श्री पी० ए० सारोकिन द्वारा "सोशल फिलासफीज़ आव् एन एज आव क्राइसिस," (एडेम एन्ड चार्ल्स ब्लैक, लन्दन, १९५२), पृ० ७७-७८ पर उद्धृत।

९. टाइलर, वही, पृ० १।

१०. ई० ए० एल् क्रेबर, एन्थ्रापालॉजी, नया संस्करण, (जार्ज जी० हैरप ऐन्ड क० लि०, लन्दन, १९४८), पृ० २५२।

११. वही, पृ० २५२।

१२. हर्सकोविट्स, वही, पृ० ६२५।

१३. एन्साइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज़, पृ० ६२१।

१४. क्रेबर, वही, पृ० ११।

१५. वही, पृ० १५।

१६. रूथ बेनिडिक्ट, पैटर्न्स आव कल्चर, (मेण्टर बुक्स, द न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, १९४८), पृ० १।

१७. वही, पृ० २।

१८. टी० एस० इलियट, नोट्स टुवर्ड द डैफिनिशन आफ कल्चर, (फेबर और फेबर, लन्दन, १९४८), पृ० २१।

१९. वही पृ०, २२।

२०. वही, पृ० ४४।

२१. जे० आर्टीगा वाई० गैसेट, द रिवोल्ट आव् द मासेज, (मैण्टर बुक्स, १९५१), पृ० ५२।

२२. कन्वरशेसन्स आव् गेटे विद एकरमान, (एवरीमैन, १९४६), पृ० ९०।

२३. वही, पृ० ८९।

२४. गैसेट, वही पृ० ७९।

२५. कार्ल मार्क्स, क्रिटीक आफ् पोलिटिकल इकानामी की प्रस्तावना।

२६. दे० एन्साइक्लोपीडिया आव् द सोशल सायन्सेज, सिडनी हुक का निबन्ध, मैटीरिएलिज्म, पृ० २१७ पर उद्धृत।

२७. दे० द काम्यूनिस्ट मैनीफैस्टो, (सिलेक्टेड वर्क्स आफ कार्ल मार्क्स, मास्को, १९४६), पृ० ११६।

२८. सिडनी हुक द्वारा उद्धृत, वही, पृ० २१७।

२९. मैकाइवर, सोसायटी, ऐन इण्ट्रोडक्टरी एनेलिसिस, (मैकमिलन, १९४९), पृ० ४९८।

३०. गुनार लिन्टमैन, दी ओरिजिन आफ दी इनइक्वालिटी आव् द सोशल क्लासेज, (कीगन पाल, लन्दन, १९३८), पृ० ७०।

३१. वही, पृ० २३३।

३२. वही, पृ० ८६, ८८।

३३. दे० एच० आई० ब्लैकहैम, सिक्स एग्जिस्टेंशिएलिस्ट थिंकर्स, (रतलेज एन्ड कीगन पाल लि०, लन्दन, १९५१), पृ० १२।

३४. लिमिटेशन्स आफ् सायन्स, भूमिका।

३५. मैकाइवर, सोसायटी, पृ० ५०१।

३६. इमर्सन कहते हैं: 'अपने विचार में विश्वास या आस्था रखना, यह विश्वास करना कि जो तुम्हारे निजी हृदय के लिये सत्य है वह सब मनुष्यों के लिये सत्य है—यही प्रतिभा है।' दे० आत्म-निर्भरता या "सेल्फ रिलाएन्स" पर निबन्ध।

३७. दे० एन्साइक्लोपीडिया ऑव् द सोशल सायन्सेज, "लिट्रेचर" पर निबन्ध, पृ० ५२५।

३८. ट्वाइनकी द्वारा उद्धृत, दे० वही, पृ० २१२।

# अध्याय ५

## कला की प्रकृति

पिछले अध्याय में हमने सस्कृति के जिन तत्वों को विविक्त किया है उन सब के निदर्शन कला में बड़ी सरलता से मिल जाते है। यहाँ हम मुख्यत साहित्य नामक कला का ही विवेचन करेंगे, जो कि कलात्मक वृत्ति की उच्चतम, कम-से-कम सब से समृद्ध, अभिव्यक्ति है। दूसरी कलाओ का उल्लेख विरल ही रहेगा।

जिसे हम जीवन कहते है वह बाह्य वास्तविकता तथा प्राणधारी के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का नाम है। सब प्रकार का जीवन एक परिवेश मे फलता-फूलता है, और उससे ही जीवनी-शक्ति के उपादानो को ग्रहण करता है। सम्भवत. स्वप्न अथवा विक्षेप की अवस्था को छोडकर मनुष्य लगातार बाह्य यथार्थ की सापेक्षता में जीता है। कोई क्रिया जितनी ही अर्थवती होती है उसका उतने ही अधिक जटिल यथार्थ से, फिर चाहे वह यथार्थ भीतरी हो अथवा बाहरी, आत्मगत हो या वस्तुगत, सम्बन्ध होता है। कला-सृष्टि तथा कला मे रस लेने की क्रिया इस सामान्य नियम का अपवाद नही है।

हम यह कहना चाहते है कि कोई भी कला यथार्थ के प्रति सकेत से मुक्त नहीं होती। जिस कर्म या व्यापार का यथार्थ से सम्बन्ध नही है, उसे महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण व्यापार का लक्ष्य या तो यथार्थ का उद्घाटन होता है, अथवा यथार्थ का पुन सगठन। जिसे हम कला कहते है उसमें इन दोनो व्यापारो का समावेश हो जाता है। कला यथार्थ का निर्माण भी करती है, और उसका उद्घाटन भी।

हमारी उपरोक्त स्थापना के सबसे बडे विरोधी तर्क-मूलक भाववादी है, और वे साहित्यिक सम्प्रदाय भी जो उनके सिद्धान्त से प्रेरणा लेते है। वस्तुत उक्त स्थापना

की सत्यता से इनकार आज के युग में प्राय एक फैशन बन गया है और वह अस्वीकृति एक कट्टर मान्यता का रूप ले चुकी है। कहा जाता है कि कला प्रेषण है, किन्तु यह समझा जाता है कि कला के माध्यम से प्रेषित अनुभूति का कोई विषय नहीं होता। आज के साहित्य-मीमासक इस विचित्र सिद्धान्त को मानते है कि कला अनुभूति का प्रेषण तो करती है, किन्तु वह किसी विषय-वस्तु या यथार्थ को उद्घाटित नही करती।

कला के सत्य तथा यथार्थोद्घाटन के सिद्धान्तो का हवाला देते हुए डॉ० रिचर्ड्स ने लिखा है कि 'उन सिद्धान्तो की सबसे बडी कठिनाई यह इगित करना रहा है कि आखिर वे क्या चीजे है जिनका उद्घाटन कला मे होता है।'[१] उनके अनुसार काव्यगत वाक्य मात्र भाषा के आवेगात्मक प्रयोग होते है, उनका काम वस्तु-सत्ता का सकेत करना नहीं होता। 'शब्दो का प्रयोग दो तरह से किया जा सकता है, वस्तुगत सत्ताओ के सकेत के लिए, अथवा उन मनोभावो तथा आवेगो के जागृत करने के लिए जो बाद में उठते है। शब्दो के अनेक क्रम या सस्थान, बीच मे कोई वस्तु-सकेत दिये बिना, मनोभाव उकसाते है। वे सागीतिक ध्वनि-समूहो की भाँति व्यापृत होते है। सामान्यत वस्तु-सत्ताओ के सकेत मनोभावो के विकास के हेतु, या उन तक पहुँचने के सोपान, बन कर आते है , फिर भी वस्तु-सत्ताओ के सकेत नही, मनोभाव ही महत्व रखते है।'[२]

उक्त मत से यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु-सत्तायें स्वय काव्यात्मक नही होती, जैसा कि मैथ्यू आर्नल्ड तथा वर्ड्सवर्थ, कालरिज आदि रोमान्टिक कवि, तथा उनके पहले के एडिसन जैसे लेखक, समझते तथा मानते थे।[३]

यहाँ कई प्रश्न उठ खडे होते है काव्य मे भाषा का प्रयोग भाव-दशाओ और आवेगो को उत्पन्न करने के लिए होता है, वस्तु-सत्ताओं का सकेत देने के लिए नहीं, इस वक्तव्य की सचाई की परीक्षा कैसे की जाय ? हम निवेदन करे कि इस वक्तव्य की उस सिद्धान्त के अनुरूप परीक्षा नही की जा सकती जिसे तर्क-मूलक भाववादियो ने प्रतिपादित किया है। ज्यादा-से-ज्यादा उक्त वक्तव्य यह दावा कर सकता है कि वह कलात्मक तथा साहित्यिक सृष्टि मे सन्निहित अभिप्रायो की सही व्याख्या देता है। किन्तु इस दृष्टि से उक्त वक्तव्य न तो सत्य ही जान पडता है, न समीचीन, क्योंकि वस्तु-सत्ताओ से नितान्त जुदा आवेगो और भाव-दशाओ की कल्पना नहीं की जा सकती। जब शेक्सपियर क्लिओपेट्रा के वर्णन मे सलग्न होता है तो उसका उद्देश्य केवल यही नही होता कि वह पाठको के मन मे कतिपय आवेगो अथवा मनोभावो को जगा दे, उसका असली उद्देश्य होता है उन आवेगो अथवा मनोभावो को क्लियोपेट्रा के

व्यक्तित्व पर ससिक्त कर देना। हम समझते हैं कि कथा-साहित्य तथा दूसरे प्रबन्धरूप साहित्य में यह बात स्पष्ट रूप मे प्रतिभासित रहती है। "एनाकेरीनिना" मे टॉल्स्टॉय का उद्देश्य केवल, या प्राथमिक रूप से भी, किन्ही कल्पित भाव-दशाओ को उत्पन्न करना नही है। वह वहाँ ऐसे व्यक्तित्वो या पात्रो को प्रस्तुत करना चाहते हैं जो अनुचिन्तन और मूल्याकन के विषय बन सके। वास्तव में टॉल्स्टॉय जैसे सफल यथार्थ-द्रष्टा लेखक अपने पात्रो की असख्यो मुद्राएँ चित्रित करते जाते है। वे भगिमाएँ किन भावनाओ या आवेगो को जागृत करेगी, इसकी सचेत अवगति शायद उन्हे कभी नही होती। वस्तुत भावनाओं तथा आवेगों का परिपूर्ण अकन तब तक नही हो सकता जब तक उन्हें वास्तविक सत्ताओ से सम्बद्ध करके उपस्थित न किया जाय।

उक्त मान्यता की पुष्टि टी० एस० इलियट के सुपरिचित वस्तु-रूप-सम्बन्धी (Objective Correlative) के मन्तव्य से होती है। इस मन्तव्य का मतलब यही है कि तथाकथित मनोदशाओ अथवा भावदशाओ का शुद्ध, निरालम्बन रूप में प्रेपण सभव नही। यही बात भारतीय रसवाद को भी मान्य है, जिसके अनुसार इस परिपाक के लिये विभावो आदि का विधान आवश्यक है। श्री डी० जे० जेम्स का मत है कि 'काव्य का उद्देश्य कभी भी आवेग उत्पन्न करना नही होता, इसके विपरीत उसका उद्देश्य कल्पनात्मक प्रत्यय या स्थितियाँ प्रेपित करना ही होता है।'[४] हर्बर्ट रीड भी इसी से मिलता-जुलता विचार रखते है, उनके अनुसार 'कला रमणीय वस्तु-रूपों के सृजन का प्रयत्न होती है।'[५] लगभग ऐसी ही बात अरस्तू ने भी कही है, 'कवि का उद्देश्य जो घटित हुआ है उसका चित्रण करना नही, बल्कि ऐसी सभावनाओ को अभिव्यक्ति देना होता है जो घटित हो सकती है।'[६]

वस्तुत काव्य के बारे मे यह कहना कि वह शब्दो का आवेगात्मक प्रयोगमात्र है, वैसा ही है जैसा रसायनशास्त्र को शब्दो के रासायनिक प्रयोग तथा कूटनीति को शब्दो के कूट प्रयोग से समीकृत करना। यदि रिचर्ड्स का यह सिद्धान्त सही हो कि कविता में वस्तु सत्ता का किसी प्रकार का बोध, अथवा उसके प्रति कोई संकेत, नही होता तो कतिपय विचित्र निष्कर्ष अनुगत होगे। एक निष्कर्ष यह होगा कि कवि या कलाकार को, वैसा होने के नाते, न आँखो की जरूरत है, न कानो की, क्योकि न उसे प्राकृतिक जगत का निरीक्षण करना है, न मानव जगत का। उस दशा मे अपने युग के असख्य बौद्धिक, नैतिक तथा सामाजिक राजनैतिक प्रश्नो के प्रति उदासीन होते हुए भी एक कवि या लेखक महान बन सकेगा। साथ ही वह अपने युग के विभिन्न

सघर्षो तथा आस्थाओ को भी दूसरो तक नही पहुँचा सकेगा। यदि काव्य में वस्तु-सत्ताओं के सकेत नही रहते तो कवि को हम एक या दूसरे युग का प्रतिनिधि भी नही कह सकते। वस्तुत डा० रिचर्ड्स का काव्य-सिद्धान्त समाजशास्त्रीय आलोचना के महत्व का एकदम ही निषेध कर देता है।

रिचर्ड्स का सिद्धान्त इस परिस्थिति की कोई भी व्याख्या प्रस्तुत नही करता कि विभिन्न युगो में विभिन्न कोटियो के काव्य क्यो लिखे जाते है, और पुरानी शैलियों की पुनरावृत्ति क्यो नही पसन्द की जाती। इसके उत्तर में एक सभावित तर्क यह हो सकता है कि विभिन्न युगो के अपने आवेग तथा मनोभाव होते है, जिन्हे उन युगों के कलाकारों द्वारा अभिव्यक्ति मिलनी चाहिए। पर यह उत्तर सन्तोषजनक नही है। यदि साहित्यगत आवेग तथा मनोभाव केवल आत्मगत चीजें है, और उनका वस्तु-सत्ताओ से कोई सम्बन्ध नही होता, तो यह समझ में नही आता कि विभिन्न युगो में वे इतने अधिक बदल क्यों जाते है। अभी तक किसी ने गम्भीरतापूर्वक यह स्थापना नही रखी है कि शेक्सपियर से टॉल्स्टॉय और कालिदास से रवीन्द्र तक आते-आते मानव-प्रकृति मे कोई बडा अन्तर पड गया। ऐसी दशा में यदि उक्त लेखको की कृतियाँ एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है तो उसका कारण यही हो सकता है कि उनमे निबद्ध मानव-प्रकृति अपने को नितान्त भिन्न परिस्थितियो मे प्रकट कर रही है। यदि कला का उद्देश्य केवल आत्मगत आवेगो तथा मनोभावो को प्रकट करना ही होता तो विभिन्न कलाकारो की कृतियाँ, अधिकाश मे, एक-दूसरे की पुनरावृत्ति-रूप ही बन जाती।

वस्तुत कलाकार का लक्ष्य केवल आत्मगत आवेगो आदि को अभिव्यक्त करना नही होता, केवल बाहरी स्थितियो का चित्रण भी उसका उद्देश्य नही होता। वह वस्तुत जीवन या जीवनानुभूति के विशिष्ट क्षणो को अभिव्यक्ति देना चाहता है, ये क्षण उस क्रिया-प्रतिक्रिया को प्रकट करते है जो अपनी विशेषताओ से सम्पन्न द्रष्टा या विषयी और विशिष्ट बाह्य स्थिति के बीच घटित होती है। अपनी सृष्टि द्वारा कलाकार हमे अपनी जीवन-प्रक्रिया मे साझेदार बनने का निमत्रण देता है। कला का असली उद्देश्य उक्त कोटि के नये जीवन-क्षणो को प्रतीकबद्ध रूप में प्रस्तुत करके मानवीय अस्तित्व को समृद्ध करना होता है।

हम यहाँ फिर अपनी बात को दुहराते है कलाकार केवल निरालबन मनोभावों और आवेगो को नही, वरन् ऐसे मनोभावो और आवेगो को व्यक्त करता है जो न्यूना-

विक निर्दिष्ट वस्तु-सत्ताओं द्वारा निरूपित होते हैं। वस्तुत इन सवेदनाओ की अनुभूति या अभिव्यक्ति वस्तुगत सत्ताओं से सम्बद्ध किये बिना सभव ही नही। गेटे का कथन है 'मेरी सभी कविताएँ वास्तविक जीवन से प्रेरित हुई हैं, जिनके नीचे पक्की नीव है, मैं उन रचनाओ को महत्व नही देता जो हवा (हवाई कल्पना) से आक्षिप्त कर ली जाती हैं।'[7] डा० सी० ई० एम० जोड ने ह्रास का लक्षण सवेदनाओं का वस्तु-सत्ताओ से असम्बद्ध होना बताया है, जो डॉ० रिचर्ड्स जैसे आधुनिक विचारको का सही मूल्याकन है।[8] ह्रास के इस विशेष लक्षण को जोड ने ही नही, गेटे ने भी स्वीकार किया है 'पतन या ध्वस के काल में सभी युग अन्तर्मुखी हो जाते हैं। दूसरी ओर प्रत्येक प्रगतिशील युग वस्तून्मुख होता है . स्वस्थ प्रयास अन्दर से बाहर की ओर निर्देशित रहता है।'[9] विषय-वस्तु के प्रति उदासीनता का विरोध करते हुए गेटे ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि, 'यदि विषय-वस्तु उपयुक्त न चुनी जाय, तो श्रेष्ठ प्रतिभा भी निष्फल हो जाती है।'[10]

कला जैसी महत्वपूर्ण सास्कृतिक प्रक्रिया का वस्तु-सत्ता से असवद्ध मान लिया जाना सचमुच ही आश्चर्य का विषय है। यदि काव्य की विषय-वस्तु के रूप में कुछ भी चुना जा सकता—यदि काव्यात्मक विषय-वस्तु जैसी कोई चीज होती ही नही—तो कवियो के लिये यह सम्भव होना चाहिए कि वे, बिना किन्हीं मानवीय अनुभूतियों का आरोप किये, स्टीम इञ्जिन पर वैसा ही महान महाकाव्य लिख दें जैसा कि वाल्मीकि ने राम के जीवन पर, या अश्वघोष ने बुद्ध के जीवन पर लिखा है।

तो, वह क्या है जिसे कला अभिव्यक्ति देती है? उत्तर है: कला जीवन और विश्व के उन पक्षो को अभिव्यक्ति देती है जिनका मानव-जाति के लिये आवेगात्मक मूल्य है। इन पक्षो को मोटे तौर पर सौन्दर्य तथा नैतिकता-सम्बन्धी मूल्यो के रूप में समझा जा सकता है। कला की विषय-वस्तु का यह वर्गीकरण स्थूल रूप में ही सही है। वस्तुत यह सम्भव नही दीखता कि उस अनुभूति के प्रेरक- वस्तु-रूपो और उनकी विशेषताओं का पूर्ण वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाय। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध प्रयत्न भारतीय रसवाद में निहित है, जहाँ विविध विषय-रूपों तथा उनसे सम्बद्ध मनोभावों एव आवेगो का विशद विवेचन किया गया है। किन्तु वह विवेचन पूर्ण है, इसमें सन्देह किया जा सकता है। यहाँ हम एक ही महत्वपूर्ण काव्य-कोटि का सकेत करें जो रसवादी व्याख्या के ढाँचे मे समावेशित नही होती—तथा-कथित दार्शनिक या दर्शनानुप्राणित कविता, जैसी अग्रेजी कवि डन ने लिखी है।

ऊपर हम देख चुके है कि कथात्मक काव्य तथा कथा-साहित्य में वस्तु-परक सकेत रहते हैं। क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि गीति-काव्य मे उक्त विशेषता नही होती ? हर्बर्ट रीड का मत है कि 'गीत मूलत एक प्रेक्षण या प्रतीति (Vision) होता है।'[११] अन्यत्र वह कहते है . 'कविताएँ केवल सवेदना-मूलक नही होती, वे अनुभूतियाँ होती है।'[१२] उनके मत में सब प्रकार की कला का उद्‌भव साक्षात् बोध (Intuition) या प्रतीति (Vision) मे होता है जिसे ज्ञान से समीकृत करना चाहिए।'[१३] पाठको को यह विचार अतिवादी लग सकता है, विशेषत: गीत-काव्य को लेकर, क्योकि शुद्ध गीत काव्य का किसी वस्तु-सत्ता या वाह्य स्थिति से स्पष्ट सम्बन्ध प्राय नही होता। यह ठीक है। फिर भी सचाई यह है कि गीतकार हमारे सामने कोई-न-कोई विषय उपस्थित करता ही है, यद्यपि प्राय यह विषय या तो एक मनोभाव (जिसमे बोधात्मक तथा आवेगात्मक तत्त्व मिले रहते है) होता है, या एक व्यक्तित्व जिसमे सरल या जटिल, एक या एक से अधिक मनोभाव वर्तमान रहते हैं। गीत-काव्य और कथा-मूलक काव्य में एक और अन्तर भी होता है जिसे उनके क्रमिक प्रभावो की सबद्धता मे प्रकट किया जा सकता है गीत को पढते हुए हम उसमे निबद्ध मनोभाव से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते है, इसके विपरीत जब हम एक उपन्यास या नाटक पढते है तो तादात्म्य-स्थापन की क्रिया गौण हो जाती है, और प्रस्तुत किये हुए चरित्रो तथा घटनाओ का अनुचिन्तन प्रधान हो जाता है। गीत लिखते समय कवि का ध्यान मुख्यत उन परिवर्तनो पर होता है जो स्वय उसके भीतर घटित हो रहे है। पाठक इन परिवर्तनो का अनुचिन्तन करता है और उनसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। प्राय वह बाहरी परिस्थिति, जो इन परिवर्तनो का कारण होती है, जैसे प्रेमिका का आकर्षण और उसकी निर्दयता, अथवा युग का दम्भ और श्रद्धाहीनता, अनभिव्यक्त पृष्ठभूमि के रूप में वर्तमान रहती है, जिसका वर्णन अपेक्षित नही होता, केवल सकेतमात्र पर्याप्त हो जाता है। इसके विपरीत गीतकार कवि यह कोशिश करता है कि अपने आत्म मे घटित होने वाले सूक्ष्म-जटिल परिवर्तनो को ठीक-ठीक प्रकट कर दे। इस प्रकार की अभिव्यक्ति देने के लिये शब्दो को उतनी ही सावधानी और निर्वैयक्तिक तटस्थता से प्रयुक्त करना होता है जितना कि वाह्य वस्तुओ के वर्णनात्मक चित्रण में।

जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आते है जब, क्लेश या नैराश्य की स्थिति में, व्यक्ति क्षणभर को अपनी मनोदशा का एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में आलोचन करता

है; दूसरे ही क्षण मे वह फिर जीवन के भोक्ता की स्थिति मे लौट आता है। भोक्ता और द्रष्टा की स्थितियो का यह द्रुत परिवर्तन गीत-काव्य की सृष्टि की विशेषता है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे होनेवाला यह सक्रमण इतनी शीघ्रता से घटित होता है कि उन क्षणो मे कवि का अस्तित्व और अस्तित्व-बोध एकात्मक हो जाते हैं। एक ओर तो कवि विशेष भावनाओ तथा आवेगो का भोक्ता होता है, और दूसरी ओर वह अपने को वैसे भोक्ता के रूप में देखता है। इसी अनुभव की आवृत्ति पाठको मे भी होती है। कथात्मक साहित्य में ज्ञाता और भोक्ता का यह तादात्म्य कभी उतना पूर्ण नही होता, वहाँ लेखक और पाठक दोनो प्रस्तुत किये हुए पात्रो के चरित्रो तथा क्रियाओ को थोडी-बहुत तटस्थता के साथ देखते रहते हैं।

वे विषय या वस्तु-पक्ष जो हम मे सौन्दर्य-सवेदना जगाते है, अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे ध्वनियों के समूह सगीत मे, रेखाकृतियाँ तथा अन्य आकार सरल चित्राकन में, जटिल कर्मो, मनोभावों अथवा विचारों के सगठन, इत्यादि। यहाँ यह बात भी लक्षित करने की है कि मनुष्य केवल उसी वस्तु के प्रति आवेगात्मक प्रतिक्रिया नही करता जो उसकी इन्द्रियो के सामने वर्तमान होती है, बल्कि उन वस्तु-सगठनों के प्रति भी जो उसकी कल्पना द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। यह स्थिति कला-सृष्टि के सृजात्मक तत्त्व की ओर सकेत करती है जिस पर अब हमें विचार करना चाहिए। इससे सम्बद्ध ही यह समस्या है कि कला का जीवन के यथार्थ से क्या सम्बन्ध होता है, अर्थात् कला कहाँ तक जीवन के सत्य को प्रकट करती है।

कला की सीधीसादी परिभाषा इस प्रकार होगी · कला आवेगात्मक अनुभूति की सम्भावनाओ की चेतना और उपभोग है, अथवा उन क्रियाओ को समाज-ग्राह्य प्रतीको मे प्रकट करने का प्रयत्न है। समस्त महत्वपूर्ण कला का मूल यथार्थ मे होता है। वैज्ञानिक की भाँति कलाकार भी उपलब्ध अनुभव-राशि मे से प्रत्याहरण और चयन करता है, और फिर प्रत्याहृत या चुने हुए तत्वो को सम्बद्ध रूप मे प्रस्तुत करता है। अनुभव-तत्वो के सम्बन्धन या सग्रथन की यह क्रिया मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक सम्भावनाओ के नियमो का अनुसरण करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे विज्ञान मे विभिन्न तथ्यों या तथ्य-बोधो का सम्बन्धन कार्य-कारण नियमो अथवा गणित के नियमो के अनुसार घटित होता है। दोनो क्षेत्रों में अन्तर यह होता है कि जहाँ प्रकृति के व्यापार एक ही दिशा में निर्धारित होते है, वहाँ मानवीय व्यापार प्राय अनेक दिशाओं में प्रवाहित हो सकते हैं। एक दी हुई परिस्थिति मे मानवीय कल्पना प्राय ऐसी अनेक संभव

प्रतिक्रियाओं की भावना कर लेती है जो विभिन्न कोटियों की सुन्दरताओं को उत्पन्न करेंगी। किन्तु वास्तविक जीवन में हम, जैसे अवसरों पर, अनेक प्रतिक्रियाएँ न करके एक ही क्रिया में कार्य करते हैं। कला में जीवन की अनेक संबद्ध प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित और उत्पन्न होती हैं, जिनमें कलाप्रेमी या पाठक भी भागीदार बन जाते हैं। वस्तुतः एक शिक्षित व्यक्ति के जीवन में ज्ञान की क्रिया को कल्पना से अलग नहीं किया जा सकता। शिक्षित व्यक्ति, प्रायः किसी स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करते हुए, उसे अपने पीछे अनुपस्थित यथार्थ का अंग बना लेता है, और उस यथार्थ की सम्बद्धता में ही वर्तमान स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करता है। जब कोई व्यक्ति प्रेम-पत्र लिखने बैठता है, तो उसके आनन्द का प्रमुख कारण उसकी कल्पना होती है। इसी प्रकार जब मानव प्रेमी और प्रेमिका प्रेम-क्रीड़ा में प्रवृत्त होते हैं तो उनके आनन्द का कारण केवल वर्तमान संवेदन ही नहीं होते; उन संवेदनों के साथ अनेक स्मृतियाँ तथा कल्पनाजनित सुख भी गुँथे रहते हैं।

वैज्ञानिक लोग इस बात से सहमत जान पड़ते हैं कि भौतिक जगत की प्रकृति को नियमों या सिद्धान्त-सूत्रों की एक संबद्ध पद्धति द्वारा प्रकट किया जा सकता है। किन्तु मानवीय अनुभूतियों की ऐसी कोई संबद्ध पद्धति नहीं है जो मानव-प्रकृति को पूर्ण अभिव्यक्ति दे सके। मनुष्य समूहों में रहते हैं और समूह, देश या जाति के विश्वासों आदि अर्थात् 'संस्कृति' से प्रभावित हो कर एक-दूसरे के समान बन जाते हैं; फिर भी उनमें भेद बने रहते हैं और उनके जीवन तथा कर्म भिन्न-भिन्न संस्थानों में संगठित होते रहते हैं। कला जीवन की इस विविधता को विविधता के उन रूपों को जिनका भावात्मक महत्त्व है, संबद्ध रूप में प्रकाशित करती है।

जहाँ यह ठीक है कि तरह-तरह की ध्वनियाँ और रूप रंग, असंख्य संगठनों में, हमारी सौन्दर्यमूलक प्रतिक्रिया का विषय होते हैं, वहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि हमारी संवेदना का प्रमुख विषय स्वयं मनुष्य है, वे मनुष्य जिनमें प्रेम और घृणा, क्रोध और ईर्ष्या, कुटिलता और छल तथा वीरता, दया और आत्मत्याग की अगणित विशेषताएँ पायी जाती हैं। यह कहना गलत नहीं है कि कला मनुष्य की उन भावा-त्मक तथा सौन्दर्यमूलक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करती है जिन्हें वह चारों ओर के परिवेश की अपेक्षा में अनुष्ठित करता है किन्तु इतना नहीं यह कथन होगा कि कला मानवीय चेतना को उस विश्व की सम्बद्धता में अभिव्यक्ति देती है जिसका प्रमुख भाग स्वयं मनुष्यों द्वारा निर्मित होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता

है कि कला उतनी ही मनुष्य की आत्म-चेतना की वाहक होती है जितनी कि उसकी विश्व-चेतना की, कला आत्म-बोध और जगद्बोध दोनों ही है। एक सचेत जीवन क्षण को प्रस्तुत करती हुई कला उस क्षण को स्वय हमारे जीवन-स्पदन का भाग बना देती है, और इस प्रकार हमारी सचेत अनुभूति के प्रसार या समृद्धि का कारण बन जाती है।

गीत मे एक मनोज्ञ, सूक्ष्म-सवेदना-सम्पन्न व्यक्ति के, जीवन-क्षण का आकलन रहता है। उसमें एक अपेक्षाकृत सरल परिस्थिति के प्रति सीधी-सी प्रतिक्रिया निबद्ध रहती है। सर्वत्र सरलता से मतलब होता है, जटिल सम्बन्धो का अभाव। गीत में एक निर्दिष्ट विषय या परिस्थिति, अथवा उसके एक पहलू, के प्रति एक स्पष्ट मनोभाव का अकन किया जाता है। गीत मे परिस्थिति और द्रष्टा दोनो पक्षो के विरोधी तत्त्वो का आकलन नही रहता, यदि कभी रहता भी है तो इस ढग से कि उसके द्वारा एक ही मनोभाव की पुष्टि हो। अग्रेजी कवि डन की गीतियो में इसके अनेक उदाहरण मिल सकेंगे।

गीत मे किसी व्यक्ति के एक सार्थक जीवन-क्षण की अभिव्यक्ति रहती है। इसके विपरीत एक महाकाव्य, नाटक या उपन्यास का लक्ष्य किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के समग्र जीवन, अथवा जीवन के एक बड़े भाग का प्रकाशन होता है। गीत में एक ऐसे जीवन-क्षण को पकडने का प्रयास होता है जो, अपनी तीव्रता के कारण, व्यक्ति को अनन्त महत्व से मण्डित दिखाई देता है; यहाँ बाह्य यथार्थ को एक अकेली वृत्ति या मनोभाव की अपेक्षा में देखा जाता है। इसके विपरीत कथा-मूलक साहित्य मे तरह-तरह के पात्रो और उनके कर्मो को चित्रित किया जाता है। इन पात्रो के जीवन में बाहरी तथा भीतरी दोनो प्रकार के द्वन्द्व पाये जाते है। कथा-मूलक साहित्य मे हम विभिन्न पात्रों के विरोधी प्रयोजनो का सघर्ष पाते है। वैसे साहित्य मे दो प्रकार का मूल्याकन रहता है; विभिन्न पात्र विभिन्न लक्ष्यो और प्रयोजनो को महत्वपूर्ण मानते हुए मूल्याकन और सघर्ष करते है, और लेखक उन प्रयोजनों तथा लक्ष्यों में से कुछ को अपनी सहानुभूति देता है। जिन्हें हम यथार्थवादी लेखक कहते है वे इस दूसरी कोटि के मूल्याकन को बचा कर चलना चाहते है। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि वैसा बचाव पूर्णतया सभव है। बड़े-से-बड़े सन्देहवादी के लिये यह सम्भव नही कि वह अपनी विभिन्न विरोधी प्रवृत्तियो को समान रूप मे सन्तुष्ट करे। उसे विवश होकर अपनी प्रवृत्तियो में से चुनाव करना पड़ता है, उसका चित्रण करने

वाले लेखक को भी यह सकेत करना ही पडेगा कि वह किन प्रवृत्तियो के सन्तोषण को कितना महत्व देता है।

विभिन्न पात्रो की सृष्टि द्वारा कथा-मूलक साहित्यकार विभिन्न उपभुक्त प्रवृत्तियों के सस्थानो (Patterns of Lived Impulses) की सृष्टि करता है, इन सस्थानो में से कुछ को वह ज्यादा महत्व देता है, और कुछ को कम; इस प्रकार वह अपने पाठको को यह प्रच्छन्न सकेत दे देता है कि वे जीवन के किन आदर्शों को सार्थक एव महत्वपूर्ण समझें। यदि लेखक विचारक भी है, तो वह उन सामान्य सिद्धान्तों का सकेत भी कर सकेगा जो उन जीवनादर्शों का आधार है।

हमारा यह अन्तिम वक्तव्य क्रोचे तथा उनके अनुयायियो को ग्राह्य नहीं होगा। क्रोचे ने, जैसा कि हम जानते हैं, अनुभवात्मक बोध तथा बौद्धिक ज्ञान में, प्रत्यक्ष प्रतीति और धारणा मे, कला और दर्शन मे तीक्ष्ण भेद निरूपित किया है। क्रोचे के मत में कला का उपादान अनुभवात्मक, प्रत्यक्ष मूलक प्रतीतियाँ होती है, जो विशेषो (Particulars) के निरूपण में अभिव्यक्ति पाती हैं, इसके विपरीत धारणात्मक ज्ञान का विषय सामान्य होता है। उदाहरण के लिये एक झील या नदी विशेषात्मक प्रतीति है, जब कि जल एक सामान्य धारणा है।"[*] क्रोचे के सिद्धान्त का आधार यह वस्तुस्थिति है कि कलाकार प्राय अपनी अनुभूति को विभिन्न चित्रो की भाषा में प्रकट करते है। किन्तु क्रोचे का सिद्धान्त सदोष और भ्रामक है। कला-सृष्टि में जिन चित्रो का विधान किया जाता है वे एक-दूसरे से सम्बन्धित भी होते है, ये सम्बन्ध विशेष रूप न होकर सामान्य रूप होते है। चित्रकार और कवि केवल झील का, उसे शेष विश्व से विच्छिन्न करके, चित्रण नही करते, उनके चित्रण का विषय वह झील होती है जो स्वय उनकी, अथवा किसी दूसरे की, सवेदना मे खास ढग से प्रतिफलित होती है। कला मे विशेष का चित्रण सदैव एक या दूसरे व्यक्ति की रुचियो का सापेक्ष होता है। फिर भी यदि कलात्मक अनुभूति सर्व-ग्राह्य होती है, तो उसका कारण यह है कि वे रुचियाँ मानव-सवेदना के सामान्य-रूपो से सबद्ध होती है। इसलिये वे पद या धारणाएँ जिनके माध्यम से विशेष का चित्रण किया जाता है, स्वय सामान्य-रूप (Universals) होती है, प्रत्येक विशेषण एक सामान्य या जाति का बोधक होता है। साथ ही यह भी सही है कि एक ही विशेषण या सज्ञा शब्द विभिन्न मस्तिष्को मे विभिन्न चित्र उपस्थित करता है। इन चित्रो में जो तत्व समान होता है वह है उनका अर्थ, यह अर्थ भी विशेष न होकर सामान्य रूप होता है। कला की प्रकृति को समझने

में क्रोचे ने जो भूल की है, उसका कारण यह है कि वे धारणा (Concept) नाम की वस्तु को बड़े संकीर्ण अर्थ में लेते हैं। समस्त धारणाएँ विशेषो के प्रत्याहरण द्वारा प्राप्त सामान्य रूप को ही प्रकट नही करती, कुछ धारणाएँ अनुभूति-तत्वो के कल्पना-मूलक विस्तार तथा पुनर्ग्रंथन द्वारा भी प्राप्त होती हैं। और मनुष्य केवल अनुभव द्वारा उपस्थापित विशेषो के प्रति ही रागात्मक प्रतिक्रिया नही करता, वह वैसी प्रतिक्रिया उन सभावनाओं तथा आदर्शों के प्रति भी करता है जो उसकी धारणात्मक या प्रत्ययात्मक कल्पना (Conceptual Imagination) द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। जब इजरा पाउण्ड कहते हैं :

> इन सब तरुण महिलाओं में से किसी ने
> विश्व के कारण का अन्वेषण नहीं किया

तो इसमे सन्देह किया जा सकता है कि वह हमारा चित्रो या विशेष की प्रतीति (Intuition) द्वारा मनोरंजन करना चाहते हैं। उक्त पंक्तियाँ उतना हमारी ऐन्द्रिय कल्पना का स्पर्श नही करती, जितना कि बुद्धि का, और उनमे निश्चित ही बौद्धिक कोटि का रस या आकर्षण है। जिस जीवनानुभूति का प्रेषण या प्रकाशन कला करती है उसका विशेष धर्म इन्द्रिय-ग्राह्य होना नही है, उसकी विशेषता है आवेगात्मक-बोध-रूप होना।

उक्त विवेचन के आलोक मे कला के आस्वादन और मूल्याकन-सम्बन्धी कई प्रश्नो का समुचित उत्तर दिया जा सकता है। हम किसी कला-कृति में रस क्यो लेते हैं, इसका उत्तर यह होगा कि उसके द्वारा हमारी जीवन-सवेदनाओं को समृद्धि और प्रसार मिलता है। हम अपनी जीवन-चेतना को उन कृतियों द्वारा उपस्थापित जीवन की नई सभावनाओ मे विस्तृत कर लेते है। प्रसादात्मक और दु खात्मक दोनो ही प्रकार की कृतियाँ इस विशेषता से सम्पन्न होती है। यदि हम कभी-कभी दु खान्त कृतियो मे अधिक रुचि लेते है तो इसका कारण यह है कि वे हमारे कल्पनात्मक जीवन को ज्यादा जटिल ढगो से स्पदित करती है।[५]

परिपक्व अभिरुचि और परिष्कृत संवेदनशीलता से सम्पन्न व्यक्ति जिस कला-कृति की विषय-वस्तु (Contents) से जहाँ तक अपना तादात्म्य स्थापित कर सके, वह रचना वहाँ तक प्रामाणिक या यथार्थ कही जायगी। किसी नाटक या उपन्यास की प्रामाणिकता या सचाई का सम्बन्ध उसमे वर्णित देश-कालगत घटना-क्रम से नहीं

होता, वरन् उन अर्थों के अन्तर्सम्बन्धो से होता है जिनकी प्रतीक वे घटनाएँ हैं। वस्तुओ और घटनाओ मे निहित उनके अर्थपूर्ण अन्तर्सम्बन्धो का चिन्तन और उनकी कल्पनात्मक स्वीकृति की क्रियाएँ केवल कला के क्षेत्र तक सीमित नही, वे वैज्ञानिक चिन्तन में प्रयुक्त स्थापना-निगमन-मूलक तर्कना मे भी अनुष्ठित होती हैं।

अनुभूति का अभिव्यक्ति से क्या सम्बन्ध होता है ? शैली क्या है ? कलाकार की उपयुक्त शब्दो और अभिव्यजनाओ की खोज मे क्या प्रयोजन रहता है। ऐसा लगता है कि उसके इस प्रयत्न मे एक तुलनात्मक प्रक्रिया निहित होती है कलाकार को एक अनुभूति होती है, और उसके प्रकाशन के लिये वह ऐसे प्रतीको की खोज करता है जो कुल मिलाकर दुबारा वही या उस-जैसी अनुभूति उत्थित कर सकें। जब दूसरी अनुभूति पूर्वानुभूति के समान नही होती, तो वह पुन अन्य प्रतीको की खोज करता है। इस प्रकार उसका प्रतीको का अन्वेषण चलता रहता है, जब तक कि वह पूर्वानुभूति के तुल्यार्थक प्रतीक न पा ले।

कला-सृष्टि का यह विवरण विश्वसनीय जान पडता है । सभवत उस सृष्टि के कुछ उदाहरण इस विवरण के अनुरूप होते हैं, जैसे तब जब कलाकार किसी दृष्ट पदार्थ या स्थिति का सही चित्र देना चाहता है। वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध उक्ति "शान्ति के क्षणो में सस्मृत आवेग" (इमोशन रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी) से इस बात की पुष्टि होती है। (यहाँ आवेग के स्थान पर अनुभूति या प्रतीति शब्द होना चाहिए क्योकि स्मरण ज्ञानात्मक होता है, केवल सवेदन-रूप नही।) किन्तु कला-सृष्टि-सम्बन्धी यह मन्तव्य इतना सरल है कि उस सृष्टि की जटिलताओ की समुचित व्याख्या नही कर सकता। इस मान्यता के विरुद्ध सबसे बडी आपत्ति यह है तथा-कथित मूल अनुभूति, यदि वह कुछ भी जटिल है, प्रतीको के बिना अस्तित्ववान नही हो सकती। साधारण-से-साधारण बिम्ब भी प्रतीक-बद्ध बन जाते है, जैसे ही उन्हे पृथक् करके नाम देने की कोशिश की जाती है।

वस्तुत कलात्मक सृष्टि पूर्वानुभूत विषयो का पुनरुल्लेख मात्र नही होती, वह जीवन-प्रक्रिया के नये क्षणो का सृजन करती है, जिसके उपादान कलाकार के पिछले अनुभव तथा वर्तमान प्रत्यय (Ideas) और सवेदन होते हैं।

यहाँ कला-सम्बन्धी मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त की परीक्षा भी उपादेय होगी। कलाकार की दबी हुई अन्तर्वृत्तियो से कला का सम्बन्ध स्पष्ट करके फ्रायड तथा उसके

अनुयायियों ने अवश्य ही कुछ महत्वपूर्ण धारणाएँ दी हैं। व्यक्ति के सामने अपनी आकाक्षाओ को तृप्त करने की अनेक सम्भावनाएँ रहती हैं, उनमें से कुछ ही जीवन मे यथार्थ हो पाती है। अतः यह अनुमान सही लगता है कि कलाकार अपने सृजन द्वारा अपने को कल्पना-जगत में सन्तुष्टि देता है। लेकिन यह अनुमान कला के सम्पूर्ण स्वरूप की समुचित व्याख्या नही कर पाता। यदि कला केवल बचपन की दवी हुई वासनाओ की अभिव्यक्ति ही हो, जैसा कि फ्रायडवादियों का विचार है, तो कलाकार द्वारा वाद के जीवन मे प्राप्त किया हुआ ज्ञान और अनुभव, कला-सृष्टि के विशिष्ट प्रयोजन के लिये, निरर्थक होने चाहिएँ। यह बात विचित्र जान पडती है। बाद के जीवन में कलाकार शिक्षा प्राप्त करता है, दूसरे कलाकारो का अध्ययन करता है, तरह-तरह के विचार सचित करता है। ये सब उसकी सृष्टि के लिए क्या कुछ भी अर्थ नही रखते ? फ्रायडीय मत के आधार पर उन प्रयत्नो का भी कोई महत्व नही रहता जिनके द्वारा कलाकार अपनी रचना को शैलीगत पूर्णता देता है। उक्त मन्तव्य यह भी नही समझा सकता कि विभिन्न कला-कृतियाँ न्यूनाधिक महत्वपूर्ण क्यों होती हैं। वस्तुत फ़ायड का मन्तव्य हमे मूल्याकन का कोई पैमाना नही दे सकता। वह सिद्धान्त केवल कला के उद्भव की व्याख्या का प्रयत्न है।

दमित वासनाओ की अभिव्यक्ति कला है, यह सिद्धान्त कलात्मक प्रेरणा की ही व्याख्या देता है, वह कला की उन सौन्दर्यात्मिक विशेषताओ को भूल जाता है जिनके कारण वह सुरुचि-सम्पन्न दर्शको या पाठको को रसात्मक लगती है। कृतियों को स्रष्टा के व्यक्तिगत इतिहास द्वारा समझने की कोशिश करते हुए उक्त सिद्धान्त यह भुला देता है कि रचना का रचयिता के परिवेश, उसके सास्कृतिक वातावरण और प्रतिभा से भी सबध होता है। मनोविश्लेपणवादियो के अनुसार दमित वासनाएँ कलाकार मे ही नही, सभी व्यक्तियो में पायी जाती हैं। शायद इसीलिये उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति का सार्वभौम प्रभाव होता है। किन्तु इस सिद्धान्त से हम विभिन्न कलाकारो की अलग-अलग विशेषताओं और उनकी कृतियो की अनेकरूपता को बिल्कुल ही नही समझ सकते।

फ्रायड के तन्त्र में यह माना जाता है कि व्यक्ति की अधिकाश क्रियाओ के मूल मे दमित काम-वासना होती है। उन क्रियाओं में कला-सृष्टि भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि फ्रायड का सिद्धान्त कला-सृष्टि की विशेष क्रिया के विशिष्ट कारण का सकेत नही करता।

मनोविश्लेषणवाद द्वारा दी गयी कला की व्याख्या की एक दूसरी बड़ी कमी यह है कि वह मनुष्य की कला-साधना तथा दूसरी सास्कृतिक क्रियाओं जैसे विज्ञान, दर्शन आदि में कोई सम्बन्ध नहीं देख पाती। अन्तत मनुष्य की विभिन्न सास्कृतिक क्रियाएँ एक-दूसरे से एकदम विच्छिन्न नहीं मानी जा सकती।

फ्रायडीय पद्धति की मीमा को छोड़कर हम एक दूसरा प्रश्न उठाएँगे किसी कलाकृति का अपने युग की सवेदना से क्या सबन्ध होता है। क्या कलाकृति उस सवेदना को प्रकट करती है? अथवा उसे निर्मित करती है? क्या कलात्मक सृष्टि का मुख्य प्रयोजन यही है कि वह युग-विशेष की धुधली प्रतीतियों, सवेदनाओं तथा मनोभावो को अभिव्यक्ति दे, अथवा वह प्रतीतियो, सवेदनाओ तथा मनोभावो की नयी पद्धतियो का निर्माण करती है? इस प्रश्न का कई दूसरे प्रश्नो से सम्बन्ध है किसी कलाकृति के बारे मे यह कहाँ तक कहा जा सकता है कि वह एक खास युग की उपज है? उन समकालीन अन्वेषको तथा विचारको द्वारा जो दूसरे क्षेत्रो मे काम कर रहे हैं, कलाकार को अपनी सृष्टि मे कहाँ तक सहायता मिलती है? सृजनशील कलाकार का परम्परा से क्या सम्बन्ध होता है? कभी-कभी समसामयिक कला के सम्बन्ध में गलतफहमी, और उसे समझने मे कठिनाई, क्यो होती है? क्या कला अधिकाश लोगो के लिये बुद्धिगम्य होती है, अथवा होनी चाहिए?

हमने सच्ची कला द्वारा उत्पादित सवेदनाओं के बारे में कवि पोप की निम्न उक्ति सुनी है जो अनेक बार मन मे आया था, पर कभी इतनी अच्छी तरह प्रकट नही किया गया था। पोप के अनुसार कला हमे स्वय अपने ही मन का चित्र पुन पकडा देती है। श्री इमर्सन ने कहा है 'प्रतिभाशाली की प्रत्येक कृति मे हम अपने ही उपेक्षित विचारो को पाते हैं।'[१] कला और सामान्य लोगो के जीवन के अनुभवो के सम्बन्ध के बारे में यह एक सम्मति हुई। इससे ठीक विपरीत सम्मति का प्रकाशन अंग्रेजी कवि ऑडेन ने किया है, जिसे श्री ओकोनोर ने उद्धृत किया है। ऑडेन के अनुसार एक साधारण तथा प्रथम श्रेणी के कवि में भेद यह है कि जहाँ पहला केवल वही व्यक्त करता है जो हम सबके मन मे होता है, वहाँ दूसरा हमारे मन मे कुछ विषयो से सबद्ध कतिपय भावनाओ को पहली बार जागृत करता है। 'इस समय के बाद, इस कविता के कारण, अब मेरी समस्त सवेदनाएँ भिन्न हो जायेंगी।' कभी-कभी कवि हमें पहली बार उन चीजो की अवगति देता है जो किसी युग की विशेषताएँ होती हैं।'[२]

श्रेष्ठ कला के सम्बन्ध मे ये दो विरोधी सम्मतियाँ है, क्या उनमे समझौता सम्भव है? इस समस्या पर विचार करने से पहले हम पाठको के समक्ष दो और महत्वपूर्ण तथ्य उपस्थित करना चाहेंगे, प्रथम यह कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है, और दूसरे स्पेंगलर का यह कथन कि 'गाँव का इतिहास नही होता।'

जब हम कहते हैं कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है तो हम मुख्यत उसकी शारीरिक रचना का नही, अपितु उसके आवेगात्मक तथा बौद्धिक गठन का विचार करते हैं। जिस मनुष्य ने एक बुद्ध, प्लेटो अथवा कान्ट द्वारा उपस्थित किये हुए प्रश्नो और उनके समाधानो को आत्मसात् कर लिया है, वह उस व्यक्ति से नितान्त भिन्न है जिसने उन अथवा उनके समान प्रश्नो मे कभी कोई अभिरुचि नही ली। आज के बुद्धिजीवी मनुष्य का जटिल व्यक्तित्व जिन असख्य प्रतीतियो, चित्रो और विचारो से निर्मित होता है वे असख्य प्राचीन और नवीन स्रोतो मे ग्रहण किये जाते हैं। मनुष्य की यह विशेपता है कि वह दूसरे नर-नारियो के अनुभवो तथा प्रतिक्रियाओ को ग्रहण करके अपने व्यक्तित्व का प्रसार करता है। ग्रामीण व्यक्ति भी इसका अपवाद नही है, यद्यपि, इस सम्बन्ध मे, एक नगरवासी की अपेक्षा उसे मिलनेवाले अवसर बहुत सीमित होते हैं।

मैं एक साहित्यिक, वैज्ञानिक अथवा विचारात्मक कृति को वहाँ तक पसन्द करता हूँ जहाँ तक वह मेरे जीवन या अस्तित्व को समृद्ध करती है। इससे अनुगत होता है कि विभिन्न पाठको को, जिनके व्यक्तित्व विभिन्न दिशाओ मे विभिन्न दर्जो तक विकसित हो चुके हैं, भिन्न-भिन्न कोटियो की रचनाएँ रोचक तथा उपयोगी जान पडेगी। इस स्पष्ट तथ्य की परीक्षा के लिये आप किसी भी पुस्तकालय के उस रजिस्टर की परीक्षा कर सकते हैं जिसमें दी हुई पुस्तको का हिसाब रहता है। आश्चर्य की बात है कि वे समीक्षक और विचारक जो यह माँग करते हैं कि किसी कला-कृति को सबके लिये समान रूप में बुद्धिगम्य होना चाहिए, इस स्पष्ट तथ्य को नही देख पाते।

प्रश्न है, वे क्या तत्व हैं जो एक पुस्तक को कुछ पाठको के लिये अपेक्षाकृत कठिन बना देते हैं? उत्तर में निवेदन है—पुस्तक की सकेतात्मकता। एक महत्वपूर्ण कृति में, जैसे कि ब्रेडले की "ऐपियरेन्स एण्ड रियालिटी", अथवा विटगैन्स्टाइन के "ट्रैक्टाटस" में, असंख्य समस्याओ, युक्तियो तथा हलो के सकेत रहते हैं। किन्तु एक कलाकृति में पाये जानेवाले सकेत दूसरी कोटि के होते हैं। वैसी कृति में उन अनेक अनुभव-

क्षेत्रों के प्रति सकेत रहते हैं जिनके विस्तार और जटिलता का विश्लेषण प्राचीन बडे कलाकारो द्वारा हो चुका है । कोई भी बडा लेखक प्राचीन लेखको के कृतित्व की पुनरावृत्ति नही करता। यदि वह पूर्व लेखको द्वारा उद्घाटित अनुभवो का सकेत करता है तो इसलिए कि वह उन्हे नये सन्दर्भों में, अपने युग की विशिष्ट प्रतीतियो तथा मनोभावो के साथ-साथ, रख सके, और इस प्रकार पुरानी अनुभूतियों को भी नई सार्थकता तथा नये अभिप्रायो से वेष्टित कर दे। पुरानी अनुभूतियो के प्रति सकेत आवश्यक भी होते हैं, इसलिए कि वे आज के मनुष्य के ऐतिहासिक व्यक्तित्व का अग हैं। आधुनिक मनुष्य की सवेदनाएँ और प्रवृत्तियाँ, उसके सघर्ष और आस्थाएँ, अपने वर्तमान रूप से भिन्न होती यदि वे बुद्ध और ईसा, मार्क्स और फ्रायड, डार्विन और आइन्स्टाइन की शिक्षाओ तथा चिन्ताओं द्वारा प्रभावित न होती।

तो, कवि पोप और कवि ऑडेन के मतों का समन्वय कहाँ है? हमारा विचार है कि श्रेष्ठ कलाकार सर्वसाधारण की प्रतीतियो को ही ऐसे ढग से प्रकट करता है कि वे नूतन दिखाई देने लगे। कलाकार साधारण प्रतीतियो को नये ढगो से विस्तृत और सगठित करता है। इस प्रकार वह नवीनता की सृष्टि करते हुए भी अपने युग का, तथा ऐतिहासिक मनुष्य का, प्रतिनिधि बन जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है, कलाकार को और उस व्यक्ति को जो अपने को सुसस्कृत बनाना चाहता है, अतीत महाग्रन्थो का परिचय क्यो अपेक्षित होता है? गणित जैसे विषय मे बाद के सिद्धान्तों को जानने के लिये यह जरूरी है कि हम उसके पूर्व रूपो या मन्तव्यो से परिचित हो। पिछले अन्वेपणो से परिचित हुए बिना कोई गणित के आगे के अन्वेपणो को नही समझ सकता। वस्तुत गणित के परवर्ती अन्वेपण पूर्व अन्वेपणो पर निर्भर करते हैं। किन्तु साहित्य, दर्शन आदि के क्षेत्रो में नयी-पुरानी कृतियों में वैसी निर्भरता या सापेक्षता नही रहती। इसलिये कहा जा सकता है कि हम प्राचीन कृतियो की अवहेलना करके भी आज के साहित्य, दर्शन आदि को समझ सकते हैं। किन्तु यह स्थापना सही नही है। अतीत कृतियाँ वर्तमान को प्रभावित करती हैं, इससे इनकार नही किया जा सकता। पन्द्रहवी शताब्दी में योरप मे जो ज्ञान के क्षेत्रो में पुनर्जागृति हुई उसका एक बडा कारण यूनानी "क्लासिक्स" का अन्वेपण भी था। इस उदाहरण से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी जाति की या युग की सृजनात्मक उपलब्धियाँ नष्ट हो सकती हैं,और इस प्रकार दूसरे युगों के लिये अलभ्य या दुष्प्राप्य बन सकती हैं। इन उपलब्धियों को हमने मानवीय जीवन तथा

अनुभूति की सभावनाओ के नाम से अभिहित किया है। उनकी स्मृति नष्ट हो जाने से आगे आनेवाली पीढ़ियो के अस्तित्व पर वैसा प्रभाव नही पड़ता, जैसा कि उनके सृजनात्मक अथवा सास्कृतिक व्यवहार पर।

महनीय ग्रन्थो अथवा "क्लासिक्स" का परिचय किसी व्यक्ति को दो तरह प्रभावित करता है। प्रथमत वह उसके अस्तित्व को उन सजीव प्रतिक्रियाओं तथा अनुभूतियो में, जिन्हे बड़े लेखक या कलाकार मूर्त कर गये है, प्रक्षिप्त करके उसका विस्तार कर देता है, दूसरे वह उसे विश्लेषण के विशेष धरातल का, उन प्रभावो का जो जटिल तथा समृद्ध अनुभूति पर रूपाकार के आरोप द्वारा उत्पन्न होते है, और चेतना के उस उत्थान का जो विविध तथा विस्तृत अनुभूतियो के कल्पना-मूलक, एकीकृत प्रत्यक्ष से आता है, अभ्यस्त बना देता है।

एक सुसंस्कृत लेखक 'क्लासिक्स' के दो महत्वपूर्ण उपयोग करता है। प्रथमत वह उनसे ऐसी असख्य जीवन-स्थितियो और उनके विभिन्न अगो की अवगति प्राप्त करता है जो अर्थपूर्ण है, और जिनके प्रति किसी भी परिपक्व रुचि तथा प्रौढ़ सवेदना-वाले व्यक्ति को प्रतिक्रियाशील होना चाहिए—यद्यपि उसकी प्रतिक्रिया प्राचीन लेखको की प्रतिक्रिया से भिन्न होगी, और अपनी भिन्नता द्वारा नये युग को अभिव्यक्ति देगी। दूसरे, वह 'क्लासिक्स' से ऐसे अनुभवो के सकेत पा सकता है जिन्होने लोगो की स्मृति पर स्थायी चिह्न छोड दिये है, और जिन्हें वह अपनी रचनाओं मे सकेतित कर सकता है। इस दूसरे व्यापार द्वारा लेखक अपनी कृति मे संक्षिप्तता और तीव्रता ला सकता है, अर्थात् अपनी अभिव्यक्ति एव आवेगो को तीव्र तथा सघन बना सकता है।

प्राचीन लेखको ने जिन परिस्थितियो और अनुभवो का वर्णन किया है वे आज के वातावरण मे ज्यो-के-त्यो उपलब्ध नही हो सकते। किन्तु उन परिस्थितियो तथा अनुभवो के विधायक तत्व आज के जीवन मे भी मौजूद हो सकते है, भले ही उन्हे विविक्त कर लेना अब उतना सहल न हो। "क्लासिक्स" के अध्ययन से लेखक उन उपादानभूत तत्वो की विश्लेपणात्मक चेतना प्राप्त कर सकता है, और फिर उनका सचेत उपयोग अपनी रचना में कर सकता है। लेखक के सम सामयिक विचारक तथा अन्वेपक भी उसे कुछ ऐसी ही मदद देते है। वे लेखक को उन विचारात्मक तत्वों तथा मनोभावों की विश्लेपणात्मक अवगति प्रदान करते है जो समकालीन मनोवृत्तियो का स्वरूप निर्मित करते है। इस प्रकार प्राचीन कलाकारो तथा नवीन चिन्तनशील

प्रतीकों की सहायता से लेखक जटिल मानव-जीवन और चेतना के उपादानों की जानकारी प्राप्त करता है।

एक ऐसा पाठक जिसने अतीत की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर को आत्मसात कर लिया है, और जो अपने युग की नयी विज्ञान-दिशाओं से भी परिचित है, ऐसे कला-साहित्य की माँग करता है जो एक ओर तो चिर-नवीन परम्परा की स्मृति या अभिज्ञान जगाकर उसे पुलकित करे, और दूसरी ओर उसमें समसामयिक संवेदना की उन सम्भावनाओं की अवगति उत्पन्न करे जिनका लोगों को धुँधला आभास ही हो रहा है। इसके विपरीत वह पाठक जिसकी ऐतिहासिक चेतना अविकसित या कम विकसित है—जैसे कि स्पेंगलर का ग्रामीण—ऐसे काव्य-साहित्य को पसन्द करेगा जो अपेक्षाकृत कम जटिल है। वह परम्परा के अपेक्षाकृत ज्यादा लम्बे निरूपण से सन्तुष्ट होगा, और उन जटिल नूतनताओं को ठीक से नहीं पकड़ सकेगा जो एकदम आधुनिक कला में पायी जाती हैं।

सारांश यह कि कला वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्य एक विशेष कोटि की आत्मावगति प्राप्त करता है। कोई कलाकृति कितनी ही रहस्यमय, प्रतीकात्मक अथवा गूढ़ क्यों न हो, फिर भी उसका लक्ष्य यही होता है कि अनुभव के कतिपय क्षणों तथा क्षेत्रों को प्रकाशित या व्यक्त कर दे। सब प्रकार का अनुभव बाह्य वास्तविकता से सबधित होता है, फिर चाहे यह वास्तविकता हमारे मानव-साथियों की क्रियाएँ और मनोभाव ही क्यों न हो। तात्पर्य यह कि कला की विषयभूत वास्तविकता केवल बाह्य तथा गोचर जगत् नहीं होता, वहाँ प्राय हमारी दृष्टि स्वय मनुष्य पर टिकी रहती है। कला में ऐसी वास्तविकताओं का भी ध्यान किया जाता है जैसे विश्व की समग्रता और उसमें मनुष्य का सम्भाव्य सबध, विश्व-ब्रह्माण्ड में मनुष्य की गति और गन्तव्य, और उस विश्व की अपेक्षा से उसके प्रिय स्वप्नों तथा आदर्शों, और उसकी निगूढ़, तीव्र सवेदनाओं की सार्थकता या महत्व। इस व्यापक दृष्टि से देखने पर हम कला को केवल व्यक्तिगत अथवा सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अथवा नैतिक ही नहीं कह सकते, वह दार्शनिक और आध्यात्मिक भी होती है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य का आवेगात्मक जीवन अनुभूति के किसी एक आयाम (Dimension) तक सीमित नहीं है। किन्तु जिस वास्तविकता या यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया को हम कला कहते हैं, उसका चित्र निरन्तर विभिन्न विज्ञानों तथा दर्शन द्वारा निर्मित और पुनर्निर्मित हो रहा है। फलत जब मनुष्य के बौद्धिक दृष्टिकोण में परिवर्तन होता है,

जब विज्ञान और दर्शन में क्रान्तियाँ होती हैं, तो कला का रूप भी अपरिवर्तित नहीं रहता। ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रो मे होनेवाले परिवर्तन आवश्यक रूप मे कलात्मक अनुभूति को प्रभावित करते हैं।

सभवत विश्व की समग्रता के प्रति, और उसमे मनुष्य का क्या स्थान है इसके बारे मे, मानवता के मनोभाव इने-गिने रूप ही धारण कर सकते हैं · इन मनोभावो को हम ऐसी व्यजनाओ द्वारा प्रकट करते हैं जैसे सशयवाद या आस्था, भौतिकवाद या अध्यात्मवाद, आशावाद या निराशावाद, इत्यादि। सभ्य जातियो के साहित्यिक इतिहास मे सभवत ये मनोभाव बार-बार आवृत्त होते हैं। फिर भी उनकी अभिव्यजना मे अन्तर न पडता हो, ऐसी बात नही है। प्रत्येक ऐसे व्यापक मनोभाव का आधार युग-विशेष का ज्ञान-विज्ञान होता है, और यह ज्ञान-विज्ञान एक युग से दूसरे मे बदल जाता है। फलत प्रत्येक मनोभाव के पक्ष या विपक्ष मे प्रस्तुत की जा सकनेवाली साक्षी अथवा तथ्यात्मक आधार में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन विस्तार और जटिलता दोनो मे ही होता है। नयी दृष्टियो तथा नये प्रमाणो की छाया मे आधार-भूत साक्षी के रूप बदलते रहते है। किसी भी युग के प्रतिनिधि कलाकारो मे युग के विशिष्ट मनोभावो के पक्ष या विपक्ष मे उपलब्ध साक्षी की तीव्री चेतना रहती है, वह साक्षी ही कलात्मक सवेदना की अभिरुचि का केन्द्र होती है। नवीन समर्थक साक्षी या तथ्य-सामग्री की चेतना ही एक युग के सन्देहवाद, भौतिकवाद अथवा अध्यात्मवाद को दूसरे युगो के उसी मनोभाव से भिन्न करती है। उदाहरण के लिये आज के मनुष्य का भौतिकवाद डिमोक्राइट्स या चार्वाक के भौतिकवाद से बहुत भिन्न है, वैसे ही हीगल के वाद का अध्यात्मवाद प्लेटो और शकर के अध्यात्मवाद से भिन्न है।

श्री टी० एस० इलियट ने सार्थकता के स्तरो की धारणा दी है, जिससे हम सब परिचित हैं। इलियट का कथन है कि श्रेष्ठ कला मे एक साथ ही अर्थवत्ता के अनेक धरातल मौजूद रहते हैं, जिसके कारण वह विभिन्न योग्यताओ के पाठको को अच्छी लगती है। उदाहरण के लिये श्री तुलसीदास का "राम-चरित-मानस" जहाँ एक ओर रसज्ञ विद्वानो को प्रिय लगता है, वहाँ दूसरी ओर थोडा पढे-लिखे देहातियो को भी। यही बात टॉल्स्टाय तथा शेक्सपियर जैसे महान् लेखको की कृतियो पर भी लागू होती है। इन विभिन्न स्तरो का क्या अभिप्राय हो सकता है? जहाँ तक आस्था तथा अनास्था के मनोभावो का प्रश्न है, इन स्तरो का मतलब होगा साक्षी (Evidence) या प्रमाण-सामग्री के विभिन्न क्रम, अथवा उनकी चेतना। दूसरे मनोभावो की सबद्धता

मे, जैसे कि प्रेमिका-सम्बन्धी आकर्षण-भावना मे, विभिन्न स्तरो का निर्माण उन विभिन्न गुणात्मक तत्वो की चेतना से होता है जो पृथक्-पृथक् मूल्य-पद्धतियो (Value-Systems) का अग होते है, और जिनकी अवगति विश्लेषण तथा सबध-स्थापन की न्यूनाधिक शक्तियो की अपेक्षा करती है।

किसी कला-कृति की महत्ता के दो माप है ' अर्थवान् यथार्थ का वह विस्तार जिसका स्पर्श हमें विचाराधीन कृति के द्वारा होता है, और नवीनता तथा व्यक्तित्व का वह दर्जा जिस तक उस यथार्थ की अभिव्यक्ति में पहुँचा जा सका है। सब तरह की कलात्मक अनुभूति एक प्रकार की निर्मिति होती है। उसकी नूतनता का एक स्रोत तो वे नये तत्व होते है जिनका उसमें ग्रथन हुआ है, और दूसरा उन तत्वो के सम्मिश्रण की शैली, या उसमें प्रतिफलित शिल्प-विधान। अपेक्षाकृत स्थिर युगो में कलाकार प्राय रचना-तन्त्र द्वारा नवीनता की उपलब्धि करता है। उसकी अनुभूति के विधायक तत्व प्राय परिचित होते हैं, इसलिये उसकी कृति सुबोध होती है। किन्तु एक ऐसे कलाकार को जो एक युग के अन्त और दूसरे के प्रारम्भ में आता है दोहरा काम करना पडता है। उसे ऐसी प्रतीतियो तथा मनोभावो को वाणी-बद्ध करना होता है जो थोडे ही लोगो की चेतना मे रूपायित होने की ओर अग्रसर हो रहे है, और, उन प्रतीतियो तथा मनोभावो को समष्टि रूप मे ढालने के लिये, उसे नये शिल्प-विधानो का आश्रय लेना पडता है। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ मे वर्ड्सवर्थ को और बीसवी के दूसरे शतक मे टी० एस० इलियट को कुछ इसी प्रकार का कार्य करना पडा।

एक महत्वपूर्ण और वास्तविक अर्थ में कलाकार अपने युग की उपज होता है। वह वस्तुत उन चीजो को प्रकट करता है जो युग के लोगो द्वारा महसूस की जा रही है—भावना तथा क्रिया की उन सभावनाओ को जिन्हे अधिक सवेदनशील समसामयिक मनुष्य महसूस कर रहे हैं। यही कारण है कि समकालीन पाठक पुराण-पन्थियो की आलोचनाओ के विरुद्ध नये कलाकार का स्वागत करते हैं। कोई प्रतिभाशाली तब तक आदृत और प्रभावशील नही हो सकता जब तक उसे थोडे-बहुत सवेदनशील तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो का सहारा न हो। वस्तुत सब प्रकार की सास्कृतिक प्रगति का यही अर्थ होता है, अर्थात् धुधले रूप में प्रतीत होने वाली जीवन-सभावनाओ का स्पष्ट रूप में प्रत्यक्षीकरण या उपलब्धि। प्रतिभाशाली वह उपकरण है जिसके द्वारा यह प्रत्यक्षीकरण या उपलब्धि सभव होती है।

निष्कर्ष यह कि कलाकार अपने युग के द्वारा उपस्थापित विशिष्ट सामग्री के

आधार पर जीवनानुभूति के नये रूपो या सस्थानों की सृष्टि करता, और इस प्रकार नूतनता की उपलब्धि करता है। वस्तुत प्रतिभाशाली के व्यक्तित्व मे ही नये युग का जीवन, उस समय जब जीवन के पुराने आदर्श छिन्न-भिन्न या खण्डित हो चुकते है आत्म-चेतना तथा सामजस्य प्राप्त करता है। जिसे हम एक नयी विचार-पद्धति, अथवा महसूस करने या क्रियाशील होने का एक नया ढग, कहते है, वह अन्तिम विश्लेषण में एक ऐसा सुविधाजनक तरीका होता है जिसके द्वारा नयी सवेदना के उपादानो या तत्वो को व्यवस्थित तथा एकीकृत किया जा सकता है। नयी व्यवस्था या सस्थान जितने ही विस्तृत क्षेत्र का स्पर्श करता है, वह उतनी ही जटिल तथा समृद्ध पद्धति का रूप धारण करता है। उदाहरण के लिये एक बड़ा नाटककार या उपन्यासकार, विभिन्न चरित्रो की सृष्टि द्वारा, युग-सवेदना के प्राय. सभी तत्वो का उपयोग कर डालता है, इसी प्रकार एक दार्शनिक, एक महती विचार-पद्धति के निर्माण में, अपने युग-बोध के समस्त उपादानो को नि शेष कर देता है। दूसरी कोटि का प्रतिभाशाली, जैसे एक ह्यू म अथवा दास्ताएव्स्की, यथार्थ के सीमित किन्तु सार्थक एक ही क्षेत्र मे गहरे घुस कर अपनी प्रतिभा का प्रमाण देता है।

अब हम वास्तविक कला-साहित्य की एक दूसरी विशेषता को लक्षित करेंगे, अर्थात् उसकी निर्वैयक्तिकता। कला की नयी-से-नयी सृष्टियों को, अन्तत, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए। समस्त कला सामान्य (Normal) मनुष्य की आवेगात्मक तथा सकल्प-मूलक जीवन-सभावनाओ का अन्वेषण या उद्घाटन है। तर्कशास्त्र की भाँति वह समस्त कला जो वास्तविक है, सबके उपभोग के लिए होती है। महान और यथार्थ कला ऐसी प्रत्येक चीज का बहिष्कार करती है जो खामखयाली कल्पना अथवा व्यक्तिगत वैचित्र्य की द्योतक है। हमारे मत मे वैचित्र्य-मूलक अथवा खामखयाली कल्पना (Fancy) तथा यथार्थ कल्पना (Imagination) का अन्तर इस प्रकार है जहाँ द्वितीय कोटि की कल्पना बाह्य अथवा आन्तरिक वास्तविकता का पुनर्गठन स्वय यथार्थ के नियमो के अनुसार करती है, वहाँ प्रथम कोटि की कल्पना यथार्थ के तत्वो को अनियन्त्रित स्वच्छदता से एकत्रित कर डालती है। उक्त प्रभेद को हम उदाहरण द्वारा व्यक्त करे। टॉल्स्टॉय का "एना केरीनिना" उपन्यास यथार्थ कल्पना की सृष्टि है, जब कि "अलिफलैला" वैचित्र्य-मूलक कल्पना की। कथा-साहित्य का इतिहास इस तथ्य का महत्वपूर्ण निदर्शन उपस्थित करता है कि कला का विकास क्रमश अधिकाधिक यथार्थवाद की ओर हुआ है। नाटक तथा

कथा-साहित्य मे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये सदा से औत्सुक्य नामक वृत्ति का आधार लिया गया है। लेखक पाठको या दर्शको की उत्सुकता को अन्त तक बनाये रखना चाहता है। प्राचीन काल के लेखक उक्त भावना को जागृत रखने के लिये अलौकिक तत्वो का सन्निवेश करते थे, जैसे किसी ऋषि या देवता का हस्तक्षेप, अथवा वे विशुद्ध मयोग द्वारा समस्या को खडा या हल कर देते थे। आज के कथा-साहित्य मे हमारी उत्सुकता तथा कुतूहल की वृत्तियो का एकमात्र आधार मानव-प्रकृति की विविध सभावनाएँ ही होती हैं।

कला-सृष्टि के क्षेत्र मे निर्वैयक्तिक होने का अर्थ है वस्तुत अथवा सार्वभौम रूप मे मानवीय होना। महान् कला जीवन की सामान्यरूपता के बीच नवीनता के विधान का कठिन कार्य करती है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पटेगा कि महान नाटककारो तथा उपन्यास-लेखको के समस्त महत्वपूर्ण पात्र "टाइप" होते है, अर्थात् वे किसी युग के विभिन्न जीवन-रूपो अथवा जीवन-प्रवृत्तियो के प्रतिनिधि, और इसलिए सब युगो के प्रतिनिधि, जान पडते हैं। बात यह है कि वह वस्तु जो मानव-इतिहास के किसी एक युग की प्रतिनिधि हो सकती है, उस समूचे इतिहास की प्रतिनिधि होती है। महनीय कला-कृतियो की उम्र लम्बी होती है, इसका कारण यह है कि वे कृतियाँ विभिन्न जातियों तथा युगो की सस्कृतियो के आवरणो को भेद कर मानवीय कर्मो तथा प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध मानव-प्रकृति की मूल प्रवृत्तियो से स्थापित्त कर देती है। पूछा जा सकता है कि अपने "एना केरीनिना" उपन्यास मे टॉल्स्टॉय नायिका के प्रेमी व्रास्की का चित्रण सफलता से क्यो नही कर सके है ? उत्तर है ' उक्त उपन्यास मे वे हमे व्रास्की की गूढ अन्तर्वृत्तियो की निकट झाँकी देने मे असमर्थ रहे है। पात्रो के नये से नये "मूड" और मनोभाव तभी बुद्धिगम्य होते है जब उनका सबध उन मौलिक वृत्तियो से जोड दिया जाता है जो सम्पूर्ण मानव-जाति मे पायी जाती है। इतिहास-ग्रन्थो मे वर्णित स्त्री-पुरुषो के कार्यो तथा चरित्रो के सम्बन्ध मे भी ऊपर का वक्तव्य लागू होता है।

## आलोचना का स्वरूप और उपयोगिता

ऊपर हमने कला की प्रकृति का विवेचन किया। अब हम एक दूसरी सास्कृतिक क्रिया की परीक्षा करेंगे, जिसका कला के उपभोग, और सृष्टि से भी, निकट सम्बन्ध है। दो प्रकार के लेखक कला-साहित्य के सम्बन्ध मे लिखते है, एक साहित्य-मीमासक और दूसरे समीक्षक। यहाँ हम समीक्षा और समीक्षक की प्रकृतियो का उद्घाटन

करेंगे। पूछा जा सकता है, साहित्य-मीमासक से भिन्न कला-साहित्य के समीक्षक का क्या कार्य और उपयोगिता होती है ?

समीक्षा के इतिहास से हमें अनेक प्रकार की आलोचनाओ और आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोणो का परिचय प्राप्त होता है, जैसे "क्लासिकल" (शास्त्रीय अथवा मानदण्डो पर आधारित) और रोमाटिक (स्वच्छन्दतावादी), ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय, जीवनी-मूलक और मनोवैज्ञानिक, प्रभाववादी, अभिव्यजनावादी, इत्यादि। यहाँ हम इन विभिन्न दृष्टिकोणो और आलोचना-प्रकारो को आँकने की कोशिश नही करेंगे। इसके विपरीत, समीक्षा के स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध मे हम स्वय अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करेंगे, और यह देखने की चेष्टा करेंगे कि उस मन्तव्य की अपेक्षा मे विभिन्न समीक्षा-सिद्धान्तो की क्या सार्थकता है।

हम आलोचना की परिभाषा इस प्रकार करेंगे : आलोचना किसी कला-कृति में निबद्ध अनुभूति के विश्लेषण, व्याख्या और मूल्याकन का प्रयत्न है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि उक्त तीन क्रियाओ को एक-दूसरी से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। एक क्रिया हमे अनिवार्य रूप से दूसरी की ओर ले जाती है, और उन क्रियाओं का एक-दूसरी के लिये मतलब या सार्थकता होती है। किसी कला-कृति का विश्लेषण इसलिये किया जाता है कि बाद मे उसकी व्याख्या की जा सके, और विश्लेषण और व्याख्या दोनो का लक्ष्य उचित मूल्याकन ही होता है। एक सास्कृतिक क्रिया के रूप में कला का हमारे लिये विशेष महत्व यही है कि उसमे मूल्य निहित होते हैं।

विश्लेषण द्वारा हम पाठकों का ध्यान कृति के उपादानभूत तत्वो की ओर आकृष्ट करते हैं। कलात्मक अनुभूति प्राय जटिल होती है, उसमे जहाँ एक ओर सांगीतिक लय, चित्र आदि विद्यमान होते हैं वहाँ दूसरी ओर प्राय सार्थक स्थिति या स्थितियाँ भी मौजूद होती हैं जिनमे आत्म-परक अथवा वस्तु-परक या दोनो ही कोटियो के तत्व उपस्थित रहते हैं। विश्लेषण का प्रधान उद्देश्य आलोच्य कृति के उन तत्वों या अगो का पृथक्करण है जो उस कृति की प्रभावात्मकता के हेतु है। एक कला-कृति अनेक प्रभाव उत्पन्न करती है। यद्यपि मूलत. हम कलात्मक अनुभूति को उसके समग्र, अविश्लेषित रूप में ग्रहण करते हैं, फिर भी उसकी आलोचनात्मक अवगति के लिये उसे खडित करना आवश्यक हो जाता है। इस खडित करने या विश्लेषित करने की क्रिया द्वारा ही समीक्षा-व्यापार सचेत बनता है। एक आदर्श समीक्षक हम उसे कहेंगे

जो किसी कला-कृति के प्रत्येक उपादान तत्त्व को देखने की क्षमता रखता है, और सूक्ष्म, विवरणात्मक ढग से उन हेतुओ को जानता है जिनके कारण वह आलोच्य कृति के विभिन्न अगो या पहलुओ को स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देता है। किन्तु शायद ऐसा कोई समीक्षक कभी कही अस्तित्ववान् नही रहा, और शायद अस्तित्ववान् होगा भी नही, कारण यह है कि कलात्मक अनुभूति मे, विशेषत उसके उच्चतर रूपो मे, कुछ ऐसा रहस्यमय सौन्दर्य और आकर्षण रहता है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण की पकड मे नही आता।

किसी कला-कृति की व्याख्या का अर्थ है, उसके विश्लेपित तत्त्वो को कलाकार के परिवेश मे उपस्थित अधिक व्यापक समष्टियो (Wholes) अथवा शक्तियो से सम्बन्धित कर देना। कृति की व्याख्या द्वारा हम उसे सास्कृतिक वातावरण के उस सन्दर्भ मे प्रतिष्ठित कर देते हैं जहाँ उसका उदय सम्भव हुआ। व्याख्या का एक और अर्थ भी हो सकता है . उन समसामयिक तथा ऐतिहासिक प्रभावो की छानबीन जिन्होने कलाकार द्वारा विशिष्ट सामग्री के चयन और उस सामग्री के सगठन मे निहित गौरव को, निर्धारित किया। सक्षेप में, किसी कला-कृति की व्याख्या का अर्थ है उसे, कार्य और कारण दोनो रूपो मे, रचयिता के युग, वातावरण और परिवेश से सम्बद्ध कर देना। कारण यह कि कला की सृष्टियाँ जहाँ तक एक ओर अपने सास्कृतिक परिवेश की उपज होती हैं, वहाँ दूसरी ओर वे उस परिवेश के स्वरूप को प्रभावित एव परिवर्तित करने वाली भी होती हैं। विशेषत. अतीत कला-सृष्टियो के सम्बन्ध मे (और अतीत एक सापेक्ष शब्द है जिसका अभिप्राय निकट अतीत और दूरवर्ती अतीत दोनो ही हो सकते हैं) हम अपेक्षाकृत स्पष्टता से यह जानकारी हासिल कर सकते हैं कि उन्होने बाद के युग या युगो की रुचियो, नैतिकता, जीवन-दृष्टियो आदि पर क्या प्रभाव डाला। जैसा कि हमने शुरू मे कहा था, विश्लेपण और व्याख्या का चरम प्रयोजन कृति-विशेष का मूल्याकन है। क्योकि मूल्याकन मे अर्थ या अभिप्राय का आकलन निहित है, इसलिये वैसे आकलन को भी आलोचना का प्रयोजन कहा जा सकता है। किन्तु व्यवहार मे किसी कला-कृति के समझने और उसके रस-ग्रहण अथवा मूल्याकन की क्रियाओ को एक-दूसरी से अलग नही किया जा सकता। कारण यह है कि इस सन्दर्भ मे कृति-विशेष को समझने का अर्थ उसकी उन विशेषताओ को लक्षित करना है जो उसके प्रभाव अथवा प्रभावहीनता का हेतु होती है।

यहाँ प्रश्न उठता है, वे कौन-सी विशेषताएँ है जो किसी कला-कृति को महत्वपूर्ण

बनाती है ? उक्त प्रश्न निरर्थक है, यदि उसका यह अभिप्राय हो कि कृति के मूल्यात्मक पहलू को उसके समग्र अस्तित्व से अलग किया जा सकता है। कला-कृति में जीवनानुभूति के विशिष्ट पक्षों अथवा सस्थानों को मूर्त या प्रकाशित किया जाता है, और यह समग्र अनुभूति ही मूल्यवान होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति में कलाकार अपने जीवन के कतिपय महत्वपूर्ण स्पन्दनो को सम्बद्ध रूप मे उपस्थित करता है; हमारे मूल्यांकन का विषय यही सम्बद्ध जीवन-स्पन्दन होते है। किन्तु विश्लेषणात्मक अवगति के लिये हम कलात्मक अनुभव में दो तत्वो को विविक्त कर सकते है, अनुभव के विभिन्न तत्व और उन्हें सगठित तथा प्रभविष्णु रूप देने के तरीके या रचना-तन्त्र (टेकनीक)। हम खासतौर से उन रचना-तन्त्रो (Techniques) पर ध्यान देते हैं जो प्रकाशित अनुभव को सगत एव प्रभावपूर्ण बनाते है। दूसरे, हम समग्र अनुभूति की विभिन्न विशेषताओ पर अलग-अलग ध्यान दे सकते है, जैसे उसका सगीत और चित्र विधान, उसके प्रेक्षा मूलक और आवेगात्मक तत्व, उसका बौद्धिक और नैतिक स्वर, उसकी कल्पनात्मक व्यापकता और साहसपूर्ण सगठन, उसकी शक्ति और तीव्रता, उसकी सच्चाई और आन्तरिकता, गहराई, उल्लास-भावना इत्यादि। वस्तुत, चूंकि कलात्मक अनुभूति कलाकार के आत्मिक जीवन का अग होती है, इसलिये उसमे प्राय. वे सभी विशेषताएँ पायी जा सकती है जो मानव-चेतना के लिये सम्भव है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि आलोचक लोग कला-कृतियों में भिन्न-भिन्न विशेषताओं की खोज करें, और भिन्न-भिन्न विशेषताओ को पायें। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व विभिन्न कारणो से भले या बुरे होते है, वैसा ही कला-कृतियो के बारे में भी सत्य है। जिस प्रकार विभिन्न लोग मानव व्यक्तित्व की अलग-अलग विशेषताओ पर मुग्ध होते हैं, वैसे ही विभिन्न समीक्षक कला-कृतियों में भिन्न-भिन्न कोटियो के प्रभावो को देखते और खोजते हैं। यही कारण है कि उन कृतियो के मूल्याकन के सम्बन्ध में समीक्षको में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

किन्तु किसी भी समीक्षक को कला-कृतियों की एक विशेषता की उपेक्षा करने का अधिकार नही है, अर्थात् उनकी वह शक्ति जिसके द्वारा वे हमारे सचेत जीवन और अनुभूति को समृद्ध बनाती है। प्रश्न है : कला उक्त कार्य का संपादन कैसे करती है ? उत्तर है : मनुष्य के समसामयिक तथा ऐतिहासिक अनुभव से हमारा सार्थक सम्बन्ध स्थापित करके। उक्त स्थिति को दूसरे ढग से भी देखा जा सकता है। कलाकार उस यथार्थ का, जिसका आवेगात्मक महत्व है, अपनी चेतना द्वारा विश्लेषण करके पुन-

निर्माण करता है; यह निर्माण मानव-सवेदना के सार्वभौम नियमो के अनुरूप घटित होता है। आलोचक को यह देखने मे आनन्द आता है कि कलाकार ने इस निर्माण की क्रिया को कितनी कुशलता से अनुष्ठित किया है। मतलब यह कि समीक्षक कलाकार के रचना-तन्त्र या टेकनीक पर प्रकाश डालता है। किन्तु टेकनीक के विश्लेषण का यह मतलब हर्गिज नहीं है कि समीक्षक हमे यह बतलाना भूल जाय कि कृति-विशेष मे निबद्ध अनुभूति का क्या महत्व है। इस महत्व को आँकने के लिये यह सकेत देना जरूरी है कि प्रकाशित अनुभति कहाँ तक स्वय हमारी चेतना का विस्तार और सगठन करने मे समर्थ है। हम कुछ अधिक सावधानी से समझने की कोशिश करे कि वैसा सकेत देने मे कौन-कौन-सी क्रियाएँ निहित हैं।

कल्पना की सृष्टि काफी दूर तक एक अचेतन या अर्धचेतन क्रिया होती है। कलाकार कही भी यह नही सीख पाता कि वह किस प्रकार अपनी विविध अनुभूतियों के तत्वो को नयी समष्टियो मे सगठित करे, कहीं भी वह इस रहस्य का पता नहीं पा सकता कि कैसे वह सगीत तथा चित्रों को मिश्रित करे कि विशिष्ट कोटि के प्रभाव उत्पन्न हो जायें। कला जिन प्रभावो को उत्पन्न करती है वे अक्सर विचित्र तथा रहस्यमय होते हैं, उनके सम्बन्ध मे रचना के क्षणों मे हिसाब करके नहीं चला जा सकता। किन्तु एक बार जब कलात्मक अनुभूति निर्मित तथा प्रकाशित हो चुकती है, तो समीक्षक के लिये यह सम्भव है कि वह धैर्य-पूर्वक विश्लेषण करके उसके प्रभावों के हेतुभूत तत्वों को पृथक् कर ले। इस विश्लेषण द्वारा भविष्य के कलाकारो को विशेष लाभ होता है, ऐसी बात नही, प्रत्येक युग के नये कलाकारो को अपनी नवीन अनुभव-सामग्री के ग्रथन एव प्रकाशन के लिये नये रचना-तन्त्रो की जरूरत होती है। इसके विपरीत समीक्षक के विश्लेषण का एक बुरा प्रभाव भी हो सकता है। वह बाद के पाठको तथा समीक्षकों को यह प्रेरणा दे सकता है कि वे अपने समसामयिक कलाकारो मे पुराने रचना-तन्त्रो को ढूँढने का प्रयास करे। फिर भी इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि उक्त कोटि का विश्लेषण पाठको मे एक नयी चेतना की प्राप्ति का उल्लास पैदा करता है, और उनके उपभोग की रहस्यमय स्थिति को बुद्धिगम्य बना देता है। समीक्षा की मदद से औसत पाठक की कला-सम्बन्धी रस-ग्रहण की क्रिया सचेत रूप धारण कर लेती है।

सब प्रकार के रचना-तन्त्रो का, फिर चाहे उनका प्रयोग अनजाने किया गया हो या सचेत भाव से, एक ही लक्ष्य होता है, अर्थात् कतिपय अनुभूतियों का प्रभावपूर्ण प्रकाशन। आलोचनात्मक विश्लेषण का उद्देश्य भी पाठको को प्रकाशित अनुभूति की

प्रकृति और उसके विस्तार का परिचय कराना है। एक महत्वपूर्ण समीक्षक किसी कला-कृति में निहित रचनातन्त्र या "टेकनीक" का विश्लेषण स्वयं टेकनीक की अवगति देने के लिये नहीं करता, उसका ध्येय यह दर्शित करना रहता है कि किस प्रकार कलाकार ने विशिष्ट रचनातन्त्र या रीति के अवलम्बन द्वारा अपने अनुभवों को उपयुक्त संगठन और गौरव दिया है।

तात्पर्य यह कि समीक्षक का ज्यादा महत्वपूर्ण कार्य पाठकों को यह बतलाना है कि आलोच्य कृति में निबद्ध अनुभूति किस कोटि की है, और कितनी महत्वपूर्ण है। हमने कहा कि समीक्षक कृति-विशेष में अभिव्यंजित अनुभूति का विश्लेषण और व्याख्या करता है, इसका यह मतलब नहीं कि वह अनुभूति आवश्यक रूप में अस्पष्ट या अबुद्धिगम्य होती है। फिर भी उसे व्याख्या की अपेक्षा हो सकती है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक महत्वपूर्ण दार्शनिक, शंकर, नागार्जुन, हीगल आदि की विचार-पद्धति को व्याख्या की अपेक्षा होती है, भले ही वह विचार-पद्धति अपने में पूर्ण तथा संगत हो। किसी भी शब्द का अर्थ उसके सन्दर्भ से निर्धारित होता है, शब्द का सही अर्थ केवल कोष की मदद से नहीं जाना जा सकता। शब्दों की भाँति अनुभूतियों का भी विशिष्ट सन्दर्भों से सम्बन्ध होता है। आलोचक का प्रधान कार्य यही है कि वह कृति में निबद्ध अनुभूति को कलाकार के देश-काल के सन्दर्भ में रखकर स्पष्ट कर दे। उक्त सन्दर्भ का ज्ञान कृति के उचित मूल्यांकन के लिये भी अपेक्षित होता है।

## आलोचना के सम्प्रदाय

साहित्य-प्रेमियों के लिये यह परिस्थिति असमंजस में डालने वाली हो सकती है कि कलात्मक समीक्षा के अनेक सम्प्रदाय हैं, जो कला का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न तरीकों से करना चाहते हैं। यह स्थिति नैतिक क्षेत्र की स्थिति के समानान्तर जान पड़ती है। नैतिकता के क्षेत्र में भी विभिन्न विचारक भलाई-बुराई के भिन्न पैमानों का प्रयोग करते हैं। मूल्यांकन के मानों के सम्बन्ध में इस प्रकार का मतभेद, फिर चाहे उसका क्षेत्र कला हो अथवा नैतिकता, विचारशीलों के मन में सन्देहवाद को जन्म देता है। दोनों क्षेत्रों में सन्देहवादी विचारक यह मन्तव्य प्रतिपादित करते रहे हैं कि मूल्यांकन की कोई सर्वमान्य, वस्तुपरक कसौटी नहीं हो सकती। दूसरे अध्याय में हमने नीतिशास्त्र से सम्बन्धित संशयवादी विचार-धाराओं की संक्षिप्त परीक्षा की थी, यहाँ हम

सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी सशयवाद के निराकरण का सक्षिप्त प्रयत्न करेंगे। इस सशयवाद का प्रतिपादन लार्ड बालफर ने निम्न शब्दो में किया है :

प्रत्येक मनुष्य के लिये वह चीज प्रेम करने योग्य जिससे वह बहुत प्रेम करता है। प्रत्येक के लिये वह वस्तु सबसे सुन्दर है जिसकी वह बहुत ज्यादा प्रशसा करता है। और यहाँ हम सिर्फ इस पुरानी बात को नही दुहरा रहे है कि रुचि (Taste) के बारे में विवाद करना व्यर्थ है। हम ज्यादा गभीर बात कह रहे है, हम कह रहे है कि, सबसे महत्वपूर्ण परिस्थितियो में भी, प्रेम या सौन्दर्य के सम्बन्ध मे विवाद, न केवल व्यर्थ होगा, अपितु निरर्थक होगा।[१८]

निष्कर्ष यह कि किसी कला-कृति के महत्व के बारे में किसी भी तरह की आलोचना या विवाद व्यर्थ होता है। इसका युक्तिसगत परिणाम यह है कि हमे कला-कृतियो की समीक्षा तथा मूल्याकन से विरत हो जाना चाहिए। हम इस निष्कर्ष को भ्रामक समझते हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि कलात्मक मूल्याकन के कोई ऐसे पैमाने नही हैं जो निरपेक्ष तथा अखंड रूप में सही या विश्वसनीय हों, तो भी यह अनुगत नही होता कि कला के उत्कर्ष के पैमाने होते ही नही।

किन्तु यदि हम वैसे पैमानो में विश्वास प्रकट करते है, तो हमारे सामने यह महत्व-पूर्ण प्रश्न खडा हो जाता है कि आलोचना के विभिन्न सप्रदाय विभिन्न पैमानो का प्रति-पादन क्यो करते हैं। दूसरा प्रश्न यह होगा-क्या यह सम्भव है कि हम किसी तर्क-सगत प्रणाली से यह निर्णय कर सकें कि कौन-सा पैमाना वस्तुत विश्वसनीय तथा ग्राह्य है?

उक्त सशयवादी धारणा के निराकरण मे जो मौलिक बात हमे कहनी है वह यह है कि कलात्मक उत्कर्ष के अनेक पैमाने सब एक साथ न्यूनाधिक प्रामाणिक हो सकते है। विश्व के इतिहास में अनेक कोटियो के महापुरुष हुए है, जिनके व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न कारणो से महत्वशाली थे। भिन्न-भिन्न कोटियो की अनुभूतियाँ तथा कर्म भी अलग-अलग हेतुओं से महत्वपूर्ण हो सकते है। कला-कृतियो का महत्व अन्तत उन संगठित जीवनानुभूतियो का महत्व होता है जो उन कृतियो में निबद्ध की जाती है। अतएव हमें यह जानकर आश्चर्य नही होना चाहिए कि कलात्मक उत्कर्ष की विभिन्न कोटियाँ और उन कोटियो के माप के विभिन्न पैमाने होते है।

हम अपनी बात दूसरे ढग से कहें। एक व्यक्तित्व की भाँति कला-कृति भी हमारे ऊपर तरह-तरह के प्रभाव डालती है। जहाँ किसी कला-कृति का एक समग्र प्रभाव

होता है, वहाँ उसके विभिन्न पक्षो या पहलुओ से उत्थित होने वाले अनेक प्रभाव भी होते हैं। कृति के कुछ प्रभाव तात्कालिक होते हैं, जैसे कि उसके संगीत और चित्रात्मकता से सबद्ध प्रभाव। कुछ प्रभावो का अनुभव अपेक्षाकृत दीर्घ-काल-व्यापी होता है, जैसे कि नायक अथवा नायिका के नैतिक पक्षपातो अथवा चारित्रिक विशेषताओ का प्रभाव। जब हम एक बुद्ध या नेपोलियन से सबधित कृति को पढते हैं, तो हम केवल सगीत, अलकारो आदि के प्रभावो को ही ग्रहण नही करते;[1] हम जीवनोपयोगी आदर्शो के रूप में नायक की विभिन्न प्रेरणाओ तथा उनसे निर्गत होने वाले क्रिया-कलापो के बड़े प्रभावो को भी ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार एक महत्वपूर्ण उपन्यास का नैतिक द्वन्द्वमूलक कथानक, उसमें निरूपित मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक सघर्ष, और उसके जटिल पात्र हमारे मन पर जो छाप छोडते हैं वह उन प्रभावो से भिन्न और उच्चतर होती है जो किसी शब्द या उपमा के चामत्कारिक प्रयोग अथवा चमत्कारपूर्ण वाक्य-विन्यास से गृहीत होते हैं।

इस आवश्यक भूमिका के पश्चात् हम कतिपय प्रसिद्ध समीक्षा-दृष्टियो का महत्व आँकने की कोशिश करेंगे।

मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय समीक्षा-प्रणालियो का मुख्य महत्व इसमे है कि वे हमें किसी कला-कृति के, अथवा उसमे निबद्ध अनुभूति के, सन्दर्भ को समझने मे मदद देती हैं। प्राय हमें कलाकारो की जीवनियाँ उपलब्ध नही होती, ऐसी स्थितियो मे तथा-कथित मनोवैज्ञानिक आलोचना समाजशास्त्रीय आलोचना मे परिणत और मग्न होने लगती है। कारण यह कि किसी युग के सामाजिक मनोभावो मे उसके मनोवैज्ञानिक मनोभावो का वैसे ही समावेश रहता है जैसे कि उसकी नैतिक, दार्शनिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियो का। दूसरे, किसी कलाकार की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ वही तक महत्वपूर्ण होती हैं जहाँ तक वे अपने युग के लोगो की समान वृत्तियो को प्रतिफलित करती हैं, अथवा उन वृत्तियो को निर्मित करती हैं। समीक्षा की दृष्टि से यह जानना उतना जरूरी नही है कि कलाकार के मन की प्रकृति और रुचियाँ क्या थी जिन्होंने उसे सृष्टि की प्रेरणा दी, जितना कि यह जानना कि उसके समसामयिक पाठको की दृष्टि में, और आज हमारी दृष्टि मे, वे कौन से महत्वपूर्ण मनोभाव हैं जो उसकी कृतियो मे व्यक्त हुए हैं।

कलाकार के मनोवैज्ञानिक-सामाजिक वातावरण का ज्ञान समीक्षक के लिये दो

प्रकार से सहायक होता है प्रथमत वह उसे आलोच्य कृति का अभिप्राय समझने मे मदद देता है, दूसरे, वह समीक्षक को इस योग्य वनाता है कि वह उस यथार्थ के क्षेत्र और विस्तार से परिचित हो सके जहाँ से कलाकार ने अपनी सामग्री प्राप्त की थी। विश्व की प्रत्येक वस्तु के समान कलाकार की अनुभूति की सार्थकता उन सवधो में निहित होती है जो उस अनुभूति और आसपास की दुनिया के बीच रहते हैं। सच यह हे कि, काफी दूर तक, वे सम्बन्ध ही उस अनुभूति का निर्माण करते हैं। समाजशास्त्रीय आलोचना का यह कार्य हे कि वह उन सम्वन्धो की आन्तरिक रचना का उद्घाटन करे। सक्षेप मे, समाजशास्त्रीय आलोचना को यह वतलाना चाहिए कि आलोच्य कृति कहाँ तक उन मनोभावो को प्रतिफलित और चित्रित करती अथवा पूर्ण रूप देती या गठित करती है, जो कलाकार के युग मे लोगो का ध्यान आकृष्ट कर रहे थे।

किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के साथ कुछ खतरे भी हैं।

ऊपर कहा गया था कि समीक्षक का मुख्य कार्य उन तत्वो का विश्लेषण और व्याख्या है जो किसी कलाकृति के उपभोग को प्रभावित करते हैं, अर्थात् जो उस कृति को भला या बुरा वनाते हैं। समीक्षक "टेकनीक" या रचना-तन्त्र पर ध्यान देता है क्योंकि उसका अनुभूति के प्रभावपूर्ण प्रकाशन से सम्बन्ध रहता है, और वह कलाकार के युग तथा परिवेश को लक्षित करता है क्योकि वहाँ से सृजन-सामग्री का आदान होता है। समीक्षक उस आत्म-परक तथा वस्तु-परक यथार्थ मे, जिनका प्रेषण कला-कृति का ध्येय हे, रुचि लेता है, इसका मुख्य कारण यह है कि अन्तत वह यथार्थ ही कृति को रोचक और रसात्मक या उपभोग्य वनाता है। किसी कला-कृति के वारे मे समीक्षक को जो प्रश्न सवसे पहले, और सवसे वाद में भी, पूछना चाहिए वह यह है वे कौन-सी यथार्थ से सबद्ध स्थितियाँ और मनोभाव हैं जिन्हे वह कृति वर्णित या प्रकाशित करना चाहती है, और जिनके प्रकाशन द्वारा वह अपने को ग्राह्य वनाती है ? किसी भी कला-कृति का सम्पूर्ण विश्लेषण दो चीजो में हो जाता है, उन स्थितियो मे जिन्हे वह चित्रित करती है' और उन मनोभावो में जिन्हे वह जगाती या सकेतित करती है, अथवा जो उसमें निहित होते हैं।

समाजशास्त्रीय समीक्षा-दृष्टि के साथ दो खतरे लगे रहते हैं। प्रथमत, समाजशास्त्रीय आलोचक के मन में यह धारणा हो सकती है कि समीक्षा-कर्म के लिये यह जान लेना काफी है कि कलाकार का युग और समाज किस प्रकार के थे। दूसरे शब्दो मे,

समीक्षक कलाकार के युग आदि की जानकारी को साहित्यिक अभिरुचि तथा रसज्ञता का स्थानापन्न मान ले सकता है। दूसरा खतरा यह है कि वह आलोच्य कृति मे केवल उन्ही चीजो को देखे जिनकी व्याख्या उसकी स्थूल समाजशास्त्रीय जानकारी के आलोक मे हो सकती हैं। उक्त दोनो खतरे सम्बन्धित है। जैसा कि श्री स्पिनगार्न का अभियोग है: 'ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय ओर मनोवैज्ञानिक कोटियो की आलोचनाएँ हमारे ध्यान को स्वय कला-कृति से दूर हटाकर कलाकार के युग, परिवेश, कला-सप्रदाय, जीवनी आदि की ओर ले जाती है।'[११] कलाकार के युग, समाज, जीवनी आदि से सबधित जानकारी का सही उपयोग यह है कि उसके द्वारा कला-कृति की व्याख्या मे मदद ली जाय, इसके बदले समीक्षक की प्रवृत्ति यह हो जाती है कि उस कला-कृति को उस जानकारी का माध्यम मात्र मान ले। समाजशास्त्रीय आलोचक यह भूल जाता है कि, कला के समीक्षक की हैसियत से, उसकी अभिरुचि का विषय वह यथार्थ अथवा अनुभूति है जिसका आलोच्य कृति मे आवेगात्मक आकलन तथा कलापूर्ण प्रकाशन हुआ है, और वह उस कृति के उन तत्वो की उपेक्षा करने लगता है जिनका विशुद्ध सामाजिक महत्व नही है। इसका फल यह होता है कि उसे उस कृति के वे पहलू नही दीख पाते जो युग-विशेष के जीवन की स्थूल अभिव्यक्तियो से सबधित नही है। वह यह मानकर चलता है कि कला का स्वरूप सामाजिक परिस्थितियो से निर्धारित होता है और उसकी सार्थकता भी सामाजिक ही होती है, और यह नही देख पाता कि कला का सम्बन्ध केवल उन सामाजिक और नैतिक प्रेरणाओ से ही नही होता जिनकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ एक युग को दूसरे से भिन्न करती है, बल्कि उन मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियो से भी होता है जो युग-युग मे प्राय वही रहती है और जिनके कारण विभिन्न युग एक-दूसरे को समझना सम्भव पाते है। समाजशास्त्रीय आलोचना की महत्वपूर्ण कमियो के मूल मे उसकी जीवन-सम्बन्धी सकीर्ण दृष्टि होती है, जिसके कारण वह जीवन के उपादानो और निर्धारित तत्वो को समग्रता मे नही देख पाती। समाजशास्त्रीय आलोचना जीवनानुभूति के आन्तरिक सत्व और उसे निर्धारित करने वाले कारणो दोनो को सरल कर डालती है; उसकी इस प्रवृत्ति को मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा और भी पुष्टि मिली है।

व्यक्तित्वो तथा युगो के समस्त जीवनी-मूलक अथवा ऐतिहासिक विवरण अमूर्त एव अपूर्ण होते है। इस प्रकार के समस्त विवरण चुनी हुई प्रवृत्तियो तथा शक्तियो की भाषा मे प्रकट किये जाते है। कोई भी जीवन, विशेषत एक प्रतिभाशाली का

सृजनशील जीवन, इस प्रकार के सामान्य तत्वों से पूर्णतया व्याख्यात नहीं होता। सृजनशील कलाकार की कृति मे ऐसी अनेक नूतनताएँ रहती हैं जो सामान्य कोटि के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय विश्लेषण की पकड में नहीं आ सकती। कलाकार के युग का कोई भी इतिहास और स्वय कलाकार की कोई भी जीवनी, उसकी कृतियों के उन सूक्ष्म प्रभावों, जैसे लय और सगीत के सूक्ष्म विधानों, सवेदना और मूड के विचित्र रूपों, और अलकारों तथा चित्रों के अद्भुत सयोजनों की व्याख्या नहीं कर सकते जिन्हें वह अपनी प्रेरणा और प्रतीति के कतिपय अपूर्व क्षणों में उत्सृष्ट करता है, और जो स्वय उसकी कृतियों में भी दो बार उत्पन्न नहीं हो पाते। एक नितान्त मौलिक कलाकृति की इस कोटि की नितान्त नवीन विशेषताएँ आलोचना की उस दृष्टि या सरणि को जन्म देती हैं जिसे प्रभाववादी समीक्षा कहते हैं, और जो आलोच्य कृति के लघु-सूक्ष्म छायात्मक प्रभावों का सकेत करने की चेष्टा करती है।

किन्तु प्रभाववादी समीक्षक के साथ भी कुछ खतरे लगे रहते हैं। वह समीक्षक प्राय आलोच्य कृति की दो तरह की विशेषताओं में भेद नहीं कर पाता, वे विशेषताएँ जो उसकी विशिष्ट सवेदना को वहाँ दिखाई देती हैं, और जो उसमे सचमुच पायी जाती हैं। प्रभाववादी आलोचक स्वभावत. व्यक्तिवादी होता है, वह कला-समीक्षा के वस्तु-परक पैमानों मे आस्था नहीं रखता। वह यह खोजने का प्रयत्न नहीं करता कि किसी कलाकृति मे क्या तत्व वस्तुनिष्ठ रूप में मौजूद हैं। उसकी चिन्ता का प्रमुख विषय यह प्रकट करना होता है कि आलोच्य कृति स्वय उसकी चेतना मे क्या प्रतिक्रियाएँ जगाती हैं। प्रभाववादी आलोचक कृति की अपेक्षा स्वय अपनी प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध मे बात करने में ज्यादा रस लेता है। इसलिये यह जरूरी नहीं कि किसी कृति के बारे में दो प्रभाववादी समीक्षकों की एक ही राय हो, अथवा एक ही समीक्षक की दो भिन्न अवसरों पर एक राय हो।

प्रभाववादी आलोचक को कलाकृति की विभिन्न विशेषताओं के आपेक्षिक महत्त्व की चेतना नहीं होती। वह उन विशेषताओं या प्रभावों को महत्त्व देता है जो उसकी तात्कालिक, विशिष्ट सम्वेदना को प्रिय लगते हैं। वह कलाकार के युग तथा परिवेश की चर्चा से विरत रहता है, और आलोच्य कृति के उन प्रभावों की छानवीन से घबराता है जो विशुद्ध सौन्दर्य-सवेदना का अतिक्रमण करते हैं। फलत प्रभाववादी आलोचक उन बड़े तत्वों की उपेक्षा कर सकता है जो कला और जीवन दोनों की रीढ का निर्माण करते हैं। छोटे-छोटे प्रभावों का अनुचिंतन करते हुए वह अनुभूति के उन

वड़े ढाँचों की उपेक्षा कर सकता है जो किसी कला-कृति के आधारभूत होते है, और उसे सप्राण वनाते हैं। अवश्य ही यह सम्भव है कि किसी कलाकृति में ऐसे प्रभाव सन्निहित हो जो उसके अपने युग की सवेदना का अतिक्रमण कर गये हो, और इस प्रकार वाद के युगों के अधिक सवेदनशील समीक्षकों को ही दिखाई पड़े, किन्तु साथ ही यह भी सही है कि उन अनदेखे प्रभावो का सकेत उत्तरकालीन समीक्षक के समसामयिक पाठको की सामूहिक अनुभूति की अपेक्षा में ही किया जा सकता है। इसका मतलव यह हुआ कि किसी कृति की आलोचना करते समय यह आवश्यक है कि उसकी विशेषताओ का सम्वन्ध समीक्षक के युग की शिक्षित संवेदना से जोड़ा जाय। इस प्रकार के सम्वन्ध की स्थापना का अर्थ है कृति का युग-विशेष के प्रचलित यथार्थ रूपो से (और वे रूप आत्म-परक भी हो सकते हैं और वस्तु-परक भी) लगाव दर्शित करना। विशुद्ध प्रभाववादी आलोचना, जो इस प्रकार के सम्वन्ध-स्थापन को महत्व नही देती, अपेक्षाकृत छिछली जान पड़ती है।

इन कारणो से एक महत्वपूर्ण कलाकृति अथवा कलाकार के साथ समाजशास्त्रीय समीक्षक जितना न्याय कर सकता है, उतना प्रभाववादी समीक्षक नही। हम यह नही कहते कि प्रभाववादी समीक्षा द्वारा देखी हुई सूक्ष्म विशेषताएँ महत्वपूर्ण नही होती, किन्तु उन विशेषताओ की महत्ता ठीक से तभी समझी जा सकती है जव उनका सम्वन्ध जीवन और अनुभूति के विस्तार तथा गहराइयो से दिखा दिया जाय, अर्थात् जव उनकी मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत कर दी जाय। किन्तु उस व्याख्या की प्रक्रिया, अदृश्य रूप में, प्रभाववादी समीक्षा को समाजशास्त्रीय परीक्षा मे परिणत कर देगी। अवश्य ही हम यहाँ समाजशास्त्रीय विशेषण का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में कर रहे है, अर्थात् उस अर्थ में जिसमें उसके अन्तर्गत दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टियों का भी समावेश हो जाता है।

इसी प्रकार विशुद्ध अभिव्यजनवादी समीक्षा, जिसका प्रचार क्रोचे और उसके अनुयायियों ने किया है, पर्याप्त नही है। महनीय कला के अनुरूप ऊँचाई पर पहुँचने का प्रयत्न करते हुए अभिव्यजनावादी समीक्षा को समाजशास्त्रीय धरातल पर प्रवेश करना पड़ जायगा। उक्त समीक्षा-पद्धति के प्रशसक श्री स्पिनगार्न के अनुसार समीक्षा का मूल कार्य निम्न प्रश्न या प्रश्नो का उत्तर देना है : 'लेखक क्या करना चाहता था? और वह कहाँ तक अपनी योजना को सफलतापूर्वक पूर्ण कर सका है?'[२०] हमारी समझ में ये प्रश्न उचित नही है, क्योकि वे यह मानकर चलते हैं कि कलाकार किसी

पूर्व-सिद्ध अनुभूति या योजना को प्रकाशित करने के इरादे से अग्रसर होता है। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि स्थिति ठीक यही नहीं है, और यह कि एक कला-कृति का सृजन करते हुए कलाकार एक नये अनुभव-रूप का निर्माण करता है, न कि किसी पूर्वानुभूत या पूर्वसिद्ध अनुभव को प्रकट करना है। थोड़ी देर को यदि यह मान भी लिया जाय कि कलाकार एक पूर्व-निर्मित अनुभव का प्रकाशन करता है, तो प्रश्न उठेगा—समीक्षक यह कैसे जान सकता है कि वह पूर्व-सिद्ध अनुभव क्या था ? समीक्षक की पहुँच केवल उस अनुभव तक होती है जो कलात्मक अभिव्यक्ति में निबद्ध हो चुका है। चूंकि मूल अनुभव उसकी पहुँच के बाहर होता है, इसलिये वह कभी उसकी तुलना प्रकाशित अनुभव से नहीं कर सकता।

इसलिये, हमारे लिये यह प्रश्न पूछना समुचित नहीं है कि कलाकार क्या करना चाहता था। वस्तुत हमें अपना ध्यान उस पर रखना चाहिए जो कलाकार ने सम्पन्न किया है, अर्थात् उस कला-कृति पर जो उसने हमारे सामने प्रस्तुत की है। हो सकता है कि कलाकार एक खास परिस्थिति अथवा चरित्र की सृष्टि, अथवा एक बड़ी समस्या का समाधान, करना चाहता था हमें उन उद्देश्यों तथा महत्वाकांक्षाओं का विचार नही करना है जिन्होंने कलाकार के सृजन-संकल्प को प्रेरणा दी। सम्भवत हम वही देख सकते हैं, और उसी का मूल्यांकन कर सकते हैं, जो वह कर चुका है। वह मूल्यांकन तभी सम्भव है जब हम कलाकार द्वारा प्रकाशित अनुभूति की विषय-वस्तु का मानव-जाति की सौन्दर्य-मूलक वृत्तियों तथा दूसरे पक्षपातों की अपेक्षा में विश्लेषण करें। दार्शनिक ब्रेडले ने एक स्थान पर कहा है कि दृष्ट पदार्थों में खुरदरे कोने (Ragged Edges) होते हैं जो कि अपने से परे ऐसे यथार्थ की ओर संकेत करते हैं जिसकी वे पदार्थ अपूर्ण अभिव्यक्तियाँ या टुकड़े हैं। ठीक इसी प्रकार कलाकार के अनुभव का प्रत्येक तत्व या पहलू अपने से परे संकेत करता है। उस तत्व या पहलू की सार्थकता दो चीजों की सापेक्ष होती है: एक ओर मानव-प्रकृति की कतिपय मूल प्रवृत्तियों या जरूरतों की, और दूसरी ओर उस वास्तविक या कल्पना-मूलक यथार्थ की जिस पर वे वृत्तियाँ ससक्त होती हैं। समीक्षा का कार्य यह है कि वह कलात्मक अनुभूति के विभिन्न पक्षों की सार्थकता का उद्घाटन करने के लिये उन सम्बन्धों की छानबीन करे जो उन पक्षों तथा बाहरी और भीतरी यथार्थ के बीच स्थापित हुए हैं। किसी कलाकृति की मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्या का अर्थ उक्त सम्बन्धों का उद्घाटन ही है।

इससे यह नही समझना चाहिए कि आलोचना का कार्य केवल, अथवा मुख्य रूप मे, व्याख्यात्मक है। समीक्षक को प्राय प्रत्येक कदम पर, जाने या अनजाने, मूल्याकन करना पडता है। जब वह आलोच्य कृति के विभिन्न गुण-दोषो पर भिन्न-भिन्न मात्राओ मे गौरव देता है तो वह अनिवार्य रूप मे मूल्याकन करता है। कुछ लोगों का विचार है कि समीक्षक को विभिन्न कृतियो तथा कलाकारो पर तुलनात्मक निर्णय नही देने चाहिएँ, किन्तु यह सम्भव नही है। बात यह है कि ये दूसरी कोटि के निर्णय ही उन पैमानो को जन्म देते है जिनके द्वारा विभिन्न कला-कृतियो का मूल्याकन होता है। मूल्याकन के नये पैमानो का अन्वेषण करते हुए कला-मीमासक प्राचीन "क्लासिक्स" के महत्व का निषेध नही करते, यदि वे ऐसा करे तो सम्भवत नये पैमाने स्वीकृत न हो सके। इसके विपरीत वे "क्लासिक्स" मे ही उन विशेषताओ को ढूंढ निकालते है जिनकी व्याख्या स्वीकृत सिद्धान्तो या मानो के आधार पर नही हो सकती थी। किन्तु मूल्याकन के एक नये सिद्धान्त या पैमाने के अन्वेषण का अर्थ यह नही है कि पुराने पैमाने व्यर्थ हो गये, भले ही उसका यह असर हो कि विभिन्न सिद्धान्तो या पैमानो के आपेक्षिक महत्व मे कमी-वेशी हो जाय। नये सिद्धान्तों के उत्साही प्रचारक इस तथ्य को प्राय भूल जाते है। हमारा अनुमान है कि वर्तमान काल में मिल्टन तथा रोमांटिक कवियो का महत्व कम करने के जो प्रयत्न हुए है उनके मूल मे कुछ ऐसा ही असमजस या भ्रान्ति है। सम्भव है कि मिल्टन उतना बडा कवि न हो जितना दान्ते है, क्योकि पूर्व कवि मे उत्तर कवि की कतिपय विशेषताएँ नहीं पायी जातीं। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि मिल्टन एक महत्वपूर्ण कवि नही है और उसके काव्य मे पायी जाने वाली विशेषताएँ—स्थिर तीव्रता, व्यापक कल्पना और नैतिक आवेग-आवेग—महत्वपूर्ण गुण नही है। आज के कवि, जैसे टी०एस्० इलियट, श्रेष्ठतम लेखको जैसे शैक्सपियर और दान्ते के समकक्ष तो नही ही है, वे तिरस्कृत रूमानी कवियो से भी निश्चित रूप मे श्रेष्ठ नही है। कारण यह है कि उनके काव्य में शक्तिपूर्ण सरलता तथा विश्लेषणात्मक सूक्ष्मता का वह समन्वय नही मिलता जो श्रेष्ठतम कविता की विशेषता है। हम कह रहे है कि नये, क्रान्तिकारी लेखको द्वारा मूल्याकन के नये प्रतिमानों पर जो गौरव दिया जाता है वह प्राय अतिरजित और एकागी होता है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस गौरव से एक लाभ भी होता है। नये सिद्धान्तो के प्रचारक अपनी बात सुना ही न सके, यदि वे पुराने सिद्धान्तो के दावे का कडा विरोध न करे।

साराश यह कि समीक्षा कला को बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न है, वह रसानु-

भूति की बौद्धिक व्याख्या है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये समीक्षा कलात्मक अनुभूति का विश्लेषण करती है, उसके उपादानभूत तत्वो के बाहरी सम्बन्धो का उद्घाटन करती है, और समग्र प्रकाशित अनुभूति का, उसे बाहरी तथा भीतरी यथार्थ का नया कल्पना-मूलक संग्रथन मानते हुए, मूल्यांकन करती है। इस प्रकार समीक्षा कला के ही उद्देश्य को अग्रसर करती है, वह उद्देश्य है परिवेश या यथार्थ की रागात्मक सभावनाओ की अवगति। यद्यपि कलात्मक अनुभूति के क्षेत्र से बाह्य प्रकृति और शेष विश्व बहिष्कृत नहीं हैं, फिर भी काव्य-साहित्य में जिस यथार्थ का विशेष महत्व होता है उसमें स्वयं मनुष्यो की स्थितियो तथा मनोभावो का मुख्य स्थान रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कला मनुष्य का वह प्रयत्न है जिसके द्वारा वह आत्म का प्रकाशन और स्पष्टीकरण करता है। किन्तु कला में जिस आत्म का प्रकाशन होता है वह जन्म-काल से ही निष्पन्न रूप में वर्तमान नहीं होता, वह आत्म क्रमश उस यथार्थ की प्रतिक्रिया मे उत्थित और निर्मित होता है जिसकी रूपरेखा स्वय मनुष्य ही, वैज्ञानिक-दार्शनिक चिन्तन द्वारा, खीचता आ रहा है। इस वक्तव्य के आलोक मे यह समझा जा सकता है कि क्यो प्रत्येक युग को नयी कला की जरूरत होती है, अथवा क्यो वह नयी कला की सृष्टि करता है। द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच जो जटिल सम्बन्ध स्थापित होता है उसे अनुभव कहते हैं, और कला की एक परिभाषा यह भी हो सकती है कि वह ऐसे नये अनुभव-क्षणो को उत्पन्न करने का प्रयत्न है जिनमे ज्ञाता या विषयी तथा उसके चारो ओर फैले यथार्थ के कुछ पहलुओ में सम्बन्ध स्थापित होता है। विज्ञान की भाँति कला भी अमूर्त होती है, वह विषय और विषयी के सम्बन्ध के कुछ पक्षो का ही निर्माण या प्रकाशन करती है। कला इन सम्बन्धो की अनेक-रूप संभावनाओ का उद्घाटन करती हुई उनके द्वारा मानव-अस्तित्व को समृद्ध करती है।

किन्तु कला उक्त सम्बन्धो को उनके विशेष रूपो में ही अभिव्यक्ति देती है। समीक्षा का कार्य यह है कि विश्लेषण द्वारा विशिष्ट कलात्मक अनुभूतियो के विधायक तत्त्वो को अलग करे, उन तत्त्वो का वर्गीकरण करे, और उन्हे सामान्य पदो में वर्णित कर दे। समीक्षा का लक्ष्य है, कलात्मक अनुभूति की सम्बन्ध-मूलक अवगति। समीक्षा के उक्त कार्य मूलत दार्शनिक हैं, और समीक्षा प्रधान रूप में एक दार्शनिक क्रिया है। इस क्रिया का विषय मानव-मस्तिष्क की वे कतिपय प्रक्रियाएँ हैं जिनके द्वारा वह कला-कृतियो का अनुचिन्तन एव अनुशीलन करता है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. आई० ए० रिचर्ड्स, द प्रिन्सिपिल्स आव् लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (कीगन पाल, छठा मुद्रण, १९३८), पृ० २८४।

२. वही, पृ० २६७।

३. दे० क्लीन्थ ब्रुक्स, माडर्न पोएट्री ऐन्ड द ट्रेडिशन, (पोएट्री लन्दन, १९४८), पृ० १८-२२, २८।

४. डी० जी० जेम्स, स्केप्टिसिज्म ऐन्ड पोएट्री, (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन लि०, लन्दन, १९३७), पृ० ३०।

५. हर्बर्ट रीड, द मीनिंग आव् आर्ट, (पैलिकन बुक्स, १९५०), पृ० १६।

६. पोएटिक्स, पृ० ९।

७. कनवरसेशन्स, पृ० ८।

८. दे० सी० ई० एम्० जोड, डिकेडेन्स: ए फिलॉसिफिकल इन्क्वायरी, (फेबर और फेबर, १९४८), अध्याय ४।

९. कनवरसेशन्स, पृ० १२६।

१०. वही, पृ० १८।

११. हर्बर्ट रीड, कलेक्टेड एसेज इन लिटरेरी क्रिटिसिज्म, (फेबर और फेबर, १९३८), पृ० ७०।

१२. वही, पृ० १९०।

१३. वही, पृ० ४४।

१४. दे० बेनिडिटो क्रोचे, ईस्थेटिक, (अं० अनु० मैकमिलन, लन्दन, दूसरा सं० १९२२), पृ० २२।

१५. एलेक्जेन्डर पोप, एसे आन क्रिटिसिज्म।

१६. इमर्सन, एसे आन सेल्फ-रिलाएन्स।

१७. डब्ल्यू० बी० ओ कोनोर, फार्म्स आव् मॉडर्न फिक्शन, (मिनेसोटा यूनिवर्सिटी, लन्दन, १९४८), पृ० ३ पर उद्धृत।

१८. अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म, संपादक चार्ल्स गिलक्सवर्ग, (हेन्डरिक्स हाउस, न्यूयार्क, १९५२), पृ० २६२ पर पाल एल्मर मोर द्वारा उद्धृत।

१९. दे० स्पिनगार्न, द न्यू क्रिटिसिज्म, (अमेरिकन क्रिटिकल एसेज, आक्सफोर्ड क्लासिक्स में समावेशित), पृ० ४२८-२९।

२०. वही, पृ० ४३५।

# अध्याय ६

## दर्शन का स्वरूप

हमारा युग सन्देह तथा शकाओं का युग है। अन्य चीजो की भाँति दर्शन के सम्बन्ध में भी आज के मनुष्य के मन मे अनेक शकाएँ है। वह न तो यह जानता है कि दर्शन का वास्तविक कार्य क्या है, और न यही कि उसका वास्तविक उपयोग क्या है। दर्शन सास्कृतिक जीवन की एक केन्द्रीय क्रिया है, उसके सम्बन्ध मे अनिश्चय का अर्थ है सस्कृति के सभी रूपो के मूल्य एव उपयोगिता के बारे मे अनिश्चय होना। आज का मनुष्य कविता पढता है, और कभी-कभी लिख भी लेता है, किन्तु वह यह बिल्कुल नहीं जानता कि क्यो कविता को एक महत्वपूर्ण चीज माना जाय। वह नैतिक व्यवहार करता है और नैतिक निर्णय भी देता है, बिना इस आस्था के कि इन व्यापारो का कोई गभीर अर्थ है। तर्क-मूलक भाववादियो का कहना है कि कविता एव नैतिक निर्णय के क्षेत्र मे हम केवल श्रोताओ की सवेदनाओ ( Feelings ) को प्रकट अथवा दूसरो की सवेदनाओ को उत्तेजित करते है, और उन सवेदनाओ के वाहक शब्द तथा वाक्य वास्तव में बाह्य-सकेत-हीन होते है। इसी प्रकार दर्शन के सम्बन्ध मे आज की प्रचलित धारणा यह है कि उसका तत्वजगत से कोई सम्बन्ध नही है, उसका एकमात्र लक्ष्य विभिन्न वक्तव्यो की तर्कात्मक समानता अथवा एकार्थकता को प्रकट करना है।

मनुष्य तथा इतर प्राणियो मे एक बडा भेद यह है कि मनुष्य आत्मावगति रखता है। अपनी क्रियाओ के उद्देश्य का कथन करके वह अपने को मुक्त बना लेता है। किन्तु हम कोई काम किस प्रयोजन से करते है, किस मूल्य के लाभ या प्राप्ति के लिये करते है, अथवा हमें किन मूल्यो की प्राप्ति के लिये व्याप्त होना चाहिए, यह बताना स्वय दर्शन के अनेक कार्यों में से एक है। चूँकि आधुनिक मनुष्य के मन मे दर्शन की कोई समुचित धारणा नही है, इसलिये वह अपनी किसी भी महत्वपूर्ण क्रिया को जीवन में उचित स्थान नही दे पाता। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य को दर्शन

के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। और दर्शन मनुष्य को यह प्रश्न उठाकर ही मुक्ति दे सकता है कि—दर्शन क्या है? मानवीय जीवन एव सस्कृति के क्रम में दर्शन का क्या स्थान है? स्वय अपनी प्रकृति पर विचार करना उसी प्रकार दर्शन का काम है जैसे कि अन्य विशेष रूप से मानवीय व्यापारो पर विचार करना।

मानवीय व्यापारों को समझने के लिये उनके द्वारा पूर्ति पाने वाले प्रयोजनो का उल्लेख करना होता है, वैसे ही जैसे कि जीवधारियो की अन्य क्रियाओ की व्याख्या के लिये। अतएव यह प्रश्न कि दर्शन क्या है, निम्न दूसरे प्रश्नों मे अनूदित किया जा सकता है' दर्शन जीवन मे किस प्रयोजन की पूर्ति करता है? अथवा, मनुष्य की किन जरूरतो मे दार्शनिक क्रिया का उदय होता है।

दर्शन का उदय उन व्यक्तियो तथा समाजो के जीवन मे होता है जिन्हे जीवन की मूल जरूरतो को पूरा करने के बाद कुछ अवकाश रहता है। यह बात दर्शन पर ही नही, विज्ञान आदि दूसरी ऊँची क्रियाओ पर भी लागू है। अवश्य ही, कविता तथा दर्शन की अपेक्षा से हम विज्ञान को व्यावहारिक उपयोगिता की चीज कह सकते हैं, किन्तु विज्ञान की उन्नति भी मुख्यत उन लोगो द्वारा घटित होती है जो स्वय ज्ञान मे अभिरुचि रखते हैं, न कि उसके व्यावहारिक उपयोग मे। यदि यह भी मान लिया जाय कि विज्ञान का उदय मनुष्य की व्यावहारिक जरूरतो मे होता है जैसा कि मार्क्स-वादियो का विचार है—तो भी वह सिद्धन ही किया जा सकता कि उसकी सतत प्रगति उन जरूरतो के आधार पर होती रह सकती है। कारण यह है कि वे इने-गिने प्रतिभा-शाली व्यक्ति जो विज्ञान की परम्परा को आगे बढाते है, प्राय अपनी सौन्दर्य-मूलक तथा बौद्धिक जिज्ञासा की वृत्तियो के सन्तोषण में रुचि रखते हैं। न कि व्यावहारिक जरूरतो की पूर्ति में।

मानव-चिन्तन को अग्रसर करने वाली शक्ति उसकी एक विशिष्ट माँग है मनुष्य अपनी अनुभूतियो के बीच सामजस्य तथा सगति देखना चाहता है। वह इस विश्वास को लेकर जीवित रहता तथा व्यवहार करता है कि ससार की वस्तुएँ स्थिर प्रकृति की हैं, और यह कि एक विश्वसनीय अनुभव दूसरे वैसे अनुभव का विरोधी नही हो सकता। समान तथा बारबार आने वाली स्थितियाँ मनुष्य के इस विश्वास को पुष्ट करती है, और बाद मे यह विश्वास सगति-नियम (Law of consistency) अथवा समरूपता के सिद्धान्त ( Law of uniformity ) के रूप मे प्रति-

पादित हो जाता है। जब कभी मनुष्य को इस नियम का व्यतिक्रम दिखाई देता है, वह परेशान हो जाता है, और तब तक बोधात्मक सन्तुलन को प्राप्त नहीं कर पाता जब तक कि दीखने वाले विरोध का परिहार न हो जाय। उदाहरण के लिये पानी में मुड़ी हुई दीखने वाली छड़ी की प्रतीति उसकी हवा मे सीधी दीखने वाली प्रतीति की विरोधिनी है। इस विरोध को दूर करने के लिये मनुष्य उन प्रक्रियाओ पर सैद्धान्तिक चिन्तन करने लगता है जिनके द्वारा, विभिन्न भौतिक माध्यमों में, पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। हम एक आत्म-सगत अथवा निर्विरोध जगत में रहते हैं, यह विश्वास करके चलना मनुष्य के लिये इतना जरूरी है कि प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रैडले के लिये यह मन्तव्य बनाना उचित प्रतीत हुआ कि 'चरम तत्व की प्रधान विशेषता यह है कि वह अपना विरोध नही कर सकता', अर्थात् आत्म-विरोधी या विसगत नहीं हो सकता। किन्तु वास्तव में विरोध-हीनता वक्तव्यो अथवा सम्मतियो का गुण है, जिसका उल्लेख तर्क-शास्त्र मे होना चाहिए, तत्व दर्शन में उसके बदले समरूपता (Uniformity) अथवा व्यवहार की नियमितता का सकेत किया जाना चाहिए। वस्तुत. किसी ज्ञान-राशि की आन्तरिक सगति या सामजस्य को उस यथार्थ की समरूपता या नियमानुकारिता का प्रतीकात्मक प्रकाशन माना जाना चाहिए जो उस ज्ञान का विषय है। आगे हम देखेंगे कि आत्म-सगति की इस व्याख्या में किंचित् सशोधन की जरूरत है। यहाँ हम एक दूसरी चीज लक्षित करेंगे, वस्तुओ की समरूपता का अनुमान उनके अपरिवर्तनीय परिणामो से किया जाता है। जब तक वस्तु समान स्थितियो में एक-सा व्यवहार करती है, अर्थात् जब वह दूसरी वस्तुओं पर समान प्रभाव डालती है, तब उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसका व्यवहार नियमित अथवा नियमानुवर्ती है।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना चाहिए, विभिन्न वस्तुएँ दूसरी वस्तुओ तथा मनुष्यों पर जो प्रभाव डालती हैं वे भिन्न कोटियो के होते हैं। एक पत्थर को यदि एक कागजो के बडल पर दे मारा जाय तो वह उसे स्थानातरित कर देता है, यदि उस बडल पर कोई तेजाब डाला जाय तो वह सभवत कागजो मे रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न कर देगा, किन्तु पत्थर और तेजाब दोनो मनुष्य पर एक तीसरा प्रभाव डालेंगे, अर्थात् दर्द उत्पन्न करने का प्रभाव। विभिन्न विज्ञान विभिन्न वस्तुओ के नियमित व्यवहार का अध्ययन उनके कुछ चुने हुए प्रभावो की अपेक्षा से करते हैं। प्रचलित भाषा मे इस तथ्य को हम यह कह कर प्रकट करते है कि विभिन्न विज्ञान वस्तुओ के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इसका फल यह होता है कि एक विज्ञान जिस

अर्थ-समष्टि को उत्सृष्ट करता है वह विश्व की एकता के एक खास पहलू को, अथवा एक खास पहलू की एकता को ही, दर्शित कर पाता है।

वैज्ञानिक व्याख्या का सम्बन्ध उन गति-मूलक प्रभावो से होता है जो वस्तुएँ अथवा उनके कतिपय पहलू उत्पन्न करते हैं, उस व्याख्या का लक्ष्य होता है उन प्रभावो को बुद्धिगम्य बनाना, उनकी भावी गतिविधि का पूर्वाभास ले सकना, और उन पर नियत्रण स्थापित करना। उदाहरण के लिये आवर्त्तन (Refraction) के नियम जो कि आलोक-विज्ञान का अग है, हमे प्रकाश के उन प्रभावों को समझने, उनका पूर्वाभास लेने, तथा उन्हे नियन्त्रित करने में मदद देते है जो उसके एक भौतिक माध्यम से दूसरे माध्यम मे जाने पर उत्पन्न होते हैं।

दूसरे उदाहरण हम नैतिक तथा अनैतिक कर्मो एव कलाकृतियो द्वारा पडने वाले प्रभावो में पा सकते हैं। इन प्रभावो का अध्ययन नीति-शास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र मे होता है। विभिन्न प्रकार की विद्याएँ, भौतिक, प्राणि-शास्त्र से सम्बन्धित, तथा मानवीय, अपने बीच उन समस्त प्रभावो की छानबीन कर डालती है जो विभिन्न वस्तुओ के विभिन्न पहलुओ द्वारा मनुष्य नाम के प्राणी पर पडते हैं।

ऐसी दशा मे दर्शन के लिए क्या काम शेष रह जाता है?

दर्शन के सम्बन्ध मे एक बहुत ही प्रचलित धारणा वह है जिसका प्रचार हर्बर्ट स्पेंसर ने किया और जिसके उदाहरण-स्वरूप आधुनिक योरप की अनेक दर्शन-पद्धतियाँ पेश की जा सकती हैं। स्पेंसर के अनुसार विज्ञान अशत एकीकृत ज्ञान है, और दर्शन पूर्णतया एकीकृत ज्ञान है। वह कहता है कि दर्शन 'सबसे अधिक सामान्य कोटि का ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसकी उत्पत्ति विभिन्न विज्ञानो द्वारा दिये हुए ज्ञानो के एक समष्टि रूप में मिश्रित होने से होती है।' इस मिश्रण की प्रक्रिया की व्याख्या इस प्रकार की गई है: 'जिस प्रकार विज्ञान के अधिक व्यापक सामान्य कथन अपने क्षेत्र के सकीर्ण अथवा कम व्यापक सामान्य कथनो को एकता मे आबद्ध कर देते हैं, वैसे ही दर्शन के सामान्य कथन विज्ञान के व्यापकतम सामान्य कथनो को एकता मे ग्रथित कर देते हैं।'[1] मतलब यह कि विभिन्न विज्ञानो के व्यापकतम नियमो को दर्शन के और भी व्यापक नियमो के निष्कर्षो के रूप मे अनुगत होना चाहिए। दूसरे शब्दो में दर्शनशास्त्र का काम एक ऐसी सर्व-समावेशी निगमनात्मक पद्धति (Deductive

System) का निर्माण करना है जिसे विभिन्न वैज्ञानिक नियम-पद्धतियो के ऊपर स्थापित किया जा सके।

स्वय स्पेसर ने, विकास के एक सार्वभौम नियम के रूप मे, एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया। हीगल और कालमार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धतियाँ भी, जो क्रमश अध्यात्मवादी तथा भौतिकवादी हैं, इसी कोटि मे आती हैं। हीगल और मार्क्स दोनो ने ही ऐसे सिद्धान्तो का निर्माण करने की कोशिश की है जो भौतिक तथा जैवी जगत पर जितने लागू हैं उतने ही ऐतिहासिक-सामाजिक घटना-शृखला पर भी।

आधुनिक काल मे इस प्रकार की निगमनात्मक पद्धतियो के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया हुई है। हम मानते हैं कि यह प्रतिक्रिया, काफी सीमा तक, उचित है। हम निगमनात्मक दर्शन-पद्धतियो को निम्न कारणो से अग्राह्य समझते है। प्रथमत यह समझ मे नही आता कि कैसे दर्शन ऐसे नियम अथवा नियम-समूह का पता लगा सकता है जिससे नितान्त भिन्न कोटि के नियम—एक ओर भौतिक परिवर्तनो के नियम और दूसरी ओर मानव-व्यवहार के नियम—निगमन-विधि से निकाले जा सकें। इस सम्वन्ध मे एक स्थिति का सकेत पर्याप्त होगा। भौतिक विज्ञान के नियम गणित के समीकरणो (Mathematical Equations) के रूप में प्रतिपादित किये जाते हैं। निगमन विधि (Deduction) का प्रयोग करते हुए उन्हे वैसे समीकरणो से ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु जहाँ तक हमे मालूम है किसी भी दर्शन-पद्धति ने अव तक अपने सिद्धान्तो को गणित की भाषा मे व्यक्त करने का साहस नही किया है। एक दूसरी वात भी विचारणीय है। गणित के बाहर कोई भी ऐसी निगमनात्मक पद्धति नही हैं जहाँ निगमन-विधि के प्रयोग मे भूल-चूक होने की सभावना न हो—जो तर्कशास्त्र की दृष्टि से निर्दोष एव पूर्ण हो। एक लम्वी निगमन-शृखला मे यदि कही एक भी कडी गलत हो जाय, यदि कही एक भी निगमन सदोप रह जाय, तो पूरी विचार-पद्धति दूषित हो जाती है। सच यह है कि गणित के बाहर निगमन-विधि का निर्दोष प्रयोग सभव नही है। दर्शन-पद्धतियो मे उक्त विधि के गलत प्रयोग के उदारण दुर्लभ नही हैं। हीगल के तर्कशास्त्र में वे उतने ही सुलभ हैं जितने कि ब्रेडले के "तत्व पदार्थ और उसके विवर्त" (Appearance and Reality) ग्रथ मे।

आज हमे इस वात का सकेत मिल रहा है कि कुछ लोग फिर निगमनात्मक दार्शनिक चिन्तन को उज्जीवित करना चाहते हैं। आश्चर्य की बात है कि स्वय तर्क-मूलक

भाववादी, जो कि अपने को निगमनात्मक दर्शन का विरोधी कहते हैं, वैसा प्रयत्न कर रहे हैं। आज कुछ विचारक "विज्ञानो की एकता" के नारे को बुलन्द कर रहे है। उन्होने हमारे सामने भूतशास्त्रवाद या भौतिकतावाद (Physicalism) का सिद्धान्त रक्खा है, जो कि वास्तव मे एक तत्व-दर्शन का सिद्धान्त है। भूतशास्त्रवाद का कार्य-क्रम दो प्रकार का है। प्रथमत वह चाहता है कि समस्त सामाजिक तथा जैवी विज्ञानो की पदावली को भौतिकशास्त्र की पदावली मे परिवर्तित कर दिया जाय। दूसरे, उनका विश्वास है कि प्राणि-शास्त्र, व्यवहार-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि के नियमो या कानूनो के वक्तव्यो को भौतिकशास्त्र के वक्तव्यो अथवा कानूनो मे बदल दिया जाय।[१]

इस कार्यक्रम के विरुद्ध जॉन ड्यूई ने चेतावनी दी है जिसे हम उद्धृत करेगे 'सब विज्ञानो के पारिभाषिक पदो को किसी एक विज्ञान की पदावली मे परिवर्तित करके समस्त विद्याओ की एकता स्थापित करने का प्रयत्न शुरू से ही विफल होने को बाध्य है।'[२]

कार्नेप कहते है 'विज्ञान की एकता के प्रश्न का सम्बन्ध वस्तुत विज्ञान के तर्कना-शास्त्र से है, न कि तत्वमीमासा से। उस प्रश्न का विषय है, विभिन्न विज्ञानो के पदो तथा नियमो का तर्कात्मक सम्बन्ध।'[३] किन्तु कार्नेप ने इसका विचार नही किया कि तर्कशास्त्र के नियम एक ही वक्तव्य-क्षेत्र (Universe of Discourse) मे लागू होते हैं। विभिन्न वक्तव्य-क्षेत्रो से सम्बन्धित कथनो मे किसी प्रकार का तर्क-मूलक विरोध अथवा निर्भरता प्रदर्शित नही की जा सकती। श्री वैजमान ने लिखा है 'तर्कशास्त्र का प्रयोग एक महत्वपूर्ण अर्थ मे सीमित होता है तर्कशास्त्र के लगाव या सम्बन्ध उन्ही वक्तव्यो के बीच हो सकते हैं जो एक समान क्षेत्र से सम्बद्ध हैं। निगमनात्मक सम्बन्ध कभी ऐसे क्षेत्र के बाहर नही जाता।'[४] इस प्रकार हम देखते हैं कि भूतशास्त्रवादियो का कार्यक्रम तर्कशास्त्र की सीमा के बाहर चला जाता है; वह वस्तुत तत्व-दर्शन के सम्बन्ध रखता है। ऐसा जान पडता है कि तर्क-मूलक भाव-वादी को तत्व-दर्शन (Metaphysics) से कोई आपत्ति नही है, यदि उसका उपयोग एक खास किस्म के भौतिकवाद की पुष्टि मे किया जाय।

## परिणमन द्वारा एकीकरण

वस्तुत भूतशास्त्रवादियों का प्रयत्न उस लम्बी-चौडी चिन्तन-परम्परा का उदा-हरण है जिसका लक्ष्य विश्व की विविधताओ, अथवा वस्तुओ के विविध पहलुओ को,

एकात्मक दर्शित करता रहा है। इस दृष्टि से जडवादी दार्शनिको ने बडे निपुण तर्को का उपयोग किया है। उदाहरण के लिये यन्त्रवादी भौतिकवाद यह कोशिश करता है कि वस्तुओं के विभिन्न प्रभावों को केवल एक प्रभाव मे परिणत कर दे, अर्थात् यह दर्शित कर दे कि वे सब प्रभाव अन्तत. शक्ति के वितरण अथवा उन वस्तुओं के गति-रूप हैं जिनका अध्ययन भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र में होता है। मतलब यह कि यन्त्रवाद किसी चीज के विभिन्न पहलुओ को उसके एक पहलू या रूप में परिणत करना चाहता है, और बाकी पहलुओ को आभास अथवा मिथ्या दर्शित करने का प्रयत्न करता है। इसी दृष्टि का एक दूसरा रूप है, जिसे हम पद्धति-मूलक भौतिकवाद (Methodological Materialism) कह सकते हैं। यह भौतिकवाद वस्तुओ के गुणात्मक प्रभावो को उनके मात्रागत परिवर्तनो से सम्बन्धित कर देना चाहता है। इस मत के अनुसार वस्तुओं की गुणात्मक विविधता की व्याख्या करने के लिये यह दर्शित कर देना काफी है कि वे विविधताएँ मात्रामूलक परिवर्तनो से सहचरित होती हैं। उदाहरण के लिये यह समझा जाता है कि हम किसी गीत के सम्पूर्ण प्रभाव की व्याख्या यह दिखाकर कर सकते हैं कि उसकी विभिन्न लयो तथा गतो का सम्बन्ध विभिन्न ध्वनि-स्पन्दनो की निश्चित लम्बाइयो तथा आवृत्ति-सख्याओ (Frequencies) से है। इसी प्रकार यदि यह दिखा दिया जाय कि मनुष्य के विचार तथा आवेग स्नायु-मंडल तथा अन्य शारीरिक परिवर्तनो से आवश्यक रूप मे सम्बन्धित है, तो उन विचारो तथा आवेगो की व्याख्या हो जाती है।

समझा जाता है कि इस प्रकार की व्याख्याएँ विशुद्ध रूप मे वैज्ञानिक होती हैं। किन्तु हमारा विश्वास है कि उन व्याख्याओ मे वैज्ञानिक व्याख्याओ का कोई भी गुण नही होता। यह बात स्पष्ट हो जायगी यदि हम मानसिक दशाओ की शारीरिक तथा स्नायविक व्याख्या का विचार करें। उदाहरण के लिये हम पूछ सकते हैं कि क्या शरीर-विज्ञान (Physiology) तथा स्नायु-विज्ञान (Neurology) हमें ऐसी योग्यता दे सकते हैं कि हम (१) चिन्तन-प्रक्रिया के उन विशिष्ट धर्मो की व्याख्या कर सकें जिनके कारण वे यथार्थानुकारी एव सत्य होते अथवा नही होते हैं, (२) हम उन चिन्तन-क्रियाओ को पूर्वाभासित (Anticipate) कर सकें जो एक खास मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली हैं, और (३) एक या दूसरे प्रकार के विचारो के उदय होने पर नियन्त्रण कर सकें। यह देखना कठिन नही है कि ऊपर की दी हुई चिन्तन-प्रक्रिया की व्याख्या इन तीनो मे से एक भी शर्त को पूरा नही कर सकती।

हो सकता है कि हम किसी मनुष्य अथवा जनसमूह की जरूरतो और आवेगो पर प्रचार (Propaganda) अथवा वैसे दूसरे तरीको से कुछ नियन्त्रण कर सके। किन्तु उन तरीकों का पता खास तौर से स्नायु-विज्ञान तथा शरीर-विज्ञान द्वारा नही लगाया गया है। सच यह है कि जन-मत को प्रभावित करने और सोचने की घटनाएँ उस तथ्य-क्रम के अन्तर्गत नही आती जिनका अध्ययन उपरोक्त विज्ञान करते हैं। कहा जाता है कि हमारी आवेगात्मक अनुभूतियाँ सदैव शारीरिक क्रियाओ द्वारा सह-चरित रहती हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि उन अनुभूतियो और उन क्रियाओ में तादात्म्य का सम्बन्ध है। उदाहरण के लिये जब एक व्यक्ति तार द्वारा अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर तीव्र आवेगात्मक प्रतिक्रिया करता है, तो यही कहना उचित जान पडता है कि उसकी प्रतिक्रिया का कारण उसे मिली हुई खबर है। उसके शरीर मे जो भौतिक परिवर्तन उस प्रतिक्रिया के साथ होते हैं, उन्हे उस अनुभूति का कारण नही कहा जा सकता। दूसरे, उसकी प्रतिक्रिया मुख्यत मनोवैज्ञानिक होती है। उसके मन में यह विचार आता है कि उसकी बनाई हुई सैकडो योजनाएँ व्यर्थ हो गई, और अपने पुत्र के जीवन से उसने जिन सुखो के पाने की कल्पना की थी उनकी सम्भावना नष्ट हो गई।

भूतशास्त्रवादी यह कोशिश करते हैं कि प्रेम आदि आवेगो के व्यंजक शब्दो तथा वाक्यो को उन वाक्यो मे परिवर्तित कर दें जो शारीरिक परिवर्तनो का वर्णन करते हैं। किन्तु इस प्रकार की परिवर्तित व्यजनाओ द्वारा बातचीत करना तथा लिखना नितान्त कठिन हो जायगा, क्योकि एक-एक शब्द के स्थान पर लम्बी व्यंजनाओं को रखना पडेगा। दूसरे, ये लम्बी-चौडी व्यंजनाएँ भी जो कि शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन करेंगी, उस आन्तरिक सवेदना को प्रस्तुत नही कर सकेगी जिसके कारण प्रेम जैसे आवेग की अनुभूति इतनी महत्वपूर्ण तथा जीवन्त प्रतीत होती है।

हम दर्शन को एक सर्वातिशायी विज्ञान नही मानते, न उस अर्थ में जो हर्बर्ट स्पेन्सर को अभिप्रेत है, और न उस अर्थ में जिसमे उसे कार्नेप ने लिया है। हमारी राय में दर्शन का काम ऐसे नितान्त सामान्य नियमो की खोज नही है जो, निरपवाद रूप में, समस्त जगत पर लागू हो सके। दर्शन का यह भी काम नही है कि वह विश्व की विभिन्न छवियो को एक रूप मे परिणमित करके उस पर जबर्दस्ती एकता लाद दे, और विश्व के विभिन्न पहलुओ के वर्णनो को एक प्रकार के वर्णन मे बदल दे। इसके विपरीत हमारा विचार है कि दर्शन का काम विश्व की विविधता को उड़ा देना नही,

अपितु उसकी तीव्रतर अवगति उत्पन्न करना है। दर्शन विश्व के एक, सामान्यतम पहलू का प्रत्याहरण (Abstraction) की प्रक्रिया द्वारा अध्ययन नही करेगा, उसे विश्व को उसकी समस्त मूर्तिमत्ता में पकड सकना चाहिए। प्रत्येक विज्ञान अमूर्त होता है, वह प्रत्याहरण द्वारा वस्तुओ के किसी एक पहलू का अध्ययन करता है, यदि दर्शन विज्ञान के पीछे चलेगा तो वह कभी भी विश्व की मूर्त समग्रता को अपनी पकड मे नही ला सकेगा।

बीसवी सदी के अधिकाश दार्शनिको के पक्षपातो तथा मान्यताओ के विरुद्ध हमारा यह प्रस्ताव है कि दर्शन को विज्ञान से भिन्न होना चाहिए। उसकी चिन्तन-प्रणाली वैज्ञानिक प्रणाली से भिन्न है। विज्ञान के विविध रूपो का लक्ष्य होता है, वस्तुओ की अस्तित्व-मूलक व्याख्या करना। विज्ञान यह बतलाता है कि कैसे कुछ वस्तुएँ अथवा घटनाएँ अस्तित्व मे आती है, अथवा कैसे कुछ चीजे दूसरी चीजो से नि सृत होती है। अपने आदर्श रूप मे विज्ञान इन व्याख्याओ को ऐसी स्थापनाओ तथा नियमो के रूप मे, जिनकी निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा परीक्षा हो सके, निरूपित करता है। भौतिकशास्त्र मे इस आदर्श की प्राय पूर्ण उपलब्धि हो जाती है। किन्तु अधीत विषय-वस्तु की जटिलता के कारण सामाजिक विज्ञानो द्वारा प्राप्त होने वाली सफलता दूसरी कोटि की होती है। इन शास्त्रो के सामान्य कथन कार्य-कारणो की पूर्वसिद्ध शृखलाओ का नही, अपितु सम्भाव्य शृखलाओ का उद्घाटन करते है, और उनकी स्थापनाएँ "कल्पना-मूलक दृष्टि अथवा प्रयोग" द्वारा ही परीक्षित होती ह। किन्तु भौतिक और सामाजिक विज्ञान दोनो का उद्देश्य अस्तित्व-मूलक व्याख्याएँ प्रस्तुत करना है। इस दृष्टि से दर्शनशास्त्र दोनो प्रकार के विज्ञानो से भिन्न है।

दर्शन का साक्षात् विषय अस्तित्ववान् पदार्थ नही है। यह ठीक है कि अपने इतिहास मे दर्शन अक्सर मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, कारण आदि प्रश्नो से उलझता रहा है, और यह विमर्श भी करता रहा है कि हमारी आत्मा का गन्तव्य क्या है, सृष्टि का क्या भविष्य है, इत्यादि। पुराने जमाने मे दर्शन के इतने प्रश्नो के उलझने का एक कारण यह भी था कि उस समय मनुष्य की ज्ञान-क्रिया विभिन्न शाखाओ मे विभक्त नही हुई थी। उस समय मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान उसके धर्म और दर्शन मे निहित था। जिस समय वेदो और उपनिषदो का निर्माण हुआ, और उसके कुछ बाद भी, थेलीज और हेराक्लाइट्स, डिमोक्राइट्स तथा कणाद, ऐम्पीडाक्लीज तथा कपिल ने अपनी कल्पना-मूलक भौतिक पद्धतियो का निर्माण किया। यूनान मे इस

स्थिति में उस समय तक कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही हुआ था जब प्लेटो ने अपनी भव्य दर्शन-पद्धति की रचना की। उसके बाद अरस्तू ने ज्ञान को विभिन्न शाखाओं मे विभक्त कर दिया। किन्तु अरस्तू भी यह मानते रहे कि तत्व-दर्शन एक सामान्य विज्ञान है जो वस्तुओ के 'मूल कारणो तथा नियमों'[१] का अन्वेषण करता है। दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया पर अरस्तू का विशेष प्रभाव नही पड़ा; प्राचीन यूनान मे ही नही, मध्ययुगीन तथा पुनर्जागृति के बाद के योरप मे भी, दर्शन को सर्वसमावेशी विज्ञान समझा जाता रहा। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के समय मे भौतिकशास्त्र को प्रकृति-दर्शन कहा जाता था और उसे दर्शन की एक शाखा समझा जाता था। उन्नीसवी सदी मे, जैसा कि हम देख चुके है, हीगल, मार्क्स और स्पेन्सर ने अपनी पद्धतियो का निर्माण इसी पुराने ढग पर किया।

आज शायद ही कोई विचारक होगा जो यह स्वीकार करेगा कि दर्शन को भौतिक जगत तथा जीव-जगत के सम्बन्ध मे वक्तव्य देने का अधिकार है, अथवा उसे समाज तथा इतिहास के विकास पर अपनी राय देनी चाहिए। आज हम इस बात को अधिकाधिक समझ रहे हैं कि भौतिक तथा सामाजिक जगतों को किसी प्रागनुभविक (Apriori) बौद्धिक ढाँचे मे "फिट" नही किया जा सकता। विभिन्न अन्वेषक अपने विभिन्न क्षेत्रो का तथ्यात्मक अध्ययन अपने-अपने ढग से करते हैं। हम किसी ऐसी पद्धति को नही जानते जिसके द्वारा समस्त विज्ञानो की तथ्य-सामग्री को एक जगह इकट्ठा करके उस पर शासन करने वाले व्यापक नियमो का पता लगा लिया जाय।

सच यह है कि दर्शन विज्ञानो का प्रतिद्वन्द्वी नही है, उसे वस्तुओ के अस्तित्व-सम्बन्धी प्रश्नो से विशेष सरोकार नही है। दर्शन का काम कारण-मूलक व्याख्याएँ देना नही है। जब एक दार्शनिक कार्य-कारण के सम्बन्ध, अनुमान, प्रमाण, सत्य, साधुता (Virtue) आदि के सम्बन्ध मे विचार करता है तो निश्चय ही वह उन चीजों के कारणो की खोज नही करता। प्रश्न उठता है, तो दार्शनिक क्या करना चाहता है? कालिंगवुड ने कहा है. 'दर्शन को हम दूसरे दर्जे का चिन्तन कह सकते हैं, अर्थात् चिन्तन के सम्बन्ध में चिन्तन।'[२] किन्तु यह बात दर्शन-विषयक सत्य का एक पहलू है। इसमें सन्देह नही है कि दार्शनिक चिन्तन-क्रिया मननात्मक तथा आलोचनात्मक होती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि इस मनन तथा चिन्तन का विषय मुख्यत: मनुष्य का वैज्ञानिक बोध होता है। दर्शन मनुष्य की सौन्दर्य, नैतिकता तथा धार्मिक-

आध्यात्मिक अनुभूतियो पर भी उसी प्रकार विचार करता है जिस प्रकार कि विज्ञानो से प्राप्त होने वाले ज्ञान पर।

हम दर्शन की परिभाषा इस प्रकार करेगे **दर्शन सांस्कृतिक अनुभूति का विश्लेषण, व्याख्या एवं मूल्यांकन करने का प्रयत्न है।** चूंकि इस अनुभूति मे स्वय दर्शन का भी समावेश है, इसलिये दर्शन स्वय अपने स्वरूप, क्रिया तथा उपलब्धियो का विश्लेषण, व्याख्या एव मूल्याकन भी करता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि दर्शन मुख्यत एक आलोचनात्मक क्रिया है। उसका समस्त सस्कृति से वही सम्बन्ध है जो समीक्षा का कला-साहित्य से होता है। जिसे हम सास्कृतिक अनुभूति कहते है उसकी दो मुख्य विशषताएँ है, प्रथमत वह निरुपयोगी होती है अर्थात् स्वय अपना साध्य होती है, दूसरे सास्कृतिक अनुभूति प्राय प्रतीक-बद्ध रूप मे वर्तमान रहती है। दर्शन का सम्बन्ध उस अनुभूति से नही है जो विभिन्न पदार्थो के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। यह अनुभूति सस्कृति नही होती। सास्कृतिक अनुभूति अथवा क्रिया का सम्बन्ध उन प्रतीक-विधानो से होता है जिनके द्वारा मनुष्य यथार्थ के विभिन्न, अर्थवान पहलुओ को चेतना में सचित एव व्यवस्थित करके उनका मनन करता है—अर्थात् उन क्रियाओ से जो उसके अस्तित्व का साधन न होते हुए उसके आत्मिक जीवन को विस्तार देती है। फलत. दर्शन का विषय वे क्रियाएँ नही है जो दृश्यमान जगत का निर्माण करती है, बल्कि वे क्रियाएँ जो मनुष्य के आन्तरिक जीवन को निर्मित करती है। इस दृष्टि से, कला की भाँति, दर्शन को भी आत्मज्ञान कहा जा सकता है। दर्शन का बाह्य जगत से सम्बन्ध होता है, किन्तु वह सम्बन्ध सीधा नही, अपितु व्यवहित होता है। उदाहरण के लिये विज्ञानगत बोध का विश्लेषण तथा व्याख्या करते हुए दर्शन का बाह्य जगत से दूर का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। चूंकि दार्शनिक वक्तव्यो का सम्बन्ध मुख्यत मनुष्य के आन्तरिक, सास्कृतिक जगत से होता है इसलिये उन वक्तव्यो को बाह्य निरीक्षण द्वारा प्रमाणित अथवा अप्रमाणित नही किया जा सकता।[6] इस दृष्टि से हम दर्शन को मानवीय आत्मा का वर्णनात्मक अध्ययन, अथवा मानवीय सस्कृति का समीक्षात्मक वर्णन कह सकते है। दर्शन वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मानव-सस्कृति आत्म-चेतना प्राप्त करती है। *बौद्धिक चिन्तन के सामान्य नियम के अनुसार दर्शन का उदय तब होता है* जब मानव-बुद्धि के सम्मुख कतिपय असगतियाँ अथवा विरोध उठ खड़े होते है। जब असगति या विरोध तथ्य-जगत में मिलता है, तो विज्ञान का जन्म होता है, किन्तु जब असगति या विरोध उन धारणाओ या प्रत्ययो के ससार मे होता है जिनके

द्वारा हम तथ्य-जगत तथा मूल्य-जगत की व्याख्या करना चाहते है, तो दर्शन का उदय होता है। दर्शन का काम उन विरोधो तथा असंगतियो को दूर करना है जो कि विभिन्न विज्ञानो, कलाओ, तथा नैतिकता, अध्यात्म आदि क्षेत्रो की दृष्टियो, पद्धतियो, मान्यताओ आदि के बीच उठ खड़ी होती है। एक ही क्षेत्र मे उत्थित होने वाले विरोध तथा असगतियाँ भी दर्शन का विषय हो सकती है, और दर्शन उन मान्यताओं, प्रत्ययो तथा पद्धतियों पर भी विचार कर सकता है जिन्हे अनेक विज्ञान स्वीकार करते है।

हमने अभी तक दर्शन के स्वरूप का सामान्य परिचय दिया, अब हम उसकी विभिन्न क्रियाओ की परीक्षा करेंगे। दर्शन का पहला कार्य है विश्लेषण, जो स्वभावत. व्याख्या तथा मूल्याकन से पहले आता है। दर्शन किस चीज का विश्लेषण करता है? दार्शनिक विश्लेषण का विषय मनुष्य की वे क्रियाएँ है जिनके द्वारा वह यथार्थ के विभिन्न पहलुओ की अवगति अथवा कल्पनात्मक बोध प्राप्त करता है। यहाँ एक रोचक प्रश्न उठ खडा होता है। क्रिया नाम की वस्तु प्रवाहशील होती है, वह लगातार होती रहती है, विश्लेषण के लिये दर्शन उसे किस प्रकार पकड सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि चिन्तनात्मक क्रियाएँ काल के बाहर होती है, वे उन क्रियाओ की भाँति जिनका अध्ययन मनोविज्ञान करता है, कालिक या कालगत नही होती। एक प्रक्रिया के रूप मे जानना या बोध काल-गत चीज है, किन्तु यथार्थ का प्रकाशक होने के नाते वह कालिक नही है। अपने कालहीन रूप मे बोध-क्रिया को प्रतीको के द्वारा प्रकट किया जा सकता है, और उसे प्रत्ययो तथा वाक्यों में बाँधा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि दर्शन का काम प्रत्ययो तथा वाक्यो का विश्लेषण करना है, वहाँ तक जहाँ तक वे प्रत्यय और वाक्य यथार्थ के स्वरूप को उद्घाटित करते है।

किन्तु उक्त समस्या का यह हल समीचीन नही है। हम अपनी कठिनाई को एक दूसरे ढंग से रक्खे सब प्रकार के यथार्थ, फिर चाहे वे भौतिक हो अथवा मानसिक, लगातार बदल रहे है। उन्हे स्थिर अर्थ वाले प्रत्ययो (Concepts) तथा वाक्यो द्वारा कैसे उद्घाटित किया जा सकता है? प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसाँ ने इस युक्ति का उपयोग समस्त भौतिक ज्ञान के विरोध मे किया है। इस कठिनाई को हल करने के लिये हमे दो-तीन बाते मानकर चलना पड़ेगा। प्रथमत. हमे यह मानना पडेगा कि मनुष्य का समस्त शब्द-व्यवहार प्रयोजनमूलक होता है और यह कि मनुष्य के प्रयोजन न्यूनाधिक स्थिर रहते है। दूसरे, हमे मानना पडेगा कि भौतिक तथा मानसिक दोनो प्रकार के यथार्थ, वहाँ तक जहाँ तक वे मानवीय प्रयोजनो के लिये अर्थवान है, बार-

वार आवृत्त होने वाली गतियो अथवा क्रियाओ द्वारा निर्मित होते है। उदाहरण के लिये यह सम्भव है कि वे चीजें जिन्हे हम पानी या हवा कहते है, पिछले पाँच-छ हजार वर्षों में, अर्थात् सभ्य मनुष्य के इतिहास की अवधि में, थोडी-बहुत बदल गयी हो। किन्तु मनुष्य की भौतिक, जैवी तथा सौन्दर्यमूलक जरूरतो की अपेक्षा में भी वे प्राय वही रही है, और आधुनिक रसायन-शास्त्री के लिये भी उनका रूप प्राय स्थिर है। यही बात दूसरी ऐसी चीजो के बारे में कही जा सकती है जैसे कि अणुवीक्षण यन्त्र, थर्मामीटर, तौलने का यन्त्र, तेजाब, क्षार आदि जिनके प्रयोग के बिना वैज्ञानिक अन्वेषण सम्भव ही नही होगे। इसी प्रकार प्रतीक-बद्ध मानसिक क्रियाएँ भी स्थिर-रूप बनी रहती है। मनुष्य परस्पर बातचीत तथा सामाजिक व्यवहार कर पाते है, इसका प्रमुख कारण यह है कि उनकी जरूरते तथा रुचियाँ समान होती है। और वे प्रकृति की एकरूपता (Uniformity) मे विश्वास किये जाते है, इसका कारण यह है कि वह प्रकृति उनकी सामान्य जरूरतो को लगातार पूरा करती रहती है।

## अर्थ तथा प्रेषण

ऊपर की मान्यताएँ आवश्यक है, इसे सिद्ध करने के लिये हम शब्दो के अर्थ तथा उन अर्थों के प्रेषण की समस्या पर विचार करेगे। पशुओ से मनुष्य का एक बडा भेद यह है कि वह यथार्थ जगत को प्रतीको के रूप में प्रकट या अनूदित कर लेता है। इस प्रक्रिया द्वारा मनुष्य की अपने अनुभवो को याद रखने और सगठित करने की शक्ति बहुत ज्यादा बढ जाती है, उसके द्वारा उसकी सामाजिक सम्पर्क की क्षमता मे भी विशेष वृद्धि होती है। मनुष्य द्वारा प्रयुक्त होने वाले सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक शब्द है। प्रतीको का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग गणित मे पाया जाता है। प्रतीको का रूप कुछ भी हो, उनका प्रयोग वस्तुओ, गतियो तथा क्रियाओ, गुणो तथा सम्बन्धों को प्रकट करने के लिये किया जाता है। एक दूसरी बात भी लक्षित करने की है। हम प्रतीको का प्रयोग केवल उन्ही चीजो का सकेत करने के लिये नही करते जो हमारे सामने मौजूद है, प्रतीको द्वारा हम अतीत वस्तुओ का भी सकेत करते है और उन सम्भाव्य स्थितियों का भी जिनकी हम कल्पना करते है। विज्ञान के क्षेत्र मे हमारी समस्त स्थापनाएँ (Hypotheses) तथा 'यदि' से शुरू होनेवाले वक्तव्य प्राय. सम्भाव्य का निर्देश करने वाले ही होते है। किसी भी प्रकार के प्रतीकोंके प्रयोग के सम्बन्ध मे एक याद रखने की बात यह है कि वे यथार्थ वस्तु या स्थिति के उन्ही पहलुओ को—फिर चाहे

वे तथ्य या पहलू वास्तविक हो अथवा कल्पित—सकेत कर सकते है जिनसे प्रतीको का प्रयोग अथवा व्याख्या करने वाला परिचित है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रतीक वस्तुओ अथवा उनके गुणो को उनकी समग्रता मे व्यजित नही करते। उदाहरण के लिये जब हम 'अश्व' शब्द का प्रयोग करते है तो उसका अर्थ अश्व नाम की वस्तु की वे ही विशेषताएँ हो सकती है जिनका उस शब्द का प्रयोग करने वाले अथवा उसे सुनने या पढने वाले को ज्ञान है। अश्व शब्द का सम्पूर्ण अर्थ कभी उस ज्ञान से अधिक नही हो सकता जो कि उस शब्द के प्रयोक्ता अथवा व्याख्याता को अश्व नाम के यथार्थ के सम्बन्ध मे है। स्पष्ट ही अश्व का यह ज्ञान एक व्यक्ति से दूसरे में, और एक युग से दूसरे युग मे, बदलता रहता है। इसलिये यह नही कहा जा सकता कि विभिन्न अवसरो पर, विभिन्न सन्दर्भो मे, विभिन्न मनुष्यो द्वारा प्रयुक्त अश्व शब्द एक ही अर्थ का वाहक होता है। वस्तुत अश्व शब्द का वाच्य अश्व की वह धारणा होती है जो कि प्रयोक्ता अथवा व्याख्याता के मन मे रहती है। ऑगडेन और रिचर्ड्स ने कहा है कि शब्दो का सीधा सम्बन्ध धारणाओ तथा प्रत्ययो से होता है, और दूर का सम्बन्ध वस्तुओ से।[१] यह स्थिति एक कठिन बौद्धिक समस्या को उत्थित करती है। विभिन्न लोगो के अनुभव तथा ज्ञान भिन्न-भिन्न होते है, फिर वे, प्रतीको का प्रयोग करते हुए, कैसे एक-दूसरे तक अपना अभिप्राय पहुँचा देते है ? अथवा यह माना जाय कि विभिन्न मनुष्य अभिप्रेत अर्थो का पूरा प्रेषण कभी नही करते, और यह कि लोगो के पारस्परिक विचार-विनिमय की प्रतीति वास्तविक न होकर भ्रमात्मक है ? किन्तु यह मन्तव्य कि मनुष्य एक-दूसरे तक अपने अभिप्राय नही पहुँचा पाते, उचित नही जान पडता, क्योकि आज के जटिल यत्र युग में तब तक काम नही चल सकता जब तक कि लोग एक-दूसरे की बात को ठीक-ठीक न समझें। उदाहरण के लिये आज के उद्योगधन्धो मे जो रासायनिक तथा यान्त्रिक क्रियाएँ होती है, उनके ठीक अनुष्ठान के लिये यह जरूरी है कि विभिन्न कर्मचारी एक-दूसरे के निर्देशो (Directions) तथा आदेशो को ठीक-ठीक समझें।

ऊपर की समस्या का हल इस तथ्य मे है कि मानव-प्रकृति में एक मौलिक एकता है, जो कि विभिन्न मनुष्यो की समान रुचियो तथा प्रयोजनो मे प्रतिफलित होती है। इस एकता का मनुष्य के बौद्धिक व्यापारो पर निम्न प्रभाव पडता है। मनुष्यों द्वारा किये हुए तथ्यों के समस्त वर्णन तथा उल्लेख प्रयोजन-मूलक होते है, अर्थात् उनका उद्देश्य कतिपय लक्ष्यो की प्राप्ति अथवा कतिपय प्रयोजनों की पूर्ति होता है। जब एक

मनुष्य दूसरे से बात करना चाहता है, अथवा दूसरा पहले को समझना चाहता है, तो उन दोनों को उस प्रयोजन को पकडने की कोशिश करनी चाहिए जो बातचीत के मूल में है, दोनो को एक-दूसरे के शब्दो की व्याख्या उस प्रयोजन के सन्दर्भ में करनी चाहिए। प्रयोजन-मूलक सन्दर्भ को ही "वक्तव्य का क्षेत्र" (Universe of Discourse) भी कहते हैं। विभिन्न शब्दो का अर्थ नितान्त धुधला, अनिश्चित तथा अपरिच्छिन्न होता है; वक्ता तथा श्रोता का सामान्य प्रयोजन उस अर्थ को निश्चित और सीमित बना देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे वर्णनो अथवा प्रतीक-मूलक व्यजनाओ का अभिप्राय दो चीजो से निश्चित होता है प्रथमत. हमारे वर्णित वस्तुओ के ज्ञान से, और दूसरे उन प्रयोजनो से जिनके लिये हम विभिन्न अवसरो पर उस ज्ञान का उपयोग करते हैं।

## दार्शनिक विश्लेषण

अब हम दार्शनिक विश्लेषण की समस्या की ओर लौटेंगे। दर्शन बोध-क्रिया के उन सामान्य रूपो का विश्लेषण करता है जो कि धारणाओ तथा कथनो के रूप में व्यक्त किये जाते हैं। एक धारणा अथवा प्रत्यय सरल भी हो सकता है और जटिल भी। सरल प्रत्यय का विश्लेषण नही हो सकता, यद्यपि उसकी व्याख्या हो सकती है, जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। 'या', 'और,' 'नही' आदि सरल प्रत्यय हैं। किसी जटिल प्रत्यय का विश्लेषण करने का अर्थ है उसे सरल प्रत्ययो मे खडित करना, और उन सम्बन्धो के सकेत करना जो उन सरल प्रत्ययो के बीच पाये जाते हैं। यह प्रक्रिया जब तक चलती रहती है जब तक हम सरल प्रत्ययो तक न पहुँच जायँ। सरल प्रत्यय उसे कहते हैं जिसका विषयभूत तत्व साक्षात् अनुभव की अपेक्षा से समझा जा सकता हैं। उदाहरण के लिये 'हरा' नामक प्रत्यय का अर्थ समझने का एक ही तरीका है, अर्थात अनुभव मे आने वाले हरे पदार्थ की ओर सकेत कर देना। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि 'हरा' शब्द की प्रत्यक्ष-मूलक व्याख्या या परिभाषा ही हो सकती है। इससे यह अनुगत होता है कि एक जन्मान्ध मनुष्य कभी भी 'हरा' शब्द का अर्थ नही समझ सकता। इसी प्रकार एक ऐसा व्यक्ति जिसने कभी दाँत के दर्द का अनुभव नही किया है, नही समझ सकता कि दाँत की पीडा का क्या अर्थ हो सकता है। ऐसे ही 'उसकी अपेक्षा बडा', 'बाईं ओर', 'अमुक का विरोधी' आदि सम्बन्ध भी किसी-न-किसी प्रकार के साक्षात् अनुभव द्वारा ही समझे जा सकते हैं।

दार्शनिक विश्लेषण एक मानसिक क्रिया है। इसका मतलब यह हुआ कि हम जिस चीज का विश्लेषण करते हैं वह तथ्य नही होती, वह एक या अनेक तथ्यों की, अथवा उनके एक या अनेक पहलुओं की, धारणा या प्रत्यय होता है। डॉ० स्टेबिग ने एक जगह लिखा है . 'हमारी सम्मति मे विश्लेष्य वस्तु तथ्य होती है।'[10] किन्तु यह स्पष्ट है कि दार्शनिक भौतिक तथ्यो का विश्लेपण नही करता। मानसिक तथ्यों के सम्वन्ध मे भी यही सही है, हम उनकी सामान्यीकृत धारणा का विश्लेपण करते हैं, न कि विशेप मन मे प्रतिफलित होने वाले अनुभवो का। सच यह है कि हमारी अनुभूतियाँ लगातार परिवर्तित होती रहती हैं, वे प्रवाह-रूप होती हैं, इसलिए उनका विश्लेषण नही किया जा सकता। हम वस्तुत उन अर्थो (Meanings) का विश्लेषण करते हैं जो कि विशेप अनुभवो में निहित समझे जाते हैं।

कुमारी एम्ब्रोज ने उस विश्लेषण के खिलाफ जिसका लक्ष्य स्पष्टीकरण है कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। वह कहती है कि 'जब किसी शब्द का अर्थ सचमुच अस्पष्ट या धुधला होता है, तब निकट परीक्षण करने से हम उसके धुधलेपन का ही पता पा सकेंगे।'[11] आगे वह कहती हैं . 'यह अजीब है कि हम लगातार विश्लेपण करने का प्रस्ताव करते हैं, जब कि अस्पष्टता को दूर करने का सबसे सीधा तरीका यह है कि हम एक निश्चय कर लें।'[12] कहने का तात्पर्य यह कि विश्लेषण करने के बदले विभिन्न क्षेत्रो के विचारको तथा दार्शनिको को यह चाहिए कि वे किसी पद का अर्थ कृत्रिम रूप में निश्चित कर दें, जैसा कि गणित तथा भौतिक विज्ञानो मे किया जाता है। किन्तु मामला इतना सरल नही है। विज्ञानो मे वे क्रियाएँ तथा प्रक्रियाएँ जिनके द्वारा किसी प्रत्यय की परिभाषा की जाती है पहले से जानी हुई रहती हैं, वैज्ञानिको का काम सिर्फ इतना होता है कि वे उन क्रिया-प्रक्रियाओ को नया नाम दे दें। उसके बाद उस नाम या पद को उन क्रिया-प्रक्रियाओ द्वारा परिभाषित कर दिया जाता है। किन्तु दर्शन मे इससे विपरीत पद्धति का अवलम्ब लिया जाता है। यहाँ धारणाएँ या प्रत्यय प्राय पहले से दिये रहते हैं, जैसे कि कार्य-कारण-सम्बन्ध, विरोध, कर्तव्य, सौन्दर्य, सद्गुण या साधुता आदि, और समस्या यह होती है कि उनके अर्थो को निश्चित कर दिया जाय। मनुष्यो को कुछ अनुभव होते हैं जिनके वर्णन के लिए वे कतिपय प्रत्ययो तथा कथनो का उपयोग करते हैं; दर्शन की समस्या यह होती है कि उन कथनों तथा वर्णनो को तर्कशास्त्र की दृष्टि से सुनिश्चित तथा सही बना दिया जाय। वस्तुत दर्शन जिन प्रत्ययो का विश्लेषण करता है, वे प्रत्यय व्याख्यात्मक होते हैं। वे उत्सृष्ट

प्रत्यय (Constiucts) होते है, और उन्हें परिभाषित करने का प्राय मतलब होता है उनकी उपयुक्तता का मडन करना। यह मडन केवल यह निश्चय कर लेने से प्राप्त नही हो जाता कि उन प्रत्ययो का प्रयोग निर्दिष्ट अर्थों में किया जाय।

विश्लेष्य तथा विश्लेपक (वह वाक्य-समूह जिसके द्वारा विश्लेपण किया जाता है) मे क्या सम्बन्ध होता है? श्री लैंगफोर्ड ने "विश्लेपण का विरोधाभास" का उल्लेख किया है, जिसका प्रतिपादन इस प्रकार किया जा सकता है। यदि विश्लेपक व्यजनाओ का वही अर्थ होता है जो कि उस शब्द-समूह का जो विश्लेष्य को प्रकट करता है, तो विश्लेपण द्वारा कोई नई बात नही कही जायगी, बल्कि केवल एक तादात्म्य को प्रकट किया जायगा, और इस प्रकार वह महत्वशून्य बन जायगा। किन्तु यदि दोनो ओर की व्यजनाएँ एक ही अर्थ प्रकट नही करती, तो विश्लेपण गलत हो जायगा।[१३] इस पहेली का हल इस प्रकार है। समस्त विश्लेपण प्रयोजन-मूलक होता है। किसी प्रत्यय का विश्लेपण करने का अर्थ है, किसी प्रयोजन के लिये उसके अर्थ को निश्चित कर देना। इसका मतलब यह हुआ कि विश्लेष्य और विश्लेपक को एक खास प्रयोजन के लिये ही, एक विशेप सन्दर्भ में, तुल्य या समान माना जा सकता है। यदि हम विश्लेपक के अर्थ को इस प्रकार सीमित न करें तो हम पायेंगे कि 'अश्व', 'पृथ्वी' आदि किसी भी प्रत्यय का पूर्ण विश्लेपण नही किया जा सकता। यहाँ तक कि 'भाई' जैसे सरल प्रत्यय को भी यह कह कर विश्लेपित नही किया जा सकता कि उसका अर्थ "नर-लिंग का सहोदर" है।[१४] कारण यह है कि भाई शब्द के साथ तरह-तरह के अनुपग लगे है, जो उक्त विश्लेपक पदो मे नही आ पाते। उक्त विश्लेपण केवल इस दृष्टि से सही है कि वह भाई नामक जीव की शारीरिक रचना (Anatomy) के बारे मे कुछ जानकारी दे देता है।

गणित के प्रत्ययो के विश्लेपण से भी हमे केवल समानात्मक या एकात्मक (Iden-tical) व्यजनाएँ नही मिलती। यह ठीक है कि १६+९=२०+५ किन्तु गणित की कुछ क्रियाएँ पहली व्यजना पर ही की जा सकती है, और कुछ केवल दूसरी पर। उदाहरण के लिये हम १६+९ को दो सख्याओ के वर्गो के रूप मे अर्थात् ४²+३² के रूप मे रख सकते है, २०+५ को इस प्रकार नही रख सकते। इसी प्रकार दूसरी व्यजना को हम ५ (४+१) के रूप में रख सकते है, पहली व्यजना को वैसे नही रख सकते। गणित की इन क्रियाओ की दृष्टि से उक्त दोनो व्यजनाएँ समानात्मक (Identical) नही है। वस्तुत गणित के क्षेत्र मे व्यजनाओ को विभिन्न समान

मूल्य वाले रूपो मे इसलिये रखते हैं कि इस प्रकार उन पर कुछ नयी क्रियायें की जा सके।

किन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा दार्शनिक विश्लेषण के विषय प्राय व्याख्यात्मक धारणाएँ या उत्सृष्ट प्रत्यय होते हैं। ये प्रत्यय गणित तथा भौतिकशास्त्र के प्रत्ययों की भाँति ज्ञात सम्बन्धो की सहायता से निर्मित नही होते; प्राय उनका उद्देश्य विभिन्न ऐसे तथ्यो की व्याख्या करना होता है जिनका हमे धुधला अनुभव ही होता है। उदाहरण के लिये कार्य-कारण-भाव की धारणा लीजिए।

क्या कार्य-कारण-सम्बन्ध को नियमित परम्परा (Regular Succession) में परिणमित किया जा सकता है। अथवा क्या उसका अर्थ केवल नियमित साहचर्य (Regular Correlation) है? वैज्ञानिक के लिये यह सम्भव है कि वह कार्य-कारण भाव की कल्पना ऊपर के दो में से किसी एक रूप में कर ले, क्योंकि उसके अध्ययन का विषय वे घटनाएँ हैं जिन पर वह प्रयोगात्मक नियत्रण रखता है,और जिनके अस्तित्व को परीक्षा द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु दार्शनिक चिन्तन को केवल वही तक सीमित नही किया जा सकता जहाँ तक हमें व्यावहारिक सुविधा प्राप्त है। दार्शनिक को कार्य-कारण-सम्बन्ध के दूसरे उदाहरणों पर भी दृष्टि रखनी पड़ेगी, जैसे कि नैतिक और मनोवैज्ञानिक निर्धारण। दर्शन का काम एक ऐसे प्रत्यय की सृष्टि करना होगा जो उन विभिन्न उदाहरणो की परिपूर्ण व्याख्या कर सके। मतलब यह कि दार्शनिक प्रत्यय केवल अनुभूत तत्त्वो के योग मात्र को प्रकट नही करेगा; वैसा योग सम्भव भी नही है, क्योंकि विभिन्न कार्य-कारण-सम्बन्धो की स्थितियाँ एक-दूसरे से नितान्त भिन्न होती हैं। दर्शन वस्तुत अनुभूत तत्वो को इस प्रकार पुन. सृष्ट एव ग्रथित करता है कि वे एक सम्बद्ध अवयवी (Connected Whole) का रूप धारण कर लें।

अभिप्राय यह है कि दार्शनिक विश्लेषण की क्रिया को दार्शनिक व्याख्या से अलग नही किया जा सकता। दर्शन मे किसी प्रत्यय का विश्लेपण करने की क्रिया और एक व्याख्यात्मक प्रत्यय को निर्मित करने की क्रिया एक ही होती है। दार्शनिक प्रत्यय का लक्ष्य होता है अनुभव के किसी क्षेत्र का सफल चिन्तन, अथवा उस क्षेत्र के एक सफल चित्र की उद्भावना। ऐसा चित्र प्राप्त करने के लिये दार्शनिक को यह दिखला सकना चाहिए कि अनुभव का विशेप क्षेत्र एक आत्मसंगत समष्टि या अवयवी है।

इस प्रकार दार्शनिक प्रत्यय प्राय वही काम करता है जो कि कोई व्याख्या-सूत्र या स्थापना। दार्शनिक व्याख्या का प्रारम्भिक रूप लक्षण या परिभाषा होती है, उस परिभाषा अथवा लक्षण-प्रत्यय को प्रत्ययो की एक समष्टि के बीच स्थापित कर देना ही व्याख्या का चरम रूप है।

किसी प्रत्यय का विश्लेपण हम एक दूसरे प्रयोजन से भी कर सकते हैं, उसकी प्रामाणिकता अथवा उपयुक्तता की परीक्षा के लिये। दार्शनिक ब्रेडले ने आकाश, काल, कारण आदि का विश्लेपण इसी दृष्टि से किया है। दार्शनिक विश्लेपण का उचित लक्ष्य रचनात्मक होता है, अर्थात् व्याख्यात्मक प्रत्ययो का निर्माण करना, दूसरी कोटि का विश्लेपण दार्शनिक मूल्याकन का अग है।

वस्तुत किसी प्रत्यय का दार्शनिक विश्लेपण एक सहज कार्य नही है। इस विश्लेपण का अर्थ है, अनुभूत अनुभव-क्षेत्र की आन्तरिक रचना के सम्बन्ध मे कल्पना करना। यह कल्पना एक प्रकार का निर्माण या स्थापना (Hypothetical Construction) होती है। दार्शनिक विश्लेपण का, विशेषत प्रथम कोटि के विश्लेपण का, यह लक्ष्य रहता है कि उक्त निर्माण को व्यवस्थित तथा आत्मसगत बना दे। इसीलिए हम कहते हैं कि किसी प्रत्यय के दार्शनिक विश्लेपण को उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के प्रयत्न से अलग नही किया जा सकता। जब हम कहते हैं कि एक दार्शनिक विश्लेषण सही है, तो उसका मतलब यह होता है कि हम विश्लेपित प्रत्यय को प्रामाणिक मानकर स्वीकार कर लें। उदाहरण के लिए कारणता, कर्तव्य आदि प्रत्ययो का सही विश्लेषण उनकी प्रामाणिकता की सिद्धि से भिन्न नही होगा। किन्तु जब हम निरपेक्ष तत्व (Absolute) जैसी धारणाओ के विश्लेषण को सही कहेंगे तो हमारा मतलब यह होगा कि वह विश्लेपण या परिभाषा एक विशेष दर्शन-पद्धति, जैसे कि शकर, हीगल, या ब्रेडले की दर्शन-पद्धति की, अपेक्षा से ही सही अथवा प्रामाणिक है। एक परिभाषा अथवा विश्लेषण सार्वभौम रूप मे प्रामाणिक तभी होगा जब वह हमारे अनुभव-क्षेत्र को व्यवस्थित रूप दे सकेगा। यहाँ हम पाठकों को स्मरण दिलाये कि जिसे हमने सास्कृतिक अनुभूति कहा है, और जो कि कला, साहित्य आदि मे अभिव्यक्ति पाती है, वह सार्वभौम रूप मे प्रामाणिक होती है।

किसी प्रत्यय की व्याख्या करने का अर्थ है एक, उस प्रत्यय की उन दूसरे प्रत्ययो से समानता तथा विभिन्नता दर्शित करना जो उससे मिलते-जुलते हैं और इस प्रकार

उसके एकात्मक होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिये वेदान्ती ब्रह्म की धारणा को ईश्वर की धारणा से अलग करते हैं। इसी प्रकार ब्रेडले ने भी निरपेक्ष तत्व (Absolute) तथा ईश्वर में भेद किया है। ऐसे ही तर्कशास्त्री हेतु (Condition) तथा कारण में अन्तर करते हैं। दूसरे, एक प्रत्यय की व्याख्या करने का अर्थ है उसका एक प्रत्यय-समष्टि में स्थान निश्चित कर देना। हमारे विचार मे किसी वक्तव्य या कथन का विश्लेषण नही किया जा सकता, उसकी व्याख्या ही की जा सकती है। किसी कथन की व्याख्या करने का अर्थ है उसके द्वारा आक्षिप्त होने वाले अर्थों (Implications) को उद्घाटित कर देना; उसकी व्याख्या का दूसरा अर्थ हो सकता है एक कथन-समष्टि मे उसका स्थान बता देना। किसी कथन का अर्थ निश्चित करने के लिये उसके अंगभूत प्रत्ययों का विश्लेषण जरूरी होता है, और उस कथन के आक्षिप्त अर्थों को प्रकट करने के लिये उसकी व्याख्या की जरूरत होती है।

विश्लेषण तथा व्याख्या की क्रियाओ द्वारा दर्शन उस चीज की उपलब्धि करता है जिसे "प्रत्ययो की समष्टि" (Categorical System) की सज्ञा दी गई है।[५] प्रत्यय-समष्टि से मतलब उन सम्बद्ध प्रत्ययो अथवा धारणाओं से है जो सास्कृतिक अनुभव के किसी क्षेत्र का सम्भव वर्णन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार का वर्णन यथार्थ के किसी क्षेत्र की व्यापक चेतना को प्रकट करता है, अर्थात् उस सास्कृतिक चेतना को जो कि किसी युग अथवा देश की विशेषता होती है। दर्शन की समन्वयात्मक क्रिया के सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

ऊपर हमने विश्लेषण के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया वह तर्क-मूलक भाववादियों के विश्लेषण-सम्बन्धी मत से भिन्न है। हमारे मत में विश्लेषण एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम सास्कृतिक चेतना मे प्रतिफलित यथार्थ के किसी क्षेत्र की रचना को मूर्त करते हैं। इसके विपरीत तर्कमूलक भाववादियो का विचार है कि विश्लेषण का यथार्थ की आन्तरिक रचना से कोई सम्बन्ध नही होता। उदाहरण के लिये श्री ए० जे० ऐयर ने दर्शन के कार्यों को समझाते हुए यह कहा है कि उसका काम परिभाषा देना है। एक प्रकार की परिभाषा कोष के अन्दर दी हुई होती है। वहाँ परिभाषित शब्द के बदले कुछ ऐसे प्रतीक रक्खे जाते हैं जो परिभाषित शब्द के प्रत्यय का काम कर सकें।[६] किन्तु इस प्रकार की पर्याय-मूलक परिभाषाएँ दार्शनिक परिभाषाएँ नही होती। अरस्तू ने कहा है कि परिभाषा में हमे दो चीजो का सकेत करना चाहिए, अर्थात् उस वर्ग का जिसमे परिभाषित वस्तु का स्थान है, और उस विशिष्ट धर्म

(Differentia) का जो परिभाषित वर्ग की वस्तु को दूसरे उपवर्गो से भिन्न करता है। तर्कमूलक भाववादी के अनुसार अरस्तू की परिभाषा दार्शनिक परिभाषा नही होती। उक्त पद्धति के अनुसार परिभाषा करने का अर्थ इस प्रकार है। किसी शब्द या प्रतीक को परिभाषित करने का अर्थ उस वाक्य या कथन के बदले जिसमें वह शब्द पाया जाता है, ऐसे वाक्यो को रखना है जिनमे न तो वह शब्द पाया जाता है, और न उसका कोई पर्याय।[१७] मतलब यह है कि हम एक वाक्य या कथन को दूसरे वक्तव्यो तथा कथनो मे इस प्रकार परिवर्तित करे कि बाद के कथनो में पूर्व कथनो मे पाये जाने वाले पद अथवा प्रत्यय न रहे। उदाहरण के रूप में ऐयर ने बर्ट्रान्ड रसेल के "निश्चित वर्णन" (Definite Desription) के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। रसेल ने यह बतलाने की कोशिश की है कि एक प्रकार के वाक्य अथवा व्यजनाएँ दूसरी कोटि के वाक्यो अथवा व्यजनाओ में कैसे परिवर्तित की जायें। उदाहरण के लिये एक वाक्य लीजिए, 'गोल वृत्त का अस्तित्व सम्भव नही है।' दार्शनिक विश्लेपण की क्रिया से उक्त कथन को निम्न कथन मे परिवर्तित किया जा सकता है. 'कोई वस्तु ऐसी नही है जो वृत्ताकार भी हो और गोलाकार भी।' इसी प्रकार एक दूसरा वाक्य लीजिए. 'मेघदूत के लेखक कालिदास है।' विश्लेपण करने पर इस वाक्य के बदले हमे निम्न वाक्य प्राप्त होगे 'सिर्फ एक व्यक्ति ने "मेघदूत" लिखा, और वह व्यक्ति कालिदास थे।' उक्त वाक्य का दूसरा विश्लेपण भी दिया गया है 'कभी कोई ऐसा व्यक्ति नही हुआ जिसने "मेघदूत" लिखा, लेकिन जो कालिदास नही था।'[१८] तर्कमूलक भाववादी के अनुसार दार्शनिक विश्लेपण करने वाले वाक्य या कथन वियोजक (Analytic) होते है, जिसका मतलब यह है कि वे हमें कोई नया ज्ञान न देकर विश्लेपित वाक्यो के आक्षिप्त अर्थो की ओर ही ध्यान आकृष्ट करते है। दार्शनिक वाक्य अनुभवात्मक (Empirical) न होकर वियोजक होते है।[१९]

उक्त मन्तव्य और उसके समस्त अतिवादी निष्कर्पों का प्रतिपादन कार्नैप ने किया है। उनके अनुसार दो प्रकार की भाषा होती है, एक का विषय वस्तु-जगत होता है, और दूसरे का भाषा-सम्बन्धी क्रम।[२०] उक्त दो भाषाओ के अनुरूप ही दो तरह के अभिव्यक्ति-प्रकार है। एक प्रकार मे हम वस्तुओ तथा तथ्यो पर प्रकाश डालते है, और दूसरे मे पदो (Terms), व्यंजनाओ तथा वाक्यो के तर्कात्मक अथवा आकारात्मक (Formal) सम्बन्ध को उद्घाटित करते है। विज्ञान की भाषा वस्तुओ की भाषा है, जो कि वस्तु-सत्यो के प्रति सकेत करती है। किन्तु दर्शन की अभिव्यक्ति-

प्रणाली दूसरी कोटि की है, वह भाषा-सम्बन्धी क्रम तथा उसके नियमो का अनुशीलन तथा प्रकाशन करती है। दर्शन का यह काम नही है कि वह हमे वस्तु-जगत के सम्बन्ध मे जानकारी दे। असली दर्शन मे वस्तु-जगत से सम्बन्ध रखने वाले कथन नही होते, उस दर्शन के वाक्य तर्कमूलक कथन (Logical Statements) होते हैं। तात्पर्य यह कि दर्शन का प्रमुख कार्य भाषा का तर्कात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। कार्नप का ऐसा मत है कि यह विश्लेषण पदो आदि के क्रम-नियमो (Syntax) के निर्देश-रूप ही होता है।[११] उस विश्लेषण मे शब्दो के अर्थो का बिल्कुल ही विचार नही किया जा सकता, वहाँ केवल यह देखने की कोशिश की जाती है कि विभिन्न भाषाबद्ध व्यजनाओ अथवा विभिन्न भाषा प्रतीको के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडता है कि दर्शन का काम 'उन विभिन्न नियमो का, जिनका सम्बन्ध वाक्यो की रचना तथा कुछ वाक्यो को दूसरे वाक्यो से निष्कृष्ट करने की प्रणाली से है, उद्घाटन करना है।'[१२]

यह मन्तव्य गणित की प्रकृति से प्रेरणा लेता है। बीज गणित का (क+ख) (क—ख) =क²—ख² समीकरण सही होगा, बिना इस विचार के कि क और ख के मूल्य क्या हैं। उक्त समीकरण की प्रामाणिकता क और ख के विशेष मूल्यो पर निर्भर नही है, वह उन मूल्यो की निरपेक्ष है। इसलिये हम कह सकते हैं कि गणितशास्त्र केवल रूपाकार (Form) का विज्ञान है, जिसका काम कतिपय वर्गो के प्रतीको के रूपात्मक सम्बन्धो का उद्घाटन करना है। तर्कमूलक भाववादियों का विचार है कि इसी प्रकार दर्शन भी केवल उन नियमों की खोज करता है जिनके अनुसार एक कोटि के कथनो या वाक्यो को दूसरी कोटियो के कथनो या वाक्यो मे प्रामाणिकता के साथ परिवर्तित किया जा सकता है।

पहली दृष्टि मे ऐसा जान पडता है कि तर्कमूलक भाववादियो का मत हमारे अपने मत से विशेष भिन्न नही है। हम ने कहा था कि दर्शन का विषय साक्षात् अनुभूत वस्तुएँ न होकर, अनुभव-विशेष का चिन्तन है। अर्थात्, दार्शनिक चिन्तन वस्तुओ के बारे मे नही होता, और चूंकि दार्शनिक चिन्तन का विषय वस्तुएँ नही हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि दर्शन हमे वस्तु-जगत के सम्बन्ध मे कोई जानकारी न दे सके। किन्तु हमारे तथा तर्क-मूलक भाववादियो के मतों की यह समानता दिखाऊ चीज है, वास्तविक नही। यह ठीक है कि दर्शन का विषय विचार, अर्थात् प्रत्यय और कथन, होते है, किन्तु प्रत्ययो और कथनो को यथार्थ जगत से विच्छिन्न नही किया जा सकता।

जब हम कहते हैं कि दर्शन का काम चिन्तन प्रक्रिया पर मनन करना है, तो हमारा मतलब इतना ही है कि दर्शन साक्षात् वस्तु-जगत के स्वरूप का अन्वेषण नही करता। दर्शन या तो विभिन्न विज्ञानो द्वारा उत्सृष्ट प्रत्ययो की परीक्षा करता है, अथवा वह ऐसे व्याख्यात्मक सूत्रो को प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा विभिन्न अनुभव-क्षेत्रो से सम्बद्ध प्रत्यय एकता को प्राप्त कर लें।

तर्कमूलक भाववाद की मान्यता की मुख्य कमजोरी यह है कि यदि हम अर्थों की उपेक्षा कर दें तो प्रतीक प्रतीक नहीं रह जाते, और उनके बीच कोई तर्कमूलक सम्बन्ध नहीं हो सकता। तर्कमूलक सम्बन्ध न तो ध्वनियो के बीच होता है और न कागज पर अंकित किये हुए चिन्हो के बीच। ऊपर बीज-गणित के जिस समीकरण का जिक्र किया गया वहाँ भी क और ख केवल सख्याओ को ही प्रकट कर सकते हैं, यद्यपि यह ठीक है कि वे किन्ही खास सख्याओ को सकेतित नही करते। उदाहरण के लिये उक्त समीकरण में क और ख के स्थान पर हम 'मेज़' और कुर्सी अथवा 'गाय' और 'अश्व' नही रख सकते। जैसा कि वाइल्ड और कावलिज ने कहा है: 'यदि हम प्रतीको को उनके अर्थों से विच्छिन्न करके अनुशीलन का विषय बनायें, तो वे प्रतीक नही रह जाते, अपितु विशुद्ध भौतिक चीजें बन जाती हैं।'[११]

यह कहा गया है कि गणित 'विशुद्ध रूपाकारो का विज्ञान' है, और यह कि 'तर्कशास्त्र का लक्ष्य रूपाकारों को दर्शित करना है।'[१४] किन्तु यह समझना भूल होगी कि यथार्थ से विच्छिन्न होकर रूपाकार में किसी प्रकार का अर्थ रह जाता है। यह धारणा कि रूपाकार का वस्तुसत्ता से कोई सम्बन्ध नही होता, रूपाकार की प्रकृति के अज्ञान का द्योतक है। यह आश्चर्य की बात है कि तर्कमूलक भाववादियो ने रूपाकार (Form) की महत्वपूर्ण धारणा का उचित विश्लेषण करने की कोशिश नही की है।

प्राय: रूपाकार का अर्थ प्रत्यक्ष दीखने वाली वह बनावट या रचना है जो किसी वस्तु के विभिन्न अवयवो के सगठन-क्रम में प्रतिफलित होती है। इसका यह मतलब नही कि रूपाकार केवल उसी वस्तु में हो सकता है जिसमे अवयव है। उदाहरण के लिये एक लोहे की सलाख मे अवयव दिखाई नही देते, फिर भी उसका आकार अथवा रूपाकार होता ही है। यह भी जरूरी नही है कि एक जगह घेरने वाली वस्तु में ही रूपाकार हो, एक गीत या एक ऐतिहासिक घटना में भी रूपाकार होता है, यद्यपि ये चीजें देशगत नही होती।

दूसरा उदाहरण लीजिए। एक सीमेन्ट के प्लास्टरवाली दीवार चिकनी, चमकदार तथा चतुर्भुज के आकार की हो सकती हैं। प्रश्न है क्या ये सभी विशेषण दीवार के रूपाकार को लक्षित करते है, अथवा केवल अन्तिम विशेषण ही ? कोई कारण नही है कि हम किसी वस्तु की ज्यामितीय (Geometrical) विशेषताओ तक ही रूपाकार को सीमित करे, और उसके दूसरे विशेषणो की उपेक्षा करे। जब हम किसी मनुष्य अथवा जानवर के आकार या आकृति का वर्णन करते हैं तो हम प्राय' उसके रग का उल्लेख भी करते हैं। सच यह है कि किसी चीज का वणन हमारे प्रयोजन द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिये एक लडकी का जो वर्णन किसी दर्जी को सन्तुष्ट करेगा, वह उस लडकी के सभावित वर को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार एक रसायन-शास्त्री द्वारा दिया हुआ युद्ध का वर्णन इतिहासकार के काम का नही होगा। रसायन-शास्त्री की दृष्टि मे युद्ध एक प्रकार की घटनाओ का समूह है, इतिहासकार की दृष्टि में दूसरे प्रकार की घटनाओ का। सम्भवत रसायन-शास्त्री के लिये युद्ध का रूपाकार एक प्रकार का होता है, और इतिहासकार के लिये, तथा विरोधी देशो के इतिहासकारो के लिये, दूसरे-दूसरे प्रकारो का।

जिसे हम किसी घटना की आकृति या रूपाकार कहते है वह उसका वह पहलू होता है जिसमे हमारी अभिरुचि है। चूंकि हमारी रुचियाँ सामान्य होती ह, इसलिये वस्तुओ की रूपाकार-सम्बन्धी विशेषताओ का सामान्य वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि वस्तु का कोई भी गुण उसका रूपाकार माना जा सकता है। तर्क-शास्त्री टॉम्सन ने लिखा है : 'रूपाकार से मतलव है चेतना के सम्मुख उपस्थित वस्तु को देखने का ढग। जब हमारा ध्यान किसी वस्तु की ओर आकृष्ट होता है, तो हम स्वय उस वस्तु को नही देखते, हम उसे अपनी पूर्वसिद्ध धारणाओं के आलोक में देखते है। उदाहरण के लिये एक गरीब आदमी धनी व्यक्ति को सौभाग्यशाली के रूप में देखता है, एक धार्मिक-आध्यात्मिक व्यक्ति की दृष्टि मे धनी व्यक्ति वह है जो दूसरो की अपेक्षा अधिक प्रलोभनो से घिरा है, तथा व्यापारी की दृष्टि में धनी व्यक्ति की विशेषता यह है कि ग्राहक-रूप मे उसका प्रोत्साहन महत्वपूर्ण है।'[१]

तो, किसी कथन का रूपाकार उसके अर्थ अथवा विषय-वस्तु से किस प्रकार भिन्न होता है ? एक कथन प्राय. दो प्रत्ययो के बीच सम्बन्ध अथवा सम्बन्धाभाव का निर्देश करता है, कथन या वाक्य का आकार या रूपाकार उस सम्बन्ध की गुणात्मक विशे-

पता का द्योतक होता है। उदाहरण के लिये निम्न वाक्यों में "क एक घोडा है", "क लाल है", "क ख से बडा है", क का दूसरे प्रत्ययों से भिन्न-भिन्न कोटियों का सम्बन्ध दिखलाया गया है। प्रत्येक वाक्य में एक ही उद्देश्य है, किन्तु प्रत्येक वाक्य उस उद्देश्य को भिन्न रोशनी में रखकर दर्शित करता है। मनुष्य वस्तुओं को विभिन्न दृष्टियों से देखता है। वे उसे विभिन्न रूपों में रोचक जान पड़ती हैं। किन्तु वह एक ही वाक्य को अनेक अर्थों में नहीं ले सकता, कारण यह है कि वाक्य-निर्माण का एक ही उद्देश्य होता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किसी वाक्य या कथन का रूप या रूपाकार निश्चित रूप में मनुष्य की किसी रुचि या प्रयोजन से सम्बन्धित होता है। उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं कि क ख से बडा है, तो हमारा उद्देश्य होता है क और ख की मात्रा-मूलक तुलना; यह तुलना या तो आकार को लेकर हो सकती है, अथवा संख्या को लेकर। इससे सिद्ध होता है कि ऐसा कोई रूपाकार नहीं है जिसका किसी-न-किसी यथार्थ से सम्बन्ध न होता हो। जिसे हम वाक्य या कथन का रूप अथवा कथन-रूप (Propositional Form) कहते हैं वह उस खास यथार्थ की ओर संकेत करता है, जिसका दिये हुए सन्दर्भ में, वक्ता के एक खास प्रयोजन से सम्बन्ध है। यह वक्ता के प्रयोजन पर निर्भर करता है कि एक खास मौके पर किसी विवर्त्त-मान तत्त्व (Variable) को किस कोटि का मान (Value) दिया जाय। उदाहरण के लिये ऊपर के वाक्य में, अर्थात् इस वाक्य में कि क ख से बडा है, यह सम्भव नहीं है कि हम क के स्थान पर 'पीला' लिख दें और ख के स्थान पर 'भैंस' और यह कहें कि 'पीला' 'भैंस' से बडा होता है। यह कथन निरर्थक है, क्योंकि, इस सन्दर्भ में, 'बडा' विशेषण का कोई ऐसा अर्थ नहीं है जिसका मानवीय प्रयोजन से सम्बन्ध हो।

एक वाक्य-रूप अथवा कथन-रूप (Propositional Form) उस ढग या दृष्टि की ओर सकेत करता है जिसके अनुसार किसी वस्तु को देखा जा रहा है, फलत वह रूप यह निर्धारित करता है कि उस वाक्य में किस प्रकार के उद्देश्यों तथा विधेयों को रक्खा जा सकता है। जब देखने का दृष्टिकोण और उससे सम्बन्धित कथन-रूप निश्चित होंगे, तो वाक्य में प्रयुक्त प्रतीकों तथा प्रत्ययों के सम्बन्ध भी निश्चित होंगे, उन सम्बन्धों में से कुछ को पहले से (Apriori) जान लेना कठिन नहीं होगा। जिसे हम तर्कशास्त्रीय आवश्यकता (Necessity) कहते हैं उसका मूल मानव प्रयोजनों के व्यापृत होने के वे ढग हैं जो वस्तु-सत्ताओं की अपेक्षा से प्रकट होते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि तर्कशास्त्रीय आवश्यकता का यथार्थ की प्रकृति से कोई

सम्बन्ध नही होता, कहने का मतलब यह है कि वह यथार्थ वस्तु-सत्ता आवश्यक रूप में मानवीय प्रयोजनो के अनुरूप देखी जाती है। वस्तु-सत्ता अपने को इस प्रकार देखने देती है, यह स्थिति आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकती है। लेकिन इसमे बहुत ज्यादा आश्चर्य की गुजाइश नही है। अन्तत मनुष्य को वस्तुसत्ता अर्थात् विश्व ने ही उत्पन्न किया है, और उस विश्व मे उसकी सारी जरूरते पूरी होती रहती है। विश्व-ब्रह्माण्ड अथवा वस्तु-सत्ता मनुष्य की जरूरतो को पूरा करें, यह भी उतने ही आश्चर्य की बात है। मनुष्य ब्रह्माण्ड को कैसे जान पाता है, इसका, अन्तिम विश्लेषण में, यही उत्तर हो सकता है कि मनुष्य और वस्तु-जगत मे एक प्रकार का आन्तरिक सामंजस्य है, और मनुष्य वस्तु-जगत का एक आवश्यक कार्य या परिणाम है।

अब हम दर्शन की अन्तिम क्रिया की परीक्षा करे, अर्थात् उसके मूल्याकन-व्यापार की। दर्शन दो प्रकार का मूल्याकन करता है। प्रथमत दर्शन यह जानना चाहता है कि कोई सास्कृतिक क्रिया प्रामाणिक है अथवा नही। दूसरे, दर्शन यह निश्चित करना चाहता है कि किसी सास्कृतिक क्रिया का समस्त जीवन की अपेक्षा से क्या महत्व है। हम मूल्याकन के इन दो प्रकारो की अलग-अलग परीक्षा करेंगे।

दर्शन विज्ञान की धारणाओ का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है, जब कि वह स्वय अपनी धारणाओं का रचनात्मक विश्लेषण करता है। वह विज्ञान के प्रत्ययों का विश्लेषण और मूल्याकन इस दृष्टि से करता है कि उन्हे अपनी व्यापक प्रत्यय-समष्टि मे स्थान दे सके। उदाहरण के लिये दर्शन भौतिक शास्त्र के सहचार-सम्बन्ध (Correlation) के प्रत्यय की परीक्षा इस दृष्टि से कर सकता है कि उसे कार्य-कारण की अथवा पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की अधिक व्यापक धारणाओ के अन्तर्गत ला सके। प्राय दर्शन की रुचि विज्ञान के उन प्रत्ययो मे होती है जिनका सम्बन्ध उसकी अन्वेषण-पद्धति और व्याख्या से होता है। इसी प्रकार दर्शन को कला-सृष्टि के सामान्य रूप मे अभिरुचि होती है, उसे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में भी अभिरुचि रहती है।

निष्कर्ष यह कि दर्शन सास्कृतिक चेतना के विभिन्न रूपो की सामान्य विशेषताओ का विश्लेषण और परीक्षा करता है। दर्शन का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि विभिन्न अनुभव-क्षेत्रो से सम्बद्ध विचारको के अवश्य-स्वीकृत मन्तव्यो (Postulates) और अन्वेषण-पद्धतियो में सामजस्य स्थापित करे। यथार्थ की विभिन्न प्रतीकात्मक अभि-

व्यक्तियो के सम्बन्ध मे, जिन्हें मानव-मस्तिष्क इकट्ठा कर लेता है, उस मस्तिष्क की बोधात्मक क्रिया को निर्विरोध अथवा आत्मसगत बनाना दार्शनिक चिन्तन का विशेष प्रयोजन है। दर्शन मानवीय चिन्तन को सुसम्बद्ध तथा सगत बनाने की ओर प्रयत्नशील रहता है। इस दृष्टि से दर्शन इसका विचार करता है कि एक प्रतीकात्मक क्रिया से दूसरी प्रतीकात्मक क्रिया तक जाते हुए हमारी बुद्धि किस तरह विरोध या विसगति को बचाती हुई चले।

केवल सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रो (Theoretical Disciplines) ने हमारा विचार करने का ढग हमारी एक प्रकार के कथनो से दूसरे प्रकार के कथनो तक पहुँचने की क्रिया, हमारी अनुमान-प्रणाली, तर्कशास्त्र के नियमो द्वारा शासित होती है; किन्तु कविता, सगीत आदि ललित कलाओं के क्षेत्र में एक अनुभव से दूसरे अनुभव अथवा अनुभव-खण्ड की ओर सक्रमण करने के नियम हमारी सौन्दर्य-संवेदना पर निर्भर होते हैं। वे तर्कशास्त्र के नियमो से भिन्न भी हो सकते हैं। एक श्रेष्ठ आलोचक अपनी संवेदना से यह जान लेता है कि किसी कविता या चित्र में दो भिन्न अनुभवो अथवा प्रतीको का सगठन उचित हुआ है अथवा नही, यद्यपि वह इस औचित्य को हमेशा नियमो के रूप मे प्रकट नही कर पाता। हम पहले कह चुके हैं कि समीक्षा एक प्रकार की दार्शनिक क्रिया है। जिसे हम सौन्दर्य शास्त्र अथवा अलकारशास्त्र (Aesthetics) कहते हैं, वह दर्शन की ही एक शाखा है, जहाँ आलोचना-क्रिया के सामान्य नियमो अथवा सिद्धान्तो का निरूपण किया जाता है।

सौन्दर्य-दर्शन का काम केवल उन स्थितियो का अन्वेषण ही नही है जिनमें एक कलाकृति प्रामाणिक अथवा ग्राह्य बन जाती है, वह उन तत्वो का भी अन्वेषण करता है जो उस कलाकृति को महत्ता प्रदान करते हैं। सामान्य रूप में दर्शन जिसका विषय विविध मूल्य है, न केवल यह जानने की कोशिश करता है कि प्रामाणिकता कितने प्रकार की होती है, बल्कि यह भी कि महत्ता के कितने दर्जे होते हैं, और महत्व के हिसाब से विभिन्न मूल्यो अर्थात् महत्वपूर्ण जीवन-क्षणो को एक साध्य-साधन क्रम में किस प्रकार व्यवस्थित और सम्बद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार दर्शन केवल प्रामाणिकता की ही जाँच नही करता, वह यह भी जानने की कोशिश करता है कि जीवन में किन मूल्यो का कहाँ और क्या स्थान होना चाहिए।

हमने दर्शन के विभिन्न कार्यों का विवरण दिया। दर्शन के प्रथम दो कार्य विशुद्ध

रूप में बौद्धिक तथा तर्क-मूलक होते हैं, वे बुद्धि-मूलक अन्तर्दृष्टि अथवा प्रतिभान (Rational Intuition) पर निर्भर करते है। जहाँ तक दर्शन विश्लेषण और व्याख्या करता है, वह मानवीय विद्याओ का अंग है, और उसके वक्तव्यो की जाँच ठीक वैसे ही हो सकती है जैसे कि दूसरी मानवीय विद्याओ के कथनो की परीक्षा। जैसा कि हम बतला चुके हैं, मानवीय विद्याओ की अन्वेषण-विधि कल्पनात्मक विस्तार तथा कल्पना-मूलक सम्बन्ध -स्थापन द्वारा तादात्म्य की अनभूति है। इस विधि का उपयोग उन सब दशाओं मे किया जाता है जहाँ हम स्थापना तथा निगमन-मूलक तर्क-प्रणाली ( Hypothetical-deductive Reasoning) से काम लेते हैं। दार्शनिक तर्कना के हर कदम पर हमे यह महसूस होना चाहिए कि वह निश्चयात्मक है। ऐसा महसूस करने की सम्भावना के मूल में क्या रहता है ? बात यह है कि दार्शनिक तर्कना मे हम उन अर्थों अथवा रूपाकारो के बारे में सोचते है जिनका सम्बन्ध मानवीय प्रयोजनो से होता है और जिन्हे स्वय मनुष्य, अपनी आन्तरिक जरूरतो के कारण, बाह्य जगत पर निक्षिप्त कर देता है।

कल्पनात्मक विस्तार तथा सम्बन्ध-स्थापन की क्रियाओ द्वारा ही मानवीय मस्तिष्क जीवन की विभिन्न सम्भावनाओ के अपेक्षित महत्व का निर्धारण कर पाता है; उन सम्भावनाओ तथा उनके सापेक्ष या निरपेक्ष मूल्यो दोनो का बोध उक्त विधियो से ही होता है। अगले अध्याय मे, जहाँ हम नैतिक जीवन के आदर्शो की विभिन्नता तथा सापेक्षता का विचार करेंगे, इस विषय पर कुछ और रोशनी डाली जायगी।

## दर्शन की समन्वय-क्रिया

अब हम एक दूसरी समस्या उठायेंगे। कहा जाता है कि दर्शन मे विभिन्न कोटियों के ज्ञानों का समन्वय किया जाता है। क्या यह ठीक है ? यदि हाँ, तो किस अर्थ में ? जैसा कि हमने सकेत किया प्राचीन विचारक प्राय यह मानते रहे हैं कि दर्शन समस्त ज्ञान का समन्वय करता है। आज भी कुछ विचारक इसे मानते हैं। उदाहरण के लिये डॉ० ब्रॉड ने लिखा है · 'दर्शन की कम-से-कम दो सम्भव क्रियाएँ हैं, जिन्हे मै क्रमशः समग्र-दर्शन (Synopsis)' तथा समन्वय (Synthesis) कहूँगा। समग्र दर्शन का अर्थ है अनुभव के उन सब क्षेत्रो या पहलुओ को, जिन्हे साधारण लोग अलग-अलग रखते है, एक साथ करके देखना। समन्वय का अर्थ है ऐसे आत्म-सगत एव सम्बद्ध

प्रत्ययों (Coherent Set of Concepts) तथा सिद्धान्तों की उद्भावना जिनके द्वारा एकत्रित किये हुए समस्त तथ्य-क्षेत्रों को सन्तोषप्रद रूप में समझा जा सके।"[३]

हमें इसमें सन्देह है कि दर्शन कभी भी वैसे प्रत्यय तथा सिद्धान्त दे सकता है जिनका ब्रॉड ने उल्लेख किया है। ऊपर हमने स्पेन्सर के इस मत की समीक्षा की थी कि दर्शन पूर्णतया एकीकृत ज्ञान है, और उसका काम व्यापकतम सिद्धान्त-सूत्रों का अन्वेषण है। हम स्पेन्सर, स्पिनोजा, हीगल आदि की चिन्तन-पद्धति के कायल नहीं हैं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन, एक प्रकार से, समस्त ब्रह्माण्ड को अथवा समस्त अनुभव-जगत को एक साथ देखने की कोशिश करता है। हमारा कहना है कि इस प्रकार देखने में दर्शन का जो प्रयोजन होता है वह विज्ञान के प्रयोजन से भिन्न है। विज्ञान विभिन्न सत्ताओं के कारणों की खोज करता है, वह उन नियमों की खोज भी करता है जो विभिन्न घटनाओं को शासित करते हैं। इसके विपरीत दार्शनिक की रुचि उन अनुभवों तथा क्रियाओं में होती है जिनमें मूल्य निहित रहते हैं। वह अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों का अन्वेषण इसलिये करता है कि उन जीवन-सम्भावनाओं का उद्घाटन कर सके जिनमें मनुष्य मूल्यों की उपलब्धि करता है। दार्शनिक की रुचि कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं होती। दर्शन का इतिहास देखने से जान पड़ता है कि दार्शनिक लोग चरम कारण अथवा परम तत्व को जानने का प्रयत्न करते रहे हैं, किन्तु असलियत यह है कि दर्शन अस्तित्व अथवा सत्ता के ऐसे रूप की खोज करता रहा है जिसे अनन्त मूल्य का अधिष्ठान माना जा सके। हमारा विचार है कि अतीत की अनेक बड़ी दर्शन-पद्धतियाँ इस वक्तव्य के आलोक में समझी जा सकती हैं। उदाहरण के लिये वेदान्त के ब्रह्म को संसार का कारण अथवा आदि कारण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वेदान्त के अनुसार कार्य-कारण-भाव की धारणा ब्रह्म पर लागू ही नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म कूटस्थ और निर्विकार है, जिसमें कारणता नहीं रह सकती। दूसरे, वेदान्त यह मानता है कि यह जगत मायामय है और उसकी प्रतीति एक भ्रांति है, ऐसी दशा में जगत की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। सच यह है कि वेदान्त ने इस प्रश्न में कभी अभिरुचि नहीं ली कि इस दुनिया की उत्पत्ति अथवा सृष्टि कैसे हुई। उसकी अभिरुचि का मुख्य केन्द्र यह लक्षित कर देना रहा कि मोक्ष अथवा ब्रह्मभाव किसे कहते हैं, और उस दशा को साधक कैसे प्राप्त कर सकता है।[४] वेदान्त का चरम तत्व वेदान्त के चरम श्रेय अथवा मोक्ष से भिन्न नहीं है, और उसकी प्राप्ति ही मानव-जीवन का परम ध्येय है।

इसी प्रकार कान्ट भी ईश्वर को आदि कारण से समीकृत नही करता। कान्ट के विचार में कारण की धारणा केवल व्यवहार-जगत में ही लागू होती है, उसे ईश्वर आदि अतीन्द्रिय पदार्थों पर लागू नही किया जा सकता। बौद्धों के अनसार जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण है, निर्वाण उनका उच्चतम या निरपेक्ष तत्व भी है। माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ मे नागार्जुन ने निर्वाण का जो वर्णन दिया है वह कुछ वैसा ही है जैसा अध्यात्मवादी विचारको द्वारा दिया हुआ ब्रह्म का वर्णन।[८] किसी भी दशा मे निर्वाण को आदि कारण से समीकृत नही किया जा सकता। इसी प्रकार हीगल का निरपेक्ष प्रत्यय चेतना की सर्वोच्च दशा अथवा उसकी सर्वोच्च भूमिका को सकेतित करता है, यह समझना कठिन हो जाता है कि कैसे उसे विश्व का कारण अथवा उत्पत्तिकर्ता कहा जा सकता है।

दूसरी ओर जब प्राचीन विचारक इस जगत को मिथ्या अथवा अतात्विक कहते है, तो प्राय उनका मतलब यह घोषित करना होता है कि इस दुनिया के सुख तथा ऐश्वर्य क्षणिक है, जिनमे स्थायी मूल्य नही रहता। उदाहरण के लिए प्लेटो के जाति-प्रत्ययवाद मे गुफा के रूपक द्वारा यह बताने की कोशिश की गई है कि इस दुनिया की चीजें अर्थहीन या सारहीन छाया मात्र है, और हमें उनकी ओर से अपना मन हटाकर प्रत्यय-जगत की ओर लगा देना चाहिए। वेदान्त के इस सिद्धान्त की कि जगत मिथ्या है, ऐसी ही व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए अद्वैतसिद्धि के एक टीकाकार श्री विट्ठलेशोपाध्याय ने लिखा है कि अद्वैत वेदान्त के जगत को मिथ्या घोषित करने का प्रयोजन यह है कि साधक में इस दुनिया की चीजो के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न कर दी जाय। दुनिया के प्रति आसक्ति की भावना यह कहने से उतनी अच्छी तरह दूर नही होती कि यहाँ के सुख-भोग क्षणिक है, जितनी कि यह कहने कि दुनिया मिथ्या है।"[९] यहाँ पाठक स्मरण रक्खें कि "अद्वैतसिद्धि" नामक ग्रथ का प्रधान उद्देश्य जगत के मिथ्यापन की सिद्धि है। उक्त ग्रथ से काफी पहले अपनी पुस्तक "श्लोकवार्तिक" में श्री कुमारिल ने विज्ञानवाद की समीक्षा करते हुए कहा था कि बुद्ध ने जब जगत को मिथ्या बतलाया, तो उसका उद्देश्य यह था कि लोगो में दुनिया की चीजो के प्रति वैराग्य उत्पन्न कर दें कुछ लोगो ने भूल से इसका मतलब यह लगाया कि बुद्ध जी के अनुसार ज्ञान का बाह्य विषय होता ही नही।"[१०]

हमारा मत है कि दर्शन की एकीकरण तथा समन्वय-क्रिया का विषय जीवन के मूल्य है। मूल्य-विज्ञान होने के नाते ही दर्शन विभिन्न बोधो का एकीकरण अथवा

समन्वय करने की चेष्टा करता है। फिर भी हम इसे अस्वीकार नही करना चाहते कि बहुत से महत्वपूर्ण दार्शनिको ने अपने चिन्तन में दर्शन को एक वैज्ञानिक प्रयत्न के रूप में ही स्वीकार किया है, और दार्शनिक चिन्तन द्वारा वही काम करने की कोशिश की है जो कि विज्ञानो मे किया जाता है। जैसे-जैसे विज्ञानो के क्षेत्र, उनकी सफलता तथा महत्व मे वृद्धि होती गई है, वैसे-वैसे दार्शनिक विचारक इस बात पर जोर देते आये हैं कि दर्शन को वैज्ञानिक विचार-पद्धतियो का अवलम्बन लेना चाहिए। यह बात आधुनिक योरपीय दर्शन की प्रगति पर विशेष रूप मे लागू है।

किन्तु भौतिक विज्ञानो की प्रगति का तथा-कथित वैज्ञानिक दर्शन पर एक दूसरा प्रभाव भी पड़ा है, विज्ञान ने धीरे-धीरे तत्व-दर्शन की समस्याओ को उसके क्षेत्र से हटाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि तथा-कथित वैज्ञानिक दार्शनिक आज यह बतलाते हैं कि दर्शन का कार्य केवल विश्लेपण है। प्रो० ऐयर ने जान लॉक, बार्कले आदि का नाम यह दिखाने के लिये लिया है कि दर्शन मुख्यत विश्लेपण ही है। ऐयर का विचर है कि अधिकाश बड़े दार्शनिको ने अधिकतर विश्लेपण ही किया है, वे तत्व-चिन्तक ( Metaphysicians ) नही थे।[११] उन्होंने लॉक के "मानवीय प्रज्ञा पर एक निबन्ध" का हवाला देते हुए कहा है कि वह 'मुख्यत एक विश्लेपणात्मक ग्रथ है।'[१२] ऐसा जान पडता है कि तथा-कथित वैज्ञानिक दर्शन को समन्वय से कोई मतलब नही है। तर्कमूलक भाववादियो के विचार में दर्शन के वक्तव्य तथ्य-मूलक नही होते, उनका विषय भाषा के सम्बन्ध होते हैं, और इसलिये दर्शन तर्कशास्त्र का एक अग या विभाग है।[१३]

उक्त मन्तव्य के विरुद्ध हम मानते हैं कि दर्शन कभी भी अपनी समग्र दृष्टि लेने की आदत को नही छोड सकता और न वह समन्वय-क्रिया से ही विरत हो सकता है। किन्तु भविष्य में दर्शन की उन क्रियाओ का उद्देश्य मनुष्य के सास्कृतिक जीवन की सम्भावनाओ को लक्षित करना ही होना चाहिए। दर्शन को यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि मनुष्य की सौन्दर्यमूलक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन-सम्भावनायें क्या हैं। अपनी सृजनशील प्रवृत्ति की प्रेरणा से मनुष्य अनवरत उच्चतम मूल्यो के लाभ की सम्भावनाओं का अन्वेपण करता रहता है। दर्शन का यह काम है कि इस अन्वेपण को व्यवस्थित प्रयत्न का रूप दे, और उसकी दिशा का निर्देश करे।

ब्रह्माण्ड के बीच मनुष्य का जीवन दो विरोधी माँगो का सघर्ष-केन्द्र बना रहता

है; एक ओर उसकी आग्नेय कल्पनाशक्ति की ऊँची माँगे है, और दूसरी ओर उसके चारो ओर फैली हुई वास्तविकता की नीरस माँगे या जरूरते। मनुष्य एक पूर्ण जीवन की कल्पना करता है और उसे यथार्थ बनाने के लिये अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है। शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के अनेक नियमों की परवाह न करते हुए कुछ समझदार दीवानो ने "स्थितप्रज्ञ" के आदर्श की कल्पना की। आश्चर्य की बात है कि उनमे से कुछ उस आदर्श की उपलब्धि भी कर सके। ससार के प्रमुख कवियो ने यह कभी नही माना कि उनकी प्रियतमाएँ केवल हाड-मास की पुतलियाँ है, जिनकी मदद से कतिपय शारीरिक क्षुधाए पूरी की जा सकती है। वे उनके व्यक्तित्वों में लगातार अपरिमित सौन्दर्य का प्रक्षेप करते आये है। मनुष्य यह विश्वास रखता है। कि वह दुनिया को तथा अपने को बदल सकता है; इसलिये वह यह मानने से इनकार करता है कि वह एक साधारण प्राणी है, दुनिया की असख्य चीजो मे एक, अथवा धरती के बहुत से प्राणियो मे से एक। मनुष्य दर्शन का अवलम्बन इस आशा मे लेता है कि वह उस उच्च परिणति को लक्षित कर सकेगा जहाँ पहुँचने की हम आशा करते या कर सकते है।

हमारे इन वक्तव्यो का सम्बन्ध जीवन तथा जीवन की अनुभूति के विभिन्न स्तरो या धरातलो की उस कल्पना से है जिनका हम पिछले किसी अध्याय मे उल्लेख कर आये है। जो व्यक्ति जितने ही बुद्धिमान तथा सवेदनशील होते है, वे याथार्थ के उतने ही अधिक विस्तार को छू कर जीवित रहना चाहते है, और विश्व-ब्रह्माण्ड से उतनी ही अधिक माँगे करते है। यही कारण है कि प्रत्येक युग में अधिक सवेदनशील तथा मेधावी मनुष्य अपने को दार्शनिक प्रश्नो से उलझते पाते है। इस प्रकार के लोग धरती के साधारण जीवन से सन्तुष्ट नही हो पाते।

फिलासफी या दर्शन उस आन्तरिक बेचैनी की अभिव्यक्ति है जो एक उच्च कोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना मे निहित होती है, उन आत्माओ मे जो अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहती है। इस प्रकार की आत्माएँ साधारण सफलताओं तथा उपलब्धियो से सन्तुष्ट नही होती। वे अपने सामने ऊँचे लक्ष्यो को रखती है, और यह जानने की कोशिश भी करती है कि उन लक्ष्यो तक किस तरह पहुँचा जा सकता है। वे दर्शन की ओर आकृष्ट होती है, क्योकि दर्शन का प्रमुख कार्य जीवन की उच्चतम सम्भावनाओ का निरूपण करना है, उन सम्भावनाओं का जिन्हे यथार्थ बनाना सम्भव है। मनुष्य यह चाहता है कि उसका उक्त सम्भावनाओं

का अन्वेषण प्रामाणिक तथा सही हो, एक भुलावा मात्र न हो। इसलिये दर्शन मनुष्य की समस्त सार्थक अनुभूतियो तथा विज्ञानो की समस्त साक्षी को बटोर कर विश्व का एक सम्पूर्ण चित्र खीचने की कोशिश करता है, और उस चित्र की अपेक्षा मे जीवन की सम्भावनाओ का निरूपण करता है।

मनुष्य की उस कल्पना को जो इस प्रकार का चित्र खीचती है हम दार्शनिक कल्पना कह सकते हैं। सास्कृतिक दृष्टि से तत्व-दर्शन का मुख्य उपयोग यह है कि वह मनुष्य की बोध-कल्पना तथा मूल्य-कल्पना को अधिकाधिक उत्प्रेरित करे। दार्शनिक क्रियाओ के महत्व को हृदयगम करने का एक तरीका यह है कि हम थोडी देर को यह सोच लें कि दर्शन का अभाव हो गया। दर्शन का अभाव होने का मतलब यह है कि मनुष्य की दार्शनिक प्रकृति अथवा दार्शनिक ढग से देखने की और सोचने की वृत्ति लुप्त हो गई। उस दशा मे निम्न कोटि की पहेलियाँ बूझने या हल करने की कोशिश करने वालो का अभाव हो जायगा : मनुष्य प्रतीको की मदद से ऐसे दुरूह तथा जटिल सम्बन्धो की कल्पना कर लेता है कि जिन तक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा नही पहुँचा जा सकता; मानवीय व्यवहार की अपेक्षा में भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के अधिक व्यापक नियम उतने प्रभावशाली नही होते जितने कि मनोविज्ञान, अर्थ-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, आदि के नियम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी एव नैतिक प्रेरणाएँ, उदाहरण के लिये मनुष्य किसी से प्रेम करने लगता है इसलिए नही कि उस पर भौतिकशास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के सामान्य नियमों का शासन है, बल्कि इसलिए कि उसके मन में बुद्धि, भावना, नैतिक व्यवहार आदि की कतिपय विशेपताओ के प्रति पक्षपात है। यदि दार्शनिको का अस्तित्व न हो तो कोई उस बडी विपमता को नहीं देखेगा जो ब्रह्माण्ड की अपेक्षा में मनुष्य की क्षुद्रतम स्थिति तथा उसकी भयकर आकाक्षाओ एव प्रेरणाओ के बीच पाई जाती है। दर्शन हमारे सामने अणु तथा विराट जगत के असख्य रूपो को उपस्थित करता है, जीवन की अनगिनत सम्भावनाओ एव दृष्टियो की उद्भावना करता है, और जीवन तथा जगत के असंख्य सम्बन्धों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार दर्शन हमें जीवन की क्षुद्र स्थितियो से ऊपर उठाकर विश्व-ब्रह्माण्ड की हलचल के केन्द्र मे स्थापित कर देता है। दूसरी कोई भी विद्या, ग्रह-नक्षत्र-विषयक खगोलशास्त्र और सूक्ष्म जीवों का अध्ययन करने वाला प्राणिशास्त्र भी, हमारे मन मे विस्मयपूर्ण आनन्द की वैसी व्यापक भावना नही जगा सकते जैसी कि दर्शन जगाता है। दर्शन हम मे जो चेतना उत्पन्न करता है वह जीवन

को उच्चतम कोटि की तृप्ति देती है। खगोल-शास्त्र तथा प्राणि-शास्त्र के पडित अपने यत्रो द्वारा विपुल एव विघ सत्ताओ का साक्षात्कार करते हैं, लेकिन उनकी सम्बद्धता मे जीवन की आवेगात्मक समावनाओ का जैसा अनुभव दर्शन मे मिलता है वैसा उक्त विज्ञानो मे नही। इस दृष्टि से देखने पर दर्शन कला के उच्चतम रूपो का समकक्ष जान पडता है। बौद्धिक अन्वेषण के क्षेत्र मे दर्शन का वही स्थान है जो कलाओ मे कविता का। उन लोगो को जिनकी प्रकृति प्रधानतया बौद्धिक है, दर्शन से वैसे भी आनन्द मिलता है जैसे कि आवेगात्मक प्रकृति के लोगो को कविता से। यही कारण है कि तर्कमूलक भाववाद जैसे सिद्धान्त दार्शनिक चिन्तन को बुद्धि-जगत से वैसे ही निर्वासित नही कर सकते जैसे कि प्लेटो राज्य से कविता को निर्वासित नही कर सका।

यह लक्षित करने की बात है कि दर्शन जिन तथ्यो तथा सम्बन्धो का निरीक्षण करता है उनका निरीक्षण किसी दूसरे विज्ञान में नही होता। दार्शनिक निरीक्षण का समावेश इन्द्रियो के प्रत्यक्ष मे नही हो सकता। इसीलिये दार्शनिक वक्तव्यो की परीक्षा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा नही की जा सकती। यह कहना भी सही नही है कि दर्शन के वक्तव्य या कथन तर्कशास्त्रीय वक्तव्य या कथन होते हैं, जिनका लक्ष्य भाषा-प्रतीको अथवा वाक्यो के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। ऊपर हमने जिन कथनो के उदाहरण प्रस्तुत किये उनका अर्थ तथा अभिप्राय मानवीय रुचियों एव प्रयोजनो के व्यापक सदर्भों मे ही जाना जा सकता है।

इन विचारणाओ से हम अर्थवत्ता अर्थात् वाक्यो अथवा कथनो के अर्थवान होने की उपयुक्त पहचान प्राप्त कर सकते है। वह कोई भी वाक्य या कथन सार्थक होता है जिसका मानवीय रुचियो तथा मानवीय कल्पना की जरूरतो के अनुरूप कोई मतलब है। इस परिभाषा के अनुसार केवल कथन ही सार्थक नही होते बल्कि प्रश्न और आदेश तथा विधि-निषेध भी सार्थक एव बुद्धिगम्य हो जाते है। उक्त अर्थ तथा मत मे सब प्रकार के वक्तव्य, फिर चाहे वे स्थिति-बोधक (Categorical) हो अथवा सापेक्ष (Hypothetical), वे उपन्यास आदि साहित्य के वाक्य हो अथवा ऐतिहासिक कृतियो के वाक्य, सार्थक समझे जाने चाहिएँ।

जैसा कि हमने ऊपर कहा, विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले वक्तव्यो में तर्कशास्त्रीय सम्बन्ध नही हो सकते। लेकिन चूँकि विभिन्न वक्तव्य-क्षेत्र सभी मानवीय प्रयोजनो से सम्बन्धित होते हैं—उन प्रयोजनो से जो एक ही मानव व्यक्तित्व मे पाये

जाते हैं—इसलिये विभिन्न विज्ञानो की आवश्यक मान्यताओ, पद्धतियो तथा निष्कर्षो का एक-दूसरे के लिये अर्थ एव महत्व हो जाता है। जहाँ तक दर्शन विभिन्न विज्ञानो तथा अनुभवक्षेत्रो का समन्वय करता है, वहाँ तक वह समन्वय तर्क-मूलक न होकर मूल्यात्मक होता है। दर्शन विभिन्न ज्ञान-समष्टियो तथा वाक्य-रूपो को एक ही ढग से एकत्रित कर सकता है, अर्थात् उन्हे बोधात्मक महत्व के एक क्रम मे व्यवस्थित करके। दूसरा कोई ऐसा तरीका नही है जिससे भौतिक विज्ञानो, सौन्दर्य-शास्त्र, नीति-शास्त्र तथा अध्यात्म के क्षेत्र से सम्बन्धित वाक्यो को एकीकृत किया जा सके।

यहाँ हम जो कुछ कह रहे है उसका तात्विक अनेकवाद से सम्बन्ध है, जिसका उल्लेख हमने दूसरे अध्याय में किया था। पूछा जा सकता है कि हमारी सहज बुद्धि भौतिक जगत के सम्बन्ध मे जिस ज्ञान का प्रतिपादन करती है उसमे तथा भौतिकशास्त्र द्वारा उपस्थित किये हुए जगद्बोध में बौद्धिक सत्यता की दृष्टि से क्या अन्तर है? क्या हमें यह मानना चाहिए कि भौतिकशास्त्र द्वारा उपस्थापित बोध ज्यादा मान्य है? प्रश्न है, क्या कुर्सियो, मेजो तथा मनुष्यो की वास्तविक सत्ता है? अथवा वे अधिक मौलिक परमाणुओ, विद्युदणुओ आदि का मिथ्या आभास या विवर्त मात्र है?

उक्त प्रश्नो का उत्तर हमारे अनुसार निम्न होगा। विश्व के सम्बन्ध मे कोई भी सिद्धान्त, फिर चाहे वह वैज्ञानिक हो अथवा दार्शनिक, यदि दैनिक अनुभव की वस्तुओ की यथार्थता से इनकार करेगा तो वह स्वय अपने आधार को नष्ट कर देगा। विज्ञान को भी विभिन्न यत्रो तथा उपकरणो पर निर्भर करना पडता है, क्योंकि उन यत्रों के बिना प्रयोग नही किये जा सकते। इसलिये भौतिकशास्त्र इन यत्रो की वास्तविकता से इन्कार नही कर सकता। इसका मतलब यह हुआ कि भौतिकशास्त्र जड जगत के जो सैद्धान्तिक वर्णन उपस्थित करता है, वे ही एकमात्र सही वर्णन नही हैं। हमारी सहज बुद्धि विश्व का जो विवरण देती है वह भी एक दृष्टि से सही है, और कवि तथा चित्रकार जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वह भी मिथ्या नहीं है। ज्यादा-से-ज्यादा वैज्ञानिक यह दावा कर सकता है कि, कुछ प्रयोजनो को दृष्टि में रखते हुए, उसके द्वारा दिये हुए विश्व के विवरण सहज बुद्धिके विवरणोकी अपेक्षा ज्यादा उपयोगी होते हैं, और प्रकृति के सम्बन्ध मे हमारी अन्तर्दृष्टि को अधिक पुष्ट करते हैं। जब हम कहते हैं कि किसी भी क्षेत्र के वर्णन दूसरे वर्णनो से ज्यादा श्रेष्ठ अथवा सही हैं, तो हमारा मतलब यह होता है कि प्रथम वर्णन हमारे ज्यादा स्थायी प्रयोजनो के लिए उपयोगी है। उदाहरण के लिये यह समझा जाता है कि एक विस्फोटक पदार्थ अथवा

विषैली गैस के सम्बन्ध मे रसायन-शास्त्र द्वारा दिया हुआ विवरण ज्यादा विश्वसनीय होता है, कारण यह है कि उस विवरण का मनुष्य के एक बड़े प्रयोजन के लिये विशेष महत्व है, अर्थात् उसकी शक्तिशाली बनने की लालसा के लिये। भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत किया हुआ जड़ जगत का विवरण आदरणीय समझा जाता है या आदृत होता है, इसका प्रमुख कारण यह है कि वह विवरण व्यावहारिक धरातल पर सफल होने मे हमारा सहायक होता है। किन्तु जिस समय हमारे सामने बहुत से अतिथियो को बिठाने तथा भोजन कराने की समस्या होती है, उस समय हम सहज बुद्धि पर निर्भर करते है, और भौतिकशास्त्र से पूछने नही जाते कि कुर्सियो तथा मेजो एव खाद्य पदार्थों का वास्तविक रूप क्या है।

विश्व के अनेक तथ्य-मूलक वर्णनो मे वैज्ञानिक वर्णन का उसी प्रकार ऊँचा स्थान है जैसे कि शक्ति-कांक्षा का मनुष्य की दूसरी आकाक्षाओ के बीच, बल्कि उससे भी अधिक। विज्ञान मनुष्य को शक्तिमान ही नही बनाता, अधिक सम्पत्ति के उत्पादन का कारण बनकर वह मानवीय सुख मे भी वृद्धि करता है। वस्तुत विज्ञान आज की सभ्यता का प्रमुख आधार है। किन्तु यह सब स्वीकार करने का अर्थ यह नही है कि मनुष्य की दूसरी सास्कृतिक क्रियाएँ अर्थवती नही है, अथवा कम अर्थवती है। मानवीय विद्याओ का भी उतना ही महत्व है जितना कि भौतिक विद्याओ का। हमारे विचार मे तो मानवीय विद्याओ का और भी अधिक महत्व है। विभिन्न सांस्कृतिक क्रियाओ को ज्ञान अथवा मूल्यवान चेतना का उपकरण मानते हुए दर्शन यह जानना चाहता है कि इस रूप मे विभिन्न शास्त्रो की प्रकृति एव प्रामाणिकता क्या है।

इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करने के लिये दर्शन अनिवार्य रूप से विभिन्न अन्वेषको के अन्वेषणात्मक व्यापारो, विविध कलाओ मे निबद्ध अनुभवो एव विभिन्न नैतिक तथा धार्मिक शिक्षको के उपदेशो पर निर्भर करता है। अधुनातन काल मे दार्शनिक चिन्तन ने भौतिकशास्त्र के अन्वेषको के दृष्टिकोण तथा पद्धतियों मे होने वाले परिवर्तनो पर विशेष ध्यान दिया है। भौतिक विज्ञान क्या करता है? विभिन्न प्रयोग उसके सामने कतिपय तथ्य उपस्थित करते है, उन तथ्यो के बल पर वह समस्त भौतिक यथार्थ की रूपरेखा खीचने का प्रयत्न करता है, जैसे कि कोई समुद्र की सतह पर तैरते हुए हिम-पिण्ड के एक हिस्से को देखकर उसके शेष हिस्से की रूपरेखा बनाने का प्रयत्न करे। वैज्ञानिक अन्वेषण विधि कुछ वैसी ही है जो किसी तस्वीर के कुछ खण्ड दिये हुए होने पर उन्हे इस प्रकार सयुक्त करने मे प्रतिफलित होती है कि वे एक

पूर्ण चित्र के भाग बन सकें। श्रोडिन्जर बतलाते है कि किसी भी सम्बन्ध मे मनुष्य जिन प्रयोगो को कर सकता है उनकी सख्या बहुत बडी होती है, इस बडी सख्या मे से थोडे ही प्रयोगो को हम वस्तुत कर पाते हैं। उन थोडे किये हुए प्रयोगो के बल पर हम यथार्थ की बनावट के सम्बन्ध मे कल्पना करते हैं। यह कल्पना कितनी कम निश्चयात्मक होती है यह समझने के लिये इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कोई एक भी नया प्रयोग, ऊपर के उदाहरण मे तस्वीर के एक नये टुकडे की भाँति, हमारी पुरानी व्याख्यात्मक योजना को पूर्णतया बदल दे सकता है। तस्वीर के प्रत्येक नये टुकडे की भाँति प्रत्येक नया प्रयोग, यथार्थ की रचना के बारे में, हममें नयी कल्पना जगाता है। मानव मस्तिष्क यह प्रयत्न करता है कि सम्पूर्ण उपलब्ध प्रयोगात्मक तथ्यो के आधार पर वह यथार्थ जगत का ऐसा चित्र बनाये जो अपने मे सगत हो, लेकिन वास्तविक अनुभव तथा प्रयोगो पर किसी प्रकार की रोक नही लगायी जा सकती, भविष्य के प्रयोग हमारे सामने कुछ भी उपस्थित कर सकते हैं। इसलिये भौतिकशास्त्र के सामान्य कथन कभी पूर्णतया सत्य नही होते, वे पूर्ण या चरम सत्य होने का दावा कर ही नही सकते।

मानवीय विद्याओ के दृष्टिकोण और निष्कर्ष भी बदलते रहते है, किन्तु यहाँ परिवर्तन का दूसरा कारण होता है। मानवीय विद्याओ का विषय एक ऐसा यथार्थ है, अर्थात् मानव जीवन और इतिहास, जो कभी पूर्णतया निर्मित या सिद्ध नहीं होता, बल्कि लगातार विस्तार और जटिलता मे बढता रहता है। जैसे ही एक नया महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा जाता है, अथवा एक नई सामाजिक व्यवस्था, चुनाव तथा शासन के एक नये रूप की, कल्पना की जाती है, अथवा विश्व के या विश्व सम्बन्धी चिन्तन के बारे मे एक नये सिद्धान्त का निरूपण किया जाता है, वैसे ही मानव-जीवन का स्वरूप बदल जाता है। उदाहरण के लिये गेटे का 'फाउस्ट', टॉलस्टाय की 'एनाकेरीनिना' जैसी कृतियाँ तथा जनतत्र एव तानाशाही जैसे शासन के रूप, मानवीय व्यवहार तथा प्रेरणाओ की नवीन सम्भावनाओ का उद्घाटन ही नही करते, उनमे वृद्धि भी कर देते हैं।

हमने बतलाया कि भौतिकशास्त्रो की रूपरेखाएँ बदलती रहती है, और मानवीय विद्याएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। चूँकि दर्शन की विषय-वस्तुएँ शास्त्र तथा विद्याएँ है, इसलिये यह अनिवार्य है कि दर्शन भी बदलता रहे। किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि दार्शनिक चिन्तन भौतिक शास्त्रो तथा मानवीय विद्याओ से अधिक

परिवर्तनशील हैं। वस्तुत अपनी प्रकृति मे दर्शन भौतिक विज्ञानो की अपेक्षा कलाओं तथा साहित्य के ज्यादा निकट है। इसलिये दर्शन मे होनेवाले परिवर्तन कला-साहित्य मे होने वाले परिवर्तनो से ज्यादा उग्र नही होते। वस्तुत कला-साहित्य में होने वाले परिवर्तन उतना उनके पुराने रूपो को वदल नही देते, जितना कि उनमे नये रूपो को जोड़कर वृद्धि कर देते हैं। इसलिये यह घोषित करना कि दर्शन अथवा तत्व-दर्शन एक वन्ध्या विद्या है जिसके अन्वेषको मे आपस मे सदैव मतभेद रहा है और जिसमे ऐतिहासिक अविच्छिन्नता का अभाव है, उचित नही है। मूल्यों के सामान्य विज्ञान के रूप में, अर्थात् एक ऐसी विद्या के रूप मे जिमका काम विभिन्न मूल्यो का अध्ययन करना है, दर्शन के इतिहास मे उतनी ही अविच्छिन्नता मिलेगी जितनी कि किसी दूसरे शास्त्र के इतिहास मे। इसका प्रमाण यह है कि हम आज भी प्राचीन विचारकों के तर्कशास्त्र से सम्वन्धित ही नही, वल्कि सौन्दर्य, नैतिकता और अध्यात्म से सम्वन्धित विवेचनो को भी, रसपूर्वक पढते और समझ पाते है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. हर्बर्ट स्पेन्सर, फर्स्ट प्रिन्सिपिल्स, तृतीय संस्करण, (विलियम्स और नार्गेट, लन्दन, १८७५), पृ० १३१, १३२, १३३।

२. दे० इन्टरनेशनल एन्साइक्लोपीडिया आव् यूनीफाइड सायन्स, भाग १, अंक १, आटो न्यूराथ का लेख पृ० १९, और आर० कारनेप का लेख, पृ० ५२-५८।

३. वही, पृ० ३४।

४. वही, पृ० ४९।

५. प्रोसीडिंग्ज आफ दी एरिस्टाटीलियन सोसायटी, सप्लीमेंटरी वाल्यूम १९, १९४५, एफ० वैजमैन का पर्चा, पृ० १३१।

६. अरस्तू, मैटाफिजिक्स, वुक ए (१)

७. आर० जी० कालिंगवुड, दी आइडिया आव् हिस्टरी, (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४६), भूमिका पृ० १।

८. यह वात सव प्रकार की समीक्षा-मूल्यांकन की क्रियाओं पर लागू है। कला और साहित्य साक्षात् अनुभव-जगत से सम्बन्धित रहते हैं और वहाँ से सामग्री प्राप्त करते हैं; इसके विपरीत समीक्षा और सौन्दर्य-शास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध अनुभव से हो, यह जरूरी नहीं है। समीक्षा मुख्यतः कला की प्रभविष्णुता और आन्तरिक संगति की जाँच करती है; सौन्दर्यशास्त्र अथवा कला-मीमांसा उक्त प्रभाव और संगति के

स्वरूप का अन्वेषण करती है। ऐसा ही अन्तर नैतिकजीवन और नीतिशास्त्र में है। दर्शन की अपेक्षा विज्ञानों—सामाजिक और भौतिक—का अनुभव-जगत से निकटतर सम्बन्ध होता है।

९. दे० सी० के० ऑगडेन और आई० ए० रिचर्ड्स, द मीनिंग ऑव् मीनिंग, (कीगन पाल, १९२७), पृ० १०-१२।

१०. प्रोसीडिंग्ज आव् एरिस्टाटीलियन सोसायटी, नई सीरीज भाग ३३, १९३२-३३; एल्० एस्० स्टैबिंग का पर्चा, द मैथड आव् एनेलिसिस इन मेटाफिजिक्स, पृ० ८२।

११. दे० फिलॉसिफिकल एनेलिसिस, संपादक मैक्स ब्लैक, (कारनेल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५०) कु० एलिस एम्ब्रोस का पर्चा, द प्राब्लेम आव् लिंग्विस्टिक इन्-एडीक्वेसी, पृ० २६।

१२. वही, पृ० २७।

१३. द फिलासफी आव् जी० ई० मूर, (द लायब्रेरी आव् लिविंग फिलासफर्स, १९४२), पृ० ३२३।

१४. प्रो० मूर का उदाहरण वही, पृ० ६६४-६५।

१५. दे० पार्सन्स और शिल्ज टुवर्ड ए जेनरल थियरी ऑव् एक्शन, पृ० ५०।

१६. लैंग्वेज, ट्रुथ, ऐन्ड लाजिक, पृ० ५९।

१७. वही, पृ० ६०।

१८. वही, भूमिका, पृ० २६।

१९. वही, पृ० ६१, २३।

२०. वीनबर्ग, एन एग्जामीनेशन ऑव् लाजिकल पॉजिटिविज्म, पृ० २३२।

२१. टुएन्टिएथ सैंचुरी फिलॉसफी, संपादक डी० डी० रयून्स, (फिलॉसिफिकल लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९४३), लाजिकल एम्पीरिसिज्म, पृ० ३७८।

२२. वही।

२३. फिलासफी ऐन्ड फिनामिनालॉजिकल रिसर्च, भाग ८, अंक ४, जून, १९४८ श्री जान वाइल्ड और जे० एल० कावलिज का पर्चा, आन द डिस्टिंक्शन बिट्वीन दी एनेलिटिक ऐन्ड द सिन्थेटिक, पृ० ६६२।

२४. एल्० एस्० स्टेबिंग, ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टु लॉजिक, प्रस्तावना।

२५. आउटलाइन आव् लॉज आव् थाट से एच० केल्डरवुड द्वारा वाकेबुलरी आव् फिलासफी में उद्धृत पृ० १९३-९४।

२६. सी० डी० ब्रॉड, फिलासफी ऐन्ड साइकीकल रिसर्च, (रतलेज ऐन्ड कीगन पाल, लन्दन, १९५३), पृ० ८

२७. शंकर कहते हैं : 'सृष्टि की आख्यायिका, क्रम आदि के ज्ञान से कोई लाभ नहीं; आत्मैक्य के ज्ञान से मुक्ति मिलती है, यह तो श्रुतियों की प्रसिद्ध बात है।' ऐतरेय उपनिषद्, अध्याय २, भूमिका।

२८. वर्णन इस प्रकार है : 'निरोधहीन, उत्पादहीन, नाशहीन अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, आगमनहीन, निर्गमहीन', इत्यादि।

२९. दे० न्यायामृताद्वैतसिद्धी, संपादक अनन्तकृष्ण शास्त्री, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, १९३४, भूमिका पृ० ७७।

३०. कुमारिल, श्लोकवार्तिक, (विबलिओथिका इन्डिका संस्करण, कलकत्ता १९०३), पृ० १४८, श्लोक २०२।

३१. लैंग्वेज, ट्रुथ ऐन्ड लाजिक, पृ० ५२।

३२. वही।

३३. वही, पृ० ५७।

# अध्याय ७

## नीति-धर्म या आचार-नीति

सम्भवत. ससार मे कोई ऐसा सामान्य-बुद्धि-सपन्न मनुष्य, स्त्री या पुरुष, नही है जो नैतिक भेदो को प्रकट करने वाले शब्दो का व्यवहार नही करता। जहाँ मनुष्य बातचीत करता है वहाँ समाज होता है, और समाज का अस्तित्व आवश्यक रूप मे नैतिक मूल्याकन के अस्तित्व से सहचरित है। कहने का तात्पर्य यह है कि नैतिकता का अनुभव सब मानवीय समाजो की एक सार्वभौम विशेषता है। अतएव, हमे यह जानकर आश्चर्य नही होना चाहिये कि सभ्य समाजो के दार्शनिक तथा सामाजिक विचारक नैतिक प्रश्नो को विशेष महत्व देते आये है, यद्यपि नैतिक समस्याओ का सचेत अनुचिन्तन, व्यक्तियो तथा समाजो दोनो के जीवन मे, अपेक्षाकृत विलम्ब से शुरु होता है। वे समाज जो अपेक्षाकृत ज्यादा उन्नत है अपने नैतिक पक्षपातो को सुचिन्तित नैतिक मन्तव्यो के रूप मे प्रतिपादित करने की कोशिश करते है, और फिर उन्हें कानूनी धाराओ के रूप में निबद्ध करते है। इसी प्रकार वे कलाकार और दार्शनिक जो प्रौढता के स्तर पर पहुँच चुके है नैतिक समस्याओ के महत्व से परिचित होने लगते है। वैसे ही धर्म-साधना अथवा अध्यात्म भी अपेक्षाकृत उन स्त्री-पुरुषो को रुचिकर विषय लगता है जिनकी अवस्था पक चुकी है और जिनकी अनुभूति प्रौढ बन चुकी है।

मनुष्य अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर ही नैतिक तथा दूसरी वैसी समस्याओ पर विचार करते है। अक्सर मनुष्य के हृदय में परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ उदित होती है, और उसकी विभिन्न इच्छाएँ उसे विभिन्न दिशाओ मे चलने की प्रेरणा देती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य को एक या दूसरे रास्ते को पसन्द करना पडता है। एक विचारशील प्राणी होने के नाते मनुष्य उन सिद्धान्तो की जानकारी प्राप्त कर लेना चाहता है जो उसकी पसदो के पीछे छिपे रहते है। मनुष्य की शक्तियाँ और उसके साधन सीमित होते है । फलत वह दुनिया की सब चीजो को चाहने पर भी नहीं

पा सकता। इसलिये उसे विभिन्न लक्ष्यों तथा विभिन्न कोटियों के सुखो में से चुनाव करना पडता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक बुद्धिमान होता है वह अपने जीवन को उतना ही अधिक महत्व देता है, और अपनी इच्छाओ, सकल्पो आदि के सम्बन्ध मे उतना ही अधिक सोचता है। मनुष्य चाहता है कि वह अपने प्रयत्नो तथा शक्तियो को उचिततम दिशा मे लगाये और अपने जीवन को अधिक-से-अधिक सफल अथवा समुन्नत करे। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसमे स्वप्न देखने और आशाएँ जगाने की अनन्त क्षमता है, जैसे ही वह एक लक्ष्य तक पहुँच जाता है, वैसे ही एक ज्यादा ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये व्याकुल होने लगता है। साथ ही मनुष्य चाहता है कि वह जीवन के चरम लक्ष्य या गन्तव्य को अपनी कल्पना मे पूर्णतया प्रत्यक्ष कर ले, जिससे उसके प्रयत्न, जीवन भर, निश्चित दिशा में अग्रसर होते रहे।

मनुष्य अपने जीवन के मूल्यो को समझना चाहता है, इसका मतलब यह है कि वह अपने जीवन की विभिन्न सम्भावनाओ से सुपरिचित हो जाना चाहता है। मनुष्य स्वभावत आशावादी होता है, किन्तु थोडे ही अनुभव के बाद उसे यह पता चल जाता है कि वह दुनिया में हरेक चीज नही पा सकता, उसे यह भी पता हो जाता है कि हर चीज पाने योग्य नही है। जैसे-जैसे उसकी जिन्दगी का अनुभव बढता जाता है, वह यह महसूस करने लगता है कि उसे अपनी पसन्दो के बारे मे अधिक सतर्क होना चाहिए, और अपनी प्रवृत्तियो पर अधिक नियन्त्रण भी रखना चाहिए। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसके जीवन मे कष्ट, विफलता तथा मनोरथ-भग के अनुभव न आते हों। अधिक-से-अधिक चतुर, शक्तिमान तथा भाग्यशाली व्यक्ति के जीवन में भी इस प्रकार के अनुभवो के अवसर आते है, और तब वह विचार करने लगता है कि सफल जीवन-यापन के नियम क्या है, और जीवन का अर्थ तथा लक्ष्य क्या है। मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक खोज, अन्तिम विश्लेषण मे, जीवन-विवेक की खोज है। मनुष्य यह जानना चाहता है कि जीवन को उचित ढग से चलाने या व्यतीत करने का मार्ग कौन-सा है।

जब तर्क-मूलक भाववादी यह कहते हैं कि नीति-शास्त्र अथवा आचार-विज्ञान का अस्तित्व शास्त्र के रूप मे सम्भव नही है, तब वे केवल यह नही कहते हैं कि हमारे नैतिक निर्णय वस्तुत कथन या वक्तव्य नही होते। इस प्रश्न में तो कदाचित् दार्शनिको को ही रुचि हो सकती है। वे विचारक वस्तुत एक ज्यादा महत्व की चीज़ की सम्भावना से इनकार करते है, अर्थात् इस सम्भावना से कि जीवन को सुचारु रूप से चलाने की

कोई विद्या या कला हो सकती है। बीसवी सदी के नरनारी प्राय बेचैनी तथा बौद्धिक उलझन का जीवन व्यतीत करते हैं। हमारे युग के मनुष्य के पास सभी चीजें हैं, केवल एक को छोड़कर; उसके पास केवल जीवन-विवेक का ही अभाव है, जिसकी मदद से वह उचित ढग से जीवन बिता सके। जीवन के सम्बन्ध मे हमारी नासमझी इतनी अधिक बढ गई है कि हम इसकी आवश्यकता भी महसूस नही करते कि जीवन-विवेक नाम की कोई चीज होनी चाहिए, और उसकी सम्भावना से भी इनकार करते है।

आज के मनुष्य की परेशानियो का असली स्रोत है, उसका यह अन्वेषण कि हमारे नैतिक मूल्य आपेक्षिक होते है। अर्थात् चरित्र की अच्छाई-बुराई के बारे में हम जो सम्मतियाँ देते हैं, उसके निर्णय मे जिन पैमानो का प्रयोग करते हैं, वे आपेक्षिक है। इतिहास के तथा समकालीन विभिन्न समाजो मे, जिनका इतिहास के अन्वेपको तथा नर-विज्ञान ने पता चलाया है, चरित्र की अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मन्तव्य पाये जाते हैं। फलत उन सभी मन्तव्यो के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो जाती है। तर्क-मूलक भाववादी इस अविश्वास की भावना को शास्त्रीय रूप दे देते है।

नैतिक पैमानो की सापेक्षता यह सिद्ध करती जान पडती है कि नैतिक मूल्य तथा पैमाने वस्तुनिष्ठ नही हैं, इसका मतलब यह होता है कि वे यथार्थ अथवा विश्वसनीय नही हैं। अपनी एक पुस्तक "आचार-दर्शन में तर्क-बुद्धि का स्थान' मे श्री टूलमिन ने यह प्रतिपादित किया है कि श्रेयत्व (Goodness) अथवा नैतिक अच्छाई (Rightness) को न तो सरल कोटि का गुण माना जा सकता है और न जटिल कोटि का गुण, वस्तुत श्रेयत्व तथा अच्छाई, अथवा उनके विपरीत चीजे, गुण है ही नही। लालिमा एक सरल गुण है जो कि सब दीखने वाले लाल पदार्थों में पाया जाता है, किन्तु जिन्हें हम अच्छा कार्य कहते हैं उनमे कोई ऐसा गुण नही पाया जाता जो सब को दिखाई दे। उदाहरण के लिये 'नम्रता का व्यवहार' तथा 'अपना ऋण चुकाना' नामक क्रियाओ में कोई ऐसा सामान्य गुण नही है जिसकी प्रतीति हो सके। उन दोनो व्यवहारों को अच्छा कहा जायगा, लेकिन उन दोनो में कोई ऐसा सामान्य धर्म या गुण नही पाया जाता जिसे हम नैतिक अच्छाई का नाम दे सकें। गुण दो प्रकार के होते है। सरल गुण वे हैं जिनकी ओर सकेत किया जा सकता है, अर्थात् जिनका अस्तित्व उन चीजों के सकेत द्वारा जिनमें वह गुण पाया जाता है, दर्शित किया जा सकता है। जिसे हम नैतिक अच्छाई कहते हैं उसे इस प्रकार सकेत से दर्शित नही किया जा सकता। अब

एक जटिल गुण का उदाहरण लीजिये। "रेखा-गणित की इस 'पॉलिगान' (अनेक भुज शक्ल) मे २५७ भुजाये है।" यह गुण सीधे देखने पर प्रकट नही होता, किन्तु एक विशेप पद्धति का प्रयोग करने पर उसकी उपस्थिति का बोध हो सकता है। यह विशेप पद्धति गणना या गिनती है। किन्तु मानवीय व्यवहारो की अच्छाई-बुराई का निर्णय करने के लिय ऐसी किसी पद्धति का निर्देश नही किया जा सकता। इससे श्री टूलमिन यह निष्कर्प निकालते है कि अच्छाई-बुराई को एक गुण नही मानना चाहिए, और उन्हे वस्तुनिष्ठ यथार्थ मानकर नही चलना चाहिए।[१]

उक्त धारणाओ के विरुद्ध यहाँ हम यह प्रतिपादित करेगे कि अच्छाई तथा श्रेष्ठता गुण है, शायद वे जटिल गुण है जिन्हें एक विशेप पद्धति द्वारा जाना जा सकता है। मतलब यह है कि हमारा मन्तव्य टूलमिन के मत का विरोधी है।

पहले हमे यह समझ लेना चाहिए कि प्रश्न क्या है। प्रश्न यह नही है कि अच्छाई अथवा श्रेयत्व एक ऐसा गुण है या नही जो वस्तुनिष्ठ रूप मे दिखाई देता है, प्रश्न यह है कि यदि श्रेयत्व अथवा अच्छाई वैसा गुण हो, तब उन असंख्य मतभेदों की व्याख्या कैसे होगी जो कि विभिन्न समाजो की नैतिक मान्यताओ में पाये जाते है? सक्षेप में, आज के युग में नीति-शास्त्र की मुख्य समस्या यह है कि नैतिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे जो असख्य मतभेद पाये जाते है उनकी नैतिक मूल्याकन की वस्तुनिष्ठता से कैसे सगति विठायी जाय।

यहाँ हम पाठकों का ध्यान उन कतिपय निष्कर्षो की ओर आकृष्ट करेगें जिन पर पिछले अध्यायो मे पहुँचा जा चुका है। प्रथमत. मानव व्यवहार, जहाँ तक वह व्यवहार मानवीय विद्याओ के अध्ययन का विषय होता है, भौतिक गतिरूप नहीं होता, उन विद्याओ में मानव-व्यवहार विभिन्न अर्थो के वाहक के रूप में परीक्षा का विपय होता है। यहाँ 'अर्थ' से मतलब उस चीज से है जिसे मनुष्य 'साध्य' अथवा 'साधन' के रूप मे मूल्यवान समझता है। मानव-व्यवहार मे अनुस्यूत अर्थ या तो लक्ष्य रूप होता है अथवा लक्ष्यो की ओर ले जाने वाला साधन-रूप, उन अर्थो में पाया जाने वाला मूल्य भावात्मक भी हो सकता है और निपेघात्मक भी। दूसरे, यदि ये अर्थ अथवा मूल्य गुण है, तो वे आवश्यक रूप मे आपेक्षिक होग। इसका मतलब यह हुआ कि वस्तुओ, घटनाओ अथवा चरित्रो में अनुस्यूत मूल्य, गुणो की साधारण प्रकृति के अनुसार, दूसरी चीजो की अपेक्षा से ही अर्थवान अथवा अस्तित्ववान

होते हैं। उदाहरण के लिये हम उस कर्म अथवा चरित्र को अच्छा कहेंगे जो वाञ्छनीय परिणाम उत्पन्न करता है। इसी प्रकार किसी स्थिति की श्रेष्ठता उस चेतना की सापेक्ष होती है जो उसका अनुभव करती है, कालिदास या भास का एक नाटक शिक्षित मनुष्य की संवेदना की अपेक्षा से महत्वपूर्ण या मूल्यवान होता है, पशुओं तथा पत्थरों के लिए उसका कोई मूल्य नहीं होता।

उक्त मन्तव्य के कतिपय क्रान्तिकारी परिणाम हैं जिन पर हमें ध्यान देना चाहिए। वस्तुओं की लालिमा जैसी सरल विशेषता भी उस आँख की रचना की सापेक्ष होती है जो उसे देखती है। जिस आँख में शंकु (Cones) उपस्थित होते हैं और आँख के पर्दे पर उचित रूप में वितरित होते हैं, वही लालिमा को देख सकती है। यदि विभिन्न जन्तुओं की आँखों के पर्दों की रचनाएँ भिन्न-भिन्न हों, तो तथाकथित लाल वस्तुएँ अलग-अलग रंगों वाली प्रतीत होंगी। इस कल्पना का आधार यह तथ्य है कि सामान्य मनुष्यों तथा वर्णान्ध मनुष्यों के चाक्षुष प्रत्यक्षों में अन्तर होता है।

ऊपर हमने बाह्य प्रत्यक्षों की बात की, अर्थात् उन प्रत्यक्षों की जिनका सम्बन्ध इन्द्रियों से होता है। किन्तु अर्थों के प्रत्यक्षीकरण में बुद्धि तथा सौन्दर्य की संवेदना का भी हाथ रहता है। इसलिये ये प्रत्यक्ष बौद्धिक तथा दूसरी कोटि के उस प्रशिक्षण पर भी निर्भर करते हैं जो किसी व्यक्ति को मिला है। उदाहरण के लिये गणित के एक समीकरण का एक ऐसे व्यक्ति के लिये कोई महत्व नहीं होता जिसने गणित का अध्ययन नहीं किया है। वैसे ही अखबार देखकर एक शिक्षित राजनीति या कूटनीति का विद्यार्थी जिन अर्थों का प्रत्यक्ष करता है उनका प्रत्यक्ष एक साधारण मनुष्य को नहीं हो सकता। जहाँ यह सम्भव है कि हम 'पॉलिगान' की भुजाओं की गणना करने के लिये एक निश्चित पद्धति का निर्देश कर दें, वहाँ यह सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति गणित तथा भौतिकशास्त्र की लम्बी-चौड़ी जानकारी के बिना आइन्स्टाइन के कतिपय मन्तव्यों का ठीक-ठीक अभिप्राय समझ लें। उसी प्रकार कालिदास तथा शैक्सपियर की कृतियों में पाये जाने वाले सौन्दर्य का ठीक आभास लेने के लिये यह अनिवार्य है कि पाठक को साहित्य का रस लेने की समीक्षात्मक शिक्षा मिली हो। मानवीय विद्याओं के क्षेत्र में कोई व्यक्ति तब तक विभिन्न सम्बन्धों तथा प्रभावों को ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक उसमें कल्पनात्मक तादात्म्य स्थापित करने की विकसित क्षमता न हो। यद्यपि मूल रूप में यह क्षमता सभी मनुष्यों में विद्यमान होती है, फिर भी उन मनुष्यों की सम्वेदना, जिन्हें काफी शिक्षा नहीं मिली है, इस प्रकार के तादात्म्य को नहीं

प्राप्त कर सकती। वस्तुत बौद्धिक तथा सौन्दर्य-मूलक अनुभूतियो के क्षेत्र में एक उच्च शिक्षित तथा अपढ मनुष्य में उतना ही अन्तर होता है जितना कि दो भिन्न कोटियो के प्राणियो मे। जहाँ एक ही समाज के दो व्यक्तियो मे काफ़ी अन्तर हो सकता है, वहाँ विभिन्न समाजो के व्यक्तियो मे और भी अधिक अन्तर होने की सम्भावना रहती है।

यह सौभाग्य की बात है कि नैतिक भलाई-बुराई का प्रत्यक्ष सदैव लम्बे-चौडे प्रशिक्षण पर निर्भर नही करता। यही कारण है कि विश्वविद्यालय का एक शिक्षक तथा एक किसान दोनो एक विशिष्ट व्यवहार की अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध मे एकमत हो सकते है, जब कि बिहारी के एक दोहे तथा साधारण तुकबन्दी के अन्तर को देखने मे उन दोनो का मतैक्य होना बहुत कठिन है। किन्तु जटिल परिस्थितियो में ऐसे मतैक्य की आशा नही की जा सकती। यह बिल्कुल सम्भव है कि एक कर्म या व्यवहार जिसे किसान बहुत खराब समझता है, विश्वविद्यालय के शिक्षक को उचित ही नही बल्कि श्लाघ्य जान पडे।

हम पहले कह चुके है कि किसी कर्म की भलाई-बुराई को आँकने के लिये हमे उसके परिणामो पर ध्यान देना चाहिए, भले ही वह परिणाम अभी घटित न हुआ हो और केवल कल्पना का विषय हो। किसी व्यक्ति के चरित्र का मूल्याकन हम उन व्यवहारो के आलोक में करते है जिन्हे वह स्वभावत किया करता है, अथवा उन परिणामो के आलोक मे जिन्हें उसकी सकल्पशक्ति अक्सर उत्पन्न किया करती है। जिन लोगो के बारे मे हम ज्यादा नही जानते उनके सम्बन्ध मे नैतिक निर्णय देते समय हम प्राय उनकी नीतियो तथा व्यवहारो के नतीजों का विचार करते है। इसके विपरीत सुपरिचित व्यक्तियो को आँकते समय हम उनकी प्रकृति तथा चरित्र का विचार करते है। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे नैतिक निर्णय का विषय परिस्थितियो के साथ बदलता रहता है। वह उन परिवर्तनो पर भी निर्भर करता है जिन्हें हम स्वय उत्पन्न करना चाहते है। ब्रूटस एक भला आदमी था जिसने जान-बूझकर सीजर की हत्या की, यह हत्या एक दुष्ट कर्म था। ब्रूटस के विरोधियो ने इस काम पर नजर रक्खी और कहा कि ब्रूटस एक बुरा व्यक्ति है, क्योकि उसने एक बुरा काम किया। इसके उत्तर मे ब्रूटस का कोई मित्र कह सकता था कि अपनी प्रकृति और चरित्र से ब्रूटस एक भला आदमी है, और यह कि उसने सीजर की हत्या एक अच्छे परिणाम के लिये की थी।

वे चरम मूल्य अथवा मूल्य-समूह क्या हैं जिनकी अपेक्षा से किसी कर्म या चरित्र की अच्छाई-बुराई का निर्णय किया जाय? आचार-शास्त्र के इतिहास में चरम आदर्श या मूल्य के सम्बन्ध में हम अनेक धारणाएँ पाते हैं, जैसे सुख, पूर्णत्व, आत्म-लाभ, नैतिक नियमो का पालन, ईश्वर के अनुशासन का पालन, इत्यादि। प्रश्न है कि इन धारणाओ की विभिन्नता का क्या कारण है, और इस प्रकार मतभेदो को देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि नैतिक जीवन के कुछ निश्चित नियम या पैमाने हैं ? ऊपर के प्रश्न तथा अन्य नैतिक समस्याओ का विचार हम निम्न क्रम से करेंगे। प्रथमत हम चरम आदर्श अथवा मूल्य की बुद्धिग्राह्य धारणा बनाने की कोशिश करेंगे। दूसरे, हम यह देखेंगे कि उस धारणा से नैतिक मूल्याकन के किन-किन पैमानो को प्राप्त किया जा सकता है, और विभिन्न पैमानो मे किस प्रकार सामन्जस्य अथवा समन्वय किया जा सकता है। इसके बाद हम इस कठिन समस्या को हल करने की कोशिश करेंगे कि व्यक्ति तथा समाज में क्या सम्बन्ध होना चाहिए। ये विचारणाएँ सम्भवत हमें यह सकेत दे सकेंगी कि एक सुसस्कृत जीवन में नैतिकता का क्या स्थान होता है।

हमारे विचार में नैतिक अच्छाई तथा श्रेयत्व दोनो गुण हैं, वे एक विशेप कोटि की चीजों की विशेपताएँ हैं। एक कर्म अच्छा या बुरा, नैतिक या अनैतिक होता है, वह स्वयं अच्छाई अथवा नैतिकता नही है। एक कर्म नैतिक दृष्टि से उदासीन भी हो सकता है, अर्थात् ऐसा जिसे न नैतिक कहा जा सकता है और न अनैतिक। मानवीय कर्म मे नैतिक विशेपताओ के अतिरिक्त भी अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं, वह आशु, प्रवृत्ति-मूलक तथा जल्दबाजी में अनुष्ठित हो सकता है, और सकल्प-मूलक एव सुचिन्तित भी। इसी प्रकार श्रेयत्व कुछ चीजो तथा अनुभूतियो का गुण है, वह किसी खास वस्तु अथवा अनुभव का नाम नही है।

श्रेष्ठता या श्रेयत्व, हमारी समझ मे, जीवन का गुण है, अथवा जीवनानुभूति का। चेतन प्राणियो की सापेक्षता मे ही सौन्दर्य, रग आदि का कुछ महत्व होता है, उसी प्रकार श्रेयत्व भी जीवन का सापेक्ष है। रग तथा सौन्दर्य बाहरी वस्तुओ में हो सकता है, सभवत होता है, किन्तु चरम मूल्यो का अधिष्ठान वे वस्तुएँ नही, अपितु उन वस्तुओ का अनुचिन्तन और उसके द्वारा आनन्द लेने की क्रियाएँ हैं। एक नैतिक कर्म की भाँति सुन्दर वस्तु का मूल्य भी साधनात्मक होता है। साध्य अथवा चरम मूल्य वे अनुभूतियाँ है जो सुन्दर वस्तुओ तथा नैतिक कर्मों द्वारा जगायी जाती हैं।

चरम मूल्य या श्रेय स्वय जीवन का नाम है, वह उस जीवन की विशेषता है जो वाछनीय समझा जाता है। सवेदनशील मनस्वी व्यक्ति निरादरपूर्ण जीवन की अपेक्षा मृत्यु को ज्यादा पसन्द करता है, इसी प्रकार एक ऐसा जीवन जिसमें अनवरत भयकर शारीरिक कष्ट रहता है, वाछनीय नही समझा जाता। इसलिये नैतिक कर्म वह नही है जो जीवन की मात्रा को बढाता है, नैतिक अथवा धार्मिक व्यापार वह है जो पहले से मौजूदा जीवन को सुखी तथा श्रेष्ठतर वनाने में मदद करता है।

दो प्रकार के मूल्य है जिन्हे चरम कहा जा सकता है। ये मूल्य मनुष्य की उन क्रियाओ द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं जिन्हें हम सभ्यता तथा सस्कृति कहते है। जीवन जीने योग्य वनता है, या तो उन क्रियाओ से जो हमारी जरूरतो की निर्विघ्न पूर्ति मे सहायक होती और भौतिक तथा मानसिक कष्टो को दूर करती है, अथवा उन क्रियाओ द्वारा जो हमारे अस्तित्व का प्रसार करती हुई उसे समृद्ध करती है।

विशुद्ध रूप मे नैतिक अथवा धार्मिक क्रियाएँ निम्न कोटि की होती है : वे जो दूसरो के कष्ट को रोकती अथवा दूर करती है, वे क्रियाएँ जो दूसरो के सुख के लिये त्याग-रूप होती है, तथा आत्म-दमन के वे व्यापार जो किसी महत्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक होते है। अन्तिम कोटि का व्यापार तभी नैतिक कहा जाता है जव उद्दिष्ट लक्ष्य निर्वैयक्तिक होता है, जैसे देश की स्वतन्त्रता की प्राप्ति। जब कोई व्यक्ति किसी वैयक्तिक वडे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आत्म-दमन करता है, जैसे कि ज्ञान अथवा ऊँचे पद की प्राप्ति के लिये, तो हम उसकी प्रशसा करते है। यह प्रशसा उसके सक्षम व्यक्तित्व के लिये होती है, न कि उसकी नैतिकता के लिये।

मनुष्य शारीरिक अथवा भौतिक कष्ट से विशेप रूप में डरते है, मानसिक कष्ट से उसकी अपेक्षा कम। इसलिये वे उस व्यक्ति को जो उनके कष्टो, विशेपत: शारीरिक कष्टो को, दूर करता है, बडी कृतज्ञता तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। ऐसे व्यक्ति की दूसरे लोग भी वड़ी प्रशसा करते है। अन्याय तथा कष्ट के प्रतिकार के लिए जो व्यक्ति जितना ही अधिक त्याग करता और स्वय कष्ट उठाता है, उसके प्रति लोगो को उतनी ही अधिक कृतज्ञता तथा श्रद्धा होती है। एक विजयी सेनापति की प्रशसा हम इसलिये करते है कि वह युद्ध मे असामान्य शक्ति अथवा असाधारण निपुणता का परिचय देता है; एक नैतिक वीर की प्रशसा इसलिये की जाती है कि वह बडे नि स्वार्थ भाव से दूसरो के सुख के लिये प्रयत्न करता है।

आत्म-दमन तथा अपने सुख का परित्याग, अपने समय, शक्ति, धन तथा आराम का बलिदान, उच्च कोटि की नैतिकता में आवश्यक तत्व होता है। किसी नैतिक कर्म की महत्ता का माप दो प्रकार से किया जाता है। प्रथमत यह देखा जाता है कि व्यक्ति-विशेष ने कितना कष्ट सहकर दूसरो की भलाई की, और दूसरे यह देखना होता है कि जिस कष्ट से उसने दूसरो को बचाया वह कितना बडा था, और दूसरो का जो कल्याण उसने किया उसका विस्तार कितना था और वह किस कोटि का था। इन कई पैमानो से हम बुद्ध, ईसा तथा महात्मा गाधी जैसे नैतिक वीरो के महत्व का अनुमान कर सकते हैं।

नैतिकता की दृष्टि से वह व्यवहार जिसमे केवल औचित्य का ध्यान रक्खा जाता है, निम्नतमकोटि का होता है। प्लेटो के "रिपब्लिक" ग्रथ मे सिफेलस नामक गृहस्थ ने नैतिकता की औचित्य-मूलक व्याख्या की है। सिफेलस का कहना है कि भला व्यक्ति वह है जो देवताओ और मनुष्यो का ऋण चुकाता रहता है। दूसरे मनुष्य जो हमारा उपकार करते हैं उसका हमे बदला दे देना चाहिये, और हमें देवताओ के अनुग्रह का भी प्रतिकार करना चाहिए। जर्मन दार्शनिक कान्ट की नैतिकता की धारणा इससे कुछ भिन्न है। कान्ट कहता है कि हमें नैतिकता के निरपेक्ष कानून को मानकर चलना चाहिए। कोई ऐसा काम नही करना चाहिए जिसे हम दूसरो के लिए बुरा समझते हैं। बिशप बटलर की नीति-पद्धति मे यह बतलाया गया है कि मनुष्य को "आत्म-प्रेम" तथा "दूसरो के हित-सम्पादन" के बीच उचित सामन्जस्य रखना चाहिये। हैनरी सिजविक का कथन है कि हमे बुद्धि-पूर्वक आत्म-हित तथा पर-हित का समन्वय करते हुए चलना चाहिए, बुद्धि यह कहती है कि हमारे अपने हित तथा दूसरो के हितो का समान महत्व है। ये सब सिद्धान्त, किसी-न-किसी रूप मे, नैतिक व्यवहार की औचित्य-मूलक व्याख्या देते हैं, और औचित्य की धारणा के आधार पर व्यक्ति तथा समाज के सघर्ष का निपटारा करना चाहते हैं। वे उस उच्चतर नीतिवाद से भिन्न हैं जो अपने हितो का त्याग करते हुए पर-हित-चिन्तन की शिक्षा देता है।

नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में अधिकाश मतभेदों का केन्द्र यह प्रश्न है कि व्यक्ति के लिये चरम साध्य या मूल्य, अर्थात् उच्चतम श्रेय, क्या है। दार्शनिको ने इस प्रश्न पर भी बहुत विचार किया है कि कहाँ तक व्यक्ति को समाज के लिये अपने हितो का बलिदान करना चाहिए। विभिन्न देशो तथा युगो के विचारको ने आदर्श मनुष्य के विभिन्न चित्र खीचे हैं प्लेटो का "दार्शनिक शासक," अरस्तू का "मनस्वी व्यक्ति",

स्टोइको का "विवेकी पुरुष", गीता का "स्थितप्रज्ञ", बौद्धो का 'बोधिसत्व", ईसाइयो का "सत" नीत्शे का "अतिमानव" ये सब आदर्श-पुरुष की विभिन्न कल्पनाएँ है। अन्य कल्पनाएँ हमे कवियो, नाटककारो तथा उपन्यासकारो की कृतियो मे मिल सकती है, और कार्लाइल, इमर्सन आदि निबन्धकारो की कृतियो मे भी।

आदर्श पुरुष की इन भिन्न, और कभी-कभी विरोधी, धारणाओ में किस प्रकार सामन्जस्य स्थापित किया जा सकता है? कुछ विचारक परलोक मे विश्वास करते है और कुछ केवल इस धरती में; इस कोटि के विचारकों मे स्वभावत. गहरे मतभेद है। किन्तु उन विचारको में भी जो परलोक मानते है, मतभेद पाये जाते है। इन परिस्थितियो मे हम नैतिक अथवा धार्मिक व्यवहार के एक या अनेक सार्वभौम नियमो पर कैसे पहुँच सकते है ?

क्या नैतिक व्यवहार का कोई सार्वभौम नियम है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमे मनुष्य के सम्बन्ध मे कुछ आवश्यक तथ्यो को याद रखना पडेगा। मनुष्य नामक प्राणी की बहुत तरह की जरूरते होती है और वह प्रत्येक जरूरत को अनेक ढगो से पूरा कर सकता है। मनुष्य की जरूरतो की यह विभिन्नता और, विभिन्न परिवेशो मे, उनकी पूर्ति के उपायो की अनेकता का एक परिणाम यह होता है कि विभिन्न जन-समूहो मे विभिन्न जरूरते ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती है। इस स्थिति का एक नतीजा यह होता है कि विभिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न ढगो से सुखी तथा दु.खी बन जाते है। लेकिन इन भिन्नताओ के बावजूद विभिन्न मनुष्यो के लिये यह सम्भव होता है कि वे एक-दूसरे की सुख-दुख-सम्बन्धी स्थितियो से सहानुभूति कर सके। ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवन के मुख्य मूल्य दो है एक जरूरतो तथा दूसरे लोगो के दबाव से स्वतत्रता, और दूसरे व्यक्तित्व का चेतना-मूलक विस्तार। जहाँ तक पहले मूल्य का सम्बन्ध है, विचारको ने उसकी प्राप्ति के लिये दो विरोधी उपाय बतलाये है। कुछ का कहना है कि मनुष्य को अपनी जरूरतो को कम करना चाहिए, और अपने मनोवेगो पर नियत्रण रखना चाहिए। दूसरो का विचार कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ बढानी चाहिए और अपनी बढी हुई आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए डटकर प्रयत्न करना चाहिए। स्पष्ट ही इन दोनो आदर्शो में धरती-आकाश का अन्तर या विरोध है। यहाँ हम यह निर्णय करने की कोशिश नही करेंगे कि इन दोनो मे कौन-सा आदर्श कितना अच्छा है, फिर भी इस मौलिक मतभेद के सम्बन्ध में हम कुछ शब्द कहेंगे।

यह लक्षित करने की बात है कि आत्म-नियन्त्रण तथा सयम की शिक्षा केवल धर्म-शिक्षको ने ही नही दी है। एपीक्यूरस जैसे सौख्यवादियो ने भी सयम से रहने की सिफारिश की है। एपीक्यूरस "दुख के अभाव" को, न कि "सुख की उपस्थिति" को, विवेकी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य समझता था। वह उन सुखो को अधिक वाछनीय समझता था जो सतुलन की अवस्था से सहचरित रहते है। वे सुख जिनकी प्राप्ति के पूर्व वासना की अपेक्षा होती है, और जो दुख से मिश्रित रहते है—वे सुख जो लक्ष्य की प्राप्ति से उत्पन्न होते है—एपीक्यूरस को पसन्द नही थे।[1] इस सम्बन्ध मे यह बात याद रखनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपनी सब इच्छाओ को पूर्ण नही कर सकता। उदाहरण के लिये कोई भी व्यक्ति उन समस्त सुन्दर स्त्रियो को प्राप्त नही कर सकता जिन्हे वह पसन्द करने लगे। हमारी बहुत-सी इच्छाओ के मूल में अनुकरण तथा प्रतिद्वन्द्विता की भावना रहती है, हमारी औद्योगिक सभ्यता की समस्त सम्पत्ति ऐसी इच्छाओ को पूर्ण नही कर सकती। वस्तुत वे व्यक्ति जो उस जीवन-आदर्श को मानकर चलेंगे जो सब प्रकार की इच्छाओ, वासनाओ तथा महत्वा-काक्षाओ को प्रोत्साहन देता है, सभवत अपने को नष्ट ही कर लेंगे। और अधिकाश मनुष्यो के लिए तो वैसे जीवन-दर्शन का अनुसरण सम्भव ही नही है। साथही यह माना जा सकता है कि उस आलसी व्यक्ति की अपेक्षा जो सन्तुष्ट दीखने का बहाना करता है, वह व्यक्ति अधिक श्लाघ्य है जो अपनी आवश्यक जरूरतो को पूरा करने के लिए उचित प्रयत्न करता है। वह समाज जिसमे लोग भौतिक सम्पत्ति की उत्पत्ति का प्रयत्न करते हैं, उस समाज से जहाँ आलस्य तथा गरीबी बुरी चीजे नही समझी जाती, ज्यादा अच्छा माना जाना चाहिये।

यह लक्षित करने की बात है कि बौद्ध धर्म ने, जो सासारिक सुख के त्याग की शिक्षा देता है, साधुओ के लिए 'अप्रमाद' के गुण पर विशेष गौरव दिया है। इसी प्रकार योग-दर्शन मे पतजलि ने साधक के लिए यम, नियम आदि के कठिन अनुशासन का निर्देश किया है। जब धर्म-शिक्षको ने यह बतलाया कि हमें ससारिक सम्पत्ति तथा सुखो के प्रति उदासीन होना चाहिए, तो उन्होने यह भी शिक्षा दी कि मनुष्य को आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए। वस्तुत एक स्वस्थ व्यक्ति, फिर चाहे वह धार्मिक हो अथवा नही, हमेशा अपनी सृजनात्मक शक्तियों का उपयोग करता रहता है, ताकि वह अस्तित्व के उच्चतर धरातल पर पहुँच सके।

ऊपर के वक्तव्य द्वारा हम पाठको के मन पर यह अकित करना चाहते है

कि एक ही व्यक्ति के लिये, कल्पनात्मक तादात्म्य द्वारा विभिन्न, यहाँ तक कि विरोधी आदर्शों से सहानुभूति करना सम्भव है। यह बात प्रसिद्ध यूनानी जीवनीकार प्लूटार्क के उस मनोभाव द्वारा पुष्ट होती है जो उसने एक स्थान पर विजयी सिकन्दर तथा डायोजिनीज नामक दार्शनिक के प्रति प्रकट किया है। प्लूटार्क ने कहीं यह छिपाने की कोशिश नहीं की है कि उसके मन में सिकन्दर के प्रति ऊँची प्रशंसा का भाव था। उसने सिकन्दर तथा डायोजिनीज से सम्बन्धित एक घटना का विवरण दिया है, जहाँ उसकी दार्शनिक निर्लिप्तता प्रतिफलित हुई है। जब सिकन्दर डायोजिनीज से मिलने गया तो वह धूप में लेटा हुआ था। सम्राट ने उसे नम्र स्वर में सम्बोधित किया और पूछा, 'मैं आप की क्या सेवा कर सकता हूँ?' 'सिर्फ मेरी धूप छोड़ दो', डायोजिनीज ने उत्तर दिया। प्लूटार्क बतलाता है कि यह उत्तर सुनकर सिकन्दर आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। उसे उक्त सत की लापरवाही में एक उच्चतर महत्ता दिखाई दी, और जब उसके दरबारी साथी उक्त दार्शनिक को एक राक्षस कह कर उसकी हँसी उड़ा रहे थे, सिकन्दर ने कहा—'यदि मैं सिकन्दर न होता तो मैं चाहता कि मैं डायोजिनीज बन जाऊँ।'[1]

यह आख्यान ऐतिहासिक है या नहीं, यह विशेष महत्व की बात नहीं है। उक्त कथा एक ऐसे मनोभाव को हमारे सम्मुख उपस्थित करती है जिसके सम्बन्ध में यह सोचा जा सकता है कि वह सिकन्दर के मन में आया और जिसका प्लूटार्क ने भी अनुभव किया। दूसरी जगह एनेक्जार्कस के एक कथन को उद्धृत करते हुए प्लूटार्क इस प्रकार टिप्पणी करता है. 'उस कथन द्वारा एनेक्जार्कस यह कहना चाहता था कि वे भड़कीली चीजें जिनके पीछे विजेता लोग इतने खतरे और श्रान्ति का आह्वान करते हैं, सचमुच ही घृणास्पद हैं, क्योंकि, अन्तत, विजेताओ का सुख-भोग साधारण लोगो के उपभोगो से शायद ही कुछ बढ़ पाता हो।'[2] मतलब यह है कि संसारिक सम्पत्ति, कुल मिलाकर, एक नश्वर चीज है। यह विचार जहाँ "दी इमीटेशन आफ क्राइस्ट" जैसे धार्मिक ग्रथो मे पाये जाते हैं, वहाँ वे इतिहासकारो की कल्पना से बाहर नहीं हैं।

हमारे युग के वे अन्वेषक जो विभिन्न समकालीन तथा अतीत समाजो या जातियो में प्रचलित आदर्शों को तटस्थ दृष्टि से देख सकते हैं, उन आदर्शों से सहानुभूति करना कठिन नही पायेंगे। किन्तु जिन लोगो मे इस प्रकार की तटस्थता नहीं है, वे उन प्राचीन आदर्शों के प्रति ज्यादा आकृष्ट होंगे जो उनके अपने जीवन की जरूरतो के अनुरूप हैं। बात यह है कि जिन्हें हम जीवन अथवा व्यवहार के आदर्श कहते हैं वे निश्चित

रूप में विभिन्न समाजो अथवा उनके कुछ हिस्सो की जरूरतो के सापेक्ष होते है। ऐसी जघन्य प्रथाएँ भी जैसे वृद्ध लोगो को मार डालने की प्रथा, उन समाजो में जहाँ भोजन की बहुत ज्यादा कमी है, स्वाभाविक जान पड सकती है।

ऊपर की विचारणा से यह निर्गत होता है कि मानव-व्यवहार के लिये ऐसे नियमो का निर्देश नही किया जा सकता जिनका विभिन्न समाजो मे अंध भाव से अनुसरण किया जा सके। इसी प्रकार हम उस व्यवहार के ऐसे कानूनो का भी ठीक-ठीक निरूपण नही कर सकते जो हमे उसके सम्बन्ध मे निश्चित भविष्यवाणियाँ करने में सहायक हो सकें। वस्तुत मानव-व्यवहार के क्षेत्र में व्यवहार की दिशा का परिवर्तन वैसे ही स्वाभाविक है जैसे कि भौतिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे परिवर्तनो का एक दिशा में घटित होते रहना। जिस प्रकार मनुष्य का बुद्धिमूलक सफल व्यापार उसकी सृजनशील अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करता है, वैसे ही उसका नैतिक व्यवहार भी। जिस व्यक्ति मे उस प्रकार की अन्तदष्टि का अभाव है वह, धर्मभीरु होते हुए भी, सदैव नैतिक आचरण अनुष्ठित कर सकेगा, इसमें सन्देह है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। यदि सृजनशीलता मानव-व्यवहार की सार्वभौम विशेषता है, तो फिर मनुष्य ऐसे अटूट नियमो अथवा विश्वसनीय आदर्शो की खोज क्यो करता है जिन पर वह अन्ध भाव से निर्भर कर सके? और क्यो कभी-कभी सवेदनशील लोगो के मन मे नैतिक अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़े होते हैं?

उक्त प्रश्नो में से प्रथम का उत्तर इस प्रकार है। जहाँ प्रत्येक मनुष्य सृजनशील जीवन के स्पन्दन मे साझेदार होना चाहता है, वहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी सृजनशीलता का उपयोग नही करना चाहता। वस्तुत सृजनशील शक्तियो का उपयोग वहाँ तक ही प्रिय लगता है जहाँ तक वह स्वच्छन्द अर्थात् बाहर से अनिर्धारित होता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति भी, जिसकी प्रकृति उसे लगातार सृजनशील होने को बाध्य करती है, सृजनात्मक व्यवहार को न तो सरल ही पाता है, न अमिश्रित रूप मे सुखपूर्ण। एक बडी कलाकृति अथवा एक महत्वपूर्ण विचार-पद्धति का निर्माण वस्तुत एक उतनी ही, या उससे भी ज्यादा, श्रान्त करने वाली क्रिया है जैसी कि एक नये बच्चे को अस्तित्व में लाने की क्रिया। एक उपन्यास लिखने की अपेक्षा किसी उपन्यास को पढना कही ज्यादा सरल और आनन्दप्रद है, इसी प्रकार एक फिल्म को देखना जितना सुखद है उतना उसका निर्माण करना नही। सृजनशीलता का अर्थ है जोखिमपूर्ण साहसिक कार्य में हाथ डालना। अधिकाश मनुष्य उपयोगिता के दायरे

में रहते है और अपरिचित एव रोचक नवीनता की खोज की अपेक्षा नीरस किन्तु परिचित क्षेत्र मे ठहरना ज्यादा पसन्द करते हैं। यही कारण है कि आँकड़ो के आधार पर निर्धारित किये हुए मानव-व्यवहार के नियम काफी दूर तक सही होते है। फिर भी यदि ज्यादा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ की प्रगति के सम्बन्ध मे सफल भविष्यवाणियाँ नही की जा सकती, तो इसका कारण यह है कि वह प्रगति ऐसे नर-नारियों द्वारा निर्धारित होती है जो असाधारण सृजनशीलता वाले होते है, और जिनका व्यवहार नियमो के दायरे में नही बँध पाता।

जिस प्रकार इतिहास-प्रसिद्ध वीरो के सकल्प तथा निर्णय सदैव सुरक्षा तथा उपयोगिता की परिधि में नही रहते, वैसे ही नैतिक वीर पुरुष सम्मानपूर्ण समझी जाने वाली परम्परा तथा व्यवहार के नियमो पर कुठाराघात करते है, और, नई परिस्थितियो के अनुकूल, नये आदर्शों तथा नियमो की घोषणा कर देते है। गौतम बुद्ध तथा कार्ल मार्क्स इसी कोटि के नैतिक वीर या नेता थे। बुद्ध जी ने अपने समय के हिन्दू समाज की खराबियो की कठोर आलोचना की और कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध ऐसे आदर्शों की शिक्षा दी जो मजदूरो तथा दलितो का हित-साधन करने वाले थे। बौद्धिक क्षेत्र मे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वेबलेन ने अपनी पुस्तक "थियरी आफ दी लेजर क्लास" (अवकाश-प्राप्त वर्गों का सैद्धान्तिक अध्ययन) मे, जहाँ उसने अभिजात वर्गो के चरित्र तथा मान्यताओ के खोखलेपन का उद्घाटन किया है, कुछ वैसा ही कार्य किया है।

जीवन की साधारण स्थितियो मे भी सृजनशील व्यक्ति नियमो को अक्षरश. मानकर नही चलता। वह उनके आन्तरिक अभिप्राय के अनुकूल चलता है। वह निर्जीव नियमो को अपनी सजीव मानवता अथवा मानवीय भावना पर हावी नही होने देता। फिर भी यह ठीक है कि सर्वसाधारण की प्रचलित मान्यताओ के विरुद्ध सोचने या करने मे हमेशा खतरा होता है, और वैसा करने मे प्रायः व्यक्ति के मन में अन्तर्द्वन्द्व छिड जाता है। यह द्वन्द्व एक ओर उस रूढिवादी परम्परा के जो सद्बुद्धि (Conscience) के रूप मे व्यक्ति के अन्दर क्रियाशील होती है, और दूसरी ओर उसकी मौलिक, सृजनशील सवेदना के बीच उत्थित होता है। केवल वही व्यक्ति जिसमे विद्रोह करने का साहस है और जो विद्रोह की स्थिति मे टिका रह सकता है, सृजनात्मक नैतिकता की प्रगति मे योग दे पाता है।

नैतिक निर्णय के क्षेत्र में एक दूसरे प्रकार के द्वन्द्व की सम्भावना भी रहती है।

हमे अक्सर दो कार्य-दिशाओ मे ऐसा चुनाव करना पडता है जो पूर्णतया वाछनीय नही होता, जहाँ या तो दो मे से एक श्रेय का परित्याग करना पडता है, या दो मे से एक बुराई का स्वीकार। कवि शेली के जीवन मे एक ऐसा क्षण आया था जब उसे दर्शन और कविता के बीच चुनाव करना पडा। इसी प्रकार हैनरी बर्गसा को दर्शन और गणित के बीच चुनाव करना पडा। एक दुखपूर्ण नाटकीय स्थिति मे किसी नारी के सामने यह प्रश्न आ सकता है कि वह अपने पति के जीवन की रक्षा करे, अथवा अपने पुत्र या भाई की। इस प्रकार के अवसरो के लिये कोई ऐसा नियम नही बतलाया जा सकता जिसे बिना सोचे-विचारे मानकर चला जा सके। अपनी सृजनशील जटिल प्रकृति के कारण मानव-जीवन अक्सर अनेक सम्भावनाओ के ऐसे सगमस्थल पर आकर खडा हो जाता है जहाँ उसके सुख और दुख की अनेक राहे दिखाई पडती है।

नैतिक अन्तर्दृष्टि के विकास का अर्थ यह नही है कि मनुष्य क्रमश किसी स्थिर नैतिक आदर्श के रूप को अधिकाधिक निश्चित या निर्दिष्ट करता चलता है। उस अन्तर्दृष्टि की प्रगति का ठीक अर्थ यह है कि हम क्रमश मनुष्य के सुखी तथा दुखी होने के, और उसके सुख-दु ख के विविध कारणो के, विभिन्न रूपो से परिचित होते चलते है। मानव सुख-दु ख के विविध रूपो तथा कारणो की समुचित जानकारी के लिये साहित्य की विभिन्न कृतियाँ, जीवनियाँ एव इतिहास पढने का ज्यादा महत्व हो सकता है, बनिस्वत दर्शन-ग्रथो तथा धर्म-पुस्तको के उलटने के। महाभारत का "स्त्री पर्व," जहाँ मृत वीरो की माताओ तथा पत्नियो को अपने प्रियजनो के लिये रोते हुए दिखलाया गया है, "युद्ध और शान्ति" (War and Peace) तथा "पश्चिम का सुनसान युद्ध-क्षेत्र" ( All quiet on the Western Front ) जैसे उपन्यास, अपने सूक्ष्म अकन द्वारा, युद्ध के प्रति जितनी घृणा पैदा कर सकते है उतनी नैतिक तथा राजनैतिक शास्त्र के पडितो के लेख और व्याख्यान नही। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जैसे ही वह किसी कष्ट की वास्तविकता अथवा सम्भावना का साक्षात्कार करता है, वैसे ही उसे हटाने की कोशिश करने लगता है। इतिहास मे महान नैतिक शिक्षक वे व्यक्ति हुए है जिनमें, अपनी मौखिक शिक्षा द्वारा, लोगो के सुख दुख की परिस्थितियो का सकेत कराने की क्षमता थी। हमारे कहने का मतलब यह नही है कि दार्शनिको तथा विचारको द्वारा जिन सामान्य नियमो का उद्घाटन होता है वह, व्यक्तियो तथा समाजो के लिये, जीवन के दिशा-निर्धारण मे सहायक नही होता; किन्तु हम कहना चाहते है कि वैसे नियम और सिद्धान्त यथार्थ जीवन मे

निरपवाद रूप मे लागू नही किये जा सकते। और यह मान्यता कि नतिकता के नियम निरपवाद रूप मे सत्य होते हैं, अक्सर मानव-प्रगति मे बाधक सिद्ध होती है। प्रतिक्रियावादी राजनैतिक नेता तथा शासक अक्सर, पुराने सिद्धान्तो के नाम पर, सामाजिक प्रगति मे बाधक बन जाते हैं। इस प्रकार के नैतिक सिद्धान्तो के उदाहरण सुलभ है, जैसे राजाओ के दैवी अधिकार, व्यक्ति की व्यापारिक स्वतन्त्रता, तात्विक अथवा बुद्धि-मूलक आत्म (Real or Rational Self) तथा विद्यमान आत्म या व्यक्तित्व (Actual Self) का भेद, इत्यादि।

हमारा यह कथन कि नीति के क्षेत्र मे निरपवाद नैतिक सिद्धान्त या आदर्श प्राप्त नही किये जा सकते, दो प्रकार के लोगो को चकित और स्तभित करने वाली प्रतीत होगा, उन लोगो को जो कि अपने दैनिक जीवन मे ही नही बल्कि उच्चतम आकाक्षाओ के क्षेत्र मे भी एक स्थिर अभ्यास (Habit) के अनुकूल चलना चाहते हैं, अर्थात् जो अपनी जीवन दिशा के बारे में स्वय चिन्तन करने के कष्ट से बचना चाहते है, और उन लोगो को जो यह देखना चाहते है कि नैतिक व्यवहार के नियम भौतिकशास्त्र के नियमो की भाँति अखड हो। एक अपेक्षाकृत स्थिर युग मे साधारण नर-नारी स्वीकृत मूल्यो तथा पैमानो के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऐसे समाज मे ज्यादा सृजनशील लोग भी यह आवश्यकता नही महसूस करते कि पुराने मूल्यो तथा मान्यताओं को छोडकर चले। किन्तु सास्कृतिक सकट के समय मे साधारण तथा असाधारण दोनो कोटियो के मनुष्य मति विभ्रम तथा तनाव की स्थिति मे पड़ जाते है। साधारण लोगो के लिये विभिन्न आदर्शो द्वारा निर्धारित विरोधी नैतिक मानो को आदर देना कठिन हो जाता है, और असाधारण, सृजनशील व्यक्ति परिवेश को नयी रूपरेखा देना कठिन पाते है। इस कठिनाई से बचने का एक ही उपाय है, यह कि जहाँ तक सभव हो लोग उन ईमानदार नेताओ के साथ सहयोग करे जो कि बौद्धिक तथा नैतिक क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर जोर देते है।

मानव-व्यवहार के नियम गणित के सूत्रो मे नही बाँधे जा सकते, लेकिन इसके लिये वे नियम दोषी नही है। यह ठीक है कि मनुष्य ने जितनी भाषाएँ अथवा प्रतीक-पद्धतिया बनाई है उनमे गणित की भाषा सबसे ज्यादा पूर्ण तथा सही है। किन्तु यह जरूरी नही है कि मनुष्य की सब प्रकार की अनुभूतियाँ गणित के माध्यम से प्रकट की जा सके। यह सम्भव नही है कि कवि लोग अपनी कविता गणित के प्रतीको में लिखे, और प्रेमी लोग अपनी प्रेम-चर्चा बीज गणित तथा "कैलक्युलस" की भाषा में करें।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है मानव-व्यवहार के नियम गुणात्मक होते है। वे नियम जिन शब्दो द्वारा प्रकट किये जाते है उन शब्दो का अर्थ एकदम नपा-तुला नही होता, उनमे से प्रत्येक का अर्थ अनेकात्मक एकता-रूप होता है। जीवत कल्पना द्वारा ही वह एकता ग्रहण की जा सकती है। उदाहरण के लिये जब हम कहते है कि "एक प्रिय बालक की मृत्यु दुख का कारण होती है", तो यहाँ बालक, सुख आदि शब्द किसी सुस्थिर या सुनिश्चित अर्थ को व्यक्त नही करते, उनके अर्थ एक-एक क्षेत्र का सकेत करते है। सृजनशील कल्पना द्वारा ही मनुष्य उन अर्थो को ठीक से समझ सकता है।

## नैतिकता के नियम-सूत्र

हमारे नैतिक व्यवहार के नियमन के लिये, अथवा उसके नियामक, दो सिद्धान्त है, दोनो की व्याख्या और प्रयोग सृजनात्मक ढग से ही हो सकता है। पहला नियामक कानून निम्न प्रसिद्ध उक्ति मे निहित है "दूसरो के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा कि तुम अपने प्रति कराना चाहते हो।" इस उक्ति का अर्थ मुख्यत निषेधात्मक है, न कि भावात्मक। उसका मतलब है कि दूसरे के ऊपर वैसी अनुभूतियाँ न लादो जिन्हे, उन दूसरो की स्थिति मे, तुम खुद नापसन्द करोगे। इससे मिलती-जुलती एक उक्ति सस्कृत मे है जो निषेधात्मक अर्थ देती है। यह उक्ति महाभारत (शान्ति पर्व) में पाई जाती है और इस प्रकार है. 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्' अर्थात् जो चीज अपने प्रतिकूल पडती है, उसे दूसरो के प्रति आचरण मे न बरतो। जर्मन दार्शनिक कान्ट का "निरपेक्ष आदेश" जो इसी नियम को विधि-रूप तथा निषेध-रूप मे लागू करने की कोशिश करता है, हमे आत्म-विरोध में फँसा देता है। कान्ट का निरपेक्ष आदेश इस प्रकार है 'उस नियम के अनुकूल काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम के रूप मे पालन किये जाते देखना पसन्द करो।' इस नियम के अनुसार यदि हम यह इच्छा करे कि मनुष्य को ब्रह्मचारी अथवा दानी होना चाहिए, तो उसमे आत्म-विरोध उत्पन्न हो जायगा। यदि सब लोग ब्रह्मचारी होगे, तो फिर बच्चे उत्पन्न होने बन्द हो जायेंगे, और इस प्रकार ब्रह्मचारियो का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। वैसे ही यदि सब लोग दानी होगे, तो फिर दान लेनेवाला कौन रहेगा? कान्ट का सिद्धान्त ब्रह्मचर्य और दान को विरोधग्रस्त व्यवहार दर्शित करता है। उस सिद्धान्त का विधायक रूप भी समुचित नही। यह कामना करने मे कि प्रत्येक व्यक्ति

को कवि अथवा गणितशास्त्री होना चाहिए, कोई अन्तर्विरोध नही है, फिर भी सरकार द्वारा ऐसा कानून बनाया जाना जो कविता लिखने तथा गणित सीखने को अनिवार्य बना दे, उचित नही होगा।

ऊपर हमने जिस नियम का उल्लेख किया उसका प्रयोग करने के लिये यह जरूरी है कि प्रयोग करने वाला अपने को उस स्थिति मे रख सके जिसमें कोई दूसरा व्यक्ति है। स्पष्ट ही यह व्यापार सृजनशील कल्पना की अपेक्षा रखता है। वह व्यक्ति जो कल्पना द्वारा अपने को दूसरो की स्थिति मे नही रख सकता, उन दूसरो से उचित व्यवहार नही कर सकता। इसका मतलब यह है कि नैतिक व्यवहार वे ही प्राणी कर सकते हैं जिनमे कल्पना-शक्ति का सद्भाव है।

नैतिकता का दूसरा नियम भावात्मक अथवा विधि-रूप है। उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है "मनुष्य को यथाशक्ति निर्वैयक्तिक ढग से स्वतन्त्र, अथवा अर्थवान् जीवन-क्षणो के उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिए।" हम दूसरे प्राणियो, मनुष्यो अथवा पशुओ, की सख्त जरूरतो को पूरा करके, उनकी स्व त्रता-वृद्धि द्वारा, उन्हें सुखी बना सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हम दूसरो की वैध जरूरतो को पूरा करके सदैव ही सुख की मात्रा मे वृद्धि कर सकते हैं। बुद्ध जैसे धार्मिक शिक्षक भी मनुष्य को स्वतंत्र एवं सुखी बनाना चाहते हैं, वे मुख्यत आत्म-नियंत्रण की शिक्षा देकर मनुष्यों को दुर्वासनाओ के दबाव से मुक्ति दिलाते हैं। इसी प्रकार एक अज्ञानी व्यक्ति को ज्ञान देने का अर्थ भी उसे एक प्रकार की मुक्ति देना है। केवल अज्ञान तरह-तरह के भयों तथा गलत इच्छाओ का कारण होता है। ज्ञान तथा विवेक द्वारा हम ऐसी चीजो से मुक्ति पाते हैं। अब दूसरी कोटि का उदाहरण लीजिये। कलाकार, कवि तथा दार्शनिक भी मानवता के सुख की वृद्धि करते हैं, लेकिन उनका तरीका दूसरा है। वे मनुष्यो की सृजनशक्तियो को प्रेरणा देते हैं और उनके चेतना-मूलक अस्तित्व का प्रसार करते हैं।

सृजनात्मक सास्कृतिक क्रिया की एक विशेषता यह है कि वह आत्म-त्याग नहीं चाहती। कवि तथा दार्शनिक अपने विशिष्ट कार्यो के लिये बहुत से कष्ट उठा सकते हैं, लेकिन उनका परिश्रम तथा कष्ट-सहन स्वेच्छापूर्वक होता है, वह दूसरो के लिये नही होता। कहना चाहिए कि कलाकार अथवा विचारक अपने व्यक्तित्व के घटिया अगो को कष्ट देता है, ताकि उस व्यक्तित्व के उच्चतर अग उन्नति एव विकास कर सकें।

इस प्रकार वे लोग जिस अनुभव अथवा जीवन-स्पन्दन की उत्सृष्टि करते है, उसका उपभोग दूसरे मनुष्य भी कर सकते हैं। यह माना जा सकता है कि कवि या दार्शनिक को यदि यह पता रहे कि उसके प्रयत्नो का दूसरो के लिये कोई अर्थ नही है, तो वह उतना परिश्रम न करे। फिर भी मोटे रूप में यह सही है कि सृजनात्मक व्यापार खास तौर से दूसरो के लिये अनुष्ठित नही किया जाता। यह भी नही कहा जा सकता कि कवि अथवा विचारक केवल अपने के लिये परिश्रम करता है। वस्तुत कला तथा चिन्तन की सृष्टियाँ निर्वैयक्तिक रूप मे अर्थवती होती हैं। सत्य का अनुसन्धान तथा सौन्दर्य का सृजन करते हुए मनुष्य स्वय अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के प्रति भी उदासीन होता है, वह अपने हितो का बलिदान करके भी अपनी सृष्टि को पूर्ण बनाने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सृजनात्मक सास्कृतिक क्रिया का क्षेत्र नैतिकता के क्षेत्र का अतिक्रमण करता है। किसी कवि या विचारक को हम तब तक नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ नही कह सकते जब तक कि उसके चिन्तन अथवा कला-सृष्टि के पीछे मानव-जाति के कल्याण करने की सचेत भावना भी वर्तमान न हो। हो सकता है कि एक कलाकृति सुन्दर होने के साथ-साथ मनुष्यो को सन्मार्ग पर चलाने वाली भी हो, जैसा कि तुलसीदास का "मानस" है, किन्तु वह उद्देश्य कला-सृष्टि का आवश्यक अग नही है। यही बात विचारात्मक कृतियो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। निश्चित ही सत्य की कुछ-न-कुछ उपयोगिता भी होती है, किन्तु विचारक लोग सत्य का अनुसन्धान उपयोगिता के लिए नही करते। इसलिये कलासृष्टि तथा दार्शनिक अथवा अन्य कोटि के चिन्तन को हम विशिष्ट रूप मे नैतिक व्यवहार नही कह सकते।

## कर्तव्य-पालन तथा साधुता

(Duty and Vııtue)

ऊपर हमने नैतिक जीवन के दो सार्वभौम नियमो का निरूपण करने का प्रयत्न किया। किन्तु "नैतिक" तथा "नैतिकता" शब्दो का अर्थ सुनिर्दिष्ट नही है। नैतिक अथवा प्रशसनीय व्यवहार के निम्न तीन उदाहरणो पर विचार कीजिये :

क ने उधार लिया हुआ रुपया समय पर चुका दिया।

ख महोदय अपने अगले उपन्यास को उत्तम बनाने के लिये कड़ा परिश्रम कर रहे है।

ग नामक व्यक्ति के पास इतना रुपया है कि वह मोटर खरीद ले, किन्तु इसके बदले वह विश्वविद्यालय के गरीब छात्रो की मदद करना ज्यादा ठीक समझते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उक्त तीनो व्यक्तियो के व्यवहारो की एक समान प्रशसा होनी चाहिए? एक अर्थ मे ऋण चुकाना हमारा कर्तव्य है। उपन्यास को उत्तम बनाने की कोशिश भी कर्तव्य है, किन्तु पहले अर्थ मे नही। इसी प्रकार यह किसी व्यक्ति का कर्तव्य नही कहा जा सकता कि वह अपनी साधारण जीवन-चर्या से हटकर विश्वविद्यालय के छात्रो की मदद करता फिरे। वस्तुत कर्तव्य उसे कहना चाहिए जिसके करने की हमसे आशा की जाती है, अथवा जिसे न करना बुराई समझी जायगी। यदि हम इस परिभाषा को मान लें, तो यह अनुगत होता है कि हमारे लिये कर्तव्य-पालन की परिधि के बाहर भी सत्कार्य करने की सम्भावना रहती है।

हमारा प्रस्ताव है कि उक्त तीन कर्मो की अच्छाई का वर्णन करने के लिए, उनकी मूल्यात्मकता के उद्घाटन के लिये, हमे तीन विशेषणो का प्रयोग करना चाहिए। हम कहेंगे कि जहाँ क का व्यवहार उचित और मुनासिब है, तथा ख का व्यवहार प्रशसनीय है, वहाँ ग का व्यवहार साधुता-मूलक (Virtuous) है। उक्त तीन प्रकार के व्यवहारो के लिये एक ही विशेषण का प्रयोग करना उचित नही होगा। उस दशा मे हम व्यवहार के साधारण औचित्य तथा साधुता के उदात्त रूप मे अन्तर नही कर सकेंगे। उक्त तीनो ही व्यवहारो को हम अच्छा कहेंगे, किन्तु, स्पष्ट ही, उनकी अच्छाइयो के दर्जे हैं। हमारी राय मे प्रथम व्यवहार को जो उचित तथा प्रत्याशित है कर्तव्य-पालन के अन्तर्गत रखना चाहिए, और दूसरे व्यवहारो को प्रशसनीय एव साधु व्यवहारो की कोटियो मे। इस प्रकार हम कर्तव्य-निष्ठा तथा साधुता मे अन्तर करना पसन्द करते हैं।

किसी भी शास्त्र का काम अनुभूत तथ्यो की व्याख्या करना है, ऐसे तथ्यो की जो सर्वसाधारण के अनुभव मे आते हैं। नीति-शास्त्र भी इस नियम का अपवाद नही है। नीति-शास्त्र अथवा आचार-शास्त्र का काम हमारी, अर्थात् मनुष्य की, नैतिक चेतना द्वारा उपस्थापित तथ्यो की व्याख्या करना है। ऐसा जान पडता है कि मनुष्य स्वभावत अच्छाई की अनेक कोटियाँ विविक्त करता और मानता है। वह कुछ कामो तथा कतिपय व्यक्तित्वो को ज्यादा महत्त्व देता है, और कुछ को कम। यह दावा नही किया जा सकता कि विभिन्न जातियो अथवा समाजो के मनुष्य श्रेष्ठता की विभिन्न

कोटियो के सम्बन्ध मे एक ही मत रखते है, फिर भी, जैसा कि प्लूटार्क सरीखे लेखको ने लक्षित किया है, एक ही स्तर के दो व्यक्तित्वो अथवा योग्यताओ के बीच नैतिक योग्यता अथवा श्रेष्ठता को प्राय अधिक महत्व दिया जाता है। भले ही हम इस प्रश्न का उत्तर न दे सकें कि दार्शनिक अरस्तू तथा कवि शेक्सपियर मे, अथवा कवि गेटे तथा सेना-नायक नेपोलियन मे, कौन अधिक बडा अथवा महत्वशाली है, किन्तु इन सभी की अपेक्षा बुद्ध और ईसा ज्यादा बडे महापुरुष माने जाते हैं। इसी प्रकार जहाँ हम सब प्रकार की त्रुटियो अथवा भूलो पर रुष्ट होते हैं, वहा नैतिक त्रुटियो के प्रति जितना रोष प्रकट किया जाता है उतना दूसरी भूलो के लिये नही।

इन विचारणाओ से हम निम्न निष्कर्ष निकालते है। विभिन्न लोगो के व्यवहारो तथा व्यक्तित्वो मे कई तरह की श्रेष्ठता हो सकती है, एक व्यक्ति कवि रूप मे प्रशसनीय हो सकता है, और दूसरा परोपकारी समाज-सेवक के रूप मे। किन्तु उन श्रेष्ठताओ मे, सम्भवत, नैतिक श्रेष्ठता को ज्यादा महत्व दिया जाता है। यहाँ याद रखना चाहिए कि जब हम दो विभिन्न वर्गों की श्रेष्ठताओ की तुलना करें, तो हमें उनके समान स्तर पर ही ध्यान देना चाहिए। उदाहरण के लिए यह उचित न होगा कि हम एक महाकवि की तुलना एक छोटे से समाज-सेवक से करने लगें, अथवा एक गाधी जैसे बडे मानव-हितैषी की तुलना एक साधारण कवि अथवा वैज्ञानिक से करने लगें। हमने यह भी देखा कि एक व्यक्ति नैतिक दृष्टि से प्रशसनीय न होते हुए भी दूसरी दृष्टियो से महत्वशाली हो सकता है। इस सम्बन्ध मे एक दूसरे निष्कर्ष की ओर भी हम आपका ध्यान आकृष्ट करेंगे। यदि नैतिकता का अर्थ कर्तव्य-पालन तक सीमित कर दिया जाय, तो यह कहना होगा कि सन्तो का जीवन तथा चरित्र नैतिकता के दायरे से बाहर की चीज होती है।

ऊपर हमने नैतिक जीवन के जिन नियमो का उल्लेख किया है उनका सम्बन्ध कर्तव्य-पालन के क्षेत्र से है, साधुता के क्षेत्र से नही। नैतिक जीवन के नियम यह बतला सकते है कि मनुष्य, सामाजिक सन्तुलन तथा औचित्य की रक्षा के लिये, कैसे व्यवहार करे। खास तौर से वे यह बता सकते है कि मनुष्य क्या न करे। किन्तु मनुष्य बहुत उच्च कोटि का जीवन कैसे प्राप्त करे, अपने जीवन मे उच्चतम कोटि की कला-सृष्टि अथवा विचार-सृष्टि कैसे करे, इसके लिए नियमो का निर्देश नही किया जा सकता। मानव-व्यवहार के किन्ही भी नियमो की जानकारी से जिस प्रकार कोई व्यक्ति महाकवि अथवा बड़ा गणितशास्त्री नही बन सकता, वैसे ही उन नियमो की जानकारी से कोई

एक ऊँची कोटि का साधु अथवा धर्म-शिक्षक भी नही बन सकता। जीवन की विभिन्न भूमिकाओ मे मनुष्य का व्यवहार सृजनात्मक होता है, और उस सृजनात्मक जीवन का कोई निश्चित नियम या कानून नही है।

नैतिक जीवन और व्यवहार का कोई वह विवरण पूर्ण नही समझा जा सकता जो मनुष्य द्वारा की जाने वाली दूसरे मूल्यो की खोज की उपेक्षा करेगा। सच यह है कि आचार-दर्शन को सभ्यता और सस्कृति के सामान्य विवेचन से अलग नही किया जा सकता। इस प्रश्न का कि "मानव जीवनमूल्यों के बीच, उन मूल्यो के जो सभ्यता तथा सस्कृति की धारणाओं मे निहित है, नैतिकता का स्थान कहाँ है?" हमारा उत्तर इस प्रकार होगा। यदि नैतिकता का अर्थ कर्तव्य-पालन लिया जाय, तो नैतिक व्यवहार का अर्थ होगा सभ्य व्यवहार। समाज की विभिन्न सस्थाएँ सभ्य व्यवहार के रूपो को अनिवार्य प्रथाओ अथवा रूढियो का रूप दे देती है। इस व्यवहार का सम्बन्ध श्रेष्ठ जीवन के साधनो से होता है, उनका उद्देश्य जीवन-व्यापार को ठीक से, स्वतत्र रूप मे, चलाना रहता है। किन्तु जिसे हमने साधुता का व्यवहार कहा है, वह उपयोगिता के दायरे का अतिक्रमण करता है, उसकी स्थिति सास्कृतिक मूल्यो के बीच है। जिन्हे हम साधु पुरुष कहते है उनका व्यवहार स्वय उन्ही के व्यक्तित्वों को पवित्र नही करता, वह व्यवहार जहाँ विपन्न मनुष्यो को सुखी बनाता है, वहाँ दर्शको को उदार परोपकार-भावना से अनुप्राणित भी करता है।

## व्यक्ति और समाज

अब हम नीति-शास्त्र के कतिपय कठिन प्रश्नो से उलझने का प्रयत्न करेंगे। क्यों व्यक्ति समाज के लिये किसी प्रकार का त्याग करे? क्यो वह अपने साथियो के लिये कोई कष्ट उठाये? समझा जाता है कि इस प्रकार त्याग करना नैतिक दृष्टि से वाछ-नीय है। किन्तु हम कह चुके है कि नैतिक व्यवहार वह व्यवहार है जो किसी अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक हो। भला आत्म-त्याग द्वारा कौन से लक्ष्य की प्राप्ति होती है? इसी से सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न है—यह कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है कि साधुता (Virtue) स्वय ही अपना पारितोषिक है, स्वयं अपना लक्ष्य है? यह मान्यता प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट के सिद्धान्त से सम्बन्धित है, लेकिन कान्ट ने स्वयं ही कहा था कि केवल साधुता अथवा नैतिक उच्चता काफी नही है, उसके साथ सुख को

भी सहचारित होना चाहिए। जो मनुष्य जितना ही अधिक साधु-प्रकृति होता है, उसे उतना ही अधिक सुख प्राप्त होना चाहिए।

इन समस्याओ को हल करने के लिये यह जरूरी है कि हम मनुष्य की सामाजिक प्रकृति और उसकी जरूरतो को ठीक-ठीक समझें। कन्फ्यूशियस तथा प्लेटो के समय से यह मान्यता चली आती है कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है। कुछ आधुनिक विचारकों का खयाल है कि मनुष्य से नीचे की भूमिका मे भी सामाजिक जीवन उपस्थित होता है उदाहरण के लिये बन्दरो आदि में भी सामाजिक जीवन पाया जाता है। किन्तु पशु की भूमिका मे सामूहिक अस्तित्व मुख्यत आत्म-रक्षण का उपकरण होता है। प्लेटो ने बतलाया था कि मानवीय धरातल पर समाज हमारी जरूरतो की सहयोग-मूलक पूर्ति मे सहायक होता है। सामाजिक जीवन मे इस सहयोग का अर्थ विभिन्न श्रमो का विभाजन है। समाज में विभिन्न मनुष्य अलग-अलग कोटियो के काम करते हुए एक-दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति में सहायक होते हैं। दूसरे, मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो कल्पनाशील है, इसलिये वह भविष्य की बात सोचता है। वह केवल आज की आवश्यकताओ की पूर्ति की ही चिन्ता नही करता, बल्कि उन आवश्यकताओं के भविष्य में आने वाले दबाव की बात भी सोचता है। इस प्रकार सुरक्षा की इच्छा मनुष्य द्वारा उस वस्तु का निर्माण कराती है जिसे हम सभ्यता कह आये हैं। सभ्यता की प्रगति के मुख्यत दो रूप हैं उन उद्योगधन्धो की अधिकाधिक पूर्णता जिनके द्वारा उपयोगी चीजे निर्मित की जाती हैं, और उन संस्थाओ का विकास जिनके द्वारा क्रमश अधिकाधिक मनुष्यो मे सहयोग बढता है। किन्तु मनुष्य अथवा नरनारी उपयोगी सामग्री के उत्पादन के लिये जहाँ सहयोग करना चाहते हैं, वहाँ उस सामग्री पर अधिकार करने के लिए आपस में लडते भी हैं। दुनिया मे सम्पत्ति के लिये सघर्ष चलता है, और शक्ति के लिये भी, इन सघर्षो के परिणामस्वरूप विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहों के बीच प्रतियोगिता, वर्ग-युद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय (राष्ट्रो के बीच) युद्ध होते हैं। इस प्रकार व्यक्तियो, समूहो, वर्गो तथा राज्यो के बीच नियत्रणकर्ता और नियन्त्रित का सम्बन्ध उत्पन्न होता है। सभ्यता की उन्नति का एक अर्थ यह भी है कि व्यक्तियो तथा दलो के ऊपर पडने वाले अन्यायपूर्ण नियन्त्रण एव दबाव खत्म हो जायँ, और क्रमशः अधिकाधिक व्यक्तियो, समूहो, तथा जातियों को आत्म-शासन का अधिकार मिले।

ऊपर की विचारणाओ से निम्न अप्रिय निष्कर्ष निकलता है मनुष्यो की एकता तथा पारस्परिक प्रेम और आदर का कारण यह नही है कि वे सुरक्षा तथा स्वतन्त्रता

चाहते हैं। ये उपयोगी प्रेरणाएँ अक्सर उनके बीच सघर्ष भी उत्पन्न करती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि मनुष्य सम्पत्ति तथा शक्ति से प्राप्त होने वाले अवकाश, स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा के लिये दूसरो को हानि पहुँचाने को उद्यत हो जाते हैं। समाज अथवा पुलिस का भय ही उन्हे वैसा करने से कुछ हद तक रोक पाता है।

मैं यहाँ एक दूसरा मन्तव्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मेरी समझ मे मनुष्य की सामाजिकता का मूल उसकी पशु-सुलभ जरूरतो मे नही है, उसका मूल मनुष्य की सृजनशील प्रकृति मे है। यदि हम जीव-योनियो के विकास का अध्ययन करे तो हम पाते है कि हर धरातल पर जीवधारी परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया करने मे सृजनात्मक विविधता का समावेश कर लेते है। अनेक जीव झुण्डो मे रहना चाहते है, जिससे सिद्ध होता है कि वे एक-दूसरे की भौतिक समीपता में आनन्द का अनुभव करते है। ऐसा जान पडता है कि दूसरे ऐसे जीवो की सनिधि, जो हमारे मित्र है, अथवा कम-से-कम शत्रु नही है, हमें स्वास्थ्यकर प्रतीत होती है। यही कारण है कि मेलो तथा उत्सवो मे इतनी भीड रहती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अधिकाश जीवधारी एक-दूसरे की भौतिक निकटता को पसन्द करते और उसकी कामना करते है।

किन्तु मनुष्य अपने साथियो की भौतिक निकटता ही नही चाहता, वह उनके आध्यात्मिक सामीप्य की भी कामना करता है। मानव व्यक्ति लगातार प्रतीको के माध्यम से दूसरे नर-नारियो की जीवन-क्रिया मे साझेदार बनता है, और इस प्रकार अपने अस्तित्व को अनुक्षण, नया तथा समृद्ध बनाता रहता है।

मनुष्य की सृजनशील प्रकृति में दो प्रकार की हलचले होती रहती है। एक ओर तो वह दूसरो के अनुभवो तथा सवेदनाओ को ग्रहण करके अपने अस्तित्व का प्रसार करता है, दूसरी ओर वह यह चाहता है कि उसकी अर्थवती अनुभूतियाँ दूसरो के द्वारा ग्रहण की जायँ और सराही जायँ। कोई कवि केवल अपने ही लिये गीत नही लिखता, और कोई दार्शनिक केवल अपने उपयोग के लिये सिद्धान्तो का निर्माण नही करता। ऐसा जान पडता है कि शारीरिक जीवन की भाँति आध्यात्मिक जीवन भी अपने को पुन सृष्ट करके बनाये रखना चाहता है। दूसरो के अनुभवो को ग्रहण करने तथा जीने की हमारी कामना कितनी बलवती होती है, इसका सबूत किसी भी रगमच अथवा सिनेमा मे पहुँच कर प्राप्त किया जा सकता है। हम सिनेमा जाते है, इसका मुख्य

कारण यह है कि, सिनेमा-हाल मे बैठकर, फिल्म के अभिनेताओ के कार्यकलाप देखते हुए, हम उनकी प्रतिक्रियाओ तथा भावनाओ का आरोप स्वय अपने ऊपर कर लेते है, जिससे हमारे जीवन की क्रिया वेगवान हो जाती है। इसी प्रकार नित्य प्रति अखबार तथा पुस्तके पढकर, और अपने मित्रो के साथ लम्बी-चौडी गप करके, हम अपनी जीवनगति को तीव्र तथा समृद्ध बनाते हैं। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के कारण एकान्तवास का दण्ड बहुत कडा दण्ड समझा जाता है।

हमारी वस्तु-सग्रह की प्रवृत्ति हमे स्वार्थी तथा हिसाब रखने वाला बना देती है। उस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर हम दूसरे मनुष्यो को केवल साधन-रूप मे देखने लगते है, जिनका सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये उपयोगी होना चाहिए। किन्तु जब व्यक्ति सृजन-मूलक साहचर्य खोजता है, तो उसे सपर्क मे आनेवाले नर-नारी दूसरी ही रोशनी मे दिखाई देते हैं। ऐसा व्यक्ति दूसरे मनुष्यो के विकास तथा उन्नति में अभिरुचि लेता है, इसलिये नही कि उस उन्नति से कोई व्यक्तिगत भौतिक लाभ होगा, बल्कि इसलिये कि उनकी आध्यात्मिक उन्नति तथा उससे समृद्ध होने वाले जीवन मे वह स्वय भी साझेदार हो सकेगा, और इस प्रकार अपने आनन्द की वृद्धि कर सकेगा। तो, एक मनुष्य दूसरो के लिये त्याग क्यो करे? हमारा उत्तर है कि एक आध्यात्मिक एव सृजनशील प्राणी होने के नाते ही हम मनुष्य से यह आशा तथा प्रार्थना कर सकते है कि, न केवल वह दूसरे मनुष्यो मे अभिरुचि ले, बल्कि उनके लिए त्याग भी करे।

कुछ ऐसे ही प्रयोजन की पूर्ति के लिए उच्च प्रकृति के पुरुष अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियों को उच्च प्रवृत्तियो के नियत्रण मे रखते हैं। सामाजिक जीवन यह ज़रूरी बना देता है कि हम एक सीमा तक आत्म-नियत्रण करे; किन्तु उच्च कोटि के लोग केवल इसलिये भी आत्मनियत्रण करते हैं, इसलिये भी इद्रियो तथा मन को वश में रखना सीखते हैं, कि वैसा करने से व्यक्तित्व की ऊर्ध्व प्रगति होती है। अन्तत मनुष्य की प्रगति का अर्थ यह है कि वह क्रमश उन मूल्यो को प्राप्त करने के प्रयत्न से विरत हो जाय जो केवल व्यक्तिगत है, और उन मूल्यो की खोज करे जो निर्वैयक्तिक हैं। जब हम स्वतत्रता, न्याय, सत्य, कला, साहित्य, आदि की प्रतिष्ठा के लिये प्रयत्न करने का महत्व समझ लेंगे, तो हमारे लिए यह कठिन न होगा कि हम दूसरो के लिये त्याग करे।

यह समझना गलत है कि इस प्रकार त्याग करने मे कोई आनन्द नही होता।

जब एक कवि अच्छा गीत लिखने के लिये और एक वैज्ञानिक एक बढिया सिद्धान्त की कल्पना के लिये प्रयत्न करता है, तो वह एक ऐसी चीज की सृष्टि करता है जिसका अनुचिन्तन उसे तथा दूसरे समानधर्मा लोगो को भी सदैव आनन्द देता रहेगा। जब दूसरे लोग हमारी आध्यात्मिक सृष्टियों मे आनन्द लेते हैं तो हमे कुछ वैसा ही सुख होता है जैसा कि उस माँ को जिसके बच्चे को प्रशसा या प्रेम दिया जा रहा है। एक नयी आध्यात्मिक सृष्टि करने मे वैसे ही परिश्रम तथा आनन्द होता है जैसे कि एक नये बच्चे को जन्म देने में। दोनो ही प्रकार की सृष्टियो के मूल मे जीवन की वह अदम्य प्रवृत्ति रहती है जो उसे अपने को वार-वार उत्सृष्ट करने को बाध्य करती है।

## साधुता स्वयं अपना साध्य है

वह परोपकारी साधु-प्रकृति का मनुष्य जो लगातार दूसरो के लिये अपने सुख का बलिदान करता है, एक दूसरी कोटि के आनन्द को प्राप्त करता है। कलाकार तथा वैज्ञानिक की भाँति वह पुरुष भी उन सुखो के प्रति उदासीन होता है जिनका सम्बन्ध हमारी सृजनशील प्रकृति से नही है। साधु व्यक्ति उन वस्तुओ की कामना नही करता जो अधिकाश लोगो को आकृष्ट करती है। इस प्रकार वह अपने को उन वस्तुओ की जरूरत से मुक्त कर लेता है। स्वय मुक्त होकर वह अपने उन साथियो की मदद करने की कोशिश करता है जो जरूरतमन्द तथा दुखी है। दूसरे नर-नारियो की सेवा करते हुए वह स्वय अपने कष्ट की परवाह नही करता। सेवा तथा सहायता द्वारा वह जीवन के ऐसे क्षणो अथवा रूपो की सृष्टि करता है जो दुखियो के कष्ट दूर करके उन्हें सुखी बनाते है; स्वय साधु पुरुष उनके सुख से सुखी हो जाता है। एक परिश्रम से लिखी हुई कलाकृति मे आलोचक लोग अक्सर दोष निकालते है, कला-सृष्टि से मिलने वाली प्रशसा तथा सुख सुनिश्चित नही होते। किन्तु उपकारी व्यक्ति जो दुखियो की भलाई करता है, उसका परिणाम सबको प्रत्यक्ष होता है, उसके बारे मे किसी शका-सन्देह की गुजाइश नही रहती। कला मे रस लेने के लिये पूर्व शिक्षा की आवश्यकता होती है, किन्तु दु ख तथा कष्ट की अनुभूति इतनी सार्वभौम है कि उसे कम-से-कम बुद्धि के लोग समझ लेते है। उपकारी पुरुष कष्ट से मुक्ति तथा सुखपूर्ण जीवन-क्षणो की सृष्टि करता है। इन जीवन-क्षणो से जहाँ दुखियो का कष्ट सुख मे बदल जाता है, वहाँ उस सृष्टि का दर्शक भी अप्रभावित नही रहता, देखने वालो को भी यह जानकर आनन्द होता है कि कुछ लोगो का दुख दूर हो गया। कलात्मक

तथा विचारात्मक कृतियों का आनन्द कल्पना के उपभोग मे रहता है, जब कि नैतिक कर्म द्वारा उत्पन्न आनन्द प्रत्यक्ष अनुभूत होता है । कला-सृष्टि तथा नैतिक सृष्टि के एक दूसरे अन्तर पर भी ध्यान देना चाहिए। नैतिक प्रयत्न का फल तुरन्त मिल जाता है, दुखियो के कष्ट के निराकरण के रूप मे। उपकारी साधु पुरुष प्रत्यक्ष देखता है कि उसका प्रयत्न सफल हुआ, उस प्रयत्न से कोई दूसरा व्यक्ति सुखी हुआ। किन्तु कलाकार अथवा विचारक के भाग्य मे प्राय यह देखना नही होता कि उसकी कृति पाठकों को कहाँ तक आनन्द दे रही है। उसके पास पाठको की प्रतिक्रिया सीधे नही पहुँचती, उसे केवल समीक्षको का न्यूनाधिक सहानुभूतिपूर्ण निर्णय ही सुनने को मिलता है।

क्या साधुता स्वय अपना पुरस्कार है? उत्तर मे निवेदन है कि 'हाँ'। प्रेमी के चुम्बन की भाँति साधुता की व्यावहारिक अभिव्यक्ति दोनो सम्बद्ध पार्टियो को आनन्द देती है। यही कारण है कि साधु व्यवहार का प्रभाव सक्रामक होता है। कवि की प्रशसा सुनकर हम स्वय कविता लिखना शुरू नही कर देते। हम मे यह इच्छा पैदा हो सकती है कि हम भी कवि हो, किन्तु वह इच्छा हमे कवि बनने की योग्यता नही दे देती। किन्तु जब हम किसी उदार-प्रवृति व्यक्ति को दूसरो का भला करते देखते हैं, तो उसका हम पर सीधे प्रभाव पडता है। इस प्रकार का व्यवहार हम मे परोपकार की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। प्लूटार्क ने लिखा है : 'साधु व्यवहार की यह विशेपता है कि जहाँ हम उसकी प्रशसा करते हैं वहाँ हम मे उसके अनुकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है नैतिक श्रेष्ठता मे अपूर्व आकर्पण रहता है।'[५] किन्तु वह साधुता जो स्वयं अपना पुरस्कार होती है, कर्तव्य-पालन से ज्यादा ऊँची चीज है। समाज हमे कर्तव्य-पालन के लिए बाध्य कर सकता है, किन्तु वह हमे परोपकारी साधु बनने के लिये बाध्य कर नही सकता। कर्तव्यनिष्ठ पुरुष प्राय समाज की रूढियो तथा अनुशासन को मानकर चलने वाला होता है। इसके विपरीत साधु व्यवहार उन व्यक्तियो मे ही पाया जाता है जिनकी नैतिकता सृजनात्मक है, और जो दूसरो के जीवन मे सुख के क्षण उत्पन्न करने मे आनन्द अनुभव करते हैं। लोग कर्तव्य का पालन प्राय अनिच्छा तथा भय से करते हैं। यदि पुलिस तथा समाज का भय न हो तो बहुत से लोग कानून की परवाह न करे। किन्तु असली अर्थ मे धार्मिक अथवा साधु पुरुष स्वेच्छा से दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार एक कथाकार अपने ही द्वारा दिये हुए अपने पात्रो के जीवन से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है, वैसे ही साधु प्रकृति मनुष्य दूसरो को सुखी बनाकर स्वय उसी सुख का कल्पनात्मक उपभोग करता है।

साधु पुरुष हम उसे कहेंगे जो दूसरों के हित-साधन में सृजनात्मक आनन्द का अनुभव करता है। इसके विपरीत कर्तव्यनिष्ठ पुरुष प्राय समाज के नियमों तथा रूढियो के अनुरूप चलने वाला होता है। इसमें सन्देह नही कि कुछ लोग कर्तव्य-पालन करने में आनन्द का अनुभव भी करते है। ऐसे लोग यह समझते है कि सामाजिक कानून तथा रीति-रिवाज निरर्थक नही हे। वे लोग कल्पना द्वारा उन नियमो तथा रिवाजो की उपयोगिता तथा सौन्दर्य का आभास पा लेते है। ऐसे लोगो की स्थिति उन व्यक्तियों के, जो अनिच्छा से कर्तव्य का पालन करते हैं, तथा उन व्यक्तियो के जो स्वेच्छा से दूसरो का हितसाधन करते हैं, बीच में समझनी चाहिए।

कुछ विचारको ने नि स्वार्थ अथवा दूसरो के हित-चिन्तन के जीवन के पक्ष में यह तर्क दिया है कि वैसा जीवन व्यवहार-नीति की दृष्टि से श्रेष्ठ होता है, अर्थात् वह अधिक विवेक तथा चतुराई का द्योतक है। उनका कहना है कि केवल अपने सुख की खोज स्वय अपने ही उद्देश्य में असफल होती है। प्रकृतिवादी के पक्ष का समर्थन करते हुए श्री स्टेस ने लिखा है ' 'ईसा तथा वुद्ध जैसे नैतिक प्रतिभासम्पन्न महापुरुषों की वडी खोज यह थी कि स्वार्थपूर्ण जीवन सुखी जीवन नही होता, और अपने को सुखी वनाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम दूसरो के सुख के लिये प्रयत्न करें।' आगे वे कहते है 'ऐसा क्यो है, यह कहना मुश्किल है। मनुष्य सुखी नही हो सकता जब तक उसके चारो ओर सब सुखी नही हैं। कारण यह कि व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता से ससक्त है। मानवजाति के सुख मे ही उसका सुख है।"

ऊपर के वक्तव्य से हमारा दो बातो मे मतभेद है। यह नही कहा जा सकता कि स्वार्थपरता से कभी लाभ होता ही नही, और मनुष्य तव तक सुखी नही हो सकता जब तक कि दूसरे सब लोग सुखी न हो। पुराने जमाने से राजाओ तथा उनके पार्श्ववर्ती अमीरो और सब प्रकार के मालिको के सुख का एक आधार यह भी रहा है कि वे दूसरो से काम करा के स्वय आराम से रहते रहे हैं। हमारे प्रतियोगिता-मूलक समाज में, जहाँ अच्छी नौकरी आसानी से नही मिलती, अक्सर एक व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर नौकरी तथा उसके साथ सुख के साधन प्राप्त कर लेता है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कभी-कभी एक की हार अथवा असफलता दूसरे के सुख और सफलता का कारण बन सकती है। इस स्पष्ट तथ्य का खण्डन ऐसे किसी कल्पित सिद्धान्त द्वारा नही हो सकता कि व्यक्ति का अस्तित्व मानवजाति के अस्तित्व से ससक्त है।

हम मानते है कि व्यक्तियो तथा जातियो के पारस्परिक सघर्ष, जिनका सम्बन्ध उनके स्वार्थों से होता है, वास्तविक है। जैसा कि हमने पीछे सकेत किया, उन सघर्षो के मूल मे भौतिक सामग्री, महत्वपूर्ण पद आदि की एपणाएँ रहती है। इन सघर्षों का सम्बन्ध प्राय साधनो से रहता है, और उनका लक्ष्य जरूरतो से मुक्ति तथा आर्थिक निश्चिन्तता या सुरक्षा है। अभिलपित साधन भौतिक पदार्थ तो होते ही है, कभी-कभी मनुष्य भी होते है।

यहाँ हम जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन कर रहे है उसके अनुसार उक्त सघर्षो से उत्पन्न होने वाली समस्याओ का समाधान दूसरा ही है। सम्भव है कि इन सघर्षो को पूर्णतया खत्म न किया जा सके, शायद उनकी पूर्ण समाप्ति श्रेयस्कर भी न हो, लेकिन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्थाओ मे उचित परिवर्तन द्वारा उन्हे कम जरूर किया जा सकता है। इस समस्या पर हम आगे अधिक प्रकाश डालेगे। यहाँ हम उस जीवन-दृष्टि का सकेत करने की चेष्टा करेगे जो व्यक्ति के लिये उपादेय है। विभिन्न मूल्यो के प्रति व्यक्ति का रुख कैसा होना चाहिए ?

इस प्रसग मे हमे एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। विभिन्न मनुष्यो के स्वार्थो एव हितो मे सघर्ष होता है, यह सत्य है, किन्तु स्वय व्यक्ति की विभिन्न रुचियो मे भी सघर्ष हो सकता है। हरेक व्यक्ति के जीवन मे कभी-कभी ऐसे अवसर आते है, जब वह दो कार्य-दिशाओ मे से ठीक से चुनाव नही कर पाता। "जीने की कला" के सम्बन्ध मे हमारे विचार इस प्रकार है। चूंकि मनुष्य अपनी प्रकृति से एक सृजनशील प्राणी है, इसलिये वह तब तक पूर्णतया सुखी नही हो सकता जब तक वह अपनी सृजनात्मक शक्तियो के उपयोग की व्यवस्था न करे। धन, सम्पत्ति तथा भौतिक सामग्री अवश्य ही मनुष्य के सुख मे वृद्धि करती है, किन्तु उनसे मिलने वाले सुख प्राय निपेधात्मक होते है। औसत आदमी अपनी जरूरतो की पूर्ति के सम्बन्ध में निश्चिन्तता चाहता है, इसलिये वह एक निश्चित आय की कामना करता है। किन्तु इस प्रकार की निश्चिन्तता अथवा सुरक्षा की भावना काफी नही है। मनुष्य तब तक सुखी नही हो सकता जब तक वह कोई सृजनात्मक कार्य न करता रहे। जिसे हम इस पुस्तक मे सस्कृति के नाम से पुकारते आये है, वह केवल एक दिखावे की चीज नही है। वह मानव-प्रकृति की आवश्यकता है। इसलिये वह कलाकार या विचारक जिसकी आय मामूली है, एक ऐसे करोडपति से जिसका व्यक्तित्व सस्कृत नही है, अधिक सुखी हो सकता है।

साथ ही हमें कहना है कि मनुष्य की सृजनशील प्रकृति अपने को विविध रूपो मे अभिव्यक्त तथा सन्तुष्ट कर सकती है। सम्भवत साधु मनुष्य की नैतिक सृजनशीलता, कुछ दृष्टियो से, समान श्रेणी के कलाकार अथवा गणितशास्त्री की सृजनशीलता से अधिक सन्तोषप्रद होती है। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि दूसरो के हित-चिन्तन अथवा परोपकार मे लगे विना मनुष्य सुखी हो ही नही सकता। हमारा विश्वास है कि एक वडा कवि, दार्शनिक अथवा गणितशास्त्री दूसरो के हित-चिन्तन की विशेष परवाह किये विना भी सुखी हो सकता है। लेकिन वह कोई व्यक्ति पूर्णतया सुखी नही हो सकता जो अपनी सृजनात्मक शक्तियो का उपयोग करना नही सीखता, और केवल उपयोगिता के क्षेत्र मे परिश्रम करता रहता है। केवल अपने हितो तथा स्वार्थो मे ज्यादा फँसे रहना सिर्फ इसीलिये बुरा नही है कि उससे कभी-कभी दूसरो के हितो की हानि होती है, वल्कि इसलिये भी कि वैसी प्रवृत्ति हमारी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को कमज़ोर वनाती है। एक वड़े-से-वडा भौतिकवादी भी तव तक ज़िन्दगी से अधिकतम आनन्द प्राप्त नही कर सकता जव तक वह अपनी स्वार्थपरता, लोभ तथा परिग्रह-शीलता पर कुछ नियत्रण न करे, और अपनी सृजनात्मक प्रकृति के कोमल पक्षो का विकास न करे। एक ऐसा व्यवसायी व्यक्ति जिसने कठोर लेन-देन के व्यापारो मे अधिक फँसे रहकर अपनी नैसर्गिक मृदुलता को खो दिया है, कभी भी उस उच्च कोटि के आनन्द को प्राप्त नही कर सकता जो गहरी कोमल मैत्री के सम्वन्ध मे प्राप्त होता है, अथवा जो ललित कलाओ के रस-ग्रहण तथा चिन्तनात्मक ग्रथो के अध्ययन से उपलब्ध होता है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. एस० ई० टलमिन, ऐन एग्जामीनेशन आव् द प्लेस आव् रीज़न इन एथिक्स, (केम्ब्रिज, १९५०), पृ० १९।

२. दे० वर्ट्रान्ड रसेल, हिस्टरी आव् वैस्टर्न फिलासफी, पृ० २६७।

३. दे० प्लूटार्क, लाइव्ज़ (सिलेक्टेड), (मेण्टर वुक्स, १९५२), पृ० १७३।

४. वही, पृ० १८७।

५. वही, पृ० ६४।

६. डब्ल्यू० टी० स्टेसरिलीज़न ऐन्ड द माडर्न माइन्ड, (मैकमिलन, १९५३), पृ०२८८।

# अध्याय ८

## धर्म-दर्शन की प्रकृति और पद्धति

इस अध्याय में हम मानव-जीवन तथा अनुभूति के उस पक्ष का विचार करेंगे जिसे अंग्रेजी में 'रिलीजन' कहते हैं। हमारी भाषा में 'रिलीजन' का कोई ठीक पर्याय नहीं है। धर्म शब्द का सम्बन्ध आचार-नीति से अधिक है, मोक्ष अथवा पूर्णता की खोज से कम। जो जीवन मोक्ष अथवा पूर्णत्व की खोज करता है, वह कर्तव्य-पालन-रूप नैतिकता से उदासीन भी हो सकता है। आध्यात्मिक जीवन के इस पहलू को "मोक्ष-धर्म" कह सकते हैं। हमारी भाषा में आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग प्रायः मोक्षान्वेषी जीवन के लिये होता है।

सब प्रकार के विश्लेषण का स्वरूप विश्लेषण के प्रयोजन से निर्धारित होता है। दार्शनिक विश्लेषण का प्रयोजन है, विश्लेष्य की प्रामाणिता तथा महत्व को आँकना। विलियम जैम्स ने यह सम्मति प्रकट की है कि धार्मिक अथवा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के स्वरूप का अन्वेषण उनके मूल्यांकन से अलग रखा जाना चाहिए। वह कहते हैं:

हाल की लिखी हुई तर्क-शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों में किसी वस्तु से सम्बन्धित दो प्रकार के अन्वेषणों में अन्तर किया गया है। पहले अन्वेषण के क्षेत्र में पूछा जाता है कि वस्तु का स्वभाव क्या है? वह कैसे अस्तित्व में आयी? उसकी रचना या बनावट, उद्भव तथा इतिहास क्या है? दूसरे अन्वेषण के क्षेत्र में हम पूछते हैं, उस वस्तु का जो अब अस्तित्ववान है, महत्व अथवा प्रयोजन क्या है? पहले प्रश्न के उत्तर में एक तथ्य-सम्बन्धी कथन किया जाता है। दूसरे के उत्तर में एक मूल्यात्मक कथन करना पड़ता है।[1]

जेम्स का विचार ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तु के सत्तामूलक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण में कोई प्रयोजन निहित नहीं होता, वैसा विश्लेषण प्रयोजन को छोड़कर

किया जा सकता है। किन्तु यह सही नही है। आश्चर्य की बात है कि उपयोगितावादी अथवा व्यवहारवादी (Pragmatist) होते हुए भी जेम्स यह न देख सके कि अन्वेषक के प्रयोजन और उसके अन्वेषण मे आवश्यक लगाव होता है। हमारा विचार है कि हम किसी घटना अथवा वस्तु का पूर्ण विश्लेषण नही कर सकते। सब प्रकार का विश्लेषण एकागी अथवा आशिक होता हैं, कार्य-कारण-मूलक विश्लेषण भी इसका अपवाद नही है। जब हम किसी वस्तु या घटना का सकेत करते हैं तो हमेशा उसके किसी पहलू पर ध्यान देते हैं, और उस पहलू के कारणो का ही निर्देश करते हैं। मतलब यह है कि हमारा ज्ञान आवश्यक रूप मे अमूर्त (Abstract) अथवा चयनात्मक होता है। इसलिये जब दार्शनिक किसी चीज का विश्लेषण इस दृष्टि मे करता है कि बाद मे वह उसका मूल्याकन करे तो, आवश्यक रूप मे, उसका विश्लेषण उस वैज्ञानिक के विश्लेषण से भिन्न हो जाता है जिसका लक्ष्य पदार्थ की बनावट या रचना का उद्घाटन है। उपरोक्त उद्धरण में जेम्स ने एक दूसरी गलती भी की है; उसका यह विचार गलत है कि किसी वस्तु की रचना, उद्भव तथा इतिहास-सम्बन्धी प्रश्न एक ही कोटि के होते हैं। केवल जीवित प्राणियो का इतिहास होता हैं, और वस्तु के उद्भव के अन्वेषण का एक जीव-विज्ञानी के लिये वही अर्थ नही होता जो एक समाजशास्त्री अथवा भौतिक विज्ञान के ज्ञाता के लिये होता है।

मोक्षधर्म के अध्ययन के सम्बन्ध में जेम्स ने एक और परामर्श दिया है, जो ज्यादा रोचक है। जेम्स का कहना है कि आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन हम साधारण लोगो के अनुभवों के आलोक मे न करके उन आध्यात्मिक प्रतिमाओ के जीवन की अपेक्षा मे करे जिनके लिये आध्यात्मिक साधना एक तीव्र ज्वर जैसा अस्तित्व रखती है।[१] मतलब यह कि आध्यात्मिक जीवन को समझने के लिये हमे उसके ज्यादा विकसित रूपो पर ध्यान देना चाहिए। जेम्स का यह मत हमे उचित लगता है। जब हम कला की प्रकृति समझना चाहते हैं तो हम उसका अध्ययन बडे कलाकारो की कृतियों की अपेक्षा मे करते हैं, यद्यपि कलात्मक रुचि प्राय सभी मनुष्यो मे पाई जाती है। इसी प्रकार जब हम उपन्यास अथवा गणित का स्वरूप समझना चाहते हैं तो हम बड़े उपन्यासकारो तथा गणितशास्त्रियो की कृतियो पर ध्यान जमाते हैं, यद्यपि कहानी कहने तथा गिनने की प्रवृत्तियाँ सभी नर-नारियो में पाई जाती हैं। जेम्स के पक्ष मे एक दूसरी परिस्थिति भी है। अपने उन्नत रूप मे ही मोक्ष धर्म जादू-टोना, पुराणों तथा दूसरी सम्बद्ध चीजो से अलग हो पाता है। प्रसिद्ध जर्मन विचारक वुण्ट ने लिखा

है कि सास्कृतिक चेतना को हम जितने ही कम विकसित रूप में देखते है, उतना ही हम पाते है कि मोक्ष-धर्म-सम्बन्धी तत्त्व दूसरे तत्वो मे मिश्रित हो रहे है।[3] किसी जाति की पौराणिक गाथाओ मे तत्वदर्शन, कविता, नीति-भावना तथा मोक्षधर्म के तत्त्व सकुल रूप में मिश्रित होते है। अतएव यदि हम "रिलीजन" या आध्यात्मिक साधना के स्वरूप को समझना चाहते है, तो हमे उन रहस्यवादी सन्तो तथा दूसरी कोटि के साधको की जीवनियो का अध्ययन करना चाहिए जिनमे आध्यात्मिक खोज विकसित रूप में वर्तमान थी।

जेम्स के मत की आलोचना की गई है। यूरेन नामक लेखक का कहना है कि जेम्स का प्रसिद्ध ग्रथ "वेराइटीज आफ रिलीजस एक्सपीरियन्स" अपवादो का अध्ययन करता है।[4] चूँकि जेम्स यह दावा करते है कि वह समस्त आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अनुभूति का अध्ययन कर रहे है, इसलिये अपवाद जैसे दीखने वाले अर्ध-विक्षिप्त लोगो के अनुभव सामान्य आध्यात्मिक अनुभूति के प्रतिमान नही बन सकते। न आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में, न कला मे ही हम अपवादो को अपना मानदण्ड बना सकते है। उदाहरण के लिये कला के क्षेत्र मे अनेक अजीब वाद पाये जाते है जैसे कि अनागतवाद (Futurism) समघनवाद (Cubism), वर्तुल-गतिवाद (Vorticism) इत्यादि, ऐसे वादो के आधार पर हम कला के स्वरूप का ठीक से निर्धारण नही कर सकते।[5]

अपनी समीक्षा के बावजूद यूरेन को मानना पडा है कि जेम्स की पुस्तक एक महत्वपूर्ण कृति है। ऐसा जान पडता है कि जेम्स द्वारा बताई हुई पद्धति सफलता से काम करती है। वास्तविकता यह है कि जिसे हम असामान्य (Abnormal) कहते है, फिर चाहे उसकी उपस्थिति विक्षिप्त व्यक्ति मे हो अथवा प्रतिभाशाली मे, स्वय सामान्य का ही अतिरजित रूप है। सामान्य और असामान्य के बीच कोई खाई नही है। सामान्य जीवन के आधार पर ही असामान्य की भी व्याख्या की जा सकती है। सच यह है कि हम असामान्य को जहाँ तक समझ पाते है वहाँ तक यही जानते है कि किस प्रकार वह सामान्य की ही एक सम्भाव्य परिणति है। हम नेपोलियन अथवा गाधी जैसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो को समझ पाते है, क्योकि उनकी विशिष्टताएँ सामान्य गुणो का ही अतिरजित रूप होती है।

जिस प्रकार सामान्य तथा असामान्य के बीच अविच्छिन्नता (Continuity)

है, वैसे ही आदिम तथा सभ्य समाजो मे भी। यदि हमारी और आदिम मनुष्यों की प्रकृति मे समानता न हो, तो हम उन्हे हर्गिज न समझ सके। प्रश्न है, इस अविच्छिन्नता का स्वरूप क्या है? गैलोवे ने लिखा है - 'मानव प्रकृति एक है, जिसके कारण आज घटित होने वाली मानसिक क्रियाएँ वैसी ही अतीत क्रियाओ को समझने की कुजी बन जाती है। अपने बौद्धिक व्यापारो मे मनुष्य ने बड़ी उन्नति कर ली है, किन्तु बौद्धिक जीवन के पीछे वे सवेदनाएँ, प्रवृत्तियाँ तथा प्रेरणाएँ होती है जो मानव विकास की सभी भूमिकाओ मे प्राय- वही रहती है।'[१] किन्तु इसका यह मतलब नही है कि आज की "सस्कृतियाँ" आदिम "सस्कृतियो" का विकसित रूप है, और वे "संस्कृतियाँ" आधुनिक "संस्कृतियो" तक पहुँचने की सीढियाँ मात्र है। आदिम तथा आधुनिक की अविच्छिन्नता की एक दूसरी व्याख्या सभव है। विभिन्न ऐतिहासिक जातियों अथवा समाजो ने जिन विभिन्न "सस्कृतियो" को विकसित किया है, वे उन विभिन्न रूपो की प्रतीक है जिनमें मानव-जीवन अपने को अभिव्यक्त तथा सन्तुष्ट कर सकता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मानव-शिशु को, उसके जन्म के बाद, जिस "सस्कृति" मे रख दिया जाय वह उसी के अनुरूप बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न "सस्कृतियाँ" एक ही मानव-प्रकृति की विभिन्न सृजनात्मक सम्भावनाएँ प्रकट करती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि मनुष्य के व्यवहारों की अत्यर्थ विविधरूपता का कारण उसकी सृजनशीलता ही है। मनुष्यों के विभिन्न भौतिक परिवेश, उनके विभिन्न सामाजिक अनुभव, उनकी परम्पराओ की विभिन्नताएँ, जो उनकी प्रथाओ तथा रूढियों में प्रतिफलित होती है, तथा उनके दूसरी जातियो से सम्पर्कित होने के अवसर, ये सभी मानव-समाजो के विभिन्न जीवन-रूपों का स्वरूप निर्धारित करते है।

किन्तु कोई भी "सस्कृति" मानव प्रकृति से बाहर नही है। विभिन्न संस्कृतियों मे दो प्रकार के भेद मुख्य होते है · एक उनकी आस्थाएँ तथा विश्वासों के भेद, और दूसरे उनके प्रकृति पर न्यूनाधिक नियन्त्रण के भेद। विभिन्न जातियो के विभिन्न विश्वासो तथा उन से अनुगत होने वाले निष्कर्षो को हम वैसे ही समझ सकते है जैसे कि कल्पित मान्यताओ अथवा स्थापनाओ के निष्कर्षों को। जब हम कहते है कि आदिम तथा सभ्य मनुष्य के बीच अविच्छिन्नता है, तो हमारा यह मतलब नही होता कि उनकी आस्थाएँ तथा विश्वास एक-से है। हमारा तात्पर्य यह है कि आदिम तथा सभ्य मनुष्य दोनो सुन्दर तथा असुन्दर, शक्तिपूर्ण तथा रहस्यमयी सत्ताओ के प्रति

एक-सी ही आवेगात्मक प्रतिक्रिया करते हैं। यह ठीक है कि मानव-चेतना तत्व पदार्थों के अथवा विश्व की सचालक शक्तियो के, बारे मे लगातार भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करती आई हैं। उसके लिये सौन्दर्य, शक्ति तथा रहस्यमयता के रूप भी बदलते रहते हैं। फिर भी इन चीजो से सम्बद्ध मनुष्य की मूल भावनाएँ या प्रतीतियाँ प्राय वही रहती हैं। उन प्रतीतियो की समानता के कारण ही आज का सभ्य पुरुष आदिम जातियो की आवेगात्मक प्रतिक्रियाओ को समझ सकता है, और उनकी व्याख्या कर सकता है। इस सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह है कि आदिम जातियो का मोक्षधर्म तथा आधुनिक मनुष्यकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोकी व्याख्या एक ही सिद्धान्त द्वारा सभव होनी चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे कि आदिम कला तथा आजकी कला को समझनेके लिये भिन्न सिद्धान्तो की कल्पना नहीं की जाती, बल्कि एक ही सिद्धान्त-सूत्र की अवतारणा की जाती है।

## धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का स्वरूप

धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति, हमारे-मत में मूलतः एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा उपस्थिति (सत्ता) की प्रतीति है जो जीवन के समस्त मूल्यों का मूल या आधार समझी जाती है। जिसे हम धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन कहते हैं, वह वह जीवन है जो उक्त लक्ष्य तथा सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है। यह परिभाषा धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना तथा जीवन के विषय के सम्बन्ध मे मुख्यत दो बाते कहती है · प्रथमत उस विषय के स्वरूप का हमें धुँधला आभास ही रहता है, दूसरे, यह समझा जाता है कि वह विषय या तत्व उन सब मूल्यो का आधार है जिनका अन्वेषण मनुष्य करता है। धार्मिक चेतना के इस विषय की कभी एक ईश्वर के रूप में कल्पना की जाती है, और कभी अनेक देवी-देवताओ के समूह के रूप में। दूसरी स्थिति मे ऐसी भावना या मान्यता रह सकती है कि विभिन्न देवी-देवताओ में पूर्णत्व के विभिन्न पहलू मौजूद हैं। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के दो सबसे महत्वपूर्ण देवता इन्द्र और वरुण समझे जाते हैं। इन्द्र बल तथा शक्ति के अधिष्ठाता हैं, और वरुण मुख्यत नैतिक व्यवस्था के सरक्षक हैं। एकेश्वरवादी धर्मों मे अकेले ईश्वर को सब प्रकार के गुणो तथा ऐश्वर्यों का आश्रय माना जाता है। बौद्ध धर्म में सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक धारणा निर्वाण की है, जो कि मानव-जीवन का रहस्यपूर्ण लक्ष्य है, किन्तु निर्वाण का वही अर्थ है जो कि बुद्धत्व का, और बौद्धधर्म के जन-प्रसिद्ध रूपो मे बुद्ध की कल्पना प्राय वैसे ही की जाती है जैसे कि दूसरे धर्मों मे ईश्वर की।

ईश्वर तथा पूर्णत्व की विभिन्न कल्पनाओ, और मानव-जीवन के लक्ष्य-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओ मे, जहाँ अनेक समानताएँ पाई जाती है, वहाँ अनेक भेद भी दिखाई देते है। इन धारणाओ तथा कल्पनाओ पर विभिन्न "सस्कृतियो" की छाप रहती है। उदाहरण के लिये मुसलमानो के ईश्वर तथा वैष्णवो के ईश्वर में वहुत अन्तर है। इसी प्रकार बौद्धो के निर्वाण तथा मुसलमानो और ईसाइयो के स्वर्ग मे कोई समानता नही है। यदि हम आदिम जातियो तथा आधुनिक सभ्य जातियो की कल्पनाओ पर ध्यान दे, तो और अधिक भेद दिखाई देता है। साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि विभिन्न धर्मो मे पाये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानो तथा उपासना एव भक्ति के रूपो मे आश्चर्यजनक समानताएँ पाई जाती है।

यहाँ दो सम्बद्ध प्रश्न उठते है। प्रथमत, ईश्वर तथा मानव-जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध मे विभिन्न धारणाएँ कैसे उत्पन्न होती है ? दूसरे, इन धारणाओ की प्रामाणिकता क्या है ? एक तीसरा प्रश्न भी हो सकता है, क्या इन धारणाओं तथा कल्पनाओ का मानव-जीवन के लिये कोई खास महत्व है ?

इन प्रश्नो का उत्तर देने से पहले हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि धार्मिक धारणाओ का स्वरूप ऐतिहासिक होता है। इसका मतलब यह है कि विभिन्न ऐतिहासिक युगो तथा जातियो मे उक्त धारणाओ का स्वरूप अलग-अलग हो जाता है। जिसे हम प्रत्ययात्मक अथवा धारणात्मक ज्ञान कहते है, उसका उद्गम हमारी अनुभव-राशि मे होता है। विभिन्न धार्मिक धारणाएँ यह सिद्ध करती है कि विभिन्न जातियो की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति भी अलग-अलग होती है। इस अनुभूति मे किस प्रकार के परिवर्तन होते है ? परिवर्तन की एक दिशा यह है कि जहाँ आदिम समाजो मे नैतिक तथा बौद्धिक, बोधात्मक तथा आवेगात्मक, लौकिक तथा पारलौकिक, उपासना-सम्बन्धी तथा जादू-टोना से सम्बन्ध रखने वाले, मनुष्य के यथार्थ जीवन से सम्बन्धित तथा उसके आदर्श स्वप्नों के लगाव रखने वाले तत्व एक-दूसरे से मिले रहते है, वहाँ, सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ, मनुष्य अपनी विभिन्न रुचियो एव स्वार्थो तथा उनके विषयो को अलग-अलग कर लेते है, और अपनी पूजा तथा उपासना के विषयभूत पदार्थो को दूसरी चीजो से विविक्त कर लेते है। मनुष्य जिन देवताओ की उपासना करता है उनका उसके जीवन की महत्वपूर्ण समझी जाने वाली वाली जरूरतो से घना सम्बन्ध रहता है। उदाहरण के लिये वैदिक आर्यो के जीवन मे कृषि का विशेष स्थान था, इसलिये उन्होने अपने मुख्य देवता इन्द्र की कल्पना इस

प्रकार की कि वह कृषि के लिये उपयोगी हो सके। वैदिक इन्द्र बादलो तथा वर्षा का स्वामी है। जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति की भौतिक शक्तियो पर अधिकार बढता गया, वैसे-वैसे उसके उपास्य देवताओ की प्रकृति बदलती गई। अब वह अपने देवताओं मे अधिक सूक्ष्म, आध्यात्मिक विशेषताओ का आरोप करने लगा। कारण यह था कि अब मनुष्य को प्रकृति पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा सूक्ष्म आध्यात्मिक गुणो की उपलब्धि करना ज्यादा कठिन जान पडता था। जिन चीजो को मनुष्य कठिनाई से प्राप्त कर सकता है, उनका सम्बन्ध वह उपास्य देवता से जोड देता है।

इस सम्बन्ध मे एक दूसरी चीज पर भी ध्यान देना चाहिए। एक ही सस्कृति के अन्तर्गत पढे-लिखे विद्वान लोग ईश्वर अथवा चरम तत्व की कल्पना एक प्रकार से करते है, और साधारण लोग दूसरे प्रकार से। हमारे देश मे यह माना जाता है कि अपनी-अपनी बौद्धिक योग्यता के अनुसार विभिन्न लोगो को ईश्वर की उपासना भिन्न ढगो से करनी चाहिए। इस मन्तव्य को अधिकारी-भेद का सिद्धान्त कहते है। प्रत्येक व्यक्ति हर प्रकार के ज्ञान तथा उपासना का अधिकारी नही होता। हमारे ऋषि उच्च कोटि के जिज्ञासुओ को ही अध्यात्म की शिक्षा देने को तैयार होते थे।

## धार्मिक धारणाओं की उत्पत्ति

अब हम इस पर विचार करेंगे कि धार्मिक-आध्यात्मिक धारणाओ का उदय कैसे होता है, और उनकी प्रामाणिकता क्या है। आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अनुभूति की परिभाषा मे हमने इस बात पर जोर दिया है कि उस अनुभूति का विषयभूत तत्व रहस्यमय होता है। इस रहस्यमयता को किस प्रकार समझा जाय, और उसका सामान्य जीवनानुभूति से कैसे सम्बन्ध स्थापित किया जाय? कुछ रहस्यवादियो ने कहा है कि आध्यात्मिक अनुभूति एक निराली अनुभूति होती है जिसका मनुष्य की साधारण संवेदनाओ से कोई सम्बन्ध नही होता। रहस्यवादियो के इस दावे को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि आध्यात्मिक अनुभूति एक अतिमानवीय अनुभूति है, जिसका सामान्य व्यक्तियो के जीवन और अनुभव से कोई लगाव नही है। यदि यह मान लिया जाय कि तथा-कथित रहस्यवादी सन्तो की अनुभूति एकदम निराली होती है, तो यह स्वीकार करना पडेगा कि वे लोग सामान्य मनुष्यो से भिन्न कोटि के प्राणी होते है। उस दशा में यह समझना कठिन हो जायगा कि क्यो धार्मिक शिक्षको

तथा सन्तो की शिक्षाएँ जन-साधारण को इतनी भली लगती हैं, और किस प्रकार वे शिक्षक और सन्त जन-मन तथा जन-जीवन को प्रभावित कर पाते हैं।

इन कारणो से हम किसी ऐसी चीज को मानने को तैयार नही हैं जैसा कि श्री अरविन्द घोष का ऊर्ध्व चेतन (Super-mind) है, जिसके बारे मे यह समझा जाता है कि वह साधारण मनुष्यो द्वारा अप्राप्य अनुभूतियाँ प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत हम मानते हैं कि ऊँची-से-ऊँची बुद्धि तथा अधिक-से-अधिक रहस्यमय अनुभूति का बोध उन साधारण-से-साधारण लोगो तक पहुँच सकना चाहिए जो आवश्यक बौद्धिक तथा कल्पनात्मक तैयारी करने को उद्यत हो। बुद्धि तथा कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उडाने सामान्य मानव-अनुभूति की सीमाओ का अतिक्रमण नही करती। बडे-से-बडे प्रतिभाशालियो की बडी-से-बडी सृष्टियाँ, अन्तिम विश्लेषण मे, जन-साधारण के अनुभवो, विचारो, इच्छाओ तथा आशाओ का विस्तार अथवा नवीन सगठन मात्र होती हैं।

जहाँ हम यह स्वीकार करते हैं कि आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना का विषय रहस्यमय होता है, वहाँ हम यह नही मानते कि वह विषय हमारे साधारण अनुभवों की सीमा का अतिक्रमण करने वाला होता है। सच यह है कि रहस्यमयता की भावना भी हमारी सामान्य अनुभव-शक्ति का ही अग है। व्यावहारिक जीवन की उलझनो मे पडकर हमारी यह भावना कुठित होने लगती है, किन्तु वह कभी पूर्णतया नष्ट नही होती।

## रहस्यानुभूति तथा अवचेतन

मनुष्य सृजनशील है, किन्तु उसकी सृजनशीलता किस प्रकार व्यापृत होती है, यह कोई नही जानता। लेखक और कलाकार "प्रेरणा" की बात करते हैं, यह शब्द भी यह प्रकट करता है कि कला तथा चिन्तन मे नवीन भावो तथा विचारों का स्फुरण रहस्यमय ढग से होता है—अर्थात् प्रतिभाशालियो के विशेष महत्वपूर्ण विचार और कल्पनाएँ उनके मस्तिष्क मे अकस्मात् उपस्थित होती हैं।

कभी-कभी देखा गया है गणित की जिस समस्या का हल जागृत अवस्था में प्रयत्न करने पर भी नही मिलता, वह हल स्वप्नावस्था में अपने आप प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार शतरज के खेल मे एक खिलाड़ी हिसाब लगाने पर जितना निर्भर करता है, उतना ही अचानक सूझो पर भी। ऐसा जान पडता है कि हमारे मानसिक जीवन की

सृजनात्मक प्रगति मुख्यत अवचेतन की अँधेरी तहो मे घटित होती है।[*] किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उक्त प्रगति को लाने में सचेत प्रयत्न का कोई हाथ ही नही होता। इसका प्रमाण यह है कि किसी क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कोटि की सूझे उन्ही के मन मे आती है जो उस क्षेत्र के विशेषज्ञ है।

अचेतन अथवा अवचेतन की सृजन-क्रिया का सचेत मस्तिष्क से क्या सम्बन्ध होता है? प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग ने यह प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति से भिन्न एक जातीय अवचेतन होता है, अर्थात् वह अवचेतन जिसका सम्बन्ध मानवजाति से। युग मानते है कि हमारे अवचेतन के कुछ तत्व जातीय अवचेतन से ग्रहण किये जाते है। प्रस्तुत लेखक को जातीय अवचेतन की सत्ता मे विश्वास नही है। हम मानते है कि अन्तत अवचेतन का हरेक तत्व सचेत अनुभूति से प्राप्त होता है। व्यक्ति का अवचेतन उसकी अनुभूति के उन तत्वों से गठित होता है जिनका उसके जीवन में अभी तक उचित उपयोग नही हो पाया है। अवचेतन के गर्भ मे दमित इच्छाएँ अथवा प्रतीतियाँ हो सकती है, किन्तु यह जरूरी नही है कि वहाँ केवल वही चीजें हो। वस्तुत मनुष्य की प्रतीतियाँ तथा संवेदनाएँ सदैव उसकी व्याहारिक जीवन की जरूरतो का अतिक्रमण करती है। हमारी वे संवेदनाएँ और प्रतीतियाँ, जिनका हमारे उपयोगी तथा ज्ञात जीवन से सम्बन्ध स्थापित नही होता, हमारे अवचेतन मे प्रविष्ट हो जाती है। अधिक-से-अधिक व्यावहारिक तथा असवेदनशील व्यक्ति मे भी इस प्रकार की प्रतीतियो तथा सवेदनाओ का सचय रहता है। उदाहरण के लिये मृत्यु की उपस्थिति मे नितान्त व्यावसायिक वृत्ति का मनुष्य भी विचलित हो जाता है, और उदात्त भावनाओ का अनुभव करने लगता है। इसी प्रकार एक ऊँचे शैल-शिखर, विस्तृत समुद्र तथा त्याग और साहस के महान कर्म की उपस्थिति मे सभी के हृदय में निरुपयोगी कोटि की विचित्र सवेदनाएँ जगती है। हम यह नही मानते कि हमारी अवचेतन प्रतीतियाँ केवल दमित वासनाओ से ही निर्मित होती है। विभिन्न व्यक्तियो की रुचियाँ अलग-अलग होती है, और उनकी अवचेतन प्रतीतियाँ तथा वृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हो सकती है। अवचेतन जगत प्राणियो को सुखद भी हो सकता है और कष्टपूर्ण भी। जिन अवचेतन अनुभूतियो का प्रभाव किसी भौतिकशास्त्री, गणितज्ञ अथवा शतरज के खिलाडी के सृजनात्मक व्यापारो पर पडता है, उनका मूल दमित वासनाओ में नही हो सकता। यह मानने का कोई कारण नही है कि एक कलाकार, कवि अथवा सगीतज्ञ की सृजन-क्रिया पूर्वोक्त व्यक्तियो की सृजन-क्रिया से एकदम भिन्न होती है।

इस रोशनी में देखने पर यह जान पड़ेगा कि मनुष्य का अवचेतन उन जरूरतों, इच्छाओ तथा संवेदनाओ का भंडार होता है, जिनका अभी कोई उपयोग नहीं हो सका है। एक ही "संस्कृति" तथा परिवेश मे रहने वाले लोगो के अवचेतन की अनुभूतियों में कुछ समानता होती हैं, जो अपने को पौराणिक तथा अन्य प्रचलित कथा-कहानियो आदि में अभिव्यक्त करती है। अवचेतन का मुख्य कार्य यह होता है कि वह सचित अनुभूतियों मे जहाँ-तहाँ विस्तार, अथवा उनके नये सस्थान, उत्पन्न करे। किन्तु जैसे ही ये विस्तार तथा सस्थान तैयार होकर चेतन मे आते हैं वैसे ही मनुष्य की समीक्षा-बुद्धि उनकी परीक्षा करने लगती है। फलत अवचेतन की सृष्टियों को चेतन मन के बोध तथा विश्वासो के साथ समझौता करना पडता है। किन्तु कभी-कभी विपरीत प्रतिक्रिया भी आवश्यक हो सकती है। अवचेतन की सृष्टियो के लिये स्थान बनाने की जरूरत चेतन अनुभव के नियमो मे परिवर्तन की माँग भी कर सकती है।

चेतन तथा अवचेतन के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाले एक परिणाम पर दृष्टिपात करना चाहिए। जैसे-जैसे चेतन के क्षेत्र मे विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे अवचेतन का क्षेत्र घटता जाता है। उदाहरण के लिये विज्ञान की प्रगति ने मानवीय अवचेतन की उन क्रियाओ में बाधा डाल दी है जिनके द्वारा चमत्कारी घटनाओं तथा जादू आदि के प्रभावों की कल्पना की जाती थी। इतना निश्चित है कि एक ऐसे व्यक्ति के मन मे जिसने वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त की है, उस प्रकार की कल्पनाएँ प्राय नही उठती जैसी कि अज्ञानी लोगो के मन मे उठा करती हैं।

तो, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का विषय मनुष्य के अवचेतन अथवा उपचेतन मन का प्रक्षेप होता है। अवचेतन तथा उपचेतन मे भेद करना कठिन है, हमारे लिये वह प्रयोजनीय भी नहीं है। दोनो का काम एक ही, अर्थात् ऐसी प्रतीति को शरण देना जिसका सचेत जीवन के प्रयोजनो से सम्बन्ध नही बन सका है। अवचेतन की धर्म-सम्बन्धी वृत्तियाँ, अथवा आध्यात्मिक प्रतीतियाँ, दूसरी कोटि की प्रतीतियो से भिन्न होती हैं। यह भेद कुछ वैसा ही होता है जैसा कि दर्शन तथा दूसरे विज्ञानों का भेद। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण चेतना-मूलक जीवन तथा अनुभूति से होता है। वस्तुत वह अनुभव मनुष्य की सम्पूर्ण अर्थवती अनुभूतियों की प्रतीयमान एकता-रूप होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि दर्शन तथा धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म-चेतना मे

जिस एकता की धुंधली प्रतीति होती है, उसे दर्शन तर्कशास्त्रीय तथा अन्य मूल्यो के आलोक मे समझने का प्रयत्न करता है।

ऊपर हमने कहा था कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक परम्पराओ द्वारा निर्धारित होती है। एक तीसरी चीज भी है जो उसके स्वरूप को प्रभावित करती है, अर्थात् विशिष्ट जन-समूह अथवा व्यक्ति का स्वभाव। यह बात प्रत्येक युग की धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना के सम्बन्ध में लागू है। वह उस चेतना की विभिन्न भूमिकाओ अथवा सोपानो (Stages) पर भी लागू है। प्रसिद्ध लेखक रयूडाल्फ ऑटो ने लिखा है 'पदावली की समानता के बावजूद-और यह समानता आश्चर्यजनक हो सकती है—रहस्यवादी अनुभूति उतनी ही विविध होती है जितनी कि सामान्य धार्मिक चेतना।'[८] ऑटो ने एक ओर शकर की शीतल एव निरुद्वेग तथा फारस की उष्ण और आवेगपूर्ण रहस्यानुभूति मे, और दूसरी ओर बुद्धिवादी वेदान्तीय रहस्यानुभूति तथा ज्योतिवादियो (Illuminists) की अभिचारान्वेषी, चमत्कार-प्रिय रहस्य-भावना मे अन्तर किया है।[९]

धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना द्वारा उपस्थापित अनुभूति अनेक कोटियो की हो सकती है मुख्यत बौद्धिक तथा आवेगात्मक सत्ता या सत्ताओ से सम्बन्धित, अथवा मूल्यात्मक। उस चेतना का विषय एक ऐसी कारण-सत्ता भी हो सकती है जो सुख और दुख उत्पन्न करती है, और एक ऐसी दुनिया भी जिसमे सुख-दुख के उपादान सचित हैं। उस दशा में उक्त चेतना का विषय भय तथा आतक की सवेदना उत्पन्न करता है। गीता के ग्यारहवे अध्याय मे भगवान का विश्वरूप देखकर अर्जुन के मन में कुछ ऐसा ही भय-सचार हुआ था। इसके विपरीत धार्मिक चेतना का विषय अपने को सब प्रकार के सौन्दर्य तथा कल्याणमय गुणो के आश्रय के रूप मे भी उपस्थित कर सकता है, वैसा विषय उपासना तथा प्रशसा की भावनाएँ जगाता है। यह भी सम्भव है कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय शक्ति, शील, सौन्दर्य तथा उदात्तभाव के साथ - साथ कृपाशीलता तथा रौद्र भाव का आधार भी प्रतीत हो।

इन भिन्नताओ को सामने रखते हुए यह सम्भव नही दीखता कि मनुष्य की धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का कोई एक प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत कर दिया जाय। किन्तु डा० ऑटो का विश्वास है कि विभिन्न युगो तथा देशो मे पाई जाने वाली धार्मिक चेतना के विषय मे कुछ गुण ऐसे पाये जाते है जो सार्वभौम है, जैसे शक्ति तथा विराटता,

रहस्यमयता और आकर्षण। ऑटो ने इन गुणों के समूह को एक नई धारणा मे पिरोने का प्रयत्न किया है। यह धारणा विशुद्ध अथवा अतीन्द्रिय (Holy or Numenous) की धारणा है।[१०] किन्तु हमारा विचार है कि ऑटो का यह मन्तव्य उनके ही द्वारा प्राप्त किये हुए कतिपय निष्कर्षों के विरुद्ध पडता है। उदाहरण के लिये हमारा विश्वास है कि शकराचार्य की बौद्धिक रहस्य-भावना का वर्णन उक्त धारणाओ की मदद से नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म को निर्गुण कहा जाता है, वह किसी चीज का कारण नही हो सकता और न उस पर किसी प्रकार का प्रभाव ही पड सकता है। ब्रह्म को विराट अथवा उदात्त, या आकर्षण आदि गुणो का आधार कहना समुचित नही प्रतीत होता। शायद वेदान्त के ब्रह्म को हम एक ही तरह विशेपित कर सकते है, अर्थात् यह कह कर कि वह रहस्यपूर्ण है। ऑटो ने एक दूसरी बात भी कही है। उनके मत में धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का एक तत्व है, "निर्भरता की भावना" (Creature Consciousness) अर्थात् यह भावना कि मै किसी स्रष्टा की सृष्टि हूँ, उस पर पूर्ण रूप से निर्भर हूँ। हमारा विश्वास है कि कोई भी अद्वैतवादी इस प्रकार की भावना का अनुभव नही करता, क्योकि वह लगातार इस तथ्य पर मनन करता है कि मै ब्रह्म हूँ, ब्रह्म से अभिन्न हूँ। ल्यूबा नाम के लेखक ने ठीक ही लिखा है कि 'आधुनिक मनुष्य की अध्यात्म चेतना से भय तथा आतक की सवेदनाएँ प्राय बहिष्कृत हो चुकी है।'[११]

## गुह्य शक्तिवाद ('मानाइज्म')

ऊपर हमने कहा कि धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय रहस्यपूर्ण जान पडता है और उसका धुधला बोध ही हो पाता है। इसका कारण यह है कि उसका सामान्य अनुभव के विषयो से क्या सम्बन्ध है, यह निरूपित नही हो पाता। हम प्राय एक जटिल अनुभूति को समझने के लिये उसे अनुभव-खडो मे विश्लेपित करते है, अर्थात् ऐसे मूल अनुभवो मे जिनसे हम सुपरिचित है, किन्तु धार्मिक चेतना की विषयभूत सत्ता के सम्बन्ध मे हम इस प्रकार का विश्लेपण तथा समन्वय नही कर पाते। हम यह नही देख पाते कि साधारण अनुभव के किन तत्वो से वह विषय उद्भूत तथा ग्रथित होता है। इसलिये हमे ऐसा जान पडता है कि वह विषय या सत्ता एक रहस्यपूर्ण ढग से हमारे सामने उपस्थित हो गयी है, और वह तत्वत रहस्यपूर्ण ही है। आदिम काल के धर्मो में उक्त विषय या सत्ता एक रहस्यपूर्ण शक्ति (Mana) के रूप में कल्पित की जाती है, बाद में यही शक्ति देवताओ, भूत-प्रेतों आदि का रूप धारण कर लेती

में कही जा सकती है, क्योंकि बौद्ध मत एक चरम कारण अथवा स्रष्टा में विश्वास नही करता। किन्तु एक बात में दुनिया के सब धर्म समान मत रखते हैं। वे मानते हैं कि धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति का विषय सब मूल्यो का अधिष्ठान होता है। धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन मे उस चरम मूल्य के प्रति एक व्यावहारिक मनोभाव विद्यमान रहता है। यहाँ हम एक और बात कहना चाहेंगे। वह परम श्रेय जिसकी कामना धार्मिक-आध्यात्मिक साधना मे निहित होती है, स्पष्ट रूप मे निरूपित नही हो पाता, उसके स्वरूप का रहस्यमय आभास ही रहता है। मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के हर रूप और भूमिका मे परम श्रेय रहस्यमय लक्ष्य के रूप मे ही आभासित होता है। वह वस्तुत जीवन की एक ऐसी सभावना होती है जिसे अवचेतन शक्तियाँ रहस्यमय रूप में प्रक्षिप्त करती हैं। इस मान्यता से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, वह कोई भी विषय अथवा लक्ष्य जिसे हम बहुत स्पष्ट रूप मे जानते हैं धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का विषय नही हो सकता। मतलब यह कि धार्मिक-आध्यात्मिक साधना द्वारा प्राप्त होने वाला लक्ष्य सदैव रहस्यपूर्ण ही बना रहना चाहिए। सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म का वर्णन करते हुए कहा है कि वह उन शक्तियो को प्रसन्न करने की कोशिश है जिनके बारे में यह विश्वास रहता है कि वे मनुष्य से ऊँची हैं, और मनुष्य तथा प्रकृति की प्रगति पर नियन्त्रण रखती है।[१८] यह परिभाषा इस बात पर जोर देती है कि धर्म-चेतना के विषय की कल्पना मुख्यत एक शक्ति अथवा कारण के रूप मे की जाती है, जिसका प्रधान उपयोग उपासक की जरूरतो को पूरा करना है। हम इससे इनकार नहीं करते कि धार्मिक लोग इस प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। वे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये प्राय देवताओ की उपासना करते हैं। किन्तु हम यह मानने को तैयार नही है कि वैसी क्रियाएँ खास तौर से धार्मिक क्रियाएँ हैं। क्योंकि कुछ धार्मिक साधक ऐसे होते हैं—और अनेक दार्शनिको तथा रहस्यवादियो की गणना ऐसे साधको मे होगी—जो ईश्वर तथा अन्य देवताओ को उस ढग से प्रसन्न करने की कोशिश नही करते, और उनसे अपनी जरूरतो की पूर्ति के लिए प्रार्थना नही करते।

जिसे हम धार्मिक-आध्यात्मिक मनोभाव कहते हैं उसके मुख्य तत्व निम्न जान पड़ते हैं : एक उच्चतर गन्तव्य अथवा परम श्रेय की धुँधली चेतना, इस दुनिया के मूल्यो की अपर्याप्तता की चेतना जो कि विभिन्न व्यक्तियो की प्रकृति के अनुसार न्यूनाधिक तीव्र होती है, फलत. अपने वर्तमान जीवन से असन्तोष और उच्चतर लक्ष्य की ओर बढ़ने

की प्रेरणा तथा प्रवृत्ति। इस लक्ष्य को ईश्वर, निर्वाण, पूर्णत्व अथवा मोक्ष आदि नामो से पुकारा जाता है। यह सर्वविदित है कि भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो मे मोक्ष की विभिन्न धारणाएँ पायी जाती है। उदाहरण के लिये वेदान्त और साख्य के अनुसार मोक्ष का रूप एक है तथा न्याय-वैशेषिक के अनुसार दूसरा। रामानुज जैसे ईश्वरवादियो की मोक्ष-सम्बन्धी धारणा भिन्न ही है। इसी प्रकार बौद्ध निर्वाण का आदर्श हिन्दू धारणाओ से भिन्न है। मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में यह मतभेद इस मन्तव्य की पुष्टि करता है कि उस लक्ष्य के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी अधूरी है। हमारी समझ में जीवन का धार्मिक-आध्यात्मिक लक्ष्य मानव-जीवन की वह उच्चतम सम्भावना है जिसकी किसी युग के सर्वाधिक सवेदनशील तथा विकसित व्यक्तियो अथवा विचारको द्वारा कल्पना की जाती है।

## नेति-नेति

यह लक्षित करने की बात है कि ससार के धार्मिक-दार्शनिक साहित्य मे जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध मे प्राय निषेधात्मक वर्णन पाये जाते है। दार्शनिक दृष्टि इस लक्ष्य को प्राय चरम तत्व से समीकृत करती है। ससार के सभी रहस्यवादी सन्तो तथा दार्शनिको ने यह मत प्रकट किया है कि परम ब्रह्म अथवा ईश्वर अवर्णनीय है, अर्थात् उसकी भावात्मक विशेषताओ का सकेत नही किया जा सकता। इस प्रकार का उल्लेख उपनिषदो मे जगह-जगह पाया जाता है। दूसरे देशो के धार्मिक ग्रथो मे भी उनका अभाव नही है। उदाहरण के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म का निम्नलिखित निषेध-मूलक वर्णन मिलता है। 'वह स्थूल नही है, अणु नही है, ह्रस्व नही है, दीर्घ नही है, लाल नही है उसमे छाया नही है, अँधेरा नही है .. उसमें रस, गध रूप, शब्द, गति कुछ भी नही है।'[१५] अन्यत्र ब्रह्म को नेति-नेति (ऐसा नही ऐसा नही) कहा गया है, जिसका मतलब यह कि ब्रह्म के बारे मे यह नही कहा जा सकता कि वह किसी दूसरी वस्तु के सदृश या समान है। इसी प्रकार केनोपनिषद् मे कहा गया है कि ब्रह्म तक न वाणी पहुँचती है, न मन, न आँखें। उसके वर्णन का केवल एक ही उपाय है, यह कहना कि वह 'है'।[१६] इस ढग का निषेधात्मक वर्णन निर्वाण का भी मिलता है, बौद्ध साहित्य में निर्वाण अक्सर चरम तत्व का पर्याय बन जाता है। उदाहरण के लिये अपने ग्रथ 'माध्यमिक कारिका' के प्रारम्भ में नागार्जुन ने बुद्ध की इस प्रकार स्तुति की है

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ।
य प्रतीत्य समुत्पाद प्रपचोपशम शिवम्
देशयामास सम्बुद्धस्त वन्दे वदता वरम् ।

अर्थात् जिन पूर्ण बुद्ध ने विरोध और उत्पत्ति, उच्छेद और नित्यता, एकार्थता और नानार्थता, आगम और निर्गम से शून्य प्रपच का उपशम करने वाले कल्याण-स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश किया था उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

अन्यत्र निर्वाण का वर्णन इस प्रकार है

अप्रहीणमसप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥

अर्थात्, "जो न राग आदि की हानिस्वरूप है, न किसी वस्तु की प्राप्ति-स्वरूप, न उच्छिन्न है, न शाश्वत, न निरुद्ध है और न उत्पन्न, उसे निर्वाण कहा जाता है।"

(माध्यमिक कारिका)

पाश्चात्य साहित्य में भी ईश्वर अथवा चरम तत्व के ऐसे वर्णन पाये जाते हैं। श्री स्टेस की पुस्तक "टाइम ऐण्ड इटरनिटी" के दूसरे अध्याय में कुछ ऐसे वर्णन एकत्रित किये गये हैं। श्री स्टेस ने उक्त अध्याय को शीर्षक दिया है, "निषेध-रूप परम तत्व", जो कि बडा सार्थक है।

धार्मिक साहित्य मे धर्म-साधना के विषयभूत तत्व की रहस्यमयता का एक दूसरे ढग से भी सकेत किया गया है। इस तत्व का वर्णन परस्पर-विरोधी विशेषणो अथवा विरोधाभासो के द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिये हम कठोपनिषद् में पढते हैं 'बैठे हुए वह दूर चला जाता है, सोता हुआ सर्वत्र चलता है। उस देवता को जिसमे हर्ष है भी और नही भी है, मेरे सिवाय कौन जान सकता है?'[17] यह रोचक बात है कि शकराचार्य ने अपने भाष्य में एक जगह बड़ी गम्भीरता से इस प्रश्न पर विचार किया है कि ब्रह्म को आनन्दमय भी कहा जा सकता है अथवा नही। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि निर्गुण ब्रह्म को हम आनन्दमय भी नहीं कह सकते।[18]

# निष्काम उदासीनता अथवा वैराग्य

धर्म-भावना का विषयभूत तत्व इस धरती से सम्बद्ध सत्ताओं तथा मूल्यों से भिन्न-रूप प्रतीत होता है। आध्यात्मिक अनुभूति का अर्थ एक ऐसे सत्य अथवा तत्व की प्रतीति है जो ऐहलौकिक अनुभव का अतिक्रमण करता है। वह अनुभूति मनुष्य को ऐहिक जीवन से विरक्त करने वाली होती है। यही कारण है कि विश्व के धर्म-साहित्य में हम लगातार वैराग्यवाद की झलक पाते हैं। स्टेस का कथन है कि जहां ईश्वर अथवा परम तत्व का निषेध-मूलक दर्शन सभी धर्मों में पाया जाता है, वहां हिन्दू धर्म में उसकी प्रधानता है।"[1] हम यह मान सकते हैं कि स्टेस का यह कथन भारत के दार्शनिक साहित्य पर लागू होता है। किन्तु यह कहना गलत होगा कि वैराग्यवाद का व्यावहारिक रूप खास तौर से हिन्दू धर्म की विशेषता है। नीचे हम "इमीटेशन आफ क्राइस्ट" पुस्तक से, जो कि ईसाई धर्म की एक लोकप्रिय पुस्तक है, कुछ उद्धरण देंगे, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ईसाई भक्त भी वैराग्यवाद को महत्व देते रहे हैं :"

दुनिया के शोरगुल से जितना हो सके दूर रहो, क्योंकि दुनिया की चीजों की चर्चा, वह फिर चाहे कितनी ही शुद्धता अथवा सच्चाई के साथ की जाय, एक बड़ी बाधा है। वह हमें जल्दी ही अपवित्र करती है, और हम अहंकार के दास बन जाते हैं। (१।१०)

जब हम अपने लिये पूर्णतया मृत हो चुकेंगे, और अपने प्रति बिल्कुल ही आसक्ति नहीं रखेंगे तब हम दैवी चीजों का स्वाद ले सकेंगे, और स्वर्गीय अनुभूति पा सकेंगे। (१।११)

बड़े सन्त लोग मनुष्यों के सम्पर्क से बचते थे। एक ने कहा जब जब मैं मनुष्यों के बीच जाकर लौटा हूँ, मुझे लगा है कि मैं पहले से हीन बन गया हूँ। (१।२०)

खाना और पीना, सोना और जागना, परिश्रम तथा आराम करना, और दूसरी जरूरतों को महसूस करना, साधक व्यक्ति के लिये बड़े कष्ट का कारण होता है, उस साधक के लिये जो कि पाप से बचना चाहता है ... लेकिन धिक्कार है उसको जो अपने इस कष्ट को समझते नहीं। और अधिक धिक्कार है उन्हें जो इस दुःखपूर्ण अपवित्र जीवन से अनुराग करते हैं ... जब तक हम अपने इस दुर्बल शरीर को साथ लिये फिरते हैं तब तक हम कभी भी पाप से नहीं बच सकते, और न अशान्ति और दुःख को ही बचा सकते हैं। (१।२२)

आध्यात्मिक शिक्षकों ने सदैव आतरिक जीवन पर बल दिया है। कठोपनिषद् कहता है कि केवल वह धीर पुरुष आत्मा का प्रत्यक्ष करता है जिसकी दृष्टि भीतर की ओर मुडी हुई है, और जिसमे अमरत्व की कामना है।[११] टामस केम्पिस भी कहते है 'वह जो कि भीतर का जीवन व्यतीत करताहै, वाहर की चीजो को कोई महत्व नही देता ऐसे आध्यात्मिक साधक के लिये किसी खास स्थान अथवा समय की जरूरत नही होती . कोई चीज मनुष्य के हृदय को उतनी अपवित्र नही करती जितना कि दूसरे प्राणियो के प्रति अशुद्ध प्रेम।'[१२] (२।१)

एक मानववादी की दृष्टि मे इन उद्गारो का क्या तात्पर्य हो सकता है ?

हमरी समझ मे परलोकवाद तथा वैराग्यवाद का अन्तरग अभिप्राय दो प्रकार का है। पहली बात यह है कि साधक व्यक्ति में सदैव एक दैवी असन्तोप की ज्वाला जलती रहती है। वह उन सब चीजो के प्रति जो वर्तमान जीवन मे उपलब्ध हो सकती है, असन्तोप का अनुभव करता है। वह सदैव उच्चतर और महत्तर का स्वप्न देखता रहता है, और धरती के जीवन की सीमाओ मे विकलता का अनुभव करता है। मानव-प्रकृति में दो प्रकार की जरूरते हो सकती है। एक का सम्बन्ध उसके अस्तित्व की रक्षा से होता है, और दूसरी का उसकी सृजनशील प्रकृति के विकास से। प्रथम कोटि की जरूरत सीमित होती है। उनकी सतुष्टि करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही ऊब महसूस करने लगता है। किन्तु दूसरी कोटि की जरूरतें असीम होती हैं, उनकी कभी सम्पूर्ण तृप्ति नही हो सकती। उनकी प्रेरणा से मनुष्य सदैव ऊँचे और अधिक ऊँचे स्वप्न देखता तथा उन्हे पूर्ण करता है। इस प्रकार की प्रेरणाओ की चरम परिणति मनुष्य की धार्मिक-आध्यात्मिक जरूरतो मे प्रतिफलित होती है।

मनुष्य की वैराग्य-भावना तथा परलोकवाद का एक दूसरा अभिप्राय भी जान पडता है। मनुष्य उपयोगिता के क्षेत्र के प्रति—उस क्षेत्र के जहाँ साधन और साध्य है, जहाँ सघर्प और उससे उत्पन्न होने वाली श्रान्ति है—असतोप का अनुभव करता है। मानव-जीवन का लक्ष्य सृजनात्मक है, लगता है जैसे वह अपनी पशु-प्रकृति की सीमाओं से परेशान है, और उनका अतिक्रमण करना चाहता है। मनुष्य में ऊँचे तथा सुन्दर जीवन की कल्पना करने की शक्ति है, अपनी निम्न प्रकृति की वास्तविकता उसे कष्ट देती है। मनुष्य उस चेतना से पलायन करना चाहता है जो उसे छोटे-छोटे सघर्षो तथा प्रयत्नों में बाँध रखती हे। हमारी सृजन-वृत्ति ऐसे क्षणो मे उत्कलित

होती है जब हम उपयोगिता के क्षेत्र से विरत होते हैं। शायद इसीलिये आध्यात्मिक साधक "दुनिया के शोरगुल" से पलायन करना चाहता है।

## सन्तों का चरित्र

उपयोगिता के निम्न क्षेत्र के प्रति उदासीनता सब प्रकार की सृजनशीलता की आवश्यक शर्त है। इतिहासकार ट्वाइनबी ने प्रतिभाशालियो के सम्बन्ध मे कहा है कि उनकी जीवनचर्या मे दो प्रकार की गति रहती है वे अपने को समाज या दुनिया से विच्छिन्न कर लेते है, और फिर उसमें वापस जाते है। ट्वाइनबी का यह विचार सच जान पडता है, ऐसा कोई भी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति नही हुआ जिसने, अपना सृजनात्मक कार्य करने के लिये, अपने को दुनिया से अलग न किया हो। किन्तु अधिकाश प्रतिभाशालियो के जीवन मे इस प्रकार का अलगाव कभी-कभी, तथा अव्यवस्थित ढग से, अनुष्ठित होता है; किन्तु आध्यात्मिक साधक तटस्थता या वैराग्य का अभ्यास नियमित ढग से करता है।

जिन्हे हम सन्त कहते है उनके चरित्र का स्वय, उनकी तथा समाज की दृष्टियो से, क्या महत्व है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमे सन्तो के चरित्र पर निकट से दृष्टिपात करना होगा। सन्त में जो तटस्थता तथा वैराग्य पाया जाता है वह निषेध-मूलक ही नही होता। सन्त अपने को उन चीजो के प्रति जो व्यक्तित्व को सकीर्ण बनाती है, जो एक को दूसरे मनुष्यो से सघर्ष मे फँसाने वाली है, उदासीन बना लेते है। किन्तु विपरीत वस्तुओ के प्रति, जैसे पर-हित-चिन्तन, सन्तोष तथा स्वभावगत मधुरता, उनका भाव मैत्री तथा स्वीकार का होता है। सन्त-प्रकृति की प्रधान विशेषता है, सतुलित माधुर्य अथवा मधुर सतुलन। सत के स्वभाव मे रागात्मक तत्व होता ही न हो, ऐसा नही है; हमारे अधिकाश सन्त और कवि, जैसे सूरदास, चैतन्य महाप्रभु और रामकृष्ण परमहस, बडे भावुक पुरुष थे। किन्तु यह ठीक है कि सत का आवेग दूसरे मनुष्यो के चचल मनोवेगो से भिन्न कोटि का होता है। आध्यात्मिक सन्तुलन अथवा प्रसन्नता के लिये पतजलि ने निम्न उपाय बतलाये है। साधक को दूसरो के सुख मे मैत्रीपूर्ण सन्तोष होना चाहिए, दुखियो के प्रति करुणा होनी चाहिए, धार्मिक लोगो के व्यापारो मे आनन्द महसूस करना चाहिए, और पापी के प्रति उपेक्षा का भाव

रखना चाहिए।[३४] इन चार सद्‌गुणो पर बौद्ध दर्शन मे भी ऐसे ही गौरव दिया गया है। जेम्स ने सत-प्रकृति के अनेक तत्वो का उल्लेख किया है जैसे यह अटूट विश्वास कि एक आदर्श तत्व या शक्ति है जिसका हमारे जीवन से लगाव है; कष्ट-सहिष्णुता और शारीरिक सुख के प्रति वैराग्य, करुणा तथा परोपकार की प्रवृत्ति; सब के प्रति मैत्री की भावना, समस्त भय का अभाव, मधुर अनिर्वाच्य आन्तरिक शान्ति, इत्यादि।

कौन मनोवैज्ञानिक यह कहने का साहस करेगा कि सन्त का व्यक्तित्व, किसी भी दृष्टि से, वाछनीय नही है? समाज के लिये सन्त का कितना महत्व है इस सम्बन्ध मे जेम्स कहते है कि ससार की भलाई के लिये वे सद्‌गुण जो सन्त मे पाये जाते है नितान्त आवश्यक है।[३५] सन्त ससार की उपयोगिताओ तथा मूल्यो के प्रति उदासीन होता है; इस प्रकार की उदासीनता के बिना न न्याय ही हो सकता है, और न विवेकपूर्ण शासन। इसके बिना विज्ञान, कला आदि के क्षेत्र मे कोई उन्नति नही हो सकती, और मैत्री, बन्धुभाव, देश-भक्ति, साहस आदि गुणो की भी प्रतिष्ठा नही हो सकती।

कला, विज्ञान आदि मे अभिरुचि रखते हुए, दुखी नर-नारियो की सेवा करते हुए, अव्यावहारिक दीखने वाले ऊँचे आदर्शो का सपना जगाते हुए ससार के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति सदैव से यह प्रमाणित करते आये है कि मनुष्य की सृजनशील आध्यात्मिक प्रकृति उसके पशु-सामान्य व्यक्तित्व से कही ऊपर है। मानवता की उन्नति की ओर ले जाने वाले प्रतिभाशालियो के इस जुलूस मे सन्तो तथा धर्म-शिक्षकों का स्थान सदैव से सब से आगे रहा है।

## समाज और आध्यात्मिकता

अभी दो महत्वपूर्ण प्रश्नो का उत्तर देना बाकी है। प्रथमत, धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना का उन मूल्यो से क्या सम्बन्ध है जिनका लगाव हमारे ऐहिक जीवन से है? और दूसरे, धार्मिक आध्यात्मिक-चेतना जिन विषयों को उद्‌भासित करती है वे कहाँ तक तात्विक होते है? दोनो प्रश्न एक-दूसरे से सम्बन्धित है। उनके उत्तर भी एक-दूसरे से जुडे हुए होग। प्रथम प्रश्न के उत्तर मे यह कहा गया है कि दो नितान्त भिन्न कोटि के अस्तित्व-क्रम है, एक तो भौतिक अस्तित्व का क्रम है जो कालिक है. और दूसरा पारलौकिक अस्तित्व का क्रम है जो शाश्वत अर्थात् काल-प्रवाह के बाहर है। कहा गया

है कि इन दोनो अस्तित्व-क्रमो मे कोई सम्बन्ध नही है। यदि कोई कथन या वाक्य उन दोनो के सम्बन्ध को बतलाता है तो वह प्रतीकात्मक रूप मे सत्य होगा, शाब्दिक अर्थ में नही।[५] स्टेस का विचार है कि धर्म तथा अध्यात्म की भाषा सदैव ही प्रतीकात्मक होती है, उसका उद्देश्य किसी वस्तु-सत्ता का वर्णन नही होता, उसका लक्ष्य जिज्ञासुओं तथा साधुओ के मन मे ऊँची भावनाएँ जागृत करना होता है। उक्त अस्तित्व-क्रमों में इतनी अधिक दूरी है कि एक को दूसरे की दृष्टि से अतात्त्विक या मिथ्या कहा जा सकता है। भौतिक अस्तित्व-क्रम की अपेक्षा से दैवी अस्तित्व-क्रम को मिथ्या तथा भ्रान्त कहा जा सकता है, वैसे ही दैवी अथवा आध्यात्मिक क्रम की अपेक्षा से इस ससार को मिथ्या अथवा भ्रमपूर्ण कहना पड़ेगा।[५] यह दूसरा मन्तव्य अद्वैत वेदान्त की एक प्रमुख मान्यता है।

किन्तु एक मानवतावादी ऐसे अस्तित्व-क्रम मे विश्वास नही कर सकेगा जो परिचित, ऐहलौकिक जीवन का अतिक्रमण करता है। मानववाद के अनुसार मानवीय अस्तित्व एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जहाँ ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियाँ आकर इकट्ठी होती हैं। यदि ब्रह्माण्ड मे कुछ ऐसी चीजे हैं जो मनुष्य के पर्यवेक्षण तथा कल्पना का अतिक्रमण करती हैं, तो उनका, मानव-अस्तित्व के लिये, कोई अर्थ नही हो सकता। मनुष्य कभी भौतिक प्रकृति-जगत को न समझ पाता यदि प्रकृति के व्यापारो का लगाव मनुष्य की रुचियो तथा पर्यवेक्षण से न होता। जिसे हम दैवी अथवा आध्यात्मिक अस्तित्व-क्रम कहते हैं उसकी अभिव्यक्ति भी मनुष्य के उन स्वप्नो तथा आदर्शों में होनी चाहिए जिनकी वह सामान्यत कल्पना किया करता है। दैवी अस्तित्व-क्रम तथा ऐहलौकिक, भौतिक अस्तित्व-क्रम मे कोई विरोध नही होना चाहिए, क्योकि वे दोनो ही मानव-व्यक्तित्व में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। मनुष्य एक साथ ही भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो प्रकार के जीवन व्यतीत करता है।

वह तटस्थ उदासीनता जो मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की विशेषता है, उसकी प्रकृति के बाहर की चीज नही है। इस उदासीनता की कल्पना केवल निषेध-रूप में नही करनी चाहिए। ऐन्द्रिय सुखो तथा परिग्रह-भावना के प्रति किंचित उदासीनता के बिना, किसी प्रकार के आध्यात्मिक, सृजनशील जीवन से अनुराग नही हो सकता। किन्तु दोनो जीवन एक-दूसरे के निषेधक नही हैं। पतजलि ने स्पष्ट बतलाया है कि योग के साधक में मैत्री, करुणा तथा मुदिता अर्थात् दूसरे के सुख मे सन्तोष-भावना के गुण होने चाहिएँ। उनकी यह शिक्षा इस बात की द्योतक है कि योगी मे भी करुणा

जैसे गुणो का होना आवश्यक है। मतलब यह कि जिसे हम उदासीनता तथा वैराग्य कहते हैं उसमे एक खास तरह का अनुराग भी निहित है।

आध्यात्मिक साधक मे जो वैराग्य-भावना या उदासीनता पाई जाती है, उसका कुछ-न-कुछ अश प्रत्येक ऊची प्रकृति के मनुष्य मे होता है । उस उदासीनता का एक मतलब यह है कि मनुष्य उन चीजो के लिये जो स्पष्ट ही सीमित मूल्यवाली हैं, ज्यादा परेशान हो। गुडिया खो जाने से छोटी बच्ची नितान्त व्याकुल हो जाती है, किन्तु उस हानि का उसके माता-पिता पर विशेष प्रभाव नही पडता। यह जानते हुए कि गुडिया थोडे मूल्य की चीज है, वे मन-ही-मन बच्ची की परेशानी को देखकर हँसते हैं। इसी प्रकार एक सन्त-प्रकृति शासक युद्ध मे अपने बेटे की हार की खबर सुनकर अविचलित रह सकता है। बच्ची के पिता तथा उक्त शासक के मन में क्रमश अपनी-अपनी सन्तति के लिये सहानुभूति हो सकती है, और वे उनका कष्ट दूर करने के लिये प्रयत्नशील भी हो सकते हैं किन्तु बिना आसक्ति के। सन्त का खास तौर से यह स्वभाव होता है कि जहाँ वह अपने व्यक्तिगत कष्टो के प्रति उदासीन होता है, वहाँ दूसरो के कष्ट के लिये बहुत सवेदनशील भी होता है। सन्तो का वर्णन करते हुए सन्त कवि तुलसीदास ने कहा है कि 'जैसे अजलि मे रखा हुआ फूल दोनो हाथो को समान रूप में सुगन्ध देता है, वैसे ही सन्त मित्रो तथा शत्रुओ दोनो की भलाई करते हैं'।[१७] अरण्यकाण्ड के अन्त मे राम ने सन्तो के स्वभाव का वर्णन इस प्रकार किया है 'वे अपनी प्रशसा से सकुचित और दूसरों की प्रशसा सुनकर सुखी होते हैं। शुद्ध स्वभाव के सन्त सब के सहज मित्र होते हैं; श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, करुणा उनके स्वाभाविक गुण हैं।' बौद्ध ग्रथो मे चार महत्वपूर्ण सद्गुणो का उल्लेख किया है जिन्हें ब्रह्म-विहार कहते हैं, उनका पालन भिक्षुओं तथा साधारण गृहस्थो सब को करना चाहिए। ये सद्गुण वही हैं जिनका उल्लेख "योग-सूत्र" मे है, अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। बौद्ध धर्म यह सिखलाता है कि हमे प्राणियो के प्रति प्रेम की भावना रखनी चाहिए। साधक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'उसका मन, प्रेम की भावना लिये हुए, एक दिशा में व्याप्त होता है, फिर दूसरी मे, फिर तीसरी मे, फिर चौथी मे, और फिर समस्त ब्रह्माण्ड मे; ऊपर, नीचे चारो ओर और सर्वत्र वह अपनी प्रेम-भावना को प्रसारित करता है, दूर तक, जहाँ माप की सम्भावना नही है'।[१८] जेम्स कहते हैं · जब हमे मदद की जरूरत होती है, उस समय हम सन्त की सहायता पर जितना भरोसा कर सकते हैं, उतना किसी दूसरे पर नही।[१९]

दुनिया की वस्तुओ के प्रति उदासीन होते हुए सन्त के मन मे यह विश्वास विद्यमान हो सकता है कि इस ससार से श्रेष्ठतर कोई दूसरा जीवन-क्रम है, यह भी सम्भव है कि उसमे इस प्रकार का कोई विश्वास न हो, उसे सिर्फ इतना दिखाई देता है कि इस दुनिया की चीजों का मूल्य तथा महत्व सीमित है, अथवा उनमे महत्व नही है। पहली स्थिति मे साधक सम्भवत कुछ वैसे आवेगो तथा मनोभावो का भी अनुभव करेगा जिनका वर्णन ऑटो ने किया हे। दूसरी स्थिति मे भी वह उस मानसिक शान्ति को प्राप्त कर सकेगा जो व्यर्थ की दुश्चिन्ताओ तथा प्रयत्नो से विरत होने पर मिलती है। इस शान्ति-भावना को स्वय मे धार्मिक साधना का लक्ष्य कहा जा सकता है। फिर भी प्राय धर्म-साधना के लक्ष्य की भावात्मक रूप में कल्पना की जाती है, और वैसी कल्पना उनमे भी पाई जाती है जो ईश्वर अथवा ब्रह्म मे विश्वास नही रखते। बौद्ध धर्म एक ऐसा बडा धर्म है जो ईश्वर को नही मानता, किन्तु बौद्ध निर्वाण का अर्थ अस्तित्व का विनाश नही है, जैसा कि पहले लोग समझते थे। यह कहना कि निर्वाण का अर्थ विच्छेद या विनाश है, बुद्ध के अनुसार एक दुष्टतापूर्ण प्रवाद है।[१०] "सर्वसिद्धान्त-सग्रह" मे लिखा हे कि बुद्ध के अनुसार मुक्ति अथवा निर्वाण का अर्थ लगातार निर्दोष चेतन दशाओ का प्रवाहित होते रहना है।[११] नागार्जुन का एक महत्व-पूर्ण वक्तव्य है कि 'ससार निर्वाण से किंचित् भी भिन्न नही है, और निर्वाण ससार से थोडा भी भिन्न नही हे।'[१२] बौद्ध निर्वाण का अर्थ विश्व-चेतना (विश्व-सम्बन्धी चेतना) का विनाश नही है, उसका मतलब एकविशेष प्रकारकी विश्व-चेतना का विनाश है। भगवद्गीता मे यह सिखलाया गया है कि कर्मयोगी को उसी प्रकार जीवित रहना और बरतना चाहिए जैसे दुनिया के दूसरे लोग करते हैं। भेद यही होगा कि कर्मयोगी उदासीन एव तटस्थ होगा, और निष्काम भावना से कर्म करेगा, जब कि दूसरे लोग सकाम कर्म करते हैं। वस्तुत धार्मिक साधक का अनुराग उन निर्वैयक्तिक मूल्यो से होता है जिनका, उसकी कल्पना मे, परम श्रेय से सम्बन्ध है। हम कह सकते हैं कि यह परम श्रेय मानव-जीवन की सृजनात्मक सम्भावनाओ का उच्चतम रूप ही है।

हमने ऊपर कहा था कि तथा-कथित अवचेतन की सृष्टियाँ अन्तत चेतन जीवन मे ही उद्भूत होती हैं। रहस्यवादी की अधिक से अधिक रहस्यपूर्ण उक्तियो का सम्बन्ध उसके सास्कृतिक वातावरण तथा देश-काल के दार्शनिक विचारो से होता है। श्री जी० ए० को ने लिखा है कि 'जिसे हम रहस्यवादी अनुभूति कहते हैं, वह केवल उन शिक्षाओ को उद्भासित करती है जो रहस्यवादी को पहले मिल चुकी हैं।'[१३] इसका मतलब यह

हुआ कि रहस्यवादी की उक्तियों का उसके समाज के विचारों से बहुत-कुछ लगाव होता है। यही नही, किसी व्यक्ति का वैराग्य किस कोटि का और कितना शक्ति-पूर्ण होगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि उसने जीवन के किन-किन मूल्यो को जाना है। वैराग्य का अर्थ जीवन से घृणा तथा अलगाव नहीं है। ठीक तौर से मनुष्य का वैराग्य उन्ही चीजो के प्रति हो सकता है जिनकी कमियो अथवा सीमित महत्व का उसने अनुभव किया है। वस्तुत. वैराग्य जीवन से पलायन नहीं है। जीवन के मूल्यो की उपलब्धि का प्रयत्न करते हुए ही हम मे उनके प्रति उदासीनता की भावना जगती है। जीवन-मूल्यो के प्रति वैराग्य वास्तव मे उच्चतर मूल्यों के प्रति आसक्ति का द्योतक है। मीमासको की यह शिक्षा कि संन्यास लेने से पहले मनुष्य को जीवन की विभिन्न स्थितियों से होकर गुजरना चाहिए, संन्यास मे पहले गृहस्थ मे रह चुकना चाहिये, यह प्रमाणित करता है कि उक्त विचारको की मानव-प्रकृति मे गहरी अन्तर्दृष्टि थी।

## आध्यात्मिक अनुभूति की प्रामाणिकता

प्रश्न किया जा सकता है कि आध्यात्मिक अनुभूति कहाँ तक प्रामाणिक होती है ? जर्मन विचारक फकनर तथा अंग्रेज दार्शनिक सेमुएल एलेक्जैण्डर ने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए एक नये ढग का तर्क दिया है। उनका कहना है कि हमारे भीतर किसी की उपासना करने की आवश्यकता महसूस होती है। जिस प्रकार हमारी अन्य क्षुधाएँ, जैसे कि भोजन तथा काम-वासना से सम्बन्धित जरूरतें, यह सिद्ध करती हैं कि उन्हे पूरा करने वाले पदार्थों की सत्ता है, वैसे ही उपासना की जरूरत यह सिद्ध करती है कि कोई उपास्य सत्ता अथवा देवता है।[१४] किन्तु हमे यह युक्ति समीचीन नही जान पडती। यह नही कहा जा सकता कि सब मनुष्य अपने भीतर उपासना करने की प्रवृत्ति का अनुभव करते हैं। किन्तु धार्मिक-आध्यात्मिक सवेदना में एक दूसरी कोटि की प्रामाणिकता की उपस्थिति मानी जा सकती है। जहाँ तक उस संवेदना का अर्थ जीवन के मूल्यो के प्रति एक खास कोटि का मनोभाव है, वहाँ तक उस सवेदना की उपस्थिति ही उसका प्रमाण है। हम यह पहले ही सकेत कर चुके हैं कि हमारी सौन्दर्य-भावना तथा उससे सम्बद्ध आवेगात्मक स्थितियाँ एक विशेष अर्थ में प्रामाणिक होती हैं। कवि अथवा कलाकार हमारे मन में जिन कल्पना-मूलक मनोदशाओं को जगता है, उनकी प्रभावपूर्ण अनुभूति ही उन्हे प्रामाणिक अथवा यथार्थ बनाती है। यह जरूरी नही है कि ये दशाएँ तभी प्रामाणिक मानी जायं जब वे सब मनुष्यों मे समान रूप मे

दूसरे उनका विश्वास है कि आदिम धर्म एक प्रकार का मिथ्या विज्ञान है, अथवा वह विज्ञान या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास में एक सीढ़ी मात्र है। इस दूसरी दृष्टि से यह अनुगत होता है कि धर्म नाम की वस्तु क्रमश मानव-जीवन तथा सभ्यता से विलुप्त हो जायगी।

फ्रेजर के अनुसार धर्म में दो तत्व होते हैं एक चिन्तनात्मक और दूसरा व्यावहारिक। एक ओर तो धर्म में मनुष्य से उच्चतर अलौकिक शक्तियों मे विश्वास रहता है; और दूसरे, उन शक्तियों को प्रसन्न करनेके लिये तरह-तरह के अनुष्ठान किये जाते हैं।[१७] मनुष्य देवताओ को प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न करता है क्योकि उसे यह विश्वास रहता है कि देवता लोग उसके हितो को आगे बढा सकते हैं। मैलिनाउस्की का कथन है 'यह सिद्ध किया जा सकता है कि धर्म का मनुष्य की मूल, जैवी आवश्यकताओं से आन्तरिक सम्बन्ध रहता है, यद्यपि यह सम्बन्ध सीधे दिखाई नही देता।'[१८] उनके मत मे 'धर्म-चेतना विचार अथवा चिन्तन में उत्पन्न नही होती, न वह भ्रांत, ज्ञान में ही जन्म लेती है। उसका जन्म जीवन की यथार्थ, दुखपूर्ण स्थितियो में होता है, अर्थात् मनुष्य की योजनाओ और यथार्थ के विरोध मे।'[१९]

फ्रेजर ने इस मन्तव्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि धर्म वैज्ञानिक दृष्टि के विकास मे एक सोपान मात्र है। धर्म की उत्पत्ति जादू-टोने में होती है, और जब जादू-टोने से काम नही चलता, तो विज्ञान का उदय होने लगता है। मानव-चिन्तन का विकास, कुल मिलाकर, जादू-टोने से धर्म की ओर, और धर्म से विज्ञान की दिशा मे हुआहै, इसलिये धर्म जहाँ वह प्रकृति की व्याख्या रूप होता है, क्रमश- विज्ञान द्वारा स्थानच्युत कर दिया जाता है।[२०] फ्रेजर के अनुसार जादू, धर्म तथा विज्ञान तीनो विचारात्मक सिद्धान्त हैं, उनमें आधुनिक साइन्स ने बाकी दो को हटाकर जगह ले ली है।[२१] अपनी यह सम्मति देते हुए फ्रेजर महोदय योरप तथा अमेरिका के एक प्रतिनिधि विचारक के रूप में दिखाई देते हैं, जो वहाँ की प्रबल वैज्ञानिक परम्परा का उचित महत्व-स्थापन करते हैं।

प्रसिद्ध मानस-शास्त्री फ्रायड भी धर्म को एक प्रकार की भ्रांति मानता है जो कि क्रमश दूर हो जायगी। धर्म का जन्म मनुष्य की इच्छाओ मे होता है। हर मनुष्य मे एक इच्छा यह होती है कि उसकी रक्षा करने वाला एक पिता हो। ईश्वर की कल्पना भी प्राय जगत-पिता के रूप मे की गई है। एक दैवी शक्ति का दयामय शासन जीवन के

है, क्या मनुष्य के आदिम जीवन में हम उस प्रकार की उच्चता की खोज जो वैराग्य तथा उदासीनता से सहचरित होती है, पा सकते हैं ? नर-विज्ञान ने जिन तथ्यो को उपस्थित किया है उनसे उक्त प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर नही मिल सकता। इसके दो कारण हैं पहली बात तो यह है कि सब शास्त्रो की भाति नर-विज्ञान के प्रदत्त (Data) या तथ्य चयनात्मक होते हैं। नर-विज्ञान जिन अन्वेषण-पद्धतियो का उपयोग करता है उनके द्वारा मनुष्यो की वैयक्तिक भावनाओ का पता लगाना कठिन है। वह आदिम समाजो के बाहरी धार्मिक जीवन को देख सकता है, पर उस जीवन से सहचरित वैयक्तिक मनोभावो का उचित आकलन नही कर सकता। दूसरी बात यह है कि नर-विज्ञान के पडित प्राय. धार्मिक-आध्यात्मिक कोटि के लोग नही होते, और वे उस प्रकार की बौद्धिक तथा रागात्मक तैयारी भी नही कर पाते जो उच्चतर कोटि की धार्मिक-आध्यात्मिक प्रक्रियाओ को समझने के लिये जरूरी है। कोई भी अन्वेषक अनुभव के उन क्षेत्रो के बारे मे उचित प्रश्न नही पूछ सकता जिन क्षेत्रो से उसका परिचय नही है। एक तीसरा करण भी है। हमारे विकसित आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना के ज्ञान का आधार मुख्यत रहस्यवादी सन्तो द्वारा प्रस्तुत किया हुआ विस्तृत साहित्य है, इस कोटि का साहित्य आदिम समाजो में एकदम ही उपलब्ध नही है।

फिर भी ज्यादा विचारशील नर-विज्ञानियो ने यह सकेत किया है कि आदिम धर्म-चेतना मे भी वैयक्तिक अथवा निजी तत्व रहते हैं, यद्यपि उन तत्वो का स्पष्ट विश्लेषण नही किया जा सका है। मैलिनाउस्की ने लिखा है 'जिस किसी ने धर्म-तत्व का गहरे, सच्चे रूप मे अनुभव किया है वह जानता है कि आध्यात्मिकता के शक्ततम क्षण एकान्त में आते हैं, अर्थात् उस समय जब मन दुनिया से विमुख होता है और व्यक्ति ससार से हटकर ध्यान-मग्न होता है, न कि भीड की स्थिति मे जहाँ मन उचटा हुआ रहता है। क्या यह सम्भव है कि आदिम धर्मों में इस प्रकार की एकान्त प्रेरणा का नितान्त अभाव हो ? कोई भी अन्वेषक जिसने आदिम मनुष्यो को सीधे सम्पर्क से जाना है और सम्बद्ध साहित्य का ठीक से अनुशीलन किया है, इस सम्बन्ध मे सदिग्ध नही होगा। दीक्षा के समय नये व्यक्ति को सबसे अलग कर लेना, धार्मिक परीक्षणके क्षणों मे व्यक्ति के निजी सघर्ष, एकान्त स्थलो में आत्माओं, देवताओ तथा अन्य शक्तियो से सम्पर्क, ये सब चीजे यह दर्शित करती हैं कि आदिम धर्म अक्सर एकान्त की चीज होता है।'[३५]

## विज्ञान, दर्शन और अध्यात्म धर्म या मोक्षधर्म का भविष्य

मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास में धर्म का सम्बन्ध उसकी सभी महत्वपूर्ण क्रियाओं से रहा है : पौराणिकता तथा जादू से, अनुष्ठान और नैतिकता से, विज्ञान और दर्शन से, संगीत और स्थापत्य से, कला और साहित्य से। श्री हॉकिंग ने धर्म को "कलाओं की जननी"[1] कहा है। यहाँ उन्होंने कला शब्द का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में किया है और उसमें ललित कलाओं, कानून, विज्ञान, नैतिकता आदि सभी का समावेश कर लिया है। वह कहते हैं कि धीरे-धीरे विभिन्न कलाओं ने अपने को धर्म से मुक्त किया है, और अलग-अलग, स्वयं अपने को लक्ष्य मानते हुए, विकास किया है—कला कला के लिये, विज्ञान विज्ञान के लिये, नैतिकता नैतिकता के लिये, इत्यादि। बर्ट्रण्ड रसेल के अनुसार प्रत्येक ऐतिहासिक धर्म के तीन पहलू रहे हैं, चर्च अथवा पुरोहित-मंडल, कतिपय अनुष्ठान, और व्यक्तिगत नैतिकता के नियम। इन तीनों ही रूपों में धर्म का विज्ञान से झगड़ा होता आया है।[2] यह भी स्पष्ट है कि इस झगड़े में लगातार विज्ञान की जीत होती गई है, और धर्म की हार। इसलिये यह प्रश्न उठता है कि धर्म का क्या भविष्य है? अथवा, क्या धर्म का कोई भविष्य है? क्या धर्म नाम की वस्तु कुछ दिनों बाद तिरोहित ही नहीं हो जायगी?

यहाँ हम पाठकों को याद दिलायेंगे कि कुछ विचारकों के अनुसार स्वयं दर्शन भी, एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में, कालान्तर में तिरोहित हो जायगा। तर्कमूलक भाववादियों ने अभी ही तत्वमीमांसा का निराकरण कर दिया है। उनसे पहले एंगेल्स ने अपनी "डुहरिंग निरास" (Anti-Duhring) पुस्तक में यह घोषणा की थी कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को विज्ञानों से भिन्न किसी दर्शन की जरूरत नहीं है। किन्तु इन निराशापूर्ण भविष्यवाणियों के बावजूद दार्शनिक चिन्तन चलता ही जा रहा है, हमारा विश्वास है कि इसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभव तथा संवेदना भी चलते ही रहेंगे। कारण यह है कि दर्शन और मोक्षधर्म दोनों का विषय जीवन के मूल्य हैं, न कि तथ्य, जब तक मनुष्य मूल्यों का अनुसन्धान करता रहेगा, तब तक वह दार्शनिक-आध्यात्मिक खोज से विरत नहीं होगा। दार्शनिक होने के नाते मनुष्य सम्पूर्ण मूल्य-क्रम को समझ लेना चाहता है, धार्मिक होने के नाते वह उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि कर लेना चाहता है।

विज्ञान और दर्शन तथा अध्यात्म में जो विरोध है उसे एक-दूसरे ढंग से प्रकट

किया जा सकता है। विज्ञान का काम है सब प्रकार के तथ्यों के अस्तित्व की व्याख्या करना। वैज्ञानिक व्याख्या मूलत कारणवादी व्याख्या होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद का बौद्ध सिद्धान्त बतलाता है कि 'यह होने पर यह होता है, उसके उत्थित होने से उसका उदय होता है, उसके न होने से यह नही होगा, उसके विनाश से यह विनष्ट हो जाता है।'[४८] ये वक्तव्य वैज्ञानिक कथनो तथा निषेधो के सामान्य रूप को प्रकट करते हैं। उनमे कार्य-कारण-मूलक सम्बन्धो तथा अन्योन्याश्रित परिवर्तनो (Functional Relations) दोनो का समावेश हो जाता है। इसके विपरीत दार्शनिक वक्तव्य उन सम्बन्धो का उद्घाटन करते है जो तर्क-मूलक आधार (Ground) तथा उसके निष्कर्षो (Consequences) मे होते है, और उन सम्बन्धो का भी जो दूसरे मूल्यात्मक मानों के प्रयोग मे निहित हैं। धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभूति के उदय मे दार्शनिक कही जाने वाली प्रतीतियो का महत्वपूर्ण हाथ रह सकता है।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. विलियम जेम्स, द वेरायटीज ऑव् रिलीजस एक्सपीरिएन्स, (द माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क), पृ० ५६।

२. वही, पृ० ८।

३. विलहेल्म वुण्ट, एथिक्स भाग १, द फंक्ट्स ऑव् मॉरल लाइफ, (जार्ज एलेन और अनविन, लन्दन, तीसरा सं० मुद्रण १९२२), पृ० ५५।

४. ए० आर० यूरेन, रीसेन्ट रिलीजस साइकालॉजी, (टी० ऐन्ड टी० क्लार्क, एडिनबरा, मुद्रण १९२८), पृ० ७२।

५. वही, पृ० ७३।

६. जार्ज गैलोवे, द फिलासफी ऑव् रिलीजन, (टी० ऐन्ड टी० क्लार्क, एडिनबरा, मुद्रण १९४५), पृ० ५७।

७. तु० की० 'अवचेतन चेतना का पृष्ठगर्भ (मैट्रिक्स) है, और उसमें नये जीवन की संभावनाएँ निहित रहती हैं।' ऐन इन्ट्रोडक्शन टु युंग'ज साइकालॉजी, (फ्रीडा फोरधेम, पैलिकन बुक्स, १९५३), पृ० २१।

८. रयूडाल्फ आटो, मिस्टिसिज्म ईस्ट ऐन्ड वेस्ट, (मैकमिलन, न्यूयार्क, १९३२), पृ० १३९।

९. वही, पृ० ७०, १५१।

१०. दे० आटो, दी आइडिया आव् द होली।

११. यूरेन, वही, पृ० १६०।

१२. यूरेन द्वारा उद्धृत, पृ० १८६।

१३. दे० ऐटकिन्सन ली, ग्राउन्ड वर्क ऑव् द फिलॉसफी ऑव् रिलीजन, (डक-वर्थ, लन्दन, १९४६), पृ० १९।

१४. सर जेम्स फ्रेज़र, द गोल्डेन बाउ, संक्षिप्त सं० (मैकमिलन, १९४७) पृ० ५०।

१५. बृहदारण्यक, ३।८।

१६. दे० केनोपनिषद् १।३ तथा कठोपनिषद् २।६।१२।

१७. कठोपनिषद् १।२।२१।

१८. ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।९।

१९. दे० डब्ल्यू० टी० स्टेस, टाइम ऐन्ड इटर्निटी, (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, १९५२), पृ० ९।

२०. टामस ए कैम्पिस, दी इमीटेशन ऑव् क्राइस्ट, (कालिन्स, लन्दन और ग्लासगो), पृ० ४५, तथा आगे।

२१. कठोपनिषद्, २।१।१।

२२. इमीटेशन ऑव् क्राइस्ट, ३।१ (पृ० १०९)

२३. योगसूत्र, १ । ३३ ।

२४. द वैरायटीज़, इत्यादि, पृ० ३६८।

२५. टाइम ऐन्ड इटर्निटी, पृ० ७४।

२६. वही, पृ० ८६, १२३ और आगे।

२७. रामचरित मानस, बालकाण्ड, दोहा ३।

२८. श्रीमती रिज डेविड्स के "डायलाग्ज़ ऑव् द बुद्ध" मे क्रिस्टमस हम्फ्रेज़ द्वारा उद्धृत, बुद्धिज्म (पेलिकन बुक्स, १९५२), पृ० १२५।

२९. जेम्स, वैरायटीज़, पृ० ३६१।

३०. राधाकृष्णन्, इन्डियन फिलासफी, भाग १, संशोधित सं० (जार्ज एलेन ऐन्ड अनविन, १९२९), पृ० ४५०।

३१. राधाकृष्णन् द्वारा उद्धृत, वही, पृ० ४४८।

३२. माध्यमिक कारिका २५, १९।

३३. यूरेन, वही, पृ० २१२।

३४. फेकनर की युक्ति का संकेत श्री सी० ई० एम्० जोड की 'द रिकवरी ऑफ फेथ' (फेबर ऐन्ड फेबर, लन्दन, १९५२), में पृ० ९१ पर है। एलेक्जेन्डर के मत के लिए देखिए स्पेस, टाइम ऐन्ड डोइटी (मैक मिलन, लन्दन, १९२०) भाग २, बुक ४,

अध्याय २ एलेक्जेन्डर के मत में धार्मिक-आध्यात्मिक संवेदना के सकेतों को चिन्तन द्वारा विस्तृत करने से ईश्वर की धारणा मिलती है। किन्तु वह यह भी मानते हैं कि ईश्वरत्व का गुण सिद्ध पदार्थ नहीं है, अपितु सदैव भविष्य में उत्पन्न होने वाला गुण रहेगा। यह मत हमारी धारणा के निकट है।

३५. दे० साधु शान्तिनाथ, एक्सपीरिएन्सेज ऑव ए ट्रुथ सीकर, अवैद्यनाथ, गोरखपुर, अध्याय १५।

३६. वही, पृ० ४७९।

३७. जे० फ्रेजर, वही, पृ० ५०।

३८. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् द शोसल सायन्सेज, कल्चर, पृ० ६४२।

३९. वही।

४०. फ्रेबर, वही, पृ० ७११, ७१२।

४१. वही, पृ० ७१२।

४२. सिगमन्ड फ्रायड, द फ्यूचर ऑव् ऐन इल्यूजन, (अं० अनु० होगार्थ प्रेस, लन्दन, १९२८), पृ० ५२।

४३. बी० मेलिनाउस्की, मैजिक, सायंस ऐन्ड रिलीजन, (द फ्री प्रेस, इलिया-निस, १९४८), पृ० ३३।

४४. वहीं।

४५. वही, पृ० ३८।

४६. डब्ल्यू० ई० हॉकिंग, द मीनिंग ऑव् गॉड इन ह्यूमैन एक्सपीरियेन्स, पृ० १३-१४।

४७. दे० बर्ट्रान्ड रसेल, रिलीजन ऐन्ड सायन्स, (होम यूनिवर्सिटी लायब्रेरी), पृ० ८

४८. मज्झिम निकाय से राधाकृष्णन् द्वारा उद्धृत, इन्डियन फिलॉसफी, भाग १, पृ० ३७१।

# अध्याय ६

## प्रेम और मैत्री : शिक्षा और राजनीति

अब तक हमने इसका वर्णन किया कि मनुष्य की सृजनशील आत्मा किस प्रकार अपने को कला, दर्शन, नैतिकता तथा धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना मे अभिव्यक्त करती है। अब हम उन स्थितियो का विवेचन करगे जिनम मनुष्य की सृजन-वृत्ति अपने को चरितार्थ कर पाती है। वैसा करने के लिये हमे अध्यात्म की तटस्थ ऊँचाई से नीचे उतरना होगा, और फिर उस धरती के जीवन मे प्रवेश करना होगा, जहाँ मानवीय सृजनशीलता का नाटक अहर्निश खेला जाता है।

आध्यात्मिक जीवन मे जिस उदासीनता तथा वैराग्य की अपेक्षा होती है वह सासारिक धन-सम्पत्ति के प्रति होता है, अथवा उसके नरनारियो के प्रति ? क्या आध्यात्मिक व्यक्ति मे मैत्री और प्रेम की भावना होती है ? अथवा यह समझना चाहिए कि मैत्री और प्रेम की आध्यात्मिक जीवन से सगति नही बैठती ? यदि यह मान लिया जाय कि आध्यात्मिक जीवन आत्मा के जीवन का सर्वोच्च रूप है तो यह प्रश्न बडा महत्वपूर्ण बन जाता है कि उस जीवन मे हमारे कतिपय महत्वपूर्ण आवेगो के लिये स्थान होता है या नही। प्राय यह समझा जाता है कि सत लोग इस दुनिया के प्रति वैराग्य रखते है, और परलोक मे अभिरुचि लेते है। जब टॉमस कैम्पिस ने यह कहा कि 'दुनिया के शोरगुल से भागो' तो वह इसी मनोवृत्ति को प्रतिफलित कर रहे थे। किन्तु सन्तो के जीवन का जो चित्र तुलसीदास जैसे लेखको ने खीचा है, वह उतना निषेधात्मक नही है। जिन सन्तो तथा धर्म-शिक्षको ने मानव-इतिहास को प्रभावित किया है वे अकेले मे नही, बल्कि विश्व के नर-नारियो के बीच, रहते थे। महात्मा बुद्ध, ईसा, कबीर, नानक, दादू आदि इसी कोटि के सत थे। तुलसी जैसे भक्त कवि की गणना भी उन्ही के बीच होनी चाहिए। कौन यह कहने का साहस करेगा कि इन महापुरुषो मे मैत्री आदि के आवेगो का अभाव या कमी थी ? उनमें

मे कुछ, जैसे सूरदास और तुलसीदास, सत बनने से पहले, एक दूसरे अर्थ मे प्रेमिक रह चुके थे, अर्थात् सासारिक अर्थ मे। अपने प्रसिद्ध महाकाव्य "रामचरित मानस" मे तुलसीदास ने जगह-जगह यह बतलाने की कोशिश की है कि भले लोग, खास तौर से राम के भक्त, संतो के साहचर्य मे विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं। मतलब यह है कि सत-समाज मे न केवल दूसरे सन्तो के लिये, बल्कि सब प्रकार के भले लोगों के लिये जगह रहती है। किन्तु सन्तो के आवेगात्मक जीवन की एक विशेषता परिलक्षित होती है उस जीवन मे इन्द्रिय-सम्बन्धी विकारो के लिये कोई स्थान नही होता। सन्तो की भावनाएँ तथा आवेग विशुद्ध आध्यात्मिक धरातल से सम्बद्ध होते हैं। इन्द्रियो के सुखभोग को सन्देह की दृष्टि से देखते हुए सन्त लोग प्राय स्त्रियो के सम्पर्क से बचे रहना चाहते हैं।

सन्तो के चरित्र को यही छोड़कर हम पूछेंगे कि साधारण सासारिक जीवन मे प्रेम तथा मैत्री का क्या स्थान है ? प्रेम किसे कहते हैं और उसकी जरूरत क्या है ?

राल्फ लिन्टन नामक विचारक ने एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्य की एक बडी जरूरत यह है कि दूसरे लोग उसके प्रति मैत्री-मूलक आवेगो का प्रदर्शन करे।[1] सम्भवत. मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के मूल मे यही जरूरत रहती है। अपनी शारीरिक जरूरतो के कारण छोटे शिशु को दूसरे मनुष्यो पर निर्भर होना पड़ता है, किन्तु बाद के जीवन मे वह दूसरे मनुष्यो मे जो रुचि लेता है उसका कारण केवल यह प्रारम्भिक निर्भरता ही नही है। इसी प्रकार हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ प्रेम की भूख की व्याख्या नही कर सकती, क्योकि प्रेम का मनोभाव और उसकी आवश्यकता का अनुभव बहुत ही जटिल वस्तुएँ है।

जिसे हम सभ्य जीवन कहते हैं उसका आधार पारस्परिक सहयोग तथा सेवा-विनिमय है। इसमे सन्देह नही कि पारस्परिक सहयोग करने वालो मे कभी-कभी मैत्री का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, लेकिन यह आवश्यक नही है कि वैसा सम्बन्ध उत्पन्न हो ही जाय। आज के समाज मे नर-नारियो का अधिकाश सम्बन्ध आर्थिक अर्थात् ठेके पर निर्भर बनता जा रहा है। आज सहयोग एक यान्त्रिक प्रक्रिया बन गई है जिसके द्वारा बहुत से मनुष्य, कुछ थोडे मनुष्यो के निर्देशन मे, एक अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने के लिये काम करते हैं। इस प्रकार के सहयोग के उदाहरण आधुनिक युग के किसी भी कारखाने अथवा कार्यालय मे पाये जा सकते है। ऐसा भी

नही कि यह सहयोग एक ही समाज अथवा राष्ट्र के सदस्यो के बीच होता हो। आज मनुष्यो के सहयोग-मूलक कार्य का दायरा बहुत बढ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, यातायात, तथा डाक-वितरण जैसे क्षेत्रो मे विभिन्न देशो के नागरिक अनजाने ही एक-दूसरे के हित के लियें सहयोग करते हैं। इन उदाहरणो से यह भी सिद्ध होता है कि एक-दूसरे को जाने बिना भी लोग परस्पर सहयोग कर सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि सभ्य जीवन के लियें प्रेम और मैत्री आवश्यक नही है। पुलिस का सिपाही और मैजिस्ट्रेट, जज और एसेम्बली का सदस्य, वैज्ञानिक और इंजीनियर, बैंक का क्लर्क और कारखाने का श्रमिक, मैनेजर और विक्रेता ये सब, बिना सम्बद्ध लोगो को जानें, और बिना मैत्री आदि आवेगो के, अपने-अपने कार्य सुचारु रूप से अनुष्ठित कर सकते है।

हम मानते है कि प्रेम हमारे सृजनात्मक जीवन की आवश्यकता है, उस जीवन के प्रत्येक रूप और प्रत्यक स्तर की। प्रेम का सब से स्थूल रूप भौतिक प्रणय है। स्त्री-पुरुप के पारस्परिक आकर्षण के मूल मे क्या रहता है? सम्भवत. नर-नारियो का आकर्षण कभी विशुद्ध रूप मे भौतिक नही होता। एक व्यक्ति दूसरे के प्रति आकर्षित होता है, इसीलियें नही कि वह भौतिक दृष्टि से सुन्दर है, बल्कि इसलियें भी कि उसके व्यक्तित्व मे एक विशेप कोटि का आकर्षण है जो कि कतिपय आत्मिक, आवेगात्मक और बौद्धिक, गुणो में प्रतिफलित है। फिर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि प्रेम-पात्र के व्यक्तित्व मे भौतिक सौन्दर्य भी एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। इस आकर्षण का मतलब क्या है? सामान्य रूप मे आकर्षण के मूल मे सम्बद्ध व्यक्ति का यौवन होता है। उपन्यासकार शरत्चन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है सौन्दर्य का मतलब है प्रजनन की योग्यता, जब तक एक मनुष्य मे प्रजनन की शक्ति बनी रहती है तब तक उसके व्यक्तित्व में यौवन-मूलक सौन्दर्य झलकता रहता है। प्रेम-पात्र के भौतिक आकर्षण का एक अर्थ यह है कि वह प्रेमिक की सृजनशील शक्तियो को उकसाने की क्षमता रखता है। तो क्या यह कहना चाहिए कि भिन्न लिगो का पारस्परिक आकर्षण एक तरीका है जिसके द्वारा प्रकृति विशिष्ट जीव-योनि को कायम रखती है? यह वर्णन उचित हो सकता है, उसकी कमी यह है कि प्रकृति की प्रयोजनशीलता को एक रूपक के रूप मे ही लिया जा सकता है।

हमारी दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रेमिक के मन मे, प्रेम की अवस्था में,

किस प्रकार की भावना वर्तमान होती है ? वह अपनी ओर से क्या महसूस करता है, और स्वय प्रेम-पात्र के सम्बन्ध में क्या महसूस करता है ? ये प्रश्न प्रेम के सभी रूपों और सभी स्तरो को लेकर उठाया जा सकता है।

प्रेमिक को जान पड़ता है कि उसकी प्रेमिका अतिशय रमणीयता अथवा मूल्यवत्ता का अधिष्ठान है। उसे लगता है कि वह अपने प्रेम-पात्र का समुचित वर्णन नही कर सकता। प्रेमिका के गुण उसमे तीव्र आकाक्षा उत्पन्न करते है। उसकी सुन्दरता और मधुरता, उसकी सवेदनशीलता और स्नेहशील प्रकृति, उसकी बुद्धि और चतुरता, उसकी आकर्षक चाल-ढाल और स्पष्ट व्यवहार, उसकी उच्च सदाशयता ये सब चीजे प्रेमिक के अवधान तथा आकाक्षा का विषय बन जाती है। जिसे हम आकाक्षा या कामना कहते है, वह जीवन की बढी हुई गति का प्रतीक है, इसी प्रकार प्रेम-भावना बढी हुई जीवन-शक्ति की द्योतक है। किसी के प्रेम मे होने की स्थिति बड़ी प्रिय तथा अर्थवती जान पडती है, उसके द्वारा प्रेमिक की समस्त वृत्तियाँ तथा सवेदनाएँ उत्तेजित हो जाती है। प्रेमिक चाहता है कि अपनी समस्त विशेषताओ को लिये हुए प्रेमिका उसकी बन जाय। प्रेमिक में यह कामना होती है कि वह प्रेमिका की मोहक जीवन-प्रक्रिया में, भौतिक और आत्मिक दोनो स्तरो पर, साझीदार बन जाय। एक रहस्यमय ढग से प्रेमिका प्रेमी में नये जीवन-स्पन्दन को जागृत करती है। प्रारम्भ मे भौतिक रूप मे, और बाद मे आवेगात्मक भूमिकाओ मे, वह उसे अधिक जीवन्त बना देती है। सम्भवत उच्चतम कोटि का प्रेम प्रेमियो के आध्यात्मिक धरातल को भी ऊँचा बना देता है।

यद्यपि सभी लोग प्रेम की आवश्यकता महसूस करते है, विशेषत भौतिक प्रेम की, फिर भी कभी-कभी एक ऐसे व्यक्ति के जीवन मे प्रेम का आविर्भाव हो जाता है जो उसे खोज नही रहा था। किन्तु इसमे सन्देह नही कि प्रेम के सभी रूप जीवन-गति को तीव्र करने वाले होते है। यदि प्रेमियो का व्यक्तित्व सुसस्कृत हो तो वे प्रेम द्वारा निश्चय ही मानसिक, और बाद मे आध्यात्मिक, विस्तार का अनुभव करते है।

वे नर-नारी जो सास्कृतिक दृष्टि से सृजनशील होते है, जैसे कलाकार और विचारक, प्रेम की आवश्यकता का विशेष अनुभव करते है। वे प्राय ऐसे व्यक्तियो की ओर आकृष्ट होते है जिनसे उनकी अन्त प्रकृति का सामजस्य है। अपेक्षाकृत निष्क्रिय कोटि का प्रेमी प्रेमिका के सम्पर्क द्वारा अपनी जीवन-प्रक्रिया को तीव्र बनाने की आशा

से पुलकित होता है; इसके विपरीत सक्रिय कोटि का प्रेमी यह चाहता है कि प्रेमिका स्वय उसके आत्म-प्रसार में सहायक हो। प्रथम कोटि का प्रेमी ऐसी नारी से प्रेम करने लगेगा जिसकी विशेषताएँ स्वय उसकी क्षमताओ की पूरक हैं, दूसरी कोटि का प्रेमिक ऐसी प्रेमिका को खोजेगा जिसकी हृदय-बुद्धि उसके समान हो, और जो उसे प्रशसा-मूलक प्रोत्साहन दे सके। एक ही प्रेमिक व्यक्तित्व में दोनो प्रकार की जरूरतें मौजूद हो सकती हैं। सम्भवत प्रत्येक प्रेमी प्रेमिका से उक्त दोनो ही कोटियों का सहयोग तथा आदान-प्रदान चाहता है। किन्तु एक बात निश्चित है सृजनशील प्रकृति का मनुष्य ऐसे ही साथी के साथ सुखी हो सकता है जो उसकी विशिष्ट योग्यताओं को समझ सके। एक सवेदनशील व्यक्ति केवल आदान से सन्तुष्ट नही होता, वह यह महसूस करना चाहता है कि उसके सम्पर्क से उसके साथी को कुछ मिल रहा है। इस प्रकार के व्यक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा होता है मेरे साथी को यह अनुभव होना चाहिए कि हमारा सम्पर्क उसके लिये उपयोगी, महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है। जो व्यक्ति हमारे विशेष गुणो की सराहना कर सकता है, वह हमें सहज ही अपने से बाँध लेता है। अन्तत हम उसी व्यक्ति से प्रेम कर सकते हैं जो हमारे व्यक्तित्व की विशेष क्षमताओ को आदर दे सके। प्रेम के सम्बन्ध में एक आवश्यक तत्व यह है कि प्रेमिक लोग एक-दूसरे को समझपूर्ण स्नेह का आधार दे सकें।

सृजनशील व्यक्तियो को वैसे आधार और स्नेह की बडी भूख होती है। स्नेह-मिश्रित आधार ही वह वस्तु है जिसे प्रेरणा कहते हैं। जो प्रेमिका प्रेमिक कलाकार अथवा विचारक को सहानुभूतिपूर्ण प्रशसा दे सकती है, वह, उसके सृजन के श्रम को शान्त करके, उसे आगे सृजनशील होने की प्रेरणा देती है। प्रेमिका से प्राप्त समुचित प्रशसा, उसकी स्नेहपूर्ण चिन्ता और सहायता, पुरुष की सृजन-क्रिया को अपेक्षित आधार देती और उसके विकास में सहायक होती है।

ऐसा जान पडता है कि प्रेम में कुछ निर्भरता का भाव रहता है। अपनी शान्ति तथा सुख के लिये प्रेमिक प्रेमिका पर निर्भर करने लगता है। उसे लगता है कि प्रेमिका के बिना वह नि शक्त तथा नि स्व हो जाता है। अपनी प्रेमिका के प्रति असली प्रेमिका मनोभाव होता है मुझे तुम्हारी सख्त जरूरत है। प्रेमिका का प्रेमी के प्रति कुछ अश तक वैसा ही भाव होना चाहिये जैसा कि मा का बच्चे के प्रति होता है। नितान्त निकटता के क्षणो में प्रेमिक को प्रेमिका के सम्मुख अपने विशुद्ध, साहाय्यापेक्षी रूप में उपस्थित हो सकना चाहिए। इसका यह मतलब नही कि प्रेमिक में उचित स्वाभिमान

नही होना चाहिए, फिर भी अभिमान और प्रेम एक साथ नही चल सकते। प्रेमिक मे प्रेमिका के सम्पर्क द्वारा अपने जीवन को समृद्ध करने की अभिलाषा स्वाभिमान से तीव्रतर होनी चाहिए। और नारी में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह प्रेमिक को मातृत्व का सरक्षण दे सके।

इसका क्या कारण है कि केवल नारी ही पुरुष को प्रेरणा देती है? क्या इसका यह मतलब है कि शारीरिक धरातल की भाँति अन्य धरातलो पर भी पुरुष की सृजन-शीलता को उकसाने के लिये नारी की आवश्यकता होती है? अथवा यह कि उन दोनो की भिन्न क्षमताएँ उन्हे एक-दूसरे की जरूरतें पूरा करने के योग्य बना देती हैं? नारी चाहती है कि वह पुरुष के प्रयत्नो से लाई हुई भौतिक तथा दूसरी कोटि की सम्पत्ति को ग्रहण करे। सम्भवत वह स्वयं इस योग्य नही होती कि सम्पत्ति के लिये सीधे सघर्ष करे। शायद वह स्वय सृजन भी नही करती, केवल एक कोटि के सृजन को छोड़कर। पुरुष की तुलना मे नारी, शायद, अधिक सतुलित, निश्चयात्मक तथा स्थिर प्रकृति की होती है। उसका स्नेह भी ज्यादा स्थायी होता है। सम्भवत' वह अपने प्रेमिक के माध्यम से ही सास्कृतिक प्रगति मे योग दे सकती है। वह पुरुष को प्रेरणा देती है, और उसके समर्पण को स्वीकार करती है। वह सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को अपने प्रेमिक की दृष्टि से देखती है। सम्भवत वह यह चाहती है कि उसके प्रेमिक की दृष्टि व्यापक हो, किन्तु वह स्वय एक स्वतत्र दृष्टि विकसित करने की आकांक्षा नही रखती। नारी ऐसे पुरुष को खोजती है जो भौतिक तथा सामाजिक धरातल पर उसका रक्षण करे, और उसके लिए ससार की समृद्धि, पद तथा शक्ति जीत कर लाये। सम्भवत नारी स्वय सघर्ष करके विजय करना नही चाहती, वह चाहती है कि उसका पति, पुत्र अथवा भाई विजय करे, और उस विजय मे वह गर्व का अनुभव करे। नारी के सौन्दर्य और आकर्षण का एक ही लक्ष्य होता है एक ऐसे पुरुष को वशवर्ती बना लेना जो जीवन भर उसके लिये, उसके अस्तित्व के रक्षण तथा प्रसार के लिये, प्रयत्न करता रहेगा।

नारी समर्थ अथवा पुरुषार्थी मनुष्य को पसन्द करती है; साथ ही यह भी सच है कि वह उसी व्यक्ति को प्रेम दे सकती है जो उसका स्नेहपूर्ण सरक्षण चाहता है। पति की अपेक्षा वह अपने बच्चे को ज्यादा प्यार करती है, और वह पति को वही तक प्यार कर सकती है जहाँ तक वह उस पर अपनी निर्भरता प्रकट करे। जो प्रेमिक नारी की मातृत्व-भावना को जागृत नही करता, वह उसे पूर्णतया सन्तुष्ट नही कर सकता।

ऐसी नारी तब तक पूर्ण रूप से सुखी नही हो सकती जब तक उसके बच्चा न हो जाय।

सृजनशील कलाकार अथवा विचारक को प्रेम की जरूरत क्यो होती है ? जान पडता है कि सृजन का श्रम तब तक दूर नही होता जब तक उसकी सृष्टि पर किसी की प्रेमपूर्ण दृष्टि न पडे। भवभूति के "उत्तर रामचरित" मे सीता ने इस बात को लेकर दु ख प्रकट किया है कि उनके उत्पन्न किये हुए शिशुओ को प्यार करने के लिए आर्यपुत्र (राम) मौजूद नही है। ठीक इसी प्रकार कलाकार भी चाहता है कि उसकी सृष्टि पर उसकी प्रेमिका की स्नेहपूर्ण दृष्टि पडे। ऐसा जान पडता है कि अपने विभिन्न सृजनशील रूपो मे जीवन को सर्वत्र स्नेह की आवश्यकता होती है; मानव-जीवन अनवरत अपने अस्तित्व को दूसरो मे प्रसारित करना चाहता है।

हमारी सर्वश्रेष्ठ सृष्टि स्वत स्फूर्त होती है। किन्तु हमारा सृजन-प्रयत्न समाज द्वारा तब ही स्वीकार होता है जब वह अनुशासित तथा सगठित हो। प्राय यह अनुशासन तथा सगठन उस जीवन-क्षण की आन्तरिक आवश्यकता होती है जिसकी सृष्टि किसी चित्र अथवा कविता, किवा एक बौद्धिक सिद्धान्त-सूत्र के रूप मे, की गई है। इस अनुशासन मे गुजरते हुए कलाकार अथवा विचारक को एक प्रकार का आनन्द होता है। कभी-कभी वह अनुशासन अखरता भी है। हमारी सामाजिक जिन्दगी में लीको तथा रूढियो के रूप मे बहुत-कुछ ऐसा अनुशासन रहता है जिसका अनुसरण निरर्थक तथा कष्टप्रद लगता है। समाज चाहता है कि हम अक्सर अपने ऊपर कृत्रिमता का लबादा डाले रहे, वह लगातार हमारे व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मे बाधक होता है। यही कारण है कि कलाकार, जो कि मनुष्य की सामान्य नैसर्गिक प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि होता है, समाज के अनुशासन और दबाव को असह्य पाता है। कलाकार की सृजनशील प्रकृति अक्सर उसे सामाजिक अनुशासन का उल्लघन करने को उकसाती है। फलत एक रूढिवादी समाज मे लेखक तथा कलाकार अक्सर अकेलापन महसूस करते है। कलाकार नवीन सृष्टियाँ करता है, और वह चाहता है कि उन सृष्टियो के लिये कही उसे स्नेहपूर्ण अवलम्ब मिले, जिससे वह समाज में विच्छिन्न महसूस न करे।

किन्तु इसका यह मतलब नही कि प्रेम की आवश्यकता केवल कलाकार को ही होती है। वस्तुत प्रेम की भूख सार्वभौम है। ऐसा जान पडता है कि प्रत्येक मनुष्य,

अपने प्रत्येक गतिलेश के लिये, किसी दूसरे के समर्थन तथा स्वीकृति की आवश्यकता महसूस करता है। प्रत्येक नर-नारी अपने जीवन मे एक ऐसे व्यक्ति के प्रवेश की प्रतीक्षा करता है जो उसे पूर्णतया समझ सके, अर्थात् जो उसके व्यक्तित्व के बहुमूल्य गुणो को ठीक-ठीक पहचानकर उसे स्नेह दे सके। व्यक्तित्व के परिपूर्ण विकास अथवा प्रस्फुटन के लिये एक ऐसे साथी की उपस्थिति आवश्यक जान पडती है। हमे एक ऐसे साथी या मित्र की जरूरत रहती है जो हमारे व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्णता मे स्वीकार कर ले, जिसके सामने पहुँचने मे हमे दुराव अथवा दम्भ की जरूरत न हो, जहाँ हम अपने असली रूप मे, विना किसी दिखावे के, प्रकट हो सके और जो हमारे बौद्धिक-आत्मिक व्यक्तित्व को प्यार करते हुए भी उसके पशु-सुलभ पक्ष को घृणा की दृष्टि से न देखे। प्रत्येक मनुष्य मे यह कामना रहती है कि वह कही पर अपने प्रकृत नग्न रूप मे उपस्थित हो सके, उस रूप में जिसे वह सदैव समाज की आँखो से बचाता रहता है। मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने जिन ग्रन्थियो का उल्लेख तथा विवेचन किया है उनके उदय का मुख्य कारण वह तनाव है जो कि समाज की कृत्रिम रूढियो तथा माँगो और सामान्य नैसर्गिक मानव-व्यक्तित्व की जरूरतो के विरोध से उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर यह जान पडेगा कि प्रेम एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को व्याकुल विक्षिप्तता से बचाकर उसे स्वस्थ रखती है।

## प्रेम और विवाह

प्राय यह समझा जाता है कि प्रेम की तीव्रता और रोमान्स वैवाहिक बन्धन के विरुद्ध होता है। कीर्केगार्ड ने लिखा है · 'नारी के द्वारा अनेक मनुष्य प्रतिभासम्पन्न बन गये है, वीर पुरुष, कवि, अथवा सन्त, किन्तु उस नारी के द्वारा नही जिसे उन्होने पा लिया, वल्कि उसके द्वारा जिसे वे नही पा सके थे।' तात्पर्य यह कि अप्राप्य अथवा अप्राप्त नारी का प्रेम मनुष्य को ऊँचाई पर ले जाने वाला होता है। इसका मतलब यह हुआ कि वह नारी जिससे मनुष्य विवाह करता है उसके विकास तथा उत्थान का कारण नही हो सकती। यह मन्तव्य चौकाने वाला है, और मानव-सभ्यता की सबसे पुरानी सस्था, अर्थात् विवाह-सस्था, की हेयता घोषित करता है, । समस्या बडी जटिल है, और उस पर थोडे में विचार करना बडा कठिन है। फिर भी इस सम्बन्ध मे हम कुछ बाते कहना चाहेगे। जैसा कि हमने कहा कि प्रेम और मैत्री का सम्बन्ध मनुष्य की सृजनशील प्रकृति से है, जीवन के उपयोगी पक्ष से नही। प्रेमी

लोगो मे यह प्रवृत्ति होती है कि वे एक-दूसरे के सम्बन्ध मे बडी ऊँची कल्पनाएँ करें, और एक-दूसरे के व्यक्तित्व को सौन्दर्य तथा दूसरे मूल्यो का अधिष्ठान मानकर चले। गृहस्थ जीवन की असुन्दर जरूरतें प्रेमियो के रोमान्टिक स्वप्नो में हस्तक्षेप करती हैं, और उनके मनो से पारस्परिक आकर्षण हटाने लगती हैं। यह आकर्षण नष्ट न हो, इसके लिये दो उपायो का सकेत किया जा सकता है। प्रथमत उन युवक-युवतियो को जो विवाह करना चाहते हैं, पति-पत्नी के भावी सम्बन्ध तथा गृहस्थ जीवन की जरूरतो के वारे में ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो उनमे यथार्थ-दृष्टि का उन्मेष कर सके। दोनो ओर केवल भौतिक आकर्षण को महत्व नही दिया जाना चाहिए, बल्कि यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि उनमें कहाँ तक रुचियो तथा स्वभावोकी समानता है। दूसरे, उनको यह देखना चाहिए कि अपनी विशिष्ट रुचियो तथा महात्वाकाक्षाओ के साथ वे कहाँ तक एक-दूसरे की जरूरत महसूस करते रहेंगे। हमारा अनुमान है कि स्थायी प्रेम उन्ही पति-पत्नी के बीच कायम रह सकता है जो किसी निरुपयोगी सृजनशीलता के क्षेत्र में लगातार एक-दूसरे की सहायता की अपेक्षा करते रह सकते हैं।

हम प्रेम की परिभाषा दे चुके। किसी से प्रेम करने का अर्थ है उसकी जीवन-प्रक्रिया मे साझेदार वनने की आकाक्षा, अथवा उसके जीवन-स्पन्दन को आत्मसात् करने की कामना। साथ ही प्रेमिक की एक दूसरी इच्छा भी होती है, अर्थात् अपने जीवन-स्पन्दन को दूसरे द्वारा ग्रहण तथा स्वीकृत कराने की आकाक्षा। परिपूर्ण प्रेम में ये दोनो तत्व रहते हैं, उसमें जीवन के सुन्दर, सप्राण स्पन्दनो का आदान-प्रादान रहता है। वह प्रेम जिसका आधार केवल शारीरिक आकर्षण और भोग है, स्थायी नही हो सकता। न वह प्रेम टिक सकता है जिसका आधार केवल सामाजिक सुविधा है। स्थायी प्रेम केवल उन दो व्यक्तियो के वीच रह सकता है जो लगातार एक-दूसरे को आकर्षक पाते हैं, और अनवरत एक दूसरे के आन्तरिक व्यक्तित्व को समृद्ध करते रह सकते हैं।

सच्चे प्रेमी जानबूझकर अपने को एक-दूसरे से छिपाने की कोशिश नही करते, वे लगातार यह प्रयत्न करते हैं कि अपने आन्तरिक व्यक्तित्वो को एक-दूसरे तक पहुँचा दें। वे निरन्तर एक-दूसरे को सुखी वनाने की कोशिश भी करते हैं। वह प्रेम जो इस प्रकार के कोमल सम्बन्ध-सूत्र के वदले प्रेमपात्र से पराजय-मूलक समर्पण चाहता है, असली प्रेम नही होता। वास्तविक प्रेम प्रेमपात्र के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता को कुचलना नही चाहेगा। असली प्रेमी एक-दूसरे को समझने और पाने का प्रयत्न

करते रहते हैं, यह प्रवृत्ति एक-दूसरे को सुखी बनाने की इच्छा का आवश्यक परिणाम होती है। विशुद्ध प्रेम केवल यह नही चाहता कि प्रेमपात्र पर अधिकार करके उससे अधिकाधिक भौतिक सुख पा लिया जाय; उसकी मूल भावना यह होती है कि प्रेमपात्र के व्यक्तित्व का सरक्षण करते हुए उसकी समृद्धि और विकास मे योग दिया जाय।

मैत्री का अर्थ एक ऐसा प्रेम-सम्बन्ध है जिसमे शारीरिक आकर्षण के तत्व विद्यमान नही होते। मैत्री का सम्बन्ध प्राय एक ही लिंग के ऐसे सदस्यो में होता है जिनमे रुचियो आदि की समानता है। भिन्न लिंग के सदस्यो मे विशुद्ध मैत्री का सम्बन्ध होना, अर्थात् ऐसा सम्बन्ध जिसमे शारीरिक आकर्पण मौजूद न रहे, कठिन होता है। इस प्रकार की मैत्री में यदि दोनो ओर से पर्याप्त आत्म-नियन्त्रण रखा जाय, तो वह सम्बन्ध उच्च कोटि की पारस्परिक प्रेरणा का स्रोत बन सकता है।

ऐसा जान पडता है कि सन्त तथा धार्मिक शिक्षक केवल मैत्री की भावना से सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी इस भावना का विषय सम्पूर्ण मानवता होती है। फिर भी वे उन लोगो के साथ ज्यादा निकटता का अनुभव करते हैं जो उनके शिष्य अथवा अनुयायी होते हैं। किन्तु सन्त की मैत्री-भावना में तटस्थ उदासीनता का ऐसा गहरा पुट रहता है कि वह प्रिय से प्रिय व्यक्ति के वियोग अथवा मृत्यु से भी विशेप विचलित नही होता। ऐसा प्रतीत होता है कि सन्त लोग, जो कि आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित होते हैं, अपनी शान्त तथा शुद्ध जीवन-प्रेरणा द्वारा दूसरो को लाभान्वित करने मे तत्पर रहते हैं। वे स्वय यह जरूरत महसूस नही करते कि दूसरो के जीवन-स्पन्दन मे साझेदार बनकर अपने व्यक्तित्व का प्रसार करे। कलाकार अथवा विचारक की अपेक्षा सन्त की उदासीनता तथा तटस्थता ज्यादा पूर्ण होती है।

साराश यह कि प्रेम और मैत्री सास्कृतिक जीवन का आवश्यक अग हैं। वे उस जीवन की आवश्यक हेतु स्थितियो को भी निर्मित करते हैं। भौतिक और आध्यात्मिक दोनो धरातलो पर प्रेम-सम्बन्ध सम्बद्ध व्यक्तियों की जीवन-क्रिया को समृद्ध करनेवाला होता है। सामान्यत सभी प्राणी प्रेमानुभूति के क्षण मे अतिस्तत्व-प्रसार का अनुभव कर लेते हैं, सृजनशील आध्यात्मिक क्रिया द्वारा आत्म-प्रसार की क्षमता थोडे ही लोगो मे पाई जाती है। प्रेम का मार्ग सबसे सीधा और सहज मार्ग है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के जीवन मे प्रवेश करके उसका उपभोग, और इस प्रकार अपने अस्तित्व का प्रसार, करता है।

## शिक्षा का आदर्श

अब हम दूसरा प्रश्न उठायेगे : शिक्षा का लक्ष्य अथवा प्रयोजन क्या है, और सस्कृत जीवन के विकास मे उसका क्या योग रहता है।

शिक्षा की अनेक परिभाषाएँ दी गई है। कहा गया है कि 'शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वयस्क होता हुआ व्यक्ति समूह के जीवन और "सस्कृति" मे प्रवेश करता है,'[१] अथवा 'वह प्रक्रिया जिसके द्वारा समाज के ज्यादा अनुभवी सदस्य सीखने की क्रिया पर सोद्देश्य नियन्त्रण करते है,'[२] अथवा 'समाज के वयोवृद्ध लोगो का वह प्रयत्न जिसके द्वारा वे आगे आने वाली पीढी का जीवन अपने आदर्शों के अनुरूप ढालते है।'[३] पहली परिभाषा इस बात पर जोर देती है कि शिक्षा का अर्थ, मुख्यत, सास्कृतिक विरासत का सम्प्रेषण है। दूसरी और तीसरी परिभाषाएँ इस बात पर गौरव देती है कि यह सम्प्रेषण एक चयनात्मक तथा नियन्त्रित क्रिया होती है। शिक्षा की जरूरते और लक्ष्य क्या है, शिक्षा की नीति क्या होनी चाहिए, इसके सम्बन्ध मे विचार करने की आवश्यकता निम्न कारणो से पडती है। प्रथमत मानवजाति के पूर्वजो से मिले हुए जानने तथा व्यवहार करने के रूप इतने अधिक है कि कोई एक व्यक्ति उन्हे समग्रता मे आत्मसात् नही कर सकता। कोई भी बालक या वयस्क वे सब चीजे नही सीख सकता जो कि सम्पूर्ण मानवजाति को विदित है। दूसरे, विभिन्न बालको तथा वयस्को की रुचियाँ एव क्षमताएँ अलग-अलग होती है। तीसरे, शिक्षा देने वाले अधिकारी (पुराने जमाने में यह अधिकार चर्च को था, और अब राज्य को है) प्राय यह चाहते है कि बालको मे खास तरह की आदते तथा मनोभाव उत्पन्न हो, अर्थात् शिक्षार्थियो की मनोवृत्ति एक खास तरह की बने। सामूहिक रूप मे मानवजाति ही नही आज का कोई भी समाज जितना जानता है उतना किसी एक व्यक्ति को नही सिखाया जा सकता। इसके अतिरिक्त समाज के सामूहिक जीवन मे कुछ ऐसी आदते, व्यवहार तथा मनोभाव भी पाये जाते है जो वाछनीय नही समझे जाते। एक और बात है। कुछ चीजो को सभी लोग वाछनीय समझते है, और कुछ को कुछ खास लोग। ऐसी परिस्थितियो में शिक्षक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह बालको को वैसी चीजे सिखाये जिनके विरुद्ध समाज के अधिक प्रभावशाली वर्गो तथा व्यक्तियो को कोई आपत्ति न हो।

प्रश्न है · पूर्वजो से विरासत मे मिले हुए ज्ञान-विज्ञान, मनोभावो, व्यवहारो तथा

आदतो की राशि मे से उन चीजो का चयन किन दृष्टियो तथा मन्तव्यो के अनुकूल किया जाय जिनका सम्प्रेषण वाछनीय है ?

यहाँ हम आप का ध्यान एक चीज की ओर आकृष्ट करेंगे। प्राय सभी यह मानते हैं कि शिक्षा व्यक्ति के लिये वाछनीय तथा उपयोगी होती है। प्राय यह समझा जाता है कि अशिक्षित व्यक्ति से शिक्षित व्यक्ति अच्छा होता है; खास तौर से उच्च शिक्षा की उपलब्धि एक सौभाग्य समझा जाता है। बहुत-से समाजों मे उच्च शिक्षा का लाभ थोडे ही लोग उठा पाते हैं, वे व्यक्ति जो अपेक्षाकृत समृद्ध घरानो के होते हैं, अथवा वे प्रतिभाशाली छात्र जो अपनी योग्यता से छात्रवृत्ति (वजीफा) आदि पा जाते हैं। इस दृष्टि से भारतवर्ष जैसे गरीब देश और ब्रिटेन, अमेरिका आदि समृद्ध देशो मे केवल इतना अन्तर है कि जहाँ उन देशो मे बहुत से वजीफे आदि उपलब्ध हैं, वहाँ हमारे देश मे बहुत थोडे विद्यार्थी उस प्रकार की सहायता प्राप्त कर पाते हैं।

मै इस साधारण बात पर जोर देना चाह रहा हूँ कि शिक्षा उनके लिये, जो उसे प्राप्त करते हैं, लाभप्रद तथा वाछनीय होती है। क्या इस परिस्थिति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य बच्चो तथा बडो मे कुछ ऐसी क्षमताएँ उत्पन्न करना है जिनके द्वारा वे कतिपय श्रेयो का उपभोग एवं कतिपय मूल्यो की सृष्टि कर सकें ? यह आश्चर्य की बात है कि इस सम्बन्ध मे शिक्षा-विशारदो मे मतैक्य नही है। यह कहने का कि शिक्षा द्वारा शिक्षार्थियो को लाभ होता है, यह अर्थ नही कि उस प्रकार लाभ पहुँचाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। उदार जनतत्रवादी विचारकों ने, जो कि व्यक्तित्व के मूल्य तथा महत्व पर जोर देते है, अवश्य ही इस बात पर गौरव दिया है कि शिक्षक को यह मानकर चलना चाहिए कि शिक्षार्थी बालक स्वय मे एक साध्य है, और उसकी शक्तियो का विकास अथवा उसके व्यक्तित्व की पूर्णता ही शिक्षा का लक्ष्य है। किन्तु सब लोग इस को स्वीकार नही करते। तानाशाही देशों मे यह समझा जाता है कि राष्ट्रीय जीवन का चरम ध्येय मातृभूमि अथवा पितृभूमि का गौरव, अथवा एक विशेष प्रकार की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था को कायम रखना, है, जिसकी प्रतिष्ठा के लिये जीवन के बाकी मूल्य तथा क्रियाएँ होनी चाहिएँ। ऐसे देशो मे प्राय शिक्षा का उपयोग बच्चो को आज्ञाकारी तथा देशभक्त नागरिक बनाने में होता है। जहाँ उदारवादी विचारको का कथन है कि 'सारा कल्याण अथवा श्रेय मानव-व्यक्ति का कल्याण या श्रेय होता है,'[१] वहाँ दूसरे लोगो ने इस बात पर जोर

दिया है कि व्यक्ति का कल्याण समाज-कल्याण से अलग नही किया जा सकता, और यह कि समाज के लिये व्यक्ति के हितो की उपेक्षा की जा सकती है।

मान लीजिए कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति का तथा समाज का लाभ होता है, तव यह प्रश्न उठता है कि वह लाभ या कल्याण है क्या ? इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयत्न मे शिक्षा-दर्शन, अज्ञात रूप मे, जीवन-दर्शन में परिणत हो जाता है। जैसा कि प्लेटो समझते थे, व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में शिक्षा का सवसे ज्यादा हाथ रहता है। फलत शिक्षक की जिम्मेदारी वहुत वडी है। एक गलत शिक्षा-दर्शन को अपनाने का अर्थ होगा शिक्षा की एक गलत नीति को अपनाना, और यदि उस नीति का वहुत दिनो तक जोरशोर से अनुगमन किया गया, तो न केवल आज के समाज के कल्याण मे व्याघात उपस्थित होगा, वल्कि भविष्य मे भी उस समाज की सभ्यता तथा संस्कृति की प्रगति पर वुरा असर पड़ेगा।

इस प्रश्न का उत्तर देना कि शिक्षा का उद्देश्य क्या है, उतना ही कठिन है जितना कि इस दार्शनिक समस्या को सुलझाना कि जीवन का लक्ष्य क्या है। हम यह मानकर चल सकते है कि शिक्षा का उद्देश्य किसी समाज के सदस्यो को इस योग्य वनाना है कि वह सुन्दर तथा सार्थक जीवन व्यतीत कर सकें; किन्तु स्वय सार्थक तथा सुखी जीवन की परिभाषा क्या है ? परलोकवादी तथा अध्यात्मवादी विचारक इस प्रश्न का जो उत्तर देगे वह स्पष्ट ही भौतिकवाद के समर्थको को ग्राह्य न होगा। इस सम्वन्ध मे हम निम्न मानववादी मान्यता को स्वीकार करके वढना चाहेंगे आदर्श जीवन के विभिन्न वर्णन ऐसे होने चाहिएँ जिन्हे हम इस धरती के अनुभवो के आलोक मे समझ सकें, और जिनकी उस जीवन की अपेक्षा मे तुलना तथा व्याख्या हो सके।

अव हम श्रेष्ठ तथा वाछनीय जीवन, एव श्रेष्ठ तथा वाछनीय शिक्षा, के सम्वन्ध में दो विरोधी आदर्शों को उपस्थित करेंगे। इनमें से प्रत्येक आदर्श विश्व-सम्वन्धी अनेक दार्शनिक दृष्टियो से, तथा अनेक शिक्षा-सम्वन्धी सिद्धान्तो से, सम्वन्धित है।

प्रथम दृष्टिकोण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। मनुष्य नाम के प्राणी की वहुत-सी जरूरतें है, जिनमें से कुछ वही हैं जो पशुओ मे भी होती है। इन जरूरतो की पूर्ति के लिये भौतिक परिवेश से प्राप्त होने वाली अनेक चीजो की जरूरत होती है। मनुष्य को अपनी जरूरत की सामग्री प्राप्त करने के लिये अपने भौतिक परिवेश का

वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना चाहिए। इस अध्ययन के लिये हमें अनुभवात्मक तथा आलोचनात्मक पद्धतियो का अवलम्ब लेना चाहिए। सावधानी से निरीक्षण तथा तर्क करते हुए ही मनुष्य अपने भौतिक परिवेश पर अधिकार प्राप्त कर सकता और उसे अपनी जरूरतों की पूर्ति का उपकरण बना सकता है, बैठे-बैठे मन-मोदक खाने से, अथवा अडबड कल्पनाएँ करने से, कोई लाभ नही है। शिक्षा वह उपकरण है जो व्यक्ति को अपने परिवेश पर नियन्त्रण करने के लिये तैयार करता है। मनुष्य की एक दूसरी आवश्यकता है, अपने को मानव-परिवेश के अनुकूल बनाना; इसके लिये यह आवश्यक है कि हम मनुष्यो, उनकी सस्थाओ, और मानव-इतिहास का अध्ययन करे। यहाँ भी हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम विशुद्ध रूप मे वैज्ञानिक पद्धतियो का अवलम्ब ले, और सिर्फ उन्ही निष्कर्षों को स्वीकार करे जिनकी समुचित परीक्षा हो चुकी है।

मनुष्य के जीवन की और उसके ज्ञान की सार्थकता उसके कर्म में है। इसलिये उस ज्ञान से कोई फायदा नही जो कर्म को प्रभावित नही करता। वस्तुत मनुष्य के ज्ञान की उन्नति, उसकी कर्म-क्षमता की उन्नति के समानान्तर होती है। साधारण सूचनाएँ ज्ञान बन जाती हैं जब उनका मानव-हितो तथा रुचियो से सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है; और ज्ञान सत्य बन जाता है, जब कर्म द्वारा उसकी परीक्षा कर ली जाती है। बालक की शिक्षा का आधार तथा केन्द्र उसकी रुचियाँ होनी चाहिएँ, जिससे कि वह शिक्षा में रस ले सके। इसलिये शिक्षालयो के पाठ्यक्रम का केन्द्र विद्यार्थियो की क्रियाएँ होनी चाहिएँ।

मानव-जीवन मे वर्तमान और उसकी जरूरते ही महत्वपूर्ण हैं।' वह वर्तमान जो सतत प्रगतिमान है, हमारी रुचियोंका केन्द्र होता है। यदि इतिहास के अध्ययन को सार्थक बनाना है, तो उसके उन अशो पर गौरव देना चाहिए जिनका, विद्यार्थियो द्वारा वर्तमान के लिये महत्व देखा जा सके।" वर्तमान से असम्बद्ध इतिहास व्यर्थ है। आज की दुनिया तेजी से बदल रही है। इस दुनिया में पुराने लोगो की बहुत-सी शिक्षाएँ व्यर्थ हो गई हैं। जैसा कि श्री व्हाइटहेड ने लिखा है.

पुराने लोगो के जीवन-विवेक में पुनरावृत्ति पर गौरव दिया है,... अतीत मे महत्वपूर्ण परिवर्तन एक मनुष्य के जीवन से कही ज्यादा लम्बे समय मे होता था। फलत. मनुष्यो को यह शिक्षा दी जाती थी कि वे अपने को स्थिर जीवन-दशाओ के

अनुकूल बनायें। किन्तु आज परिवर्तन का काल एक मनुष्य के जीवन से कही ज्यादा छोटा हो गया है, इसलिये प्रशिक्षण (Training) ऐसा होना चाहिए जो व्यक्तियो को नव-नवीन परिस्थितियो का सामना करने के योग्य बना दे।[८]

शिक्षा-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण को हम सुविधापूर्वक, यद्यपि बहुत सही रूप मे नही, वैज्ञानिक-यथार्थवादी दृष्टि कह सकते है। इस दृष्टिकोण की सबल प्रतिध्वनियाँ, जिनमे न्यूनाधिक आशावाद तथा निराशावाद का मिश्रण होगा, प्राचीन तथा नवीन ऐसे अनेक विचारको मे पाई जा सकेगी जैसे डिमोक्राइटस और एपीक्यूरस, होलबाग और डिडेरो, मार्क्स और एगेल्स, हर्बर्ट स्पेन्सर, पैरेटो, ड्यूई, और रसेल। सक्षेप मे यह दर्शन चाहता है कि हम वैज्ञानिक तथा व्यवहारवादी, बुद्धिवादी तथा यथार्थवादी बने। यह दर्शन धार्मिक परलोकवाद तथा कल्पना-परक रोमान्स का विरोधी है।

हम अब दूसरी दृष्टि का प्रतिपादन करेगे। इस दृष्टि को, सुविधा के लिये, हम नैतिक-सौन्दर्यात्मक-मानववादी कहेगे। प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन युताङ ने लिखा है कि 'जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण मूल्यो का दृष्टिकोण है, न कि तथ्यो का।'[९] स्पष्ट ही जिन मूल्यो मे हमारी रुचि होनी चाहिए वे मानव-मूल्य है, उनका आश्रय और अभिव्यक्ति का माध्यम मानव-जीवन है। वे वस्तुत श्रेष्ठ अथवा वाछनीय जीवन के ही विविध रूप है। जैसा कि कवि पोप ने कहा है "मनुष्य के अध्ययन का उपयुक्त विषय स्वय मनुष्य है।" दूसरे शब्दो मे मनुष्य को विशेष रूप मे यह जानने की इच्छा होनी चाहिए कि कैसे मानव-जीवन सुन्दर, सार्थक तथा श्रेष्ठ बन सकता है। उपनिषदो के ऋषियो ने यह शिक्षा दी थी कि 'अपने को जानो' (आत्मानविद्धि) अपने को जानने का अर्थ केवल यही जानना नही है कि हम इस समय क्या है। उसे जानने के मानी यह भी है कि हम अपने जीवन की सम्भावनाओ को समझे, और यह जाने कि हमे क्या होना चाहिए। आत्मज्ञान का उचित अर्थ है उन समस्त बौद्धिक-नैतिक और सौन्दर्य-मूलक सम्भावनाओ को जानना जो मानव-जीवन में यथार्थ बनायी जा सकती है, उसका अभिप्राय है मानव-जीवन के उन क्षणो को जानना है जिनमे वह सप्राण तथा प्रशस्त रूप मे, अस्तित्व के विभिन्न धरातलो पर वर्तमान रहा है। अपने को जानने का अर्थ है एक सुकरात की सचाई तथा साहस से, एक बुद्ध के गम्भीर प्रश्नो तथा त्याग से, और दान्ते, पेट्रार्क, शेक्सपियर, अथवा कालिदास के यक्ष के तीव्र आवेगो से परिचित होना।

यह काफी नही है कि हम अपने परिवेश पर नियन्त्रण करें, अथवा धनी बन जायँ। मुख्य चीज वह नही है कि जो किसी मनुष्य के पास है, बल्कि वह जो कोई मनुष्य 'है' अथवा 'बन रहा है'। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य यह नही है कि मनुष्य की दूसरे मनुष्यो तथा वस्तुओ के ऊपर शक्ति बढ जाय। उसका उद्देश्य है व्यक्ति के अस्तित्व को उन सब चिन्तन तथा सवेदना की क्रियाओ मे प्रसरित कर देना जो मानव-जाति के महान सदस्यो के जीवन का अग रह चुकी हैं। धन और शक्ति को स्वयं अपने में साध्य नही समझना चाहिए, वे केवल साधन हैं जिनके द्वारा जीवन के सुन्दर तथा उच्चतर स्पन्दनो को प्राप्त करने की सुविधाएँ हासिल की जा सकती है।

इससे यह निर्गत होता है कि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य शिक्षार्थियो की मूल्य-भावना का विकास होना चाहिए, अर्थात् उनमें यह योग्यता उत्पन्न करने की कोशिश की कि वे चिन्तन, सवेदना तथा कर्म के उच्चतर एव निम्नतर रूपो को एक-दूसरे से अलग कर सके, और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को ऊँचा बना सके। अपने से ऊँचे तथा श्रेष्ठतर व्यक्तियो के प्रति आदर एव श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना भी शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। शिक्षार्थी लोग यह सीखें कि दूसरे मनुष्य स्वय अपने में साध्य हैं, उनके अपने हित-साधन का उपकरण मात्र नही है। जैसी कि लिन युताङ ने व्याख्या की है, 'कन्फ्यूशियस के अनुसार किसी सभ्यता के मूल्याकन का चरम मानदण्ड यह है क्या वह अच्छे पुत्र, अच्छे भाई, अच्छे पति, अच्छे मित्र और ऐसे अच्छे व्यक्ति जिनमें सूक्ष्म कोमल संवेदना इतनी विकसित है कि वे किसी का दिल नहीं दुखायेंगे, उत्पन्न करती है?'[१०] शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये ऐसे व्यक्तियो, ऐसे पुत्रो, भाइयो, पतियो आदि को उत्पन्न करना। इसके अतिरिक्त शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिये ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना जिनमें मानव-जाति की श्रेष्ठतम प्रवृत्तियां, उसके सुन्दरतम सपने और महत्तम प्रेरणायें, सृजनात्मक जीवन-क्रिया में पुनरुन्मेष पायेंगी।

यह दृष्टिकोण दुनिया के कतिपय महानतम धर्म-शिक्षको, दार्शनिको तथा नीतिशास्त्रियो, मानववादियो तथा अमरग्रथवादियो (Classicists) के मन्तव्यो को प्रतिफलित करता है। इसके समर्थको या हामियो मे हम प्लेटो और अरस्तू, कन्फ्यूशियस, लाउत्से और बुद्ध, ईसा मसीह, कान्ट, गाधी और टॉल्स्टाय जैसे दर्जनो महापुरुषो की गणना कर सकते है। यह दृष्टिकोण इस बात पर गौरव देता है कि मनुष्य की महत्ता उसके 'होने' मे है, न कि उसमें जो उसके पास है, अथवा जो वह करता है, जब कि करने का अर्थ "भौतिक परिवेश को बदलना" हो।

प्रश्न है . क्या जीवन तथा शिक्षा से संबंधित इन विरोधी आदर्शों में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है ? क्या कोई ऐसा दृष्टिकोण हो सकता है जिसमें इन दोनों की सचाई का समावेश हो सके ? ऐसा ही प्रश्न वैयक्तिक श्रेय तथा सामाजिक श्रेय और सामान्य शिक्षा तथा विशेषीकरण की समस्याओं को लेकर भी उठाया जा सकता है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि मनुष्य जिन मूल्यो की सृष्टि करता है उन्हें दो वर्गों में समावेशित किया जा सकता है, अर्थात् सभ्यता और सस्कृति में। सभ्यता उस चीज को कहते हैं जो मनुष्य की निषेधात्मक स्वतन्त्रता, अर्थात् जरूरतो तथा अन्यायपूर्ण शासन से स्वतन्त्रता, का विस्तार करती है, और सस्कृति उन क्रियाओं का नाम है जिनके द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व प्रसार पाता और समृद्ध होता है। सभ्यता और संस्कृति दोनो का सरक्षण मनुष्य का ही काम है, जिन्हे हम सास्कृतिक क्रियाएँ कहते हैं, उनके अनुष्ठान के लिये सभ्यता का अधार आवश्यक है। इसलिये शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह छात्रो को सभ्यता तथा सस्कृति दोनो के सरक्षण तथा सवर्द्धन के लिये तैयार करे।

जैसा कि कहा जा चुका है सभ्यता दो प्रकार की प्रक्रियाओ का नाम है जिन्हें हम क्रमश· उत्पादन-तन्त्र और सस्था-बद्ध जीवन कह सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य को, इच्छा या अनिच्छा से, इन दोनो प्रक्रियाओ में भाग लेना पडता है। वस्तुओ के उत्पादक तथा उपभोक्ता की हैसियत से प्रत्येक मनुष्य का सम्बन्ध औद्योगिक दुनिया से बन जाता है। गाधीजी ने, आदर्श रूप में, यह प्रतिपादित किया था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने खानपान की दैनिक जरूरतों की पूर्ति के लिये शारीरिक श्रम करना चाहिए। किन्तु उनका यह प्रस्ताव ग्राह्य नही जान पडता, बात यह है कि आजकल विद्या के हरेक क्षेत्र में विशेषीकरण की अथवा विशेष ज्ञान की जरूरत है। उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये इतना आवकाश चाहिए कि शिक्षार्थी खेत या कारखाने में काम करने के लिये समय नही पा सकता। आधुनिक सभ्यता को कायम रखने और चलाने का कार्य बडा जटिल है, और उसके लिये भौतिकशास्त्र, गणित, रसायनशास्त्र, इजीनियरिंग, शरीर-शास्त्र आदि की विस्तृत जानकारी चाहिए जो कि पर्याप्त समय तथा शक्ति का व्यय किये बिना नही हो सकती। आज ज्ञान के क्षेत्र में इतना विस्तार हो गया है किसी एक विषय के सम्पूर्ण अगो की जानकारी भी कठिन हो गयी है, अनेक विषयो की जानकारी की तो चर्चा ही क्या है। आज की सभ्यता विशेषज्ञो के बिना नही चल सकती।

किन्तु इन विशेषज्ञों के ज्ञान से मानवजाति तभी लाभ उठा सकती है जब वे उसके हित के लिये परस्पर सहयोग करें।

मतलब यह कि आज की दुनिया मे विशेष ज्ञान अथवा विशेषीकरण (Specialization) नितान्त आवश्यक है। किन्तु इसके साथ यह भी जरूरी है विभिन्न विशेषज्ञो मे सामाजिक-राजनैतिक जिम्मेदारी तथा सहयोग की भावना हो। उन सब को यह समझना चाहिए कि ज्ञान, अन्तत., मनुष्य के सुख तथा प्रगति के लिये है। मनुष्य के सुख को महत्व देने का अर्थ है मानव व्यक्तित्व मे निहित मूल्यो की अवगति। इसका मतलब यह हुआ कि वैज्ञानिक विशेषज्ञ को भी ऐसी शिक्षा की जरूरत है जिसके द्वारा वह मूल्य-जगत मे प्रवेश कर सके। उसे यह जानना चाहिए कि जहाँ "जो है" का ज्ञान आवश्यक है, वहाँ यह जानना भी कम जरूरी नही है कि कौन-सी चीजे मूल्यवान तथा वाछनीय है। यह दूसरी कोटि का ज्ञान कुछ तो आन्तरिक आत्मानुभूति से मिलता है, और कुछ मानवीय विद्याओ द्वारा सुशिक्षित कल्पना-शक्ति से।

मूल्य-जगत में प्रवेश से हमारा क्या तात्पर्य है? वैज्ञानिक वस्तुओ का अध्ययन करते समय उनके तथ्यात्मक पहलू का ध्यान करता है, वह समझना चाहता है कि कोई चीज है क्या, वह यह जानने की कोशिश नही करता कि उस चीज में किस प्रकार के मूल्य निहित हैं। विभिन्न विज्ञान यह जानना चाहते हैं कि कैसे वस्तुएँ अस्तित्व में आती है, कैसे एक वस्तु दूसरी वस्तु को उत्पन्न करती है, और कैसे विभिन्न वस्तुएँ अथवा घटनाएँ एक-दूसरे को जन्म देती हैं। विभिन्न परिवर्तनीय वस्तुएँ किस प्रकार एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए आपस मे सम्बद्ध होती है, इसे सही, मात्रा-निर्देशिनी भाषा में प्रकट करना विज्ञान का लक्ष्य है। और जब कि हम उन वस्तुओं तथा घटनाओ का प्रथम अन्वेषण करते हैं जो कि गति-रूप में घटित होती रहती हैं, उस समय हमारे सामने मूल्यो का प्रश्न उठता ही नही।

वह प्रश्न तब उठता है जब हम विभिन्न घटनाओ तथा कर्मो को मानवीय प्रयोजनों की अपेक्षा मे देखते हैं। वैज्ञानिक यह अहकारपूर्ण दावा करता है कि उसकी खास पद्धतियो द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान महत्वपूर्ण होता है। जब वह यह कहता है तो सामान्यतया यह सकेत देता है कि वैज्ञानिक जानकारी मनुष्य के लिये उपयोगी है। वायुयान, रेडियो, सिनेमा आदि विज्ञान की उपलब्धियाँ कही जाती है, किन्तु वे उपलब्धियाँ इसलिये है कि मनुष्य के लिये उपयोगी हैं। निष्कर्ष यह कि साइन्स या

विज्ञान को स्वयं अपने महत्त्व के मण्डन के लिये यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य और उसके प्रयोजन महत्वपूर्ण हैं।

यहाँ एक ज्यादा समझदार वैज्ञानिक कह उठेगा . ओहो ! आप की बात ठीक है; किन्तु विज्ञान का मूल्य केवल उपयोगिता मे नही। ज्ञान के रूप में भी विज्ञान का महत्व है, वैज्ञानिक अन्वेषण मे हम निरुपयोगी सौन्दर्यपूर्ण सामञ्जस्य की खोज करते हुए विश्व के तथ्यसमूह का अनुचिन्तन करते हैं। उत्तर मे हम कहेंगे कि शायद आप यह कहना चाहते हैं कि वैज्ञानिक अन्वेषण तथा चिन्तन, अज्ञात ढग से, स्वय उस व्यक्तित्व को महत्वशाली बना देता है जो अन्वेषण तथा चिन्तन कर रहा है। सम्भव है उक्त वैज्ञानिक इस मन्तव्य का विरोध करना चाहे। किन्तु हमारा विश्वास है कि वह विज्ञान के महत्व की कोई दूसरी व्याख्या नही दे सकेगा। विविध वस्तुएँ या तो साध्य-रूप मे महत्वपूर्ण होती हैं, अथवा साधन-रूप मे, अथवा दोनो रूपो मे। वायुयान अथवा रेडियो साधन-रूप मे मूल्यवान हैं। एक सुन्दर गीत द्वारा उत्पन्न किया गया मनोभाव स्वय अपना साध्य है और इस प्रकार मूल्यवान है। स्वास्थ्य तथा वैज्ञानिक जानकारी साध्य-रूप तथा साधन-रूप दोनो तरह से मूल्यवान है। शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्ति मे ऐसी योग्यताओ को उत्पन्न करना जिनके द्वारा वह विभिन्न मूल्यो की सृष्टि, सुरक्षा तथा उपभोग कर सके।

सबसे बडी बात यह है कि शिक्षार्थी मे मानव-व्यक्तित्व के प्रति वास्तविक स्नेह आदर तथा श्रद्धा का भाव उत्पन्न होना चाहिए, यह जानते हुए कि वह व्यक्तित्व असख्य मूल्यात्मक सवेदनाओ, अनेक प्रकार की प्रतीतियो तथा कर्मों का, आश्रय है। विश्व-ब्रह्माण्ड मे, हमारी दृष्टि से, कोई भी ऐसी मूल्यवान वस्तु नहीं है जो किसी-न-किसी रूप मे जीवधारियो, विशेषत मनुष्य के, सुख तथा आनन्द का साधन न होती हो। प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने कहा था कि 'ब्रह्माण्ड मे मनुष्य की सत्सकल्प-शक्ति (Good Will) को छोडकर कोई भी ऐसी वस्तु नही है जिसे निरपेक्ष रूप मे भला या शुभ कहा जा सके।' हमारी राय मे सकल्प-शक्ति के स्थान पर निम्न शब्द रख देने चाहिएँ "मूल्यो की सृष्टि मे लगा हुआ मानव व्यक्तित्व।" वैसा व्यक्तित्व ही विश्व-ब्रह्माण्ड की सबसे महत्वपूर्ण चीज है। प्रत्येक व्यक्तित्व स्वय अपना लक्ष्य अथवा साध्य होता है, एक व्यक्तित्व दूसरो के लिये रक्षणीय तथा साध्य बन जाता है, जब वह ऐसे अर्थवान अनुभवो की सृष्टि करता है जिनका उपभोग दूसरे लोग भी कर सके। किसी मनुष्य को यह अधिकार नही है कि दूसरो की उन क्रियाओ मे हस्तक्षेप

करे जिनके द्वारा वे अपने व्यक्तित्व को समृद्ध तथा सुखी बनाते हैं, वह हस्तक्षेप उसी दशा मे उचित हो सकता है जब वे क्रियाएँ दूसरो के समान प्रयत्नों मे बाधा डालने वाली हो।

हमारे कर्मों का सामान्य लक्ष्य है, सचेत जीवन अथवा अनुभूति के वांछनीय रूपो की सृष्टि और प्रोत्साहन; शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य है, शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास। यह बात वैज्ञानिक शिक्षा के बारे मे उतनी ही सही है, जितनी कि मानवीय विद्याओ के शिक्षण मे। यह विकास किस प्रकार होता है? उत्तर है, दुनिया के महान लोगो की बौद्धिक तथा आवेगात्मक प्रक्रियाओ मे साझेदार बनकर शिक्षार्थी अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इस वक्तव्य के स्पष्टीकरण की जरूरत है। पढते समय शिक्षार्थी से यह कहा जा सकता है कि उसके पठन-पाठन का लक्ष्य का परिवेश पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। उससे यह भी कहा जा सकता है कि उसकी शिक्षा का उद्देश्य उसमे वह योग्यता उत्पन्न करना है जिसके द्वारा वह आगे वैज्ञानिक सत्यो का अनुसधान कर सके। मतलब यह कि विद्यार्थी की रुचि को वैज्ञानिक अन्वेषण के उपयोगी पक्ष से भी सम्बद्ध किया जा सकता है, और उसके निरुपयोगी, सौन्दर्य-मूलक पक्ष से भी। उसके मन मे यह धारणा भी पैदा की जा सकती है कि साइन्स का महत्व प्रकृति पर विजय तथा शक्ति-सचय मे है, और यह धारणा भी कि वैज्ञानिक अन्वेषण एक आध्यात्मिक साधना है, जिसका उद्देश्य मनुष्य मे ब्रह्माण्ड की मननात्मक चेतना उत्पन्न करना है। ज्ञान के उपयोगी पक्ष पर एक-दूसरे प्रकार से भी गौरव दिया जा सकता है शिक्षार्थी से यह कहा जा सकता है कि परिश्रमपूर्वक पढने से उसका जीवन सफल, अर्थात् ससार की दृष्टि से समृद्ध, बन सकेगा। इसमे कोई हर्ज नही कि शिक्षक और विद्यार्थी शिक्षा के सभी विभिन्न लक्ष्यो को, अथवा उससे मिलने वाले लाभो को, सामने रक्खे, किन्तु विद्यार्थियो के जीवन पर शिक्षा का चरम प्रभाव क्या पडेगा, तथा राष्ट्र की सस्कृति की गुणात्मक विशेषताएँ क्या होगी, यह इस पर निर्भर करेगा कि शिक्षक-वर्ग शिक्षा के किस उद्देश्य पर अधिक गौरव देता है।

यहाँ एक कट्टर भौतिकवादी अधैर्य-पूर्वक कह उठेगा 'मानव व्यक्तित्व की महत्ता के नाम पर शायद आप यह कहना चाहते हैं कि भौतिक विज्ञान और हमारी भौतिक सभ्यता की देन विशेष महत्वपूर्ण नही है? वैज्ञानिक सभ्यता ने हमे जो चीजे दी हैं उनके महत्व को कम करके शायद आप यह सिखलाना चाहते हैं कि हम फिर प्राचीन वैराग्यवाद तथा परलोकवाद को अपना ले?' हम इन अभियोगो को स्वीकार नही

करते। जब हम मानव व्यक्तित्व के विकास तथा हित की बात करते है तो हमें उसके भौतिक एव आत्मिक दोनो पक्षो का ध्यान रखना चाहिए। हम स्वय केवल इतनी बात कहना चाहते हैं कि भौतिक सम्पत्ति तथा सामग्री स्वय अपने में महत्वपूर्ण नही होती, उनका महत्व मानव-व्यक्तित्व की अपेक्षा से ही है। इस सिद्धान्त का एक पहलू यह है कि समाज के एक हिस्से या वर्ग को यह अधिकार नही होना चाहिए कि वह दूसरे वर्ग या हिस्से को अपने हित-साधन का उपकरण मात्र बना डाले।

उक्त मान्यता का एक दूसरा पहलू भी है। मानव-व्यक्तित्व के विकास का यह अर्थ नही है कि हम अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियो को दबा डाले, या कुचल डाले, उसका मतलब सिर्फ यही है कि हम अपनी निम्नतर प्रवृत्तियो का इसलिये दमन अथवा नियन्त्रण करे कि हमारी उच्च प्रवृत्तियाँ ज्यादा विकसित हो सके। व्यक्तित्व का विकास एक गुणात्मक धारणा है। उसका यही अर्थ हो सकता है कि हम क्रमश निम्नतर तथा उच्चतर, घटिया और बढिया के, भेद को अधिकाधिक देखना सीखें, और उच्चतर चीजो को घटिया चीजो पर तरजीह दे। विवेकी मनु ने कहा है. 'न मास-भक्षण मे दोष है, न मदिरा मे, न मैथुन मे, ये सब मनुष्य की प्रवृत्तियाँ है, किन्तु उनसे निवृत्ति या बचाव बडा फल देनेवाला है।'[१] शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए विद्यार्थियो को उनकी बुद्धि तथा कल्पना के विकास द्वारा सोचने, महसूस करने और सकल्पो के उच्चतर रूपो से परिचित कराना जिससे वे स्वत ही निम्नतर रूपो के प्रति उदासीन बन जायँ, और इन्द्रियो से सुख-भोग मे सीमा का उल्लघन न करें।

हम यह नहीं कहते कि समृद्ध तथा सृजनशील जीवन मे इन्द्रियो के सुख-भोग के लिये उचित स्थान नही होना चाहिए। हम इसके पक्ष मे नही है कि इन्द्रियो को क्षुधित अवस्था मे रखा जाय, हमारा अनुमान है कि वैसी दशा मे मन और बुद्धि भी सतुलित ढग से काम नही कर सकते। व्यक्ति और समाज दोनो के जीवन मे त्याग तथा शारीरिक कष्ट-सहन पर ज्यादा गौरव देना हानिकर होता है; उस गौरव के फलस्वरूप एक प्रतिक्रिया होती है जो व्यक्ति तथा जाति को अमर्यादित इन्द्रिय-भोग की तरफ ले जाती है। फ्रायड ने कहा है कि जो चीज़ निषिद्ध है उसकी बलवती इच्छा होती है, जिस सुखभोग का निषेध किया जाता है उसके प्रति तीव्र आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ज्यादा सही नीति यह नही है कि युवको तथा युवतियो को इन्द्रियो के सुख-भोग से रोका जाय, सही नीति यह है कि उनमे उच्चतर कोटि के सुखो के प्रति आसक्ति पैदा कर दी जाय। शिक्षार्थियो को कला, साहित्य तथा विज्ञानो की शिक्षा इस प्रकार

देनी चाहिये कि उनके मन मे उन सब विषयों के लिये सच्ची रुचि पैदा हो जाय। सबसे बडी बात यह है कि शिक्षार्थियो मे ऐसी प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए कि वे, यह महसूस करते हुए कि हम विश्व-ब्रह्माण्ड के नागरिक है, उसके बारे मे बडे प्रश्न उठायें, और उन पर बहस करें।

यद्यपि हम इन्द्रिय-सुखो को निन्दित नही समझते, फिर भी हम कहेंगे कि आज के युग में शारीरिक सुखो मे जितनी अभिरुचि हो गई है, वह श्रेयस्कर नही है। इस स्थिति के दो कारण है। प्रथमत. मनुष्य की धार्मिक आस्थाएँ विघटित हो गई है, जिसके फलस्वरूप वह अपने को इस दुनिया की चीजो मे भुला देना चाहता है। दूसरे, विज्ञान ने सुख-भोग की इतनी सामग्री प्रस्तुत कर दी है कि वह मनुष्य के अवधान के अधिकाश को घेर लेती है। यह भी कहा जा सकता है कि मध्य युग मे जो जीवन-निषेध पर विशेष गौरव दिया गया, उसके विरोध मे अब प्रतिक्रिया हो रही है। इस प्रतिक्रिया को लाने मे, योरपीय पुनर्जागृति के युग मे, मानववाद का भी हाथ रहा था। बाद मे धार्मिक सुधार (Reformation) तथा बुद्धिवाद (Rationalism) ने ऐहलौकिकता को पुष्ट किया।[2] कारण कुछ भी हो, पर इसमें सन्देह नही कि "भौतिक" तथा "शारीरिक" मे बढी हुई आसक्ति मानव-जीवन की सृजनात्मक प्रवृत्तियो के लिये खतरनाक और उसे नीचे की ओर ले जानेवाली है।

बढी हुई भौतिकता तथा शरीरोपासना किस प्रकार सास्कृतिक जीवन को क्षति पहुँचाती और उसे नीचे ले जाती है, इसका विश्लेषण अपेक्षित है। मनुष्य की सृजन-वृत्ति की दो दिशाएँ है, बाहरी और भीतरी। उसकी बाह्य गति भौतिक परिवेश को परिवर्तित करती है, और आन्तरिक गति मानव-जीवन के आदर्श रूपो के चित्र खडे करती है। भौतिक परिवेश में किए जानेवाले परिवर्तन, और समाजिक परिवेश के परिवर्तन भी, दीखनेवाली चीजे है, उस दिशा मे मनुष्य की जो प्रगति होती है वह चरम चक्षुओ को प्रत्यक्ष रहती ह। किन्तु मनुष्य के आन्तरिक जीवन मे होनेवाले परिवर्तन इन्द्रियग्राह्य नही होते, वे परिवर्तन पूर्णतया प्रतीको के माध्यम से घटित होते है, और अपने को विचार-पद्धतियो, कलाकृतियो आदि के रूप मे व्यक्त करते है। ये दोनो प्रकार की सृजन-क्रियाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती है। आत्मिक सृष्टि के धरातल पर हमारी सृजन-क्रिया रहस्यमय मूल्यो, अथवा रहस्यमय रूप में मूल्यवान् अनुभूतियो, को प्रक्षिप्त करती है। आइन्स्टाइन ने कहा है 'सबसे सुन्दर चीज जिसका हम अनुभव कर सकते है, रहस्य अथवा रहस्यात्मक है। यह रहस्य-

तत्व समस्त कलाओं तथा विज्ञान का स्रोत है।"[13] इसमें हम जोड़ेंगे अनुभूत रहस्य तत्व सदैव अवर्णनीय तथा अपरिमित मूल्य या अर्थवत्ता का वाहक प्रतीत होता है। उच्चतम धरातल पर मनुष्य की सृजन-क्रिया आध्यात्मिक अथवा अलौकिक रूप धारण कर लेती है। उस सृजनात्मक स्फुरण का यह फल होता है कि मनुष्य ससीम गोचर विश्व के प्रति उदासीनता तथा वैराग्य का अनुभव करने लगता है।

अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति अथवा "संस्कृति" पूर्णतया भौतिक तब बन सकती है जब वह उच्चतर धरातलो पर सृजनशील होना बन्द कर दे। यह उच्चतर धरातल दार्शनिक-आध्यात्मिक धरातल है। दीर्घकालीन मनन, श्रद्धा तथा वैराग्य-भावना अथवा उदासीनता की वृत्ति द्वारा मनुष्य उन धरातलो पर पहुँचता है। चूंकि सृजनशीलता मनुष्य का स्वभाव है, इसलिये वह तब तक सुखी नही हो सकता जब तक वह सृजन-व्यापार मे न्यूनाधिक अनवरत न लगा रहे।

आज के मनुष्य का जीवन शून्य जान पडता है, उसका मूल कारण यह है कि उसने उच्चतर धरातलो पर सृजनशील होना बन्द या कम कर दिया है, और वह इन्द्रिय-सुखो की ओर दौडता रहता है। इन्द्रिय-भोग पाप हो या नही (कोई भी चीज पाप होती है अथवा नही), फिर भी यह निश्चित है कि शारीरिक सुख-भोगो में फँसकर मनुष्य जीवन की श्रेष्ठतम सम्भावनाओ की उपलब्धि नही कर सकता। कहा गया है कि जो सुख के पीछे भागते है, वे सुखी नही हो पाते। यह सौख्यवाद (Hedonism) का विरोधाभास है। सुख के पीछे पडे रहने से न तो तृप्ति ही मिलती है, और न जीवन-क्रिया ही वेगवान् हो पाती है। इसके विपरीत सुखान्वेषी शीघ्र सुख-भोगो से ऊब महसूस करने लगता है। कैंटेल नामक लेखक का कथन है कि आज के मनुष्य का जीवन असन्तुलित है, और उसका एक प्रमाण यह है कि आज का मनुष्य 'सुख-भोग की खोज मे प्राय उन्मत्त हो रहा है।' 'पिछले युद्ध के बाद ऐसा समझा गया था कि शारीरिक सुख-भोग, वेगपूर्ण यात्रा, सुरा-भोजो आदि के प्रति बढती हुई आसक्ति, महायुद्ध की प्रतिक्रिया थी, किन्तु इतनी सख्या मे लोगो का सुख भोग में ससक्त होना एक पुरानी बीमारी-सी जान पडती है।'[14] किसी भी सुखी युग में थोडे से लोगो मे भी ऐसी प्रवृत्ति मुश्किल से पाई जाती है। कैंटेल के विचार में शारीरिक सुख-भोग की ओर बढी हुई इस लालसा का कारण यह है कि मनुष्य उस बडे आनन्द के स्रोतो से विच्छिन्न हो गया है जो एक प्रयोजनपूर्ण जीवन-दर्शन की परिधि मे रहते हुए उपलब्ध हो सकता है।[15]

हमारा विश्वास है कि इस प्रकार का जीवन-दर्शन तब तक प्राप्त नही हो सकता जब तक हम अपनी नैसर्गिक मूल्य-प्रतीतियो पर विश्वास करना न सीखे। अवश्य ही यह मूल्य-चेतना आलोचनात्मक होनी चाहिए, अवश्रद्धा पर आधारित नही। "आलोचनात्मक" से हमारा तात्पर्य यह है कि हम विभिन्न व्यक्तियो तथा समूहो की मूल्यानुभूतियो पर तुलनात्मक दृष्टि डाले, और उनके बीच समन्वय स्थापित करने की कोशिश करे। वस्तुत- हमारे विचार मे मूल्यो का अनुचिन्तन आत्म-चिन्तन का ही एक रूप है, क्योकि वे चरम मूल्य, जो सब प्रकार के मूल्यांकन का आधार है, अन्तत. हमारे अपने अस्तित्व का ही वास्तविक या कल्पित रूप है। जीवन के उन चरम मूल्यो को हम इतने अन्तरग ढग से जानते है कि उनके बारे मे यह कथन ठीक है कि वे 'जाने नही जाते, अपितु पहिचाने जाते है।'[१६]

जीवन की गहरी तृप्तियो अथवा आनन्दो का सम्बन्ध उन लक्ष्यो तथा वस्तुओ से होता है जिनमे हमारे लिये रहस्यपूर्ण आकर्पण रहता है। उदाहरण के लिये हमे वैसा आकर्पण उस व्यक्ति मे मिलता है जिसे हम प्रेम करने लगते है। प्रेमपात्र की भौतिक, ऐन्द्रिय तथा आत्मिक क्रियाएँ, जिन्हे पकडकर हम आत्मसात् कर लेना चाहते है, रहस्यमय ढग से अर्थवती जान पडती है, और ऐसा आभासित होता है कि उनका सम्पर्क हमे अपूर्व रहस्यमय आनन्द दे सकेगा। इस प्रकार का आनन्द उन चीजो से कभी प्राप्त नही हो सकता जिनका मूल्य स्पष्ट तथा बुद्धिग्राह्य होता है, जैसा कि शक्ति, सम्पत्ति आदि साधनभूत पदार्थो का। साध्य-रूप मूल्य बुद्धि की पकड मे आने योग्य नही होते, वे स्वय मे अपने लक्ष्य होते है और एक रहस्य मे लिपटे हुए-से प्रतीत होते है। स्वास्थ्य-जैसे स्पष्ट साध्य का आकर्षण भी रहस्यमय होता है। सामान्यतः सुन्दर वस्तुओ, उच्च कोटि के नैतिक कर्मो आदि के द्वारा हमारे मन मे जो भावना जगाई जाती है वह रहस्यमय होती है। जब एक बच्चा माँ से बाते करते हुए मुसकराता है, जब दो प्रेमी स्नेहपूर्वक एक-दूसरे को निहारते है, चाँदनी रात मे जब एक झरना अपनी रजतच्छटा बिखेरता है, तब, उन्हे देखकर, हमारे मन मे एक ऐसे आकर्पण का अनुभव होता है जिसके मूल्य तथा महत्व का हिसाब नही लगाया जा सकता। हमारे जीवन की सार्थकता एक ऐसे आदर्श के लिये प्रयत्न करने मे है जो हमारी नैतिक तथा सौन्दर्य-मूलक प्रतीति, एव रहस्यात्मक भावनाओ को, एकता मे पिरोता दिखाई दे।

हम यह नही मानते कि जीवन की चरम सार्थकता की भावना का ईश्वर तथा

परलोक-सम्बन्धी आस्था से आवश्यक लगाव है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म ने भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या को प्रभावित किया, यद्यपि उसका ईश्वर तथा परलोक मे विश्वास नही था। हिन्दू दार्शनिक ईश्वर तथा आत्मा को मानते हैं, किन्तु उन्होने भी स्वीकार किया है कि जीवन के चरम साध्य अर्थात् मोक्ष का अनुभव इसी जीवन मे किया जा सकता है। जीवन्मुक्ति की धारणा का यही अभिप्राय है कि मनुष्य जीते-जी मुक्ति की अवस्था का अनुभव कर सकता है। अनन्त मूल्यवत्ता का अधिष्ठान होते हुए भी मुक्ति की अवस्था इसी जन्म मे सुलभ हो सकती है। यूनानी विचारक आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को नही मानते थे। उन्होने यह भी नही माना कि मनुष्य के चरम सुख का सम्बन्ध ईश्वर की उपासना अथवा अनुग्रह से है। अरस्तू का विचार था कि सुखी जीवन नैतिक जीवन है, सुख को नैतिक उच्चता के जीवन (Virtuous Living) से अलग नही किया जा सकता। उसके अनुसार उच्चतम जीवन दार्शनिक चिन्तन तथा मनन का जीवन है, और यह जीवन इस धरती से विच्छिन्न नही है।[१७]

## व्यक्ति, समाज और राज्य

अब हम एक दूसरी समस्या पर विचार करेंगे। हमारी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए ? किस व्यवस्था मे नागरिको के सांस्कृतिक व्यक्तित्व विकसित होते रह सकते है ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, क्योंकि कोई भी शिक्षक अपने विद्यार्थियो में उन आदर्शों की प्रतिष्ठा नही कर सकता जिनका समाज की मान्यताओ से विरोध है। सच यह है कि अधिकांश समाजो में शिक्षक को यह स्वतन्त्रता ही नही दी जायगी कि वह विद्यार्थियो को ऐसे आदर्शों की शिक्षा दे जो समाज तथा राज्य को ग्राह्य नही हैं। दूसरे, समाज जिन मूल्यो को मानता है उनकी उपेक्षा करना शिक्षक के लिये सहल नही है। उदाहरण के लिये पूँजीवादी समाज प्रतियोगिता पर आधारित है, इस समाज में किसी शिक्षक के लिये यह सहज सम्भव नही है कि वह धनोपार्जन के प्रति उदासीन रहे। भले ही वह अपने लिये धन-सम्पत्ति न चाहे, किन्तु अपने बच्चो के लिए उन्हे चाह सकता है। बिना धन के बच्चो को उच्च शिक्षा भी नही दिलाई जा सकती। उनके भविष्य को अच्छा बनाने के लिये धन की अपेक्षा होती है। निष्कर्ष यह कि शिक्षा में प्रतिफलित आदर्शों का विशिष्ट समाज मे प्रचलित मूल्यो तथा सामाजिक जीवन की जरूरतो से आवश्यक लगाव होता है।

एक शिक्षा-सम्बन्धी विचारक के लिये यह अवश्य ही सम्भव है कि वह समाज

की पूर्ण उपेक्षा करके शिक्षा के आदर्शों की कल्पना करे। किन्तु समाज की शिक्षा-पद्धति मे उन आदर्शों की तब तक प्रतिष्ठा नही हो सकती जब तक उन्हे राज्य की सहायता न मिले। प्लेटो का विचार था कि आदर्श राज्य की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक हमारे शासक आदर्श पुरुष न हो। बिना शक्ति के भले मनुष्य भी समाज मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न नही कर सकते,जब कि वह शासक जो भला नही है, उन भले लोगो की अच्छी-से-अच्छी योजनाओ को व्यर्थ कर सकता है।

अराजकतावादियो के विचार मे राज्य को इतना महत्व देना समीचीन नही है। वे चाहते है कि राज्य अथवा सरकार नाम की सस्था को एकदम ही खत्म कर दिया जाय। इसी प्रकार साम्यवादियो का खयाल है कि समाजवाद की सार्वभौम स्थापना के बाद राज्य नाम की सस्था तिरोहित हो जायगी। किन्तु मौजूदा स्थिति को देखते हुए यह समझ मे नही आता कि अधिकारियो अथवा उन वर्गो की इच्छा के बिना, जो राज्य-शक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहे है, राज्य या सरकार को कैसे हटाया जा सकता है। आज विज्ञान ने बड़े भयकर अस्त्र-शस्त्र निर्मित कर दिये है, उन अस्त्र-शस्त्रो के कारण आज की सरकारे इतनी शक्तिवान हो गई है कि उन्हे जनता के विद्रोह द्वारा खत्म करना असम्भव हो गया है। इसलिए जब तक दुनिया की विशेष शक्तिशाली सरकारे छोटे राज्यो को, और बाद मे स्वय अपने को, खत्म न कर देना चाहे, तब तक इसकी कोई सम्भावना नही है कि दुनिया से "राज्य" नाम की सस्था का लोप हो सकेगा। जहाँ तक इतिहास की साक्षी का प्रश्न है, वह निश्चित रूप मे यह बतलाता है कि राज्य नाम की सस्था लगातार विद्यमान रही है। इसलिये हमे राज्य के तिरोभाव पर निर्भर न करके, यह पूछना चाहिए कि किस प्रकार के राज्य मे, किस प्रकार के शासन-विधान मे. उन आदर्शों की उपलब्धि हो सकती है जिनका वर्णन हमने शिक्षा के प्रकरण मे किया है।

राज्य का स्वरूप और उसका कार्य क्या है, और राज्य वाछनीय है या नही, इस सम्बन्ध मे विभिन्न, यहाँ तक कि विरोधी, विचार तथा मनोभाव पाये जाते है। राजनीति-दर्शन के पडित यह अनवरत कोशिश करते आये है कि राज्य के लक्ष्य तथा प्रयोजन की ठीक-ठीक व्याख्या करे, और उन मानदण्डो का निरूपण करे जिनके द्वारा यह जाँचा जा सके कि कोई राज्य ठीक ढग से कार्य कर रहा है, या नही। प्लेटो और अरस्तू, टॉमस हाब्ज, जॉन लाक, रूसो और हीगल जैसे भिन्न मतों वाले विचारक इस बात मे सहमत है कि राज्य की सस्था बडी जरूरी है, जिसके बिना हमारा काम

नही चल सकता। अरस्तू कहता है . 'जहाँ सारी सस्थाएँ श्रेय अथवा भलाई को लक्ष्य बनाती है, वहाँ सबसे बडी सस्था अर्थात् राज्द का, जिसमे शेष सब समुदाय समावेशित है, लक्ष्य सर्वोच्च श्रेय को सर्वाधिक मात्रा मे उत्पन्न करना है।'[१८] भौतिकवादी हाब्स का कथन है कि 'मनुष्य मे लगातार शक्ति को पाने की अभिलाषा रहती है, जो कि मृत्यु के साथ ही समाप्त होती है।'[१९] इस शक्तिलिप्सा पर नियन्त्रण करने के लिये राज्य की आवश्यकता है। राज्य के बिना सभ्य जीवन सम्भव नही है। अरस्तू और हाब्स दोनो से आगे बढकर हीगल कहता है कि 'राज्य निरपेक्ष बुद्धितत्व है, वह दैवी शक्ति है जो स्वय ही अपने ज्ञान तथा सकल्प का विषय है, राज्य आत्मा का आन्तरिक तत्व है, वह दुनिया के बीच ईश्वर का सचार है।'[२०]

उक्त विचारको से दूसरे ध्रुव पर साम्यवादी तथा अराजकतावादी है जिनके विचार मे राज्य का अस्तित्व सारी बुराइयो की जड है। उदाहरण के लिये साम्यवादियो के अनुसार राज्य एक वर्ग की सत्ता तथा प्रभुत्व का प्रतीक होता है। वर्ग-भेद के लोप के साथ राज्य का भी लोप हो जायगा। साम्यवादी तथा अराजकतावादी निजी सम्पत्ति के भी विरोधी है। बाकुनिन का विचार है कि 'निजी सम्पत्ति राज्य नाम की सस्था का कारण भी है, और उसका परिणाम भी, वह सब प्रकार की भौतिक तथा नैतिक बुराइयो को उत्पन्न करती है।'[२१] क्रोपाटकिन के मत मे राज्य के अस्तित्व के मडन मे कोई ऐतिहासिक युक्ति नही दी जा सकती, इतिहास यह सिद्ध करता है कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक सहयोग-मूलक प्रवृत्तियो का विरोधी है।[२२]

राज्य-सम्बन्धी इन विरोधी वक्तव्यो को कैसे समझा जाय, और कैसे उनमे सामजस्य स्थापित किया जाय? हमारी समझ मे मुख्य तथ्य निम्न है। प्रथमत इसमे सन्देह नही किया जा सकता कि कुछ बातो मे राज्य राष्ट्र के सब सदस्यो को लाभ पहुँचाता है। राज्य-शक्ति कानून तथा शान्ति की स्थापना करती है, और बाहर के आक्रमणो से लोगो को सुरक्षित रखती है। इस सुरक्षा के वातावरण मे नागरिक लोग स्वच्छन्दतापूर्वक अपने-अपने कार्यो मे लगे रहते है और उन प्रयोजनों की पूर्ति करते है जिनका दूसरो की स्वतन्त्रता तथा शान्ति से विरोध नही है। जैसा कि प्रो० लास्की ने लिखा है "राज्य के साथ सुरक्षा आती है और सुरक्षा के आधार पर लोग अपनी जरूरतो की पूर्ति शान्तिपूर्वक कर पाते है।[२३] जिन तृप्तियो की मनुष्य खोज करता है वे भौतिक भी है, और आत्मिक भी। मनुष्य केवल भौतिक सामग्री की ही कामना नही करता और केवल उन्ही के उत्पादन में नही लगा रहता, वह दूसरे मनुष्यों

के साथ मिलकर सास्कृतिक क्रियाएँ भी करना चाहता है। जहाँ समाज विभिन्न वर्गो मे बँटा होता है और राज्य कुछ वर्गो के हितो का सरक्षण करता है, वहाँ भी विशुद्ध सास्कृतिक क्रियाओ द्वारा राष्ट्र के सभी नागरिक लाभान्वित होते है।

दूसरी ओर यह भी सत्य है कि राज्य-शक्ति प्राय कुछ वर्गो तथा व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित हो जाती है। इसके दो मुख्य कारण है। प्रथमत , हर समाज मे कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जो ज्यादा चतुर, साहसी तथा मनोबल वाले रहते हैं, ऐसे लोग क्रमश. दूसरो को अपना अनुगत बना लेते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति धीरे-धीरे शक्ति-शाली बन जाते हैं। लेकिन शक्ति-सम्पन्न बनने के लिये व्यक्ति को दूसरो की सहायता अथवा उदासीनता की जरूरत होती है। कोई भी व्यक्ति तब तक शक्तिशाली नही बना रह सकता जब तक कि उसे अनेक दूसरे सक्रिय लोगो का सहयोग तथा प्रभावशाली लोगो की सहायता प्राप्त न हो। सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव प्राय सम्पत्तिवानो के पास रहता है, इसलिये अक्सर राज्य अथवा राज्य के कर्मचारी सम्पत्तिशाली लोगो के सहकारी बन जाते हैं। किन्तु जहाँ धन तथा प्रभाव का गठबन्धन नही होता, जैसा कि आज के रूस में है और जैसा कि हिटलर की जर्मनी मे था, वहाँ राज्य के शक्तिशाली कर्मचारी धनवान लोगो की उतनी परवाह नही करते। वे उन नेताओ को प्रसन्न करने की कोशिश करते हैं जिनका दलो पर प्रभाव होता है। साथ ही यह भी सही है कि कोई भी सरकार जनता के एक बडे भाग को रुष्ट करके सुरक्षित नही रह सकती। जहाँ सम्पत्ति का महत्व है, वहाँ जनसख्या भी महत्वशून्य नही है। थोड से अमीर लोग, जिनका सैनिक शक्ति पर अधिकार है, कुछ दिनो तक अवश्य ही बहुमत की उपेक्षा करते रह सकते हैं। किन्तु यह उपेक्षा बहुत दिनो तक सम्भव नही है। इसीलिये किसी सरकार की ऐसी स्थिति वाछनीय नही समझी जाती, और विभिन्न सरकारे प्राय यह कोशिश करती हैं कि उनके शासन को वैधानिक रूप प्राप्त हो जाय। केवल शक्ति से सरकार की स्थापना नही हो सकती। जैसा कि रूसो ने कहा है "शक्ति अधिकार उत्पन्न नही करती, बडे से बड़ा शक्तिशाली इतना शक्तिमान नही होता कि सदैव मालिक बना रहे, जब तक कि वह अपनी शक्ति को वैधानिक अधिकार मे परिवर्तित न कर दे।"[२४] इस परिवर्तन को उत्पन्न करने के लिये विभिन्न सरकारे विभिन्न विचार-पद्धतियो (Ideologies) को प्रचारित करती हैं। सरकार विभिन्न वर्गो के लोगो के प्रति भिन्नतामूलक व्यवहार करती है, उस व्यवहार को वैधानिक रूप देने के लिये उसे कुछ कारण बताने पडते है। ये कारण अथवा युक्तियाँ

ऐसी होनी चाहिएँ कि उन्हे अधिकाश जनता स्वीकार कर ले। मतलब यह कि सरकार जिस विचार-सरणि को मानती है, उसे सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत होना चाहिए, ताकि ऐसा जान पडे कि वह विचार-पद्धति समस्त जनता की चीज है। इसका एक मतलब यह भी है कि किसी सरकार द्वारा स्वीकृत विचार-पद्धति केवल एक वर्ग की वस्तु नही होनी चाहिए। अन्यथा राज्य की सरकार उन वर्गो पर जो उस विचार-सरणि को स्वीकार नही करते नग्न अर्थात् पशु शक्ति (Naked Power) का प्रयोग कर रही होगी। एक विचार-पद्धति को हम जनता की चीज कहते है उस दशा मे जब उसे अधिकांश लोग मानते हो, और जब उसकी विरोधी किसी दूसरी विचार-पद्धति का प्रचार न हो रहा हो। विचार-सरणि की सृष्टि तथा प्रचार किसी के द्वारा क्यो न हो, यदि जनता उसे स्वीकार करती है तो वह जनता की विचार-पद्धति कहलायेगी। विचार-पद्धतियो का निर्माण प्राय किसी देश के बुद्धिजीवियो तथा विचारको द्वारा किया जाता है, न कि सरकारो द्वारा। किन्तु सरकारे अथवा राज्य उन विचार-पद्धतियो को बढावा देती है जो शासक-वर्ग के लिये हितकर होती है। किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि शासक-वर्गो के हितो का विरोध करनेवाली, और शोषितो के लिये हितकर, विचार-पद्धतियाँ शोषित वर्ग के बुद्धिजीवियो द्वारा ही निर्मित्त हो सकती है। अक्सर ऐसा होता है कि शोषितो को लाभ पहुँचाने वाली विचार-पद्धतियाँ उन विचारको द्वारा निर्मित तथा प्रचारित होती है जिनका उन शोषित वर्गो से कोई खास सम्बन्ध नही है। नई विचार-पद्धतियो के जन्म का कम-से-कम आशिक कारण यह भी होता है कि सामाजिक परिवेश मे कुछ नई शक्तियाँ उत्पन्न हो चुकी होती है, और वे शक्तियाँ एक ज्यादा न्यायपूर्ण तथा सुखकर व्यवस्था की ओर सकेत करती हैं। ऐसी दशा में नयी विचार-सरणि मे एक प्रकार का नैतिक आकर्षण दिखाई देने लगता है, जिसके कारण वह लोकप्रिय अथवा प्रसिद्ध होने लगती है। समाजवाद नाम की विचार-सरणि का, जिसका प्रचार मार्क्स तथा दूसरे चिन्तकों ने किया, इतिहास ऊपर के मन्तव्य का सबसे बडा प्रमाण है। आधुनिक समाजवाद के प्रवर्त्तक मुख्यत तीन व्यक्ति है: फर्डिनैण्ड लसाले, कार्लमार्क्स तथा फ्रेडरिक एगेल्स। उनमे से कोई भी श्रमिक वर्ग का व्यक्ति न था। फिर भी यदि, सन् १८८३ ई० मे मार्क्स की मृत्यु हो जाने के बाद, प्राय तीस वर्ष तक जो योरप मे समाजवाद का व्यापक प्रचार हुआ, उसका कारण यह नही था कि समाजवादी विचार-सरणि को योरप के शासको ने स्वीकार कर लिया, बल्कि यह कि उस सिद्धान्त में एक नैतिक आकर्षण था, और उसने समकालीन शासन-प्रणालियो को एक नैतिक

चुनौती दी। इन तीस वर्षों को ध्यान मे रखते हुए यह नही कहा जा सकता—जैसा कि मार्क्सवादियो का विचार है—कि 'किसी युग मे सब से प्रभावशाली विचार शासको के विचार होते हैं।'

तथापि, बीसवी सदी में प्रतिष्ठित होनेवाली तानाशाही सरकारो का इतिहास यह सकेत करता है कि राज्यो के शासक अच्छी-से-अच्छी विचार-सरणियो को दवा सकते हैं। आज विज्ञान ने शासको के हाथ मे भयकर भौतिक शक्ति दे दी है। शासक लोग हजार ढग से जनता के मस्तिष्क को प्रभावित कर सकते हैं, और वे नितान्त निर्दय उपायो का अवलम्ब लेते हुए विद्रोही विचारको को समाप्त कर सकते हैं। आज के युग मे सचमुच ऐसा जान पडता है कि बेचारे नागरिक, विशेषतया शक्तिमान राष्ट्रो और उनके पीछे चलने वाले देशो के नागरिक, शक्तिशाली शासको के सामने प्राय. असहाय हैं।

यह देखते हुए कि राज्य अपनी शक्ति का काफी दुरुपयोग कर सकता है, अराजकतावादी विचारक यह सलाह देते हैं कि राज्य नाम की सस्था को नष्ट कर देना चाहिए। किन्तु प्रश्न यह है कि उस सस्था का विनाश, और विनाश सभव न होने पर उसकी शक्तियो का सकोचन, किस प्रकार किया जाय? राज्य पर इस प्रकार का दवाव कौन डाल सकता है कि वह अपनी शक्तियो को कम करे, और अपने कार्य के क्षेत्र को सकुचित करे? ससार के सव शासको की चिन्ता का मुख्य विषय यह होता है कि कैसे वे अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करें और फिर उसे कायम रक्खे, वे शासक अपनी शक्तियो को स्वेच्छा से खत्म करने को कैसे तैयार होंगे? उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में, और इस प्रश्न के भी कि कैसे राज्य द्वारा शिक्षा की एक खास नीति को स्वीकृत कराया जाय, हमें कहना है कि राज्य अथवा सरकार उस प्रकार के कानूनो का निर्माण तभी कर सकती है जव उस पर, वैसा करने के लिये, जनता की ओर से जोर पडे। किन्तु जनता के दवाव की चिन्ता राज्य को तब होगी जब उसकी सत्ता जनता की इच्छा पर निर्भर हो। इसका मतलव यह हुआ कि एक जनतत्रात्मक राज्य में ही जनता का दवाव सरकार की नीति को प्रभावित कर सकता है, और वैसे ही राज्य मे सरकार ऐसे कानून वना सकती है जिनके द्वारा उसकी शक्तियाँ कम हो जायें। इस जनतंत्री तरीके के अतिरिक्त दूसरा मार्ग विद्रोह या क्रान्ति का है। लेकिन अणुवम के इस युग मे जनता के विद्रोह को दवा देना किसी भी सरकार के लिये वाये हाथ का खेल हो गया है।

कहा गया है कि 'राज्य या सरकार वह पद्धति है जिसके द्वारा जनता की बाध्य करने की शक्ति को सगठित किया जाता है।'[१] एक जनतन्त्रात्मक राज्य मे जनता की सामूहिक विवेक-बुद्धि का भी सगठन हो सकना चाहिए। विचारशील नेताओं के दबाव से सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन किया जा सकता है, और लोगो मे यह भावना फैलाई जा सकती है कि कि धन तथा शक्ति का अन्वेषण उतना श्लाघ्य नही है, और यह कि नैतिक, बौद्धिक तथा सौन्दर्यमूलक सवेदना का विकास ज्यादा वाछनीय चीजे हैं। एक जनतत्र मे ही यह सम्भव है कि इस प्रकार की विचार-पद्धति का प्रचार किया जाय, क्योंकि तानाशाही शासक मुख्यत शक्ति के पुजारी होते है, वे अपने सहयोगियो तथा अनुयायियो की ही बात मान सकते हैं, विचारशील चिन्तकों की नही, विशेषत ऐसे चिन्तको की जो राजनीति से अलग रहते हैं और इसलिये शासको के लिये उपयोगी नही होते। किन्तु एक जनतत्र में यह सम्भव है कि ऐसे लोग जो सचमुच विचारशील और सुसस्कृत हैं, विधान-सभाओ मे चुनकर भेजे जायें। विधान-सभाओ में न जा सकने पर भी वे लोग स्वेच्छापूर्वक जनता के मस्तिष्क का निर्माण कर सकते हैं, और इस प्रकार जनता के माध्यम से सरकार पर प्रभाव डाल सकते हैं। किन्तु तानाशाही राज्यो मे चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नही होती, और इसकी कोई आशा नही हो सकती कि विचारशील नेताओ के माध्यम से देश की विवेक-शक्ति अपने को प्रभावशाली बनाकर चरितार्थ कर सकेगी।

## जनतंत्र और समाजवाद

मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त कि समस्त सरकारें विशेष वर्गो की सरकारें होती हैं, सही नही हैं। ससार के जनतत्रो का इतिहास उसके विरुद्ध पडता हैं। यह लक्षित किया गया है कि दलगत वफादारी वर्गगत वफादारी का अतिक्रमण कर जाती है।[२] मतलब यह कि लोग अपने राजनैतिक दल की चिन्ता करते हुए वर्ग की वफादारी का परित्याग कर देते हैं। उदाहरण के लिये इगलैण्ड मे वामपक्षी दलो के सदस्य केवल श्रमिक लोग ही नही होते, श्रमिको के नेता अक्सर दूसरे वर्गो के होते हैं। इसी प्रकार दक्षिणपथी दलो मे भी विभिन्न वर्गो के सदस्य रहते हैं। मैकाइवर ने लिखा है कि 'जहाँ-जहाँ जनतत्र की विजय हुई वहाँ-वहाँ दल और वर्ग का तादात्म्य खत्म हो गया।'[३] स्वय हमारे देश मे काग्रेस, प्रजासोशलिस्ट पार्टी, जनसघ आदि की सदस्यता मिश्रित है, खास कर मध्य वर्ग के लोग सभी दलो मे पाये जाते हैं, साम्यवादी दल

भी इसका अपवाद नही है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि धीरे-धीरे मध्य वर्गों का लोप हो जायगा। किन्तु उसकी भविष्यवाणी सही नही उतरी। न केवल मध्य वर्गों का लोप ही नही हुआ, अपितु उनकी सख्या दिन-प्रति-दिन बढती जा रही है, विशेषतया जनतन्त्रात्मक देशो मे।[३८] यह परिस्थिति मार्क्स के इस सिद्धान्त की भी विरोधिनी है कि सरकार एक खास वर्ग की चीज होती है। उदाहरण के लिये इगलैंड मे मजदूर पार्टी तथा टोरी पार्टी दोनो की चुनावगत सफलता मध्यवर्गों पर निर्भर करती है, दोनो ही पार्टियों मे काफी सख्या मध्यवर्गीय लोगो की है। जनतन्त्रात्मक सरकारे पूँजीवादियो के हाथ की कठपुतली नही होती, इसका सबसे बडा सबूत वे पूँजी-विरोधी कानून है जो ऐसी सरकारो ने बनाये है। इस प्रकार के कानूनो के उदाहरण दुर्लभ नही है आय के हिसाब से बढता हुआ इनकम टैक्स, मृत्यु कर; महत्वपूर्ण उद्योगो का क्रमिक राष्ट्रीयकरण, इत्यादि। इसी प्रकार सरकार के इस तरह के काम जैसे समस्त बालको के लिए अनिवार्य शिक्षा का विधान, किसी खास वर्ग के लिये ही हितकर नही सिद्ध किये जा सकते।[३९]

निष्कर्ष यह कि जनतन्त्रात्मक सरकार को किसी खास वर्ग की सरकार नही कहा जा सकता। फिर भी इसमे सन्देह नही कि जनतन्त्रात्मक राज्य पर भी धनवानो तथा प्रभावशाली लोगो का नियन्त्रण हो जाने का भय रहता है। एक ऐसे जनतन्त्र को जो अपने नागरिको के गुणात्मक विकास को लक्ष्य बनाता है, धीरे-धीरे समाजवाद की ओर अग्रसर होना चाहिए।[४०] हमारी समझ मे समाजवाद के दो मुख्य तत्व है। प्रथमतः समाजवाद आर्थिक सम्बन्धो की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण नही कर सकेगा, दूसरे, समाजवाद मे बडी आर्थिक विषमताएँ नही होनी चाहिएँ। इसका मतलब यह है कि लोग जीवन के लिये आवश्यक भौतिक सामग्री की प्राप्ति के लिये न्यूनाधिक समान अवसर प्राप्त करते रहे। एक पूर्ण जनतन्त्र वह होगा जहाँ सब नागरिको को आत्म-विकास तथा उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो। इस प्रकार की समानता तब तक नही आ सकती जब तक कि भौतिक चीजो की उत्पत्ति तथा वितरण एव शिक्षा आदि पर राज्य का नियन्त्रण न हो।

जिस समाज मे भौतिक वस्तुएँ सुख और आराम का ही नही बल्कि सामाजिक महत्व का कारण भी समझी जाती है वहाँ उन वस्तुओ की कामना प्रतियोगिता के आधार पर होने लगती है। इस प्रतियोगिता की स्पिरिट के कारण ही अमेरिका जैसे समृद्ध देशो मे भी अधिकाश मनुष्य असन्तुष्ट रहते है, पारस्परिक होड की प्रवृत्ति उन्हे अशान्त

तथा आकुल बनाये रखती है। एक प्रतियोगिता-मूलक समाज में लोगों के मस्तिष्क में हमेशा चिन्ता और तनाव बना रहता है। समाजवादी व्यवस्था में ही यह सम्भव है कि संवेदनशील तथा बुद्धिमान् नागरिक इस प्रकार की आकुलता और तनाव से मुक्ति पा सके।

तात्पर्य यह कि हमें एक समाजवादी जनतन्त्र अथवा जनतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना का प्रयत्न करना चाहिए। मुझे यदि उक्त दो चीजों में से एक की अप्रिय पसन्द करनी पड़े, अर्थात् "जनतन्त्रहीन समाजवाद" और "समाजवादहीन जनतन्त्र" में, तो मैं दूसरी व्यवस्था पसन्द करूँगा। कारण यह है कि एक ऐसे समाज में जहाँ जनतन्त्र के मुख्य तत्व मौजूद नहीं हैं—अर्थात् सोचने और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता—वहाँ स्थिर उन्नति की आशा नहीं हो सकती। सार्वभौम मतदान के अधिकार तथा चिन्तन और प्रकाशन की स्वतन्त्रता के रूप में जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में ऐसे उपकरण मौजूद रहते हैं जो भीतर से उसका सुधार करते रहें, और इस प्रकार उसे बहुत काल तक पतन की ओर बढ़ने से रोक सकें। यदि एक देश और समाज में दूरदर्शी विचारशील नेता उत्पन्न होते रहें तो कोई कारण नहीं कि वह अपनी गलतियों से फायदा न उठायें और उन्हें दूर करके अपने भविष्य को उन्नत न बना सकें।

लेकिन क्या जनतन्त्र और समाजवाद मिलकर मानव-कल्याण के लिये पर्याप्त हैं ?

बीसवीं सदी में यह देखा गया है कि राज्य नाम की संस्था की शक्ति बढ़ गई है। ऐसा जान पड़ता है कि आज के राज्य में व्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है, उस बेचारे की कोई हस्ती नहीं है। आइन्स्टाइन और रसेल जैसे महापुरुष भी दुनिया की घटनाओं पर विशेष प्रभाव नहीं डाल पाते, वे अपनी-अपनी सरकारों एवं नेताओं के निर्णयों को भी प्रभावित नहीं कर पाते। आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में जनता के जीवन पर अधिकाधिक सरकार का नियन्त्रण होता जाता है। इस नियन्त्रण को लाने में दैनिक प्रेस, रेडियो, सिनेमा, आदि सभी का हाथ हो सकता है। सरकार आदि के बढ़ते हुए हस्तक्षेप का फल यह है कि लोगों के मन में एक अजीब भय तथा अरक्षा की भावना घर कर लेती है, और वे अधिकाधिक सरकार पर निर्भर करने लगते हैं। सिनेमा और रेडियो धीरे-धीरे लोगों की सृजनात्मक शक्तियों को क्षीण बना देते हैं। आज विश्व में सर्वत्र लोग शान्ति चाहते हैं, किन्तु यह कोई नहीं जानता कि अगले युद्ध का खतरा कैसे हटाया जाय। प्रश्न है कि जनतन्त्र तथा समाजवाद का आदर्श

कहाँ तक हमे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाइयो को दूर करने मे सहायक हो सकता है ?

इसमे सन्देह नही कि आज ससार मे जो तनाव की स्थिति है उसका मुख्य कारण राज्यो का पारस्परिक सघर्ष है। किन्तु थोडा-बहुत तनाव सदैव रहता है। रसेल ने लिखा है कि राज्य का यह स्वभाव है कि जहाँ वह भीतरी हिंसा का प्रतिरोध करता है, वहाँ बाहर उसका प्रसार करता है।[११] अपनी सीमा के भीतर राज्य व्यक्तियो को सघर्ष तथा हिंसा करने से रोकता है, किन्तु जब बाहर युद्ध करने का प्रश्न आता है, तो उसे विशेष हिचक नही होती। दूसरे राज्यो से सम्बन्ध बनाते समय प्रत्येक राष्ट्र केवल अपने लाभ का ध्यान करता है, और उसका मुख्य लक्ष्य आर्थिक तथा राजनैतिक शक्ति को प्राप्त करना रहता है। यो तो राज्य सदैव से इन चीजो की खोज करता आया है, पर आज उसकी ये प्रवृत्तियाँ ज्यादा खतरनाक बन गई हैं। कारण यह है कि आज के युद्ध मे राष्ट्र की समस्त जनता को हिस्सा लेना पड़ता है, और वह नागरिको के जीवन तथा सम्पत्ति के भयकर विनाश का कारण बन जाता है।

प्रो० लास्की ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि हमारे युद्धो का कारण हमारे समाज का वर्गमूलक सगठन है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था मे युद्ध अनिवार्य है। विश्व मे शान्ति की व्यवस्था तब तक नही हो सकती जब तक विभिन्न राज्य अपनी कुछ शक्तियाँ एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था को समर्पित न कर दे, किन्तु पूँजीवादी सरकारे ऐसा हर्गिज् नही करेंगी। बात यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे सरकार प्रभुत्व का अधिष्ठान बनी रहना चाहती है, ताकि वह पूँजीपतियो के हितो की रक्षा कर सके। इसलिये जब तक सरकारे पूँजीवादी प्रणाली के सरक्षण को अपना प्रधान भीतरी लक्ष्य मानती है तब तक उन्हे बाहरी युद्ध के प्रयोग को अपनी नीति का अग बनाये रखना पडेगा। निष्कर्ष यह हुआ कि पूँजीवादी व्यवस्था की परिस्थिति विश्व मे प्रभावपूर्ण शान्ति-क्रम की स्थापना मे सबसे बडी बाधा है। प्रो० लास्की का विश्वास है कि जैसे ही पूँजीवाद की समाप्ति और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो जायगी, वैसे ही दुनिया से युद्ध का खतरा समाप्त हो जायगा।[१२]

क्या ही अच्छा होता कि हम प्रो० लास्की के इस आशावादी विचार को ग्रहण कर सकते। यह समझ मे नही आता कि एक समाजवादी सरकार, सरकार होने के नाते, पूँजीवादी सरकारो से क्यो विशेप भिन्न होगी। रूस का राजनैतिक इतिहास यह

बिल्कुल ही सिद्ध नहीं करता कि एक समाजवादी राज्य, अर्थात् ऐसा राज्य जहाँ आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित वर्ग-विभाजन नहीं है, कूटनीति द्वारा शक्ति प्राप्त करने में कम अभिरुचि रखेगा। सोवियत संघ को शक्ति-सञ्चय करने की और अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने की उतनी ही चिन्ता रहती है जितनी कि दूसरे राज्यों को। यह स्थिति कि सोवियत संघ को दूसरे देशों में अपना व्यापार बढ़ाने की चिन्ता रहती है या नहीं, ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि राज्य का अन्तिम लक्ष्य शक्ति होता है, और राजनैतिक शक्ति तथा आर्थिक सुविधा को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। आज की सरकारें अपने को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करने के लिये अतिशय धन का व्यय कर डालती हैं।

वास्तविकता यह है कि न जनतन्त्र ही और न समाजवाद ही, अकेले या साथ-साथ, आज के मनुष्य की जिन्दगी की तथा उसकी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जटिल समस्याओं को हल कर सकते हैं। ये व्यवस्थाएँ ज्यादा से ज्यादा यही कर सकती हैं कि वे एक ऐसा ढाँचा प्रस्तुत कर दें जिसके भीतर मनुष्य अपने को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सके। किन्तु प्रगति केवल एक बाहरी चीज नहीं है, असली प्रगति आन्तरिक होती है और वह जीवन में आन्तरिक अनुशासन माँगती है। बाहरी सामाजिक-राजनैतिक परिवेश में परिवर्तन द्वारा इस अनुशासन में मदद मिल सकती है, किन्तु वह परिवर्तन उस अनुशासन का स्थान नहीं ले सकता। मनुष्य की वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा सामाजिक-राजनैतिक प्रयोगों को जो अब तक सीमित सफलता मिली है, उससे हमें यह महत्वपूर्ण शिक्षा लेनी चाहिये कि बाह्य परिवर्तन काफी नहीं है। न तो भौतिक परिवेश के परिवर्तन से और न सामाजिक-राजनैतिक परिवेश के पुनः संगठन से ही, मनुष्य का पूर्ण कल्याण हो सकता है। उसके लिये यह जरूरी है कि उन परिवर्तनों के पीछे आत्मिक लक्ष्यों तथा जरूरतों की प्रेरणा रहे। उन जरूरतों तथा लक्ष्यों का निरूपण मनुष्य की ऊँची प्रकृति ही कर सकती है, अर्थात् वह प्रकृति जो सौन्दर्यानुभूति, दार्शनिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक साधना में अभिव्यक्ति पाती है।

जनतन्त्र और समाजवाद उन बाहरी स्थितियों की प्रतिष्ठा कर सकते हैं जो मनुष्य की आत्मिक प्रगति के लिये अपेक्षित हैं, किन्तु वे स्वयं इस प्रगति के पर्याय नहीं हैं। यह जरूरी हो सकता है कि विभिन्न राष्ट्रों के नागरिक राजनैतिक मामलों में अभिरुचि लें, किन्तु इससे यह अनुगत नहीं होता कि राजनीति से ऊँची और कोई चीज है ही नहीं, और उन नागरिकों को किसी दूसरी चीज में अभिरुचि लेनी ही नहीं चाहिए।

राजनीति दर्शन का स्थान नही ले सकती, और राजनैतिक मतवाद जीवन-दर्शन का काम नही दे सकते। कुछ दिनो से योरप के लोग इस बात पर जोर देते आये हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है; आज उन्हें कुछ हद तक अपना यह पाठ भूलना पडेगा।[१२] उन्हें यह भूलना पडेगा कि एक आदर्श-मनुष्य मात्र एक आदर्श नागरिक होता है। इसमे सन्देह नहीं कि मनुष्य एक समाज, जाति अथवा देश का सदस्य होता है, और उसे उनके प्रति वफादार होना चाहिए। किन्तु एक चिन्तनशील और कल्पना-शक्ति-सम्पन्न प्राणी होने के नाते मनुष्य को दूसरी चीजो के प्रति भी वफादार होना चाहिए। उसमे सम्पूर्ण मानवजाति का ध्यान होना चाहिए, और मानवता के अतीत का भी। अतीत के साथ ही उसे मनुष्य के भविष्य की चिन्ता भी होनी चाहिये। इतिहास में जहाँ-जहाँ मनुष्य ने सौन्दर्य और नैतिक उच्चता की प्रतिष्ठा की है, और भविष्य में वैसी प्रतिष्ठा की जो सम्भावनाएँ हैं, उन सब के प्रति हममे वफादारी तथा श्रद्धा की भावना होनी चाहिए। साथ ही मनुष्य के लिये यह उचित है कि वह अपने को धरती के जीवन तक सीमित न करे, बल्कि, समस्त ब्रह्माण्ड के नागरिक के रूप मे, तथ्यों तथा मूल्यो के अशेष विस्तार के प्रति प्रतिक्रिया करे। प्लेटो का विचार था कि एक आदर्श राज्य की प्रतिष्ठा दार्शनिको के शासन मे ही हो सकती है। एक जनतन्त्रात्मक राज्य, जिसके शासक समस्त नागरिक होते हैं, आदर्श राज्य तब ही बन सकता है जब उसके नागरिक दार्शनिक हो, अथवा दार्शनिको की विवेक-बुद्धि के अनुसार चलनेवाले हों। यहाँ यह स्मरण रहे कि दार्शनिक विवेक का अर्थ मुख्यत जीवन के विविध मूल्यो के आपेक्षिक महत्व का बोध है।

आज का मनुष्य अपनी अनेक उलझी हुई समस्याओ के हल की ओर कदम भी नही बढा सकता जब तक कि वह प्राचीन ऋषियो की इस शिक्षा का महत्व न समझे कि हमे अपने को जानना चाहिए। यह शिक्षा उपनिषदो ने दी है, लाउत्से और बुद्ध, सुकरात और ईसा, पतजलि और टॉमस एक्वीनास आदि ने भी दी है। टॉलस्टॉय, रामकृष्ण परमहस, और गाँधीजी ने भी वैसी ही शिक्षा दी है। मानव व्यक्तित्व उच्चतम कोटि के मूल्यों का अधिष्ठान है, वह केवल भौतिक परिवेश से उठनेवाले उत्तेजको (Stimuli) के प्रति प्रतिक्रियाओ की परम्परा नही है। मनुष्य की महत्ता इसमे है कि वह उन चीजो का अतिक्रमण करे जो उसके निकट हैं और उसके लिये उपयोगी हैं, और मूल्यो तथा आदर्शों के उस जगत के प्रति प्रतिक्रिया करे जिनके चित्र उसकी बुद्धि तथा नैतिक एव सौन्दर्यमूलक कल्पना द्वारा खडे किये जाते है। यही कारण है कि आज के

सब से बड़े अमेरिकी करोड़पति की अपेक्षा से बुद्ध और प्लेटो श्रेष्ठतर मनुष्य जान पड़ते हैं। मनुष्य की असलियत उसकी सृजनशील प्रकृति में है, वह लगातार अपनी जैवी-सामाजिक प्रकृति की जरूरतों और उनके उपभोग से सम्बद्ध सीमाओं का अतिक्रमण करता है। उसे वैसा अतिक्रमण करते रहना चाहिए।

आज के मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वह अपनी प्रकृति की सृजनात्मक सम्भावनाओं में फिर आस्था रखना सीखे और उनके प्रति विस्मय तथा श्रद्धा का भाव जागृत करे। इसका यह मतलब नहीं कि जब तक कि संसार का प्रत्येक मनुष्य चिन्तन तथा मनन की दार्शनिक-आध्यात्मिक ऊँचाई पर न पहुँच जाय तब तक संसार का कल्याण नहीं हो सकता। मतलब सिर्फ यह है कि दुनिया के लोगों को अपने सामने उन महापुरुषों का आदर्श रखना चाहिए जिन्होंने विश्व के कल्याण के लिये ज्ञान का सचय तथा नैतिक-आध्यात्मिक साधना की है, तथा त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक ऊँचाई को प्राप्त किया है—बड़े-बड़े व्यवसायी पूंजीपति और कूटनीति के ज्ञाता, राज्यों के मंत्री और पार्लमेण्टों के सदस्य, जिनके पास धन अथवा शक्ति है, आदर्श-रूप में नहीं देखे जाने चाहिएँ।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों धरातलों पर मानव-जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिये यह जरूरी है कि हम उस जीवन तथा उसकी अनुभूतियों की गुणात्मक विशेषताओं का अध्ययन करें। धन और जमीन अथवा देशगत विस्तार, अस्त्र-शस्त्र तथा व्यापार आदि के विचार को गौण बना देना पड़ेगा। यदि विभिन्न देशों के विचारक तथा नेता, और बाद में सरकारें, हमारे इन मन्तव्यों को स्वीकार कर लें, तो दुनिया के मुख्य देशों में क्रमशः असली साम्यवादी जनतन्त्रों की स्थापना हो जाय।

निकोलाय बर्द्याएव ने यह प्रतिपादित किया है कि संस्कृति और जीवन तथा संस्कृति और सभ्यता में एक प्रकार का विरोध है। जब जीवन समृद्ध, सभ्य तथा सुखी बन जाता है तब सांस्कृतिक सृजनशीलता का ह्रास हो जाता है, और क्रमशः संस्कृति का स्थान सभ्यता ले लेती है।[१४] हमारी समझ में इस निराशावादी मन्तव्य को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। हमारा अनुमान है कि समृद्ध जीवन भी तब तक वस्तुतः सुखी नहीं हो सकता जब तक उसमें सांस्कृतिक क्रियाओं का योग न हो, क्योंकि अन्तिम विश्लेषण में, सबसे ऊँची कोटि का आनन्द सांस्कृतिक होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि विज्ञान और सभ्यता की प्रगति ने मनुष्य की सृजनात्मक

प्रवृत्तियो को क्षत किया है।विज्ञान और दर्शन की प्रगति विस्मय तथा रहस्य की भावनाओ पर निर्भर करती है, विज्ञान की प्रगति के साथ ये भावनाये घटती नही, बल्कि बढती ही जाती हैं। सास्कृतिक ह्रास का कारण निम्न स्थितियाँ जान पडती हैं लोभ तथा वासनात्मकता की वृद्धि और उच्चतर मूल्यो मे अनास्था का प्रसार; इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगो मे सयम का अभाव, अच्छाई-बुराई के पैमानों के सम्बन्ध में सन्देहवाद की वृद्धि, आन्तरिकता का अभाव, जीवन के विभिन्न लक्ष्यो तथा हितो के अन्वेषण मे दिशाहीनता; उस धैर्य तथा सकल्प-शक्ति की कमी जिनकी सस्कृति के विभिन्न क्षेत्रो मे उच्च कोटि की उपलब्धिया करने के लिये अपेक्षा होती है। तात्पर्य यह कि सांस्कृतिक ह्रास अथवा अध पतन के कारण मुख्यत. दो होते हैं जीवन के मूल्यो तथा उसकी उच्चतर सम्भावनाओ मे आस्था का अभाव, और मानवीय महात्वाकाक्षाओ का भौतिक तथा क्षणिक चीजो की ओर रुझान। इस प्रकार की प्रवृत्ति तव होती है जब सामाजिक, राजनैतिक तथा सास्कृतिक वातावरण मे अनिश्चय की भावना होती है, और लोग कल्पना-मूलक दूरदर्शिता के जीवन से विरत होकर वैचैनी से क्षणिक उत्तेजना-मूलक सुखो को पाने की कोशिश करते हैं। ह्रासोन्मुख सस्कृति एक गहरे अर्थ मे अधार्मिक अथवा अनाध्यात्मिक होती है। सास्कृतिक अध.पतन का एक पक्ष होता है, उच्च वर्ग के लोगो मे जन-साधारण के प्रति उपेक्षा। सास्कृतिक या नैतिक अध.पतन का यह पक्ष मानव-व्यक्तित्व की अवहेलना का आवश्यक परिणाम होता है।

सिद्धान्तहीन अवसरवादिता, प्रतियोगिता तथा शोषण को हटाकर समाजवादी व्यवस्था लोगो मे भौतिक सामग्री के प्रति अधिक सतुलित मनोभाव उत्पन्न कर सकती है। उस व्यवस्था मे भौतिक सामग्री की वृद्धि सास्कृतिक क्रियाओ के लिये खतरनाक नही रहेगी। बात यह है कि भौतिक सम्पत्ति का अतिशय मोह केवल आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये नही होता, उसका कारण प्रायः उस सामाजिक आदर की भूख होती है जो धनवानो को प्राप्त होता है। समाजवादी व्यवस्था मे विभिन्न लोगो के सम्पत्ति-सम्बन्धी भेद कम हो जायँगे। इसीलिये भौतिक सम्पत्ति का महत्व भी कम हो जायगा। उस दशा मे भौतिक सम्पत्ति सामाजिक श्रेष्ठता का प्रतीक नही रह जायगी। और वह समाज या जाति जो अपने नागरिको के व्यक्तित्व के विकास को सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था तथा शिक्षा का लक्ष्य मानती है, भौतिक लाभ के लिये दूसरी जातियो का शोपण भी नही करना चाहेगी। हमारी सम्पत्ति की लालसा हमें स्वार्थी तथा अहकारी बना देती है। उन प्रवृत्तियो के वश होकर हम

दूसरे मनुष्यों को अपने व्यक्तिगत लाभ का साधन समझने लगते हैं। किन्तु एक सहन-शील व्यक्ति दूसरे मनुष्यों में इसलिये रुचि नहीं लेता कि वे आगे चलकर उसके लिये लाभकारी सिद्ध होंगे, बल्कि इसलिए कि वह उनके सम्पर्क से अपने अस्तित्व को समृद्ध कर सकता है। यदि राष्ट्र संघ जैसी संस्थाएँ मानवजाति की विभिन्न इकाइयों में एकता स्थापित करना चाहती हैं तो उन्हें चाहिए कि व्यक्तियों और जातियों में इस बात का प्रचार करें कि वे आध्यात्मिक-सांस्कृतिक क्रियाओं को अधिक महत्व दें और दूसरे देशों की वैसी क्रियाओं में साझेदार बनें। जब दुनिया के देश धन तथा शक्ति के बदले सांस्कृतिक प्रगति को अपना प्रमुख लक्ष्य बना लेंगे तो उनके लिए यह कठिन नहीं होगा कि वे अपनी राज्य-शक्ति का एक हिस्सा किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सौंप दें। यदि प्रो० लास्की का मन्तव्य ठीक है, तो उस दशा में दुनिया के देशों के बीच सच्ची शान्ति की स्थापना हो सकेगी।

## संकेत और टिप्पणियाँ

१. भवभूति, उत्तररामचरितम्, अंक ३, श्लोक ६ के बाद।

२. दे० रीडर बॉन्ट, कौस्मार्डेन फिलासफी आव् रिलीजन. (निसटन, १९४९), पृ० २१।

३. एन्साइक्लोपीडिया आव् द सोशल साइन्सेज, भाग ५, पृ० ४०३।

४. वही।

५. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, चौदहवाँ संस्करण, एज्यूकेशन पर लेख, पृ० १६४।

६. दे० जान एल्० चाइल्ड्स, एज्यूकेशन ऐण्ड मारल्स, (ऐपलेटन सेंचुरी क्राफ्ट्स, न्यूयार्क, १९५०), पृ० २७।

७. थियोडोर ब्रेमेल्ड, पैटर्न्स आव् एज्यूकेशनल फिलासफी, (वर्ल्ड बुक कं० न्यूयार्क, १९५०), पृ० १५७।

८. जान एल्० चाइल्ड्स द्वारा उद्धृत, वही पृ० ११२।

९. लिन् युताङ द विज़डम आव् चाइना, (माइकेल जोसेफ, लन्दन, १९४८), पृ० १४।

१०. वही, पृ० १५ (गौरव हमारा)।

११. मनुस्मृति, ५।६

१२. इस सम्बन्ध में दे० मैक्स वेबर, द प्रोटेस्टेन्ड एथिक ऐन्ड द स्पिरिट आफ कैपिटेलिज्म, अं० अनु० टैलकाट पार्सन्स कृत, (चार्ल्स स्क्रिबनर्स सन्स, न्यूयार्क) और क्रेन विन्टन, आइडियाज ऐन्ड मैन (जोनेथन केप, लन्दन,१९५१)अध्याय ९-१० ।

१३. आर० बी० कैटेल द्वारा उद्धृत साइकालॉजी ऐन्ड द रिलीजस क्वेस्ट, (टॉमस नेलसन ऐन्ड सन्स, लन्दन ऐन्ड न्यूयार्क, १९३८), पृ० ६२।

१४. वही, पृ० ५३।

१५. वही, पृ० ५५।

१६. जे० एस० ब्रूबाकर, मार्डन फ़िलासफ़ीज ऑव् एज्यूकेशन, (मैक-ग्रा हिल बुक कं०, न्यूयार्क, १९५०), पृ० ३०५।

१७. अरस्तू के सुख-सम्बन्धी विवरण के लिये दे० एथिका नाइकोमेकिया, बुक १

१८. अरस्तू, पॉलिटिक्स, बुक १

१९. दे० जार्ज एच्० सैबाइन, ए हिस्टरी आव् पोलीटीकल थियरी (जार्ज जी० हैरेप ऐन्ड कं० लि० लन्दन, १९३९), पृ० ४६३।

२०. वही, पृ० ६४१।

२१. दे० एफ़्० डब्ल्यू कोकर, रीसेन्ट पोलीटीकल थाट, (वी एपलेटन सेंचुरी कम्पनी, न्यूयार्क और लन्दन, १९३४), पृ० २०४।

२२. वही, पृ० २०९।

२३. हैराल्ड जे० लास्की, द स्टेट इन थियरी ऐन्ड प्रैक्टिस, (जार्ज एलेन एन्ड अनविन्, लि०, लन्दन, १९३६), पृ० १६-१७।

२४. मैकाइवर द्वारा, द वेब आव् गवर्न्मेंन्ट, (मैकमिलन, न्यूयार्क, १९४७) पृ० १७ पर उद्धृत।

२५. नग्न शक्ति की परिभाषा के लिये दे० बर्ट्रान्ड रसेल, पावर ए न्यू सोशल एनेलिसिस, (जार्ज एलेन ऐन्ड अन्विन, लन्दन, मुद्रण १९४६), अध्याय ६।

२६. लास्की, वही, पृ० २७।

२७. मैकाइवर, वही, पृ० १२२-२३।

२८. वही, पृ० २११।

२९. राय लेविस और ऐंगस माड, द इंगलिश मिडिल क्लासेज, (पेंगुइन बुक्स, १९५३), अध्याय १।

३०. जनतांत्रिक उपलब्धियों के अधिक विवरण के लिये दे० कार्ल पापर, द ओपेन सोसायटी ऐन्ड इट्स एनीमीज भाग २ (जार्ज रतलेज एन्ड सन्स, लि० लन्दन, १९४५), पृ० १२९-३०।

३१. सिलेक्टेड पेपर्स आफ बर्ट्रान्ड रसेल, (द माडर्न लायब्रेरी, न्यूयार्क, १९२७), पृ० ७१।

३२. लास्की, वही, पृ० २२९।

३३. वही।

३४. दे० पी० ए० सारोकिन, सोशल फिलासफीज आव् ऐन एज आव् क्राइसिस, पृ० १४३।

# शब्द-कोष

| | |
|---|---|
| अध्यात्म | Religion |
| अध्यात्मवाद, प्रत्ययवाद | Idealism |
| अन्त प्रेक्षण | Introspection |
| अन्वेषण-पद्धति | Methodology |
| अनुभव-निरपेक्ष | Apriori |
| अतिमानव | Superhuman |
| अन्योन्याश्रय | Petitio Principii |
| अवचेतन | Unconscious |
| अवधान | Attention |
| अवयवी | Whole, Gestalt |
| अविच्छिन्नता | Continuity |
| अभिव्यंजनावाद | Expressionism |
| अस्तित्ववाद | Existentialism |
| आँकड़ा विज्ञान | Statistics |
| आक्षिप्त अभिप्राय | Implication |
| आक्षिप्त करना | To imply |
| आगमन | Induction |
| आगमनात्मक, आगमन-मूलक | Inductive |
| आत्मनिष्ठ, आत्म-परक, आत्मपाती | Subjective |
| आत्मनिष्ठतावाद | Subjectivism |

| | |
|---|---|
| आत्मिक | Spiritual |
| आदिम | Primary |
| आध्यात्मिक | Religious |
| आवश्यक, अनिवार्य | Necessary |
| आवश्यक मान्यता | Postulate |
| आवेगात्मक | Emotional |
| आवेग-मूलक | Emotive, Emotional |
| आयाम, सिम्त | Dimension |
| उत्सृष्ट प्रत्यय | Construct |
| उद्योग-तन्त्र | Technique of production |
| उदासीनता, वैराग्य | Detachment |
| उपचेतन | Sub-conscious |
| उपयोगिता | Utility |
| उपयोगी | Utilitarian, useful |
| उपलब्धि | Achievement |
| ऋणात्मक | Negative |
| एकात्मकता | Identity |
| कथन | Proposition |
| कथन-रूप | Propositional form |
| कल्पना | Imagination |
| कल्पना-मूलक | Imaginative |
| कल्पना-प्रसूत | Speculative |
| काल्पनिक प्रयोग | Imaginary Experiment |
| कृति-शक्ति | Will |
| क्रम | Order |
| गत्यात्मक | Dynamic |
| गुणात्मक | Qualitative |
| गुह्य शक्ति | Mana |
| गुह्य शक्तिवाद | Manaism |

| | |
|---|---|
| चरम तत्व | Reality |
| चरम श्रेय }<br>परम श्रेय } | Summum Bonum |
| चिदचिद्भिन्नाद्वैत | Neutral Monism |
| जातिप्रत्ययवाद | Theory of Ideas |
| तत्व-दर्शन | Ontology, Metaphysics |
| तथ्य | Fact |
| तथ्य-सामग्री | Data |
| तर्क-मूलक }<br>तार्किक } | Logical |
| तर्क-मूलक भाववाद | Logical Positivism |
| तारतम्यात्मक श्रेणी | Hierarchy |
| तार्किक आधार | Ground |
| दर्जे | Degrees |
| देश-काल-सातत्य | Space-Time Continuum |
| द्वैत }<br>द्वैतवाद } | Dualism |
| धनात्मक | Positive |
| धारणा | Concept |
| निगमन | Deduction |
| निश्चयात्मक | Necessary, Certain |
| निष्कृष्ट | Deduced |
| निष्कृष्ट नियम | Derivative Laws |
| निर्धारक | Determinant |
| निर्धारण | Determination |
| निर्वैयक्तिकता | Impersonality |
| निर्मिति | Construction |
| पक्षवाक्य | Premise |
| पद | Term, Status |
| पद्धति | System, Method |

| | |
|---|---|
| पद्धति-मूलक भौतिकवाद | Methodological Materialism |
| परम्परा | Tradition |
| परिणमन | Reduction |
| परिभाषा | Definition |
| परिभाषित करना | To define |
| परिवर्तन-मूलक सहचार | Functional Correlation |
| परिवेश | Environment |
| पुनरुक्ति | Tautology |
| पुनर्जागृति | Renaissance |
| पुनर्निर्माण, पुनर्ग्रंथन | Reconstruction |
| पुनःसंगठन, पुनर्ग्रंथन | Rearrangement |
| पूर्वाभासित करना | Anticipate |
| प्रत्यय | Idea, Concept |
| प्रत्याहरण | Abstraction |
| प्रतिभा, प्रतिभाशाली | Genius |
| प्रतीक | Symbol |
| प्रभाववादी आलोचना | Impressionistic Criticism |
| प्रामाणिकता | Validity |
| प्रेषण | Communication |
| भूतशास्त्रवाद, भौतिकतावाद | Physicalism |
| मात्रा-मूलक | Quantitative |
| मानववाद | Humanism |
| मानदण्ड, पैमाना | Criterion |
| मानवीय अधीतियाँ | Humanities |
| मानवीय विद्याएँ | Human Studies |
| मूल गुण | Primary Quality |
| मूल प्रवृत्ति | Impulse |

| | |
|---|---|
| मूल्य | Value |
| मूल्यानुप्राणित<br>मूल्यात्मक | Evaluative |
| यन्त्रवाद | Mechanism |
| रचना-तन्त्र<br>शिल्प-विधान | Technique |
| रूपाकार | Form |
| वक्तव्य | Statement, Proposition |
| वर्ग | Class |
| वस्तुगत, वस्तु-परक, वस्तुपाती | Objective |
| विक्षिप्त | Neurotic |
| विवर्त्तमान मूल्य या तत्त्व | Variable |
| विकास | Evolution, Development |
| विकासवाद | Evolutionism |
| विद्युदणु | Electric Particles |
| विवर्त्त, आभास | Appearance |
| विविक्त करना | Distinguish |
| विपरीत | Contrary |
| विरोध | Contradiction |
| विरोधी, विरुद्ध | Contradictory |
| विस्तार | Extension |
| वियोजक | Analytic |
| विरोधाभास | Paradox |
| वेग | Velocity, Speed |
| व्यक्तिवाद | Individualism |
| व्यवस्था | Arrangement, Order |
| व्याख्या | Explanation |
| व्याख्यासूत्र | Explanatory Principle or Concept. |
| व्यापन | Diffusion |

| | |
|---|---|
| वैचित्र्य-मूलक कल्पना | Fancy |
| सकट | Crisis |
| सदेहवाद<br>सशयवाद | Scepticism |
| सप्रेषण | Transmission |
| सयोजक | Synthetic |
| सवेदना | Feeling |
| सभावना | Possibility |
| सस्कृति | Culture |
| सस्थान | Pattern |
| सदसद्बुद्धि | Conscience |
| सभ्यता | Civilization |
| समष्टि | System, Whole |
| समानात्मक | Identical |
| समाजशास्त्रीय आलोचना | Sociological Criticism |
| सर्वाहवाद | Solipsism |
| सहचार | Correlation |
| सहप्रामाणिकता | Simultaneous Validity |
| सहमति, समझौता | Contract |
| साधनात्मक मूल्य | Instrumental Value |
| साध्यात्मक मूल्य | Ultimate Value |
| सापेक्ष | Relative |
| सापेक्षवाद | Relativity |
| सापेक्षतावाद | Relativism |
| सामान्य | General, Normal |
| सामान्य कथन | Generalisation |
| सामान्यरूपता | Normality |
| सार्थकता | Significance |
| सार्वभौम | Universal |
| सीढ़ी, सोपान | Stage |

| | |
|---|---|
| सृजनात्मक<br>सृजनशील } | Creative |
| सृजनशीलता | Creativity |
| स्तर | Level |
| स्थापना-निगमन-मूलक | Hypothetical-Deductive |
| स्थित्यात्मक | Static |
| हेतु | Reason |
| हेतुस्थिति | Condition |